भारतीय काव्य-शास्त्र
की
परम्परा

[भरत से लेकर वर्तमान हिन्दी-आलोचकों तक के सैद्धान्तिक वक्तव्यों का सचयन]

सम्पादक—डा० नगेन्द्र

★

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई सड़क, दिल्ली

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई सड़क, दिल्ली

मुद्रक :
युनिवर्सिटी प्रेस
दिल्ली—८

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' को

सप्रणाम !

श्रद्धेय दादा !

यह सम्पादित ग्रन्थ कदाचित् आपके गौरव के अनुकूल नहीं है। परन्तु आपकी आशुतोषता का दुरुपयोग तो सभी करते हैं, फिर मैं ही क्यों वञ्चित रहूँ ?

नगेन्द्र

निवेदन

विगत कुछ वर्षों से एक ऐसे ग्रंथ की रूपरेखा मेरे मन में धीरे-धीरे बन रही थी जिसके द्वारा भारतीय काव्य-शास्त्र की समृद्ध परम्परा का क्रमबद्ध निरूपण प्रस्तुत किया जा सके। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी की परिणति है। इसमें भरत से लेकर हिन्दी के वर्तमान आलोचकों तक के प्रतिनिधि काव्य-सिद्धान्तों का सकलन है। ग्रन्थ का सम्पादन हिन्दी के काव्य-जिज्ञासु के लिए किया गया है, अत सस्कृत आचार्यों के वक्तव्यो का हिन्दी अनुवाद पहले और मूल बाद में दिया गया है। इस कार्य के सम्पादन में अत्यधिक श्रम और व्यय के अतिरिक्त तरह-तरह की बाधाओं का भी सामना करना पड़ा जिनके कारण अनेक बार गतिरोध उपस्थित हो गया था। परन्तु मेरे मन ने हार नही मानी और अन्त में यह ग्रन्थ किसी न किसी रूप में पूर्ण होकर आपके सम्मुख प्रस्तुत है। अपने ढग का यह प्रथम प्रयास है। इस प्रकार के सकलन-ग्रन्थ में चयन के विषय में मत-भेद सहज सम्भव है—केवल आलोचकों के निर्वाचन में ही नही, उनके वक्तव्यों के निर्वाचन के सम्बन्ध में भी तीव्र मतभेद हो सकता है। इस प्रसग में पूर्ण मतैक्य अथवा सबका परितोष सम्भव नही है, अतएव कोई सफाई देना व्यर्थ है। मुझे आशका है कि मेरी भाँति पाठकों को यहाँ स्वर्गीय हरिऔध का अभाव खटकेगा, प्रयत्न करने पर भी हम अधिकृत अनुमति प्राप्त करने में असमर्थ रहे। मेरे मन में हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के काव्य-सिद्धान्तों का समावेश करने का विचार भी अनेक बार आया, पर उसके लिए कदाचित् दूसरा भाग ही अपेक्षित होगा।

इस ग्रंथ के सम्पादन में मुझे अपने सहयोगियों तथा विद्यार्थियों का सहयोग आरम्भ से ही प्राप्त रहा है। वास्तव में यह कार्य अपने आप में इतना बिखरा हुआ था कि इन सबकी सामयिक सहायता के बिना मैं कृतकार्य हो ही नहीं सकता था। अतएव मेरे ये सभी सहायक—डा० सावित्री सिन्हा, डा० उदयभानुसिंह, श्री सत्यदेव चौधरी, श्री महेन्द्रनाथ चौबे और श्री सुरेशचन्द्र गुप्त—स्नेहाभार के पात्र हैं। इन्होंने

जिस तत्परता के साथ मुझे सहयोग दिया है उसका स्मरण कर मैं इस समय एक प्रकार के सुखद गर्व का अनुभव कर रहा हूँ :

होता है कृतकृत्य सहज बहुजन-गृही ।

अन्त में मैं प्रस्तुत ग्रन्थ को अलंकृत करने वाले इतो आचार्यों के प्रति विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। उनके अनुवादक और (अनुमति के लिए) उनके उत्तराधिकारी भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

बुद्धजयन्ती, सम्वत् २०१३ विक्रमी
दिल्ली विश्वविद्यालय।

नगेन्द्र

क्रमणिका

१

संस्कृत

भरत मुनि

(समय—विक्रम-पूर्व द्वितीय शतक से द्वितीय शतक विक्रमी तक)

ग्रन्थ—नाट्य-शास्त्र

हिन्दी-अनुवाद

१ रस-वर्णन

नाटक में ये आठ रस होते हैं—१ शृंगार, २ हास्य, ३ करुण, ४ रौद्र, ५ वीर, ६ भयानक, ७ बीभत्स और ८ अद्भुत (६।१५)। ये आठ रस महात्मा ब्रह्माजी ने कहे हैं। अब स्थायी, सचारी और सात्त्विक भावो का वर्णन करेंगे (१६)। रसो के स्थायी (आदि से लेकर अन्त तक रहने वाले) भाव आठ हैं १ (शृगार का) रति, २ (हास्य का) हास, ३ (करुण का) शोक, ४ (रौद्र का) क्रोध, ५ (वीर का) उत्साह, ६ (भयानक का) भय, ७ (बीभत्स का) जुगुप्सा, ८ (अद्भुत का) विस्मय (१७)।

व्यभिचारी भाव ३३ हैं, यथा—१ निर्वेद, २ ग्लानि, ३ शका, ४ असूया, ५ मद, ६ श्रम, ७ आलस्य, ८ दैन्य (दीनता), ९ चिन्ता, १० मोह, ११. स्मृति, १२ धृति, १३ व्रीडा, १४ चपलता, १५ हर्ष, १६ आवेग, १७ जडता, १८ गर्व, १९ विषाद, २० औत्सुक्य, २१ निद्रा, २२ अपस्मार (मिर्गी), २३ सुप्त २४ प्रबोध, २५ अमर्ष (असहनशीलता), २६ अवहित्थ (भाव का छिपाना) २७ उग्रता, २८ मति, २९ व्याधि, ३० उन्माद, ३१ मरण ३२ त्रास, ३३ वितर्क (१८-२१)।

सात्त्विक भाव आठ होते हैं—१ स्तम्भ, २ स्वेद, ३ रोमाच, ४ स्वर भग, ५ वेपथु (कँपकँपी), ६ वैवर्ण्य, ७ अश्रु, ८ प्रलय (२२)। अभिनय ४ प्रकार के होते हैं—१ आगिक, २ वाचिक, ३ आहार्य, ४ सात्त्विक। ये नाटक के आश्रय होते हैं (२३)। धर्मी दो प्रकार का होता है—१ लोक धर्मी, २ नाट्य-धर्मी। चार वृत्तियाँ होती हैं, जिनमें नाट्य प्रतिष्ठित हैं, १ भारती, २ सात्वती, ३ कैशिकी, ४ आरभटी। (८।२४)। नाट्य प्रवृत्तियाँ ये हैं—आवन्ती, दाक्षिणात्या, औड्रमागधी, पाचाली और मध्यमा। (२५-२६)।

पहले हम रसो की व्याख्या करेंगे। रस के बिना किसी भी अर्थ का प्रवर्तन नही होता। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इन तीनो के सयोग से रस निष्पन्न होता है। (प्र०) इसमें उदाहरण क्या है ? (उ०) जैसे—कई प्रकार के व्यजन और ओषधि-द्रव्यो के सयोग से रस निष्पन्न हुआ करता है, वैसे ही नाना भावो के इकट्ठे होने पर रस निष्पन्न हो जाता है। जैसे गुड आदि द्रव्यों, व्यजनों और औषधियो से छः रस बनते हैं इसी प्रकार स्थायी भाव नाना भावो से युक्त होकर रस बनते हैं। ऋषि कहने लगे—रस क्या पदार्थ है ? (उ०) आस्वाद आना ही रस है। (प्र०) रस का आस्वाद कैसे आता है ? (उ०) जैसे सहृदय लोग भाँति-भाँति के व्यजनो से पके हुए अन्न को खाते हुए रसो का स्वाद प्राप्त करते हैं, और प्रसन्न भी होते हैं, वैसे ही दर्शक लोग नाना भावो के अभिनय (नाट्य) से व्यजित तथा वाणी, अग और तत्त्व से मिले हुए स्थायी भावो का आस्वाद प्राप्त करते हैं। इसलिए ये नाट्य-रस हैं। (पृ० ७१) *इस सम्बन्ध में परम्परा से आये हुए ये दो श्लोक हैं।—जैसे बहुत* द्रव्यो और व्यजनो से मिले अन्न को खाते हुए लोग उसका आस्वाद लेते हैं, वैसे ही पडितगण भावो के अभिनय (नाट्य) से मिले हुए स्थायी भावो का मन से आस्वाद लेते हैं, इसलिए ये नाट्य-रस कहलाते हैं (६।३२-३३)।

यहाँ प्रश्न है कि—रसो से भाव बनते हैं या भावो से रस ? इसमें कई महानुभावो का मत है कि आपस के सम्बन्ध से इनकी उत्पत्ति होती है। पर यह ठीक नहीं। क्यो ? इसलिए कि—भावो से रसों की निष्पत्ति दीखती है, रसो से भावो की नही। उसमें श्लोक हैं—

क्योंकि ये भाँति-भाँति के अभिनय वाले रसो को भावित करते हैं अत ये भाव कहाते हैं नाट्य-प्रयोक्ताओ को यह ज्ञान रखना चाहिये। ३४। जैसे बहुत प्रकार के द्रव्यों से व्यजन अभिव्यक्त होता है, इसी प्रकार भाव भी रसों को अभिव्यक्त करते हैं। ३५। रस भावहीन नही होता, भाव रसहीन नहीं हुआ करता। अभिनय में उसकी परस्पर सिद्धि होती है। ३६। व्यजन और ओषधि का सयोग जैसे अन्न को सुस्वादु बना देता है, वैसे भाव और रस भी एक दूसरे को अभिव्यक्त *करते हैं। जैसे बीज से वृक्ष होता है, और वृक्ष से फूल-फल होते हैं, वैसे ही सभी रस* मूल होते—उनमें भाव व्यवस्थित होते हैं। ३८।

अब इन रसो की उत्पत्ति, रग, देवता और उदाहरणों की व्याख्या करेंगे। उनकी उत्पत्ति के कारण चार रस हैं, १ शृगार, २ रौद्र, ३ वीर, ४ वीभत्स। इसमें—शृगार से हास्य होता है और रौद्र से करुण रस। वीर से अद्भुत रस उत्पन्न होता है, और बीभत्स से भयानक। ३६। शृगार का अनुकरण ही हास्य माना

गया है। रौद्र का कार्य करुण रस है। ४०। वीर का कर्म अद्भुत है, वीभत्स का दर्शन ही भयानक है। ४१।

रसों के वर्ण

शृंगार श्याम, हास्य श्वेत, करुण कबूतर के रंग वाला, और रौद्र लाल होता है। ४२। वीर गोरा और भयानक काला होता है। वीभत्स नीला, और अद्भुत पीले रंग का माना गया है। ४३।

रसों के देवता

शृंगार का देवता विष्णु, हास्य का प्रमथ (महादेव का गण), रौद्र का रुद्र, करुण का यम। ४४। वीभत्स का महाकाल, भयानक का कालदेव, वीर का देवता महेन्द्र और अद्भुत का ब्रह्मा है। ४५। इनकी उत्पत्ति, वर्ण और देवता बता दिये गये। अब विभाव, अनुभाव, व्यभिचारियों सहित रसों के लक्षण कहेंगे और स्थायी-भावों का रसत्व कहेंगे।

इनमें शृंगार रति स्थायी भाव से बनता है, उसका वेश उज्ज्वल होता है। संसार में जो पवित्र, स्वच्छ और दर्शनीय हो वह शृंगार से उपमित होता है। उज्ज्वल वेश वाला शृंगारवान कहा जाता है। जैसे पुरुषों के नाम, गोत्र, कुल और आचार से उत्पन्न एवं आप्तोपदेश से सिद्ध हुआ करते हैं, वैसे ही इन रसों और भावों तथा नाटकाश्रित पदार्थों के नाम भी आप्तोपदेश से सिद्ध और आचार से बनते हैं। इसी प्रकार मनोहर तथा उज्ज्वल वेश होने से इस रस का नाम शृंगार पड़ गया है। वह स्त्री पुरुषों के निमित्त से होता है, उत्तम यौवन की प्रकृति के अनुकूल होता है। उसके दो आश्रय या भेद हैं : १ सम्भोग और २ विप्रलम्भ।

इनमें सम्भोग ऋतु, मालाएँ, अनुलेप, गहने, प्रियजन, विषय, अच्छा घर, उपभोग, उपवन-गमन, अनुभव, श्रवण, दर्शन, क्रीडा, लीला आदि विभावों से उत्पन्न होता है। उसका अभिनय नेत्र-चतुरता, भवों का मटकाना, कटाक्ष करना, ललित-मधुर अंग-विक्षेप, वाक्य आदि अनुभावों से प्रयुक्त करना चाहिये। भय, आलस्य, उग्रता और घृणा को छोड़ कर शेष व्यभिचारी भाव होते हैं। विप्रलम्भ शृंगार का निर्वेद (विरक्ति), ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, उत्कण्ठा, निद्रा, सुप्त, स्वप्न, विब्बोक व्याधि, उन्माद (पागलपन), अपस्मार (मिर्गी), जड़ता, मरण आदि अनुभावों से अभिनय करना चाहिये।

(प्र०) यदि इस प्रकार शृंगार रति से उत्पन्न होता है, तो इसमें करुणाश्रयी भाव कैसे होते हैं ? (उ०) पहले कह चुके हैं कि—शृंगार संयोग और वियोग से होता है। वैशिक शास्त्रों में उसकी दस अवस्थाएँ होती हैं। उन अवस्थाओं को सामान्य अभिनय में कहेंगे।

करुण रस शाप, क्लेश, विनिपात, इष्टजन-वियोग, धन-नाश, वध तथा बन्धन से उदित होता है। इसमें उत्कण्ठा और चिन्ता से समुत्थित निरपेक्ष (बेपरवाही का) भाव होता है। विप्रलम्भ में सापेक्ष (दूसरे की अपेक्षा करने वाला) भाव होता है। इस तरह करुण अन्य है और विप्रलम्भ अन्य। इस प्रकार यह शृंगार सब भावों से संयुक्त होता है। (पृष्ठ ७३)

और भी—सुखप्राय और इष्ट-सम्पन्न, ऋतु, माला आदि का सेवन करने वाला, प्रमदा (युवती) से संयुक्त पुरुष शृंगार कहा गया है। (६।४६) इस विषय में दो आर्याछन्दोबद्ध सूत्र भी हैं।—ऋतु, माला और अलंकारों से, प्रियजन, गान विद्या तथा काव्यों की सेवाओं से, उपवन में जाने तथा भ्रमण से शृंगार रस उत्पन्न होता है। ४७। नेत्र तथा मुख की प्रसन्नता से, मुस्कान, मधुर वचन, धैर्य तथा प्रमोदों से, मनोहर अंग-विकारों से उसके अभिनय का प्रयोग करना चाहिये। ४८।

हास्य—इसका स्थायी भाव हास होता है, वह बिगड़े हुए वेश और गहने, ढिठाई और चपलता, झगड़ा, असत् प्रलाप, व्यंग, दोष-कथन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। ओठ काटना, नाक, गाल का हिलाना, दृष्टि का सिकोड़ना, पसीना, मुख की लालिमा, पार्श्व-ग्रहण आदि अनुभावों से उसके अभिनय का प्रयोग करना चाहिये। उसके व्यभिचारी आलस्य, अवहित्था (अपना भाव छिपाना), ऊँघना, नींद, स्वप्न, जागना, असूया (ईर्ष्या व निन्दा) आदि होते हैं। वह दो प्रकार का होता है—१ आत्मस्थ और २ परस्थ। जब स्वयं हँसता है तब आत्मस्थ, जब दूसरे को हँसाता है तब परस्थ होता है।

इस विषय में परम्परागत दो आर्या श्लोक हैं—उलटे गहने पहनने से, विकृत आचार, विकृत नाम या वेशों से, विकृत अर्थ-विशेषों से, हँसने से इसका नाम हास्य होता है।।६-४९। विकृत आचार तथा वाक्यों से तथा अंग विकार तथा विकृत वेशों से लोगों को हँसाने से हास्य रस जानना चाहिये। ५०। यह रस स्त्री तथा नीच प्रकृति वालों में बहुत दिखाई पड़ता है। इसके छः भेद जानने चाहियें, उन्हें मैं कहता हूँ—(५१)। १ स्मित, २ हसित, ३ विहसित, ४ उपहसित, ५ अपहसित, ६ अतिहसित—ये भेद हैं। उत्तम, मध्यम, अधम प्रकृति में दो-दो भेद होते हैं। ५२। स्मित और

हसित उत्तमो के, विहसित और उपहसित मध्यमो के, अपहसित और अतिहसित अधमो के जानने चाहियें। ५३।

इसमें श्लोक है —गाल कुछ हँस से रहे हों, कटाक्ष सौष्ठव से युक्त हो, दाँत न दीख रहे हो। यह धीर स्मित उत्तमो का होता है।५४। नेत्र खिले हो तथा मुख भी, गाल खिले हुए हो, दाँत कुछ दिखाई पड़ें, यह हसित कहा जाता है।५५। आँखें और गाल सिकुडे हुए हो, मधुर स्वर-युक्त हो, समय पर आया हुआ, मुख के राग से मिला हुआ विहसित होता है। ५६। नाक फूली हुई हो, कुटिल दृष्टि से देखे, कन्धा और सिर सकुचित हो—यह उपहसित होता है। ५७। ये दोनो मध्यमो के होते हैं। असमय पर हँसना, हँसते हुए आँखो में आँसू आ जावें, कन्धा और सिर हिलें, वह अपहसित होता है। ५८। नेत्रो में जोर से आँसू आ जावें, चिल्लाने का स्वर आवे, उद्धतता हो, हाथ से अपने बगल को दबा ले, यह अतिहसित होता है।५६। यह अधमो का होता है। नाटक में उत्तम, अधम, मध्यमो के कार्य से उत्पन्न जो हास की स्थितियाँ हो, उनका इस प्रकार प्रयोग करे। ६०। इस प्रकार आत्म-समुत्थ तथा पर-समुत्थ दो प्रकार का हास्य रस तीन प्रकृतियों वाला होने से छः भेदो वाला हो जाता है। ६१।

करुण रस शोक स्थायी भाव से उत्पन्न होता है। वह शापजन्य क्लेश-पात, इष्टजन-वियोग, विभव (धन)-नाश, वध बन्धन, भगदड, दुर्घटना व्यसन (आपत्ति) के सयोग आदि विभावो से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय (नाट्य) आँसू गिरना, शोक-मूलक विलाप, मुँह का सूखना, मुँह का रग फीका पड़ जाना, गात्र-पतन, नि श्वास, विस्मृति आदि अनुभावो से करना चाहिये। इसमें—निर्वेद (विरक्ति), ग्लानि, चिन्ता, उत्कण्ठा, आवेग, मोह, श्रम, भय, विषाद, दीनता, व्याधि, जडता, उन्माद, मिर्गी, भय, आलस्य, मृत्यु, थर्राहट, कँपकँपी, भिन्न-वर्णता, आँसू, स्वर-भेद आदि व्यभिचारी भाव हैं। इस के सम्बन्ध में श्लोक है—

इष्ट (प्रिय) की मृत्यु देखने से अथवा अप्रिय वचन के आश्रय से—इन भाव-विशेषो से करुण रस हुआ करता है। ६२। इस रस का साँसें खींचना, रोना, बेहोशी, विलाप-प्रलाप तथा देह के आयास और हानि से अभिनय करना चाहिये। ६३।

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध होता है, यह राक्षस, दैत्य और उद्धत मनुष्यो से उत्पन्न होता है और युद्ध का हेतु होता है। यह क्रोध किसी के निरादर, किसी पर आक्षेप, अपमान, असत्य बोलना, वाणी की कठोरता, द्रोह, मत्सरता आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसके पीटना, फाडना, तग करना, चीरना, काटना, चोट करना, छीना-झपटी, शस्त्र मारना, मुक्का मारना, लहू निकालना, अस्त्र खींचना आदि कार्य

होते हैं। लाल नेत्र, पसीना, भ्रुकुटि, हाथ, दाँत, ओठ का दबाना, गाल का फड़कना, हाथ के अग्रभाग को दबोचना—इन अनुभावों से इसके अभिनय का प्रयोग करना चाहिये। इसके व्यभिचारी हैं—सम्मोह, उत्साह, वेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, स्वेद (पसीना), वेपथु (काँपना), रोमाच, गद्गद आदि। (प्र०) जो कहा है कि रौद्र रस राक्षसों का होता है, तो क्या दूसरों का नहीं होता? (उ०) दूसरों का भी रौद्र होता है, पर राक्षसों का तो इस पर विशेष अधिकार होता है। राक्षस लोग स्वभाव से ही रौद्र हैं, बहुत बाहुओं वाले, बहुत मुखों वाले, बिखरे हुए पिंगल केश वाले, लाल और उद्धत आँखों वाले, भयानक और काले होते हैं। जो युद्ध गुस्से में स्वभाव एव चेष्टा, वाणी और अग आदि हैं, वे सब रौद्र हैं। उनके अनुगामी जो पुरुष हैं, उनका भी युद्धादि के कारण रौद्र रस जानना चाहिये। इसमें परम्परागत दो आर्या छन्द हैं—

बल-प्रयोग, चोट मारना, अग-भंग करना, छेदन, फाड़ना, लड़ाई की हलचल, इनसे रौद्र होता है। ६४। तरह-तरह के शस्त्रों से युक्त, कबन्ध और भुजाओं के काटने से—इन अर्थ-विशेषों से रौद्र के अभिनय का प्रयोग करना चाहिये। ६५। इस प्रकार रौद्र रस रौद्र वाणी, अग और चेष्टा वाला, शस्त्रप्रहार-बहुल, उग्र-कर्म-क्रिया-रूप देखा गया। ६६।

वीर रस उत्तम प्रकृति वालों में रहता है, उत्साह उसका स्थायी भाव होता है। वह असमोह, अध्यवसाय (निश्चय), नीति, विनय, बहुत पराक्रम, शक्ति, प्रताप, प्रभाव आदि विभावों से उत्पन्न होता है। स्थिरता, शूरता, धैर्य, त्याग, वैशारद्य (चतुरता) इन अनुभावों से उसका अभिनय प्रयुक्त किया जाता है। उसके व्यभिचारी भाव धृति, मति, गर्व, वेग, उग्रता, अमर्ष (क्रोध), स्मृति, रोमाच आदि होते हैं। इसमें दो परम्परागत आर्या छन्द हैं—

उत्साह एव अध्यवसाय से, विषाद (दुःख) न होने तथा विस्मय एव मोह से, विविध अर्थ-विशेष से वीर रस हुआ करता है। ६७। स्मृति, धैर्य, वीर्य, शूरता, उत्साह, पराक्रम, प्रभाव, और आक्षेपपूर्ण वाक्यों से वीर रस का सम्यक् अभिनय करना चाहिए। ६८।

भयानक रस का स्थायी भाव भय हुआ करता है। वह विकृत शब्द वाले प्राणियों के दर्शन, गीदड़, उल्लू, डर, व्याकुलता, खाली घर, वन-प्रवेश, मरण, अपने सम्बन्धियों की मृत्यु वा बन्धन के देखने, सुनने, कहने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। उसका कम्पित हाथ-पाँव, नेत्रों के हिलने, रोमाच, मुँह का रग फीका हो जाने, स्वर-भग आदि अनुभावों से अभिनय प्रयुक्त करना चाहिये। इसके व्यभिचारी होते हैं: स्तम्भ (थर्राहट,) स्वेद, गद्गद, रोमाच, काँपना, स्वर-भग,

मुंह का रग उड़ जाना, शका, मोह (मूर्च्छा), दीनता, आवेग, चपलता, डर, मिर्गी, मरण आदि। इसमें कई परपरागत आर्या छन्द मिलते हैं—

विकृत शब्द वाले जीवो को देखने, युद्ध, जगल, शून्य घर में जाने से, गुरु और राजा का अपराध करने से भयानक रस जानना चाहिये। ६९। अगो में, मुख और दृष्टि में भेद पड़ने, जाँघें रुद्ध हो जाने, देखने में व्याकुलता होने, मुख के सन्न हो जाने या सूख जाने से, हृदय की धुकधुकी, और रोमाच—इनसे भय व्यक्त होता है। ७०। यह स्वाभाविक हुआ करता है, इसे सात्त्विक भावो से उत्पन्न करना चाहिये। फिर इन्ही भावो से और मृदु चेष्टाओ से इसका प्रयोग करना चाहिये।७१। हाथ-पाँव का काँपना, स्तब्धता, अगो और हृदय का काँपना, ओठ, तालु और कण्ठ का सूख जाना, इनसे भयानक का अभिनय करना चाहिये। ७२।

बीभत्स रस का जुगुप्सा स्थायी भाव होता है। वह अमनोहर, तथा अप्रिय के देखने, अनिष्ट के सुनने, देखने एव कहने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। सब अगो का निष्क्रिय होना, मुँह का सकीर्ण होना, वमन, थूकना, अगो का हिलना आदि अनुभावो से उसका अभिनय प्रयुक्त करना चाहिये। इसके व्यभिचारी भाव—अपस्मार (मिर्गी), वेग, मोह, व्याधि, मरण आदि हैं। इस विषय में परपरागत दो आर्या छन्द हैं—

अप्रिय वस्तु के देखने से तथा रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द के दोषों से, बहुत सी व्याकुलताओ से बीभत्स रस उत्पन्न होता है। ७३। मुख और नेत्र का सकोच, आँख और नाक बन्द करना, मुँह को झुकाना अव्यक्त पाद-पतन आदि से इसके अभिनय का प्रयोग करना चाहिए। ७४।

अद्‌भुत रस का विस्मय स्थायी भाव हुआ करता है, वह दिव्य वस्तु के देखने, मनचाही इच्छा की पूर्ति होने, उत्तम वन, देव-मन्दिरो में जाने, असम्भव इन्द्रजाल साधन आदि विभावो से उत्पन्न होता है। आँखें फाडना, टकटकी लगा कर देखना, रोमाच, आँसू, पसीना, हर्ष, साधुवाद देना, उपहार-दान, हा-हा करना, हाथ मुँह, धोती-अंगुलि आदि का घुमाना—अनुभावो से उसका अभिनय प्रयुक्त करना चाहिये। इसके व्यभिचारी भाव हैं आँसू, स्तम्भ, पसीना, गद्‌गद, रोमाच, आवेग, सभ्रम, जडता, प्रलय आदि। इसमें दो परम्परागत आर्या हैं—

अतिशयार्थ से युक्त वाक्य, शील, कर्म और रूप—इन अर्थ-विशेषों से अद्‌भुत रस जानना चाहिये।७५। स्पर्श करना, पकडना, उत्कण्ठित होना, हँसना, हो-हो

व्यभिचारी भाव

अब व्यभिचारी भावों को कहेंगे—(प्र०) व्यभिचारी यह नाम क्यों है ? (उ०) वि अभि यह दो उपसर्ग हैं, 'चर' गत्यर्थ-वाचक धातु है। वाणी, अंग, सत्त्व से मिले हुओं को विविधता से आभिमुख्य से रसों में ले जाते हैं, अत. व्यभिचारी कहे जाते हैं। यहाँ 'चरन्ति' का अर्थ है ले जाना (प्र०) कैसे ले जाते हैं ? (उ०) जैसे सूर्य इस नक्षत्र को या उस दिन को ले जाता है। वह उन्हें बाहु वा कन्धे से नहीं ले जाता, किन्तु ऐसी ही लोक-प्रसिद्धि है। व्यभिचारी भावों के विषय में भी यही समझना चाहिए। संग्रह में अभिहित ये व्यभिचारी भाव ३३ हैं।

सात्त्विक भाव

(प्र०) क्या दूसरे भाव सत्त्व से भिन्न होते हैं, जो कि इन्हें सात्त्विक कहते हैं ? (उ०) सत्त्व मन से उत्पन्न होता है, वह मन के एकाग्र होने से उत्पन्न होता है। मन की एकाग्रता से सत्त्व की सृष्टि होती है। उसका रोमाञ्च, अश्रु,वैवर्ण्य आदि से युक्त जो स्वभाव है उसका अनुकरण अन्यमनस्क भाव से नहीं हो सकता। अत लोक-स्वभाव का अनुकरण करने के लिए नाटक में सत्त्व की अपेक्षा होती है। (प्र०) इस में दृष्टान्त क्या है ? (उ०) इस साहित्य-संसार में नाट्य-धर्म में प्रवृत्त सुख-दुःख के भावों का उपस्थापन अनुरूप सात्त्विक भावों के द्वारा करना चाहिए जिससे वे यथार्थ प्रतीत हों। उसमें दुःख रोदनात्मक होता है। उस दुःख को अदुःखी, तथा अहर्षात्मक सुख को असुखी प्रयोक्ता कैसे अभिनीत कर सकता है ? इनके अभिनय के लिए सत्त्व अभीष्ट होता है अत ये भाव सात्त्विक कहलाते हैं। यही इसका सत्त्व है कि—दुःखी हो चाहे सुखी, उसे आँसू और रोमाञ्च दिखलाने पड़ते हैं। १ स्तम्भ, २ स्वेद, ३ रोमाञ्च, ४ स्वर-भंग, ५ वेपथु, ६ वैवर्ण्य, ७ अश्रु, ८ प्रलय—ये आठ सात्त्विक भाव हैं। ९३।

इनमें स्वेद (पसीना) क्रोध, डर, हर्ष, लज्जा, दुःख, थकावट, रोग, ताप, चोट तथा व्यायाम, क्लेश, धूप तथा सपीडन से होता है। ९४। स्तम्भ हर्ष, भय, रोग, हैरानी, दुःख, मस्ती, क्रोधादि से उत्पन्न होता है। वेपथु (कम्प) शीत, भय, हर्ष, क्रोध, स्पर्श, तथा बुढ़ापे से होता है। ९५। अश्रु आनन्द वा क्रोध से, धुएँ, आँखों में अंजन करने, जँभाई, और डर से, शोक तथा टकटकी लगा कर देखने और शीत एवं रोग से होता है। ९६। वैवर्ण्य (मुँह का रंग फीका पड़ जाना) सर्दी, क्रोध, भय, श्रम, रोग, क्लम (थकावट) और ताप से उत्पन्न होता है। रोमाञ्च स्पर्श, डर, शीत और हर्ष से तथा क्रोध एवं रोग से भी होता है। ९७। स्वर-भंग भय, हर्ष, क्रोध, ज्वर, रोग और मद से उत्पन्न होता है। प्रलय श्रम, मूर्छा, मद, नींद,

चोट और मोह से होता है। ९८ । इस प्रकार विद्वानों को इन आठ सात्विक भावों को जानना चाहिये। अब इनका कर्म विभावानुभाव आदि द्वारा कहा जायेगा। ९९ ।

स्वेद का अभिनय पखा लेने से तथा पसीना पोंछने से तथा वायु की अभिलाषा से उपस्थापित करना चाहिये। १०० । स्तम्भ का अभिनय अभिज्ञ पुरुष चेष्टा (हिलना-जुलना) से रहित होकर, सज्ञा से रहित तथा स्तब्ध अगों से करे ।१०१। वेपथु का प्रयोग कांपने, स्फुरण, हिलने से करे। स्वर-भेद का प्रयोग भिन्न तथा गद्गद् स्वर से करे। १०२ । रोमाच का अभिनय रोएँ खड़े होने से और पुलक की आवृत्ति से, तथा अग-स्पर्श से करे। १०३ । अश्रु का अभिनय आँखें पोंछने से, आँसुओं से करे। १०४। वैवर्ण्य का अभिनय मुख का रग बदल कर नाड़ियों को दबा कर प्रयत्नपूर्वक करे। यह अगों पर आश्रित है। प्रलय का अभिनय पृथिवी पर गिरने से करे। १०५।

३ भावों का रस में विनियोग

मैंने इन तीन प्रकार से उनचास भावों की यथावत् व्याख्या आपसे की। अब इनमें से जिन्हें जिस रस में विनियुक्त करना चाहिये, विप्र लोग उन्हें सुनें। ७।१०६ ।

ग्लानि, शका, असूया, श्रम, चपलता, सुप्त, निद्रा, अवहित्थ, (भाव गुप्ति), वेपथु, इन भावों का श्रृंगार में प्रयोग करे। १०७ । आलस्य, उग्रता, घृणा, इन भावों को छोड़ कर शेष सभी भाव अपने नाम से श्रृंगार को उत्पन्न करते हैं। १०८ । ग्लानि, शका, असूया, श्रम, चपलता, सुप्त, निद्रा, तथा अवहित्थ ये भाव हास्य में हुआ करते हैं। १०९ । करुण रस में निर्वेद (वैराग्य) चिन्ता, दीनता, ग्लानि, आँसू, जड़ता, मरण, और व्याधि—ये भाव होते हैं। ११० । वीर रस में असम्मोह (प्रत्युत्पन्नता) उत्साह, आवेग, हर्ष, मति, उग्रता, हर्ष, उन्माद, रोमाच, प्रतिबोध (ज्ञान), क्रोध, असूया, धृति, अभिमान तथा वितर्क ये भाव हुआ करते हैं। ११२ ।

रौद्र में गर्व, असूया, उत्साह, आवेग, मद, क्रोध, चपलता, हर्ष और उग्रता ये भाव हुआ करते हैं। ११३ । भयानक में स्वेद, वेपथु, रोमाच, गद्गद, त्रास, मरण वा मुँह का रंग फीका हो जाना ये भाव हुआ करते हैं। ११४ । बीभत्स में अपस्मार (मिर्गी), उन्माद, (पागलपन), विषाद (दुख), मद, मृत्यु, व्याधि (बीमारी), भय ये भाव हुआ करते हैं। ११५ । अद्‌भुत में स्तम्भ (स्तब्धता), स्वेद (पसीना), मोह, रोमाच, विस्मय, आवेग, जड़ता, हर्ष और मूर्छा ये भाव हुआ करते हैं। ११६ ।

जो ये विविध अभिनयो में आश्रित सात्त्विक भाव हुआ करते हैं, नाटको के प्रयोक्तागण उनका सब रसो में प्रयोग करें। ११७। कोई भी काव्य प्रयोग में एक रस वाला नही हो सकता, चाहे भाव हो, या रस हो, प्रवृत्ति या वृत्ति भी हो ।११८। सभी समवेत रसो में जिसका रूप अधिक रहा हो, उस रस को स्थायी समझो, शेष रसो को व्यभिचारी। ११९। स्थायी रस विभाव अनुभावो से युक्त मुख्य कथा-वस्तु का आधार और सचारियो (व्यभिचारी) से सयुक्त होता है। १२०। प्रयोक्ता लोग स्थायी को अतिशयित सत्त्व से प्रयुक्त करें, सचारी को आकृति (मुद्रा) मात्र से क्योंकि वह स्थायी का सहायक है। १२१। विचित्रता विरक्ति नही देती, विचित्र वस्तु दुर्लभ हुआ करती है। विविध वस्तुओ का विमर्द (मिश्रण) यदि प्रयत्न से प्रयुक्त हो तो मनोरञ्जक होता है। १२२। आश्रय तथा अनेक पर्वों द्वारा सम्पाद्य नाटक में रस के स्थायी, सात्त्विक और व्यभिचारी भावो का विनियोग पुरुष पात्रो में करना चाहिए। १२३। इस प्रकार रस और भाव नाटक में व्यवस्थित होते हैं। जो इनको इस प्रकार जानता है, वह उत्तम सिद्धि को प्राप्त करता है।१२४।

(सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ)।

४ अलकार

उपमा, रूपक, दीपक और यमक ये चार अलकार नाटको में हुआ करते हैं। १७।४३। काव्य-रचनाओ में जो भी सादृश्य से उपमित किया जाए वह उपमा है। वह गुण और आकृति पर आश्रित होती है। ४४। एक को एक से उपमा करनी चाहिये, अथवा अनेक से एक की। अथवा एक से अनेक की तथा बहुतो की बहुतों से उपमा करनी चाहिये। ४५। 'तेरा मुख चन्द्र के तुल्य है' यह एक से एक की उपमा है, बहुतो से एक की उपमा नाटक में होती है। ४६। नक्षत्र चन्द्रमा की तरह प्रकाशित होते हैं, यह एक की अनेक-विषया उपमा है। ४७। बाज (श्येन), मोर, गृध्र पक्षियों के समान नेत्र—यह एक की बहुतों से उपमा है जो नाटको में होती है। ४८। तेरा मुख चन्द्र सदृश है—यह एक से एक के सम्बन्ध पर आश्रित है। 'हाथी बादलो की तरह हैं'—यह बहुतो की बहुतो [illegible] उपमा है। ४९।

उपमा के ५ भेद होते हैं—१ प्रशसा, २ निन्दा, ३ कल्पिता, ४ सदृशी, ५ किंचित्-सदृशी। १७।५०।

प्रशसा का उदाहरण—मुनियो द्वारा बहुत कठिनता से साधित मूर्तिमती (साकार) सिद्धि (सफलता) की तरह उस विशालाक्षी को देख कर राजा प्रसन्न हुआ। ५१।

निन्दा का उदाहरण—जैसे बेल गले में पड़े हुए वनाग्नि से दग्ध वृक्ष का आलिंगन करती है, वैसे ही उस श्रीमती ने सब गुणों से हीन कठोर आकृति वाले उस पुरुष का आलिंगन किया। ५२।

कल्पिता—मद-जल को बहाने वाले, लीला से धीमे-धीमे चलने वाले हाथी जंगम पर्वतों के समान विराजमान हैं। ५३।

सदृशी—दूसरों के चित्त के अनुरोध से जो तूने कर्म किया है, वह अतिमानुष-कर्मा (मनुष्यों से बढ़ कर कर्म वाले) तेरे ही सदृश है। ५४।

किंचित्-सदृशी—पूर्ण चन्द्र-मुखी, नीलकमल-नेत्रा, मत्तगज-गमना यह मेरी सखी प्राप्त हुई है। ५५।

उपमा के यही संक्षेप से भेद जानने चाहिएँ, शेष जो लक्षणों द्वारा नहीं कहे गये हैं, उनका लोक से लक्षण जान लेना चाहिए। ५६।

नाना द्रव्यों के सम्बन्ध से जो गुणाश्रय उपमा हुआ करती है, जिस में रूप का सम्यक् वर्णन होता है, उसका नाम रूपक होता है। ५७। अपने विकल्प से रचित तुल्य अवयवों वाला, कुछ सदृशता से युक्त रूप ही रूपक होता है। ५८। जैसे—

वे कमल-वदना, कुमुद-हासिनी, विकचकमल-नेत्रा वापी की स्त्रियाँ कूजित हंसों के द्वारा एक-दूसरे को बुलाती हुई-सी शोभित हुई। ५९।

भिन्न विषयों वाले शब्दों का दीपक की भाँति एक वाक्य द्वारा संयोग होने पर दीपक होता है। ६०। जैसे—यहाँ पर हंसों से तालाब, फूलों से वृक्ष, मस्त भ्रमरों से कमल, गोष्ठियों (सभाओं) से बाग बगीचे सदा पूर्ण किये जाते हैं। ६१। शब्दों की पुनरावृत्ति यमक होती है, उसके पादादि के भेद होते हैं + + + +। ६२।

५. काव्य-दोष

काव्य के दोष दस होते हैं—१ गूढार्थ २ अर्थान्तर, ३ अर्थ-हीन, ४ भिन्नार्थ, ५ एकार्थ, ६ अभिप्लुतार्थ ७ न्यायापेत, ८ विषम, ९ विसन्धि, १० शब्द-च्युत।१७।८८।

जिसे पर्याय-शब्दों से कहा गया हो उसका नाम गूढार्थ है। अवर्णनीय को जहाँ वर्णित किया जाए, उसका नाम अर्थान्तर होता है। ८९। असम्बद्धार्थक अर्थ-हीन

होता है। असभ्य और ग्राम्य का नाम भिन्नार्थ है। ९०। जहाँ विवक्षित तो दूसरा अर्थ हो, और भिन्न अर्थ कह दिया जाए, काव्यज्ञ विद्वान उसे भी भिन्नार्थ काव्य कहते हैं। ९१। जहाँ शब्दों के अर्थ-भेद या अर्थ-साम्य पर ध्यान न देकर उनके द्वारा एक अर्थ का कथन हो वह एकार्थ होता है। जिसके प्रत्येक पाद में (वाक्यार्थ) संक्षेपतः पूर्ण किया जाय वह अभिलुप्तार्थ होता है। ९२। प्रमाण-रहित का नाम न्यायापेत होता है। छन्द के दोष का नाम विषम होता है। ९३। जहाँ शब्द अनुप्रतिष्ठ (सन्धि रहित) हो वह विसन्धि कहा जाता है। असन्द के जोड़ने का नाम शब्द-हीन (शब्द-च्युत) होता है। ९४। ये दोष नाटकाश्रित होते हैं, यही विपरीत होकर काव्यों में गुण कहाते हैं—यह विद्वानों को समझ रखना चाहिए। ९५।

६ गुण

काव्य के ये दस गुण होते हैं १ श्लेष, २ प्रसाद, ३ समता, ४ समाधि, ५ माधुर्य, ६ ओज, ७ पद-सौकुमार्य, ८ अर्थ-व्यक्ति, ९ उदारता, १० कान्ति। १७।९६

(जो रचना) वृत्ति (तर्क) से विचार करके ग्रहण की जाये, स्वभाव से स्फुट तथा स्वतः सुप्रतिबद्ध हो, वहाँ श्लेष होता है। ९७। इष्ट अर्थों से परस्पर-सम्बद्ध पदों की श्लिष्टता का नाम श्लेष होता है। ९८। जहाँ शब्द और अर्थ के संयोग के सरल होने के कारण विद्वानों द्वारा अभ्याख्यात होने पर भी शब्द का अर्थ स्फुट हो जाए वहाँ प्रसाद होता है। ९९। जहाँ अलंकार और गुण समभाव से विद्यमान हो कर एक दूसरे के सदृश तथा शोभावर्धक हों वहाँ समता नामक गुण होता है। १००। जहाँ उपमा से व्यंजित तथा प्राप्त अर्थों का यत्न-पूर्वक अतिसंयोग [समासरूपेण सुसम्बद्ध प्रयोग] किया जाय, वहाँ समाधि गुण होता है। १०१। जो वाक्य बहुत बार सुना जाए, या पुनः-पुनः कहा जाए, फिर भी उद्विग्न न करे, वह माधुर्य माना गया है। १०२। जो बन्ध निन्दित तथा हीन होने पर भी उदात्त का अवभासक हो और जहाँ शब्द तथा अर्थ की सम्पत्ति हो वह ओज नाम का गुण कहलाता है। १०३। जो सुश्लिष्ट सन्धि वाले सुख-प्रयोज्य शब्दों से और सुकुमार अर्थ से युक्त हो, वह सौकुमार्य कहा जाता है।१०४। प्रयोग के बाद ही जिसका मन में अर्थ प्रविष्ट हो जाय, वह अर्थ व्यक्ति होती है। १०५। सौष्ठव से मिले हुए सुप्रकार से वर्णित अनेक अतिचित्र अर्थ-विशेषों से युक्त गुण का नाम उदात्त (उदारता) होता है। १०६। जो शब्द-बंध मन और कान का विषय हो, प्रयोग द्वारा आह्लाद-कारक हो, उसका नाम कान्ति है। १०७।

७. अलकार, गुण, दोष और रस-सश्रयत्व

इस प्रकार यह अलकार, गुण एव दोष बतला दिये गये, अब इनका रसाश्रित प्रयोग दिखलाया जाता है (१७।१०८)। वीर, रौद्र और अद्भुत रसो (के वर्णन) में लघु अक्षरो से तथा उपमा, रूपकादि अलकारो से युक्त रचना का प्रयोग करना चाहिए। १०९। वीभत्स रस में गुरु अक्षरो का प्रयोग होना चाहिए और रौद्र तथा वीर रसो के द्वारा चित्रित घर्षण के कारण व्यक्त करुण रस के स्थल में भी कभी-कभी गुरु अक्षरो का प्रयोग हो सकता है। ११०। शृगार रस के नाटक में रूपक और दीपक अलकारो का प्रयोग होना चाहिए, तथा वह (प्रधान-रूप से) नारी-वृत्त पर आश्रित होना चाहिए। १११। वीर रस के काव्य में सयुक्त वर्णों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाए और इस में जगती, अतिजगती और सकृति छन्दो का प्रयोग करना चाहिए। ११२। युद्धों और उपद्रवो के वर्णन में उत्कृति छन्द का प्रयोग होना चाहिए तथा करुण रस में शक्करी और अतिधृति का। ११३। जो छन्द वीर में कहे हैं, रौद्र रस में भी उनका प्रयोग करना चाहिये। शेष रसो के अर्थानुसार प्रयोक्ता लोग यथायोग्य छन्द प्रयुक्त करें। ११४।

अनुवादक—पं० दीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वत

मूलपाठ (संस्कृत)

[नाट्यशास्त्रम्]*

१ रसवर्णनम्

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानका ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृता ॥६।१५॥

एते ह्यष्टौ रसा प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना ।
पुनश्च भावान् वक्ष्यामि स्थायिसचारिसत्त्वजान् ॥६।१६॥

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भय तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावा प्रकीर्तिता ॥६।१७॥

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमा ।
आलस्य चैव दैन्य च चिन्ता मोह स्मृतिर्धृति ॥६।१८॥

व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्य निद्रापस्मार एव च ॥६।१९॥

सुप्त प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिरथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥६।२०॥

त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिण ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावा समाख्यातास्तु नामत ॥६।२१॥

स्तम्भ स्वेदोऽथ रोमाञ्च स्वरसादोऽथ वेपथु ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका स्मृता ॥६।२२॥

आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्य सात्त्विकस्तथा ।
चत्वारोऽभिनया ह्येते विज्ञेया नाट्यसंश्रया ॥६।२३॥

लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मी तु द्विविध स्मृत ।
भारती सात्त्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा ॥६।२४॥

---

* चौखम्बा संस्कृत सीरीज द्वारा प्रकाशित संस्करण

चतस्रो वृत्तयो ह्येता यासु नाट्य प्रतिष्ठितम ।
अवन्ती दाक्षिणात्या च तथा चैवोड्रमागधो ॥६।२५॥

पाञ्चाली मध्यमा चैव तथा नाट्यप्रवृत्तय ।
× × × × ॥६।२६॥

तत्र रसानेव तावदादावभिधास्याम । न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थ प्रवर्तते । विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति । को वा दृष्टान्त इति चेत्—उच्यते यथा नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्ति तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्ति । यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधीभिश्च षड् रसा निर्वर्त्यन्ते, एव नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति । अत्राह ऊचु । रस इति क पदार्थ ? अत्रोच्यते । आस्वाद्यत्वात् । कथमास्वाद्यो रस ? अत्रोच्यते । यथाहि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्न भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनस पुरुषा हर्षादींश्चाप्यधिगच्छन्ति तथा नाना भावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस प्रेक्षका । तस्मात् नाट्यरसा इति व्याख्याता ।

अत्रानुवंश्यो श्लोको भवत ।

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम ।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भुक्त भुक्तविदो जना ॥६।३२॥

भावाभिनयसंयुक्ता स्थायिभावास्ततो बुधा ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसा स्मृता ॥६।३३॥

अत्राह । कि रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृ तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति ? अत्र केषाञ्चिन्मत परस्परसम्बन्धादेषामभिनिर्वृ तिरिति । तन्न । कस्मात् ? दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृ तिरिति, न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृ तिरिति ।

तत्र श्लोका ।

नानाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभि ॥६।३४॥

नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जन भाव्यते यथा ।
एव भावा भावयन्ति रसानभिनयै सह ॥६।३५॥

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जित ।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥६।३६॥

व्यञ्जनौषधिसंयोगाद्यथा न स्वादुता भवेत् ।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ॥६।३७॥

यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा ।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेषु भावा व्यवस्थिताः ॥६।३८॥

तदेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः । तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः । तद्यथा शृङ्गारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति ।

अत्र

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्रात्तु करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥६।३९॥

शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति संज्ञितः ।
रौद्रस्यैव च यत् कर्म स ज्ञेयो करुणो रसः ॥६।४०॥

वीरस्यापि च यत् कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः ।
बीभत्सदर्शनं यच्च भवेत् स तु भयानकः ॥६।४१॥

अथ वर्णाः

श्यामो भवेत्तु शृंगारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः ।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः ॥६।४२॥

गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चापि भयानकः ।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः ॥६।४३॥

अथ दैवतानि

शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः ।
रौद्रो रुद्राधिदेवश्च करुणो यमदैवतः ॥६।४४॥

बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः ।
वीरो महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः ॥६।४५॥

एवमेतेषामुत्पत्तिवर्णदैवतान्यभिव्याख्यातानि । इदानीं विभावानुभावव्यभिचारिसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः । स्थायिभावांश्च रसत्वमुपनेष्यामः ।

तत्र शृंगारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मक । यथा यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्य दर्शनीय वा तच्छृङ्गारेणानुमीयते । यस्तावदुज्ज्वलवेष स शृङ्गारवानित्युच्यते । यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पु सा नामानि तथैवैषा रसाना भावानां च नाटयाश्रिताना चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि भवन्ति । तदेवमेव गुर्वाचार्यसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मक शृंगारो रस । स च स्त्रीपु सहेतुक उत्तमयुवप्रकृति । तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च । तत्र सम्भोगस्ताव ऋतुमाल्यानुलेपनालङ्कारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवमश्रवणदर्शनक्रीडा–लीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य नयनचातुर्यभ्रूविक्षेपकटाक्षसञ्चारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य । व्यभिचारिणश्चास्यालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्जम् । विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रासुप्तस्वप्नविब्बोकव्याध्युन्मादापस्मारजाड्यमरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्य । अत्राह यद्येव रतिप्रभव शृगार कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति ? अत्रोच्यते पूर्वमेवाभिहित सम्भोगविप्रलम्भकृत शृगार इति । वैशिकशास्त्रैश्च दशावस्थोऽभिहित । ताश्चावस्था सामान्याभिनये वक्ष्याम ।

करुणस्तु शापक्लेशविनिपातेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धनसमुत्थो निरपेक्षभाव औत्सुक्यचिन्तासमुत्थ । सापेक्षभावो विप्रलम्भकृत । एवमन्य करुण अन्यश्च विप्रलम्भ । एवमेष सर्वभावसयुक्त शृङ्गारो भवति । (पृ० ७३)

अपि च

सुखप्रायेष्टसम्पन्न ऋतुमाल्यादिसेवक ।
पुरुष प्रमदायुक्त शृङ्गार इति सज्ञित ॥६।४६॥

अपि चात्र सूत्रानुबद्धे आर्ये भवत

ऋतुमाल्यालकारै प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभि ।
उपवनगमनविहारै शृङ्गाररस समुद्भवति ॥६।४७॥

नयनवदनप्रसादै स्मितमधुरवचोधृतिप्रमोदैश्च ।
मधुरैश्चाङ्गविकारैस्तस्याभिनय प्रयोक्तव्य ॥६।४८॥

अथ *हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मक* । स च विकृतवेषालकारधार्ष्ट्यलौल्यकलहासत्प्रलापव्यङ्गदर्शनदोषोदाहरणादिभिर्विभावै समुत्पद्यते । तस्यौष्ठदशननासाकपोलस्पन्दनदृष्टिव्याकोशाकुञ्चनस्वेदास्यरागपार्श्वग्रहणादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य । व्यभिचारिणश्चास्य आलस्यावहित्थतन्द्रानिद्रास्वप्नप्रबोधासूयादय । द्वि-

यश्चायम् आत्मस्थः परस्थश्च । यदा स्वयं हसति तदात्मस्थः । यदापरं हासयति तदा परस्थः ।

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः

विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च ।
विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ॥६।४९॥

विकृताकारैर्वाक्यैरङ्गविकारैर्विकृतवेषैश्च ।
हासयति जनं यस्मात् तस्माद् ज्ञेयो रसो हास्यः ॥६।५०॥

स्त्रीनीचप्रकृतावेष भूयिष्ठं दृश्यते रसः ।
षड् भेदाश्चास्य विज्ञेयास्तांश्च वक्ष्याम्यहं पुनः ॥६।५१॥

स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितञ्चापहसितमतिहसितम् ।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्यमाधमप्रकृतौ ॥६।५२॥

स्मितहसिते ज्येष्ठानां मध्यानां विहसितोपहसिते च ।
अधमानामपहसितं तथातिहसितं च विज्ञेयम् ॥६।५३॥

अत्र श्लोकाः

ईषद्विहसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः ।
अलक्षितद्विजं धीरमुत्तमानां स्मितं भवेत् ॥६।५४॥

उत्फुल्लाननेत्रस्तु गण्डैर्विहसितैरथ ।
किञ्चिल्लक्षितदन्तं च हसितं तद्विधीयते ॥६।५५॥

अथ मध्यानाम्

आकुञ्चिताक्षिगण्डं यत् सस्वरं मधुरं तथा ।
कालागतं सास्यरागं तद्वै विहसितं भवेत् ॥६।५६॥

उत्फुल्लनासिकं यच्च जिह्मदृष्टिनिरीक्षणम् ।
निकुञ्चितांसकशिरस्तच्चोपहसितं भवेत् ॥६।५७॥

अधमानाम्

अस्थानहसितं यत्र साश्रुनेत्रं तथैव च ।
उत्कम्पितांसकशिरस्तच्चापहसितं भवेत् ॥६।५८॥

सरब्यसाक्षनेत्र च विकृष्टस्वरमुद्धतम ।
करोपगूढपार्श्वं च तच्चातिहसितं भवेत ॥६।५९॥

हासस्थानानि यानि स्यु कार्योत्पन्नानि नाटके ।
उत्तमाधममध्यानामेव तानि प्रयोजयेत ॥६।६०॥

एवमात्मसमुत्थ च तथा परसमुत्थितम् ।
द्विविधस्त्रिप्रकृतिक षड्भेदोऽय रस स्मृत ॥६।६१॥

अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभव । स च शापक्लेशविनिपातेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धविद्रवोपघातव्यसनसयोगादिभिर्विभावै समुपजायते । तस्य चाश्रुपातनपरिदेवनमुखशोषणवैवर्ण्यस्रस्तगात्रतानिश्वासस्मृतिविलोपादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य । व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यावेगमोहश्रमभयविषाददैन्यव्याधिजडतोन्मादापस्मारत्रासालस्यमरणस्तम्भवेपथुवैवर्ण्याश्रुस्वरभेदादय ।

अत्रार्ये भवत

इष्टवधदर्शनाद् वा विप्रियवचनस्य सश्रवाद् वापि ।
एभिर्भावविशेषै करुणरसो नाम सभवति ॥६।६२॥

सस्वन (वि) रुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलापैश्च ।
अभिनेय करुणरसो देहायासाभिघातैश्च ॥६।६३॥

अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मक । रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रभव सङ्ग्रामहेतुक । स च क्रोधधर्षणाधिक्षेपावमानानृतवचनवाक्पारुष्यद्रोहमात्सर्यादिभिर्विभावै समुपजायते । तस्य च ताडनपाटनपीडनच्छेदनभेदनप्रहरणाहरणशस्त्रसपातसप्रहाररुधिराकर्षणाद्यानि कार्याणि । पुनश्च रक्तनयनस्वेदभ्रुकुटीकरदन्तोष्ठपीडनगण्डस्फुरणहस्ताग्रनिष्पेषादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य । व्यभिचारिणश्चास्य सम्मोहोत्साहावेगामर्षचपलतौग्र्यस्वेदवेपथुरोमाञ्चगद्गदादय । अत्राह—यदभिहित राक्षसादीना रौद्रो रस किमन्येषा नास्तीत्युच्यते । अस्त्यन्येषामपि रौद्र । किं त्वधिकारोऽत्र गृह्यते । ते हि स्वभावत एव रौद्रा बहुबाहवो बहुमुखा प्रोद्धूतविकीर्णपिङ्गलशिरोजा रक्तोद्वृत्तविलोचना भीमासितरूपिणश्चैव । यच्च किञ्चित्समारम्भन्ते स्वभावचेष्टित वागङ्गादिक वा तत्सर्वं रौद्रमेवेति । तेषा चानुगामिनो ये पुरुषास्तेषामपि सग्रामप्रहारकृतो रौद्ररसोऽनुमन्तव्य । अत्रानुवश्ये आर्ये भवत—

युद्धप्रहारघातनविकृतच्छेदनविदारणैश्चैव ।
सग्रामसभ्रमाद्यैरेभि सजायते रौद्र ॥६।६४॥

नानाप्रहरणकुलशिरःकबन्धभुजकर्तनैश्चैव ।
एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥६।६५॥

इति रौद्ररसो दृष्टो रौद्रवागङ्गचेष्टितः ।
शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ उग्रकर्मक्रियात्मकः ॥६।६६॥

अथ वीरो नाम उत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः । स च असंमोहाध्यवसायनयविनय-बहुलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य स्थैर्यशौर्यधैर्यत्यागवैशारद्या-दिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । सञ्चारिभावाश्चास्य धृतिमतिगर्वावेगौग्र्यामर्षस्मृति-रोमाञ्चादयः ।

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः

उत्साहाध्यवसायादविषादित्वादविस्मयान्मोहात् ।
विविधादर्थविशेषाद् वीररसो नाम सम्भवति ॥६।६७॥

स्मृतिधैर्यवीर्यशौर्योत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः ॥६।६८॥

अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मकः । स च विकृतरवसत्त्वदर्शनशिवो-लूकत्रासोद्वेगशून्यागारारण्यप्रवेशमरणस्वजनवधबन्धदर्शनश्रुतिकथादिभिर्विभावैरुत्प-द्यते । तस्य प्रवेपितकरचरणनयनचलनपुलकमुखवैवर्ण्यस्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । व्यभिचारिभावाश्चास्य स्तम्भस्वेदगद्गदरोमाञ्चवेपथुस्वरभेदवैवर्ण्यशङ्का-मोहदैन्यावेगचापलत्रासापस्मारमरणादयः ।

अत्रानुवंश्या आर्या भवन्ति

विकृतरवसत्त्वदर्शनसंग्रामारण्यशून्यगृहगमनात् ।
गुरुनृपयोरपराधात् कृतकश्च भयानको ज्ञेयः । ६।६९॥

गात्रमुखदृष्टिभेदैरूरुस्तम्भाभिवीक्षणोद्वेगैः ।
सन्नमुखशोषहृदयस्पन्दनरोमोद्गमैश्च भयम् ॥६।७०॥

एतत् स्वभावजं स्यात् सत्त्वसमुत्थं तथैव कर्तव्यम् ।
पुनरेभिरेव भावैः कृतकं मृदुचेष्टितैश्च कार्यम् ॥६।७१॥

करचरणवेपथुस्तम्भगात्रहृदयप्रकम्पेन ।
शुष्कोष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ॥६।७२॥

अथ बीभत्सो नाम जुगुप्सास्थायिभावात्मक । स चाहृद्याप्रियाचोक्षानिष्टश्रवण-दर्शनपरिकीर्तनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य सर्वाङ्गसंहारमुखनेत्रविघूर्णन हृल्लेखनिष्ठीव नोद्वेजनादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य । व्यभिचारिभावाश्चास्यापस्मारवेगमोह-व्याधिमरणादय ।

अत्रानुवश्ये आर्ये भवत

अनभिहितदर्शनेन च रसगन्धस्पर्शशब्ददोषैश्च ।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरस समुद्भवति ॥६।७३॥

मुखनेत्रविघूर्णनया नासाप्रच्छादनावनमितास्यै ।
अव्यक्तपादपतनै सम्यगभिनय प्रयोक्तव्य ॥६।७४॥

अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मक । स च दिव्यदर्शनेप्सितमनोरथा-वाप्त्युपवनदेवकुलादिगमनसभाविमानमायेन्द्रजालसम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य नयनविस्तारानिमिषप्रेक्षणरोमाञ्चाश्रुस्वेदहर्षसाधुवादप्रदानप्रबन्धहाहाकारकरचरणाङ्गुलि-भ्रमणादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य । व्यभिचारिभावाश्चास्याश्रुस्तम्भस्वेदगद्गद रोमाञ्चावेगसम्भ्रमजडताप्रलयादय ।

अत्रानुवश्ये आर्ये भवतः

यत्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शीलं च कर्म रूपं च ।
एभिस्तस्य विशेषं रसोऽद्भुतो नाम विज्ञेय ॥६।७५॥

स्पर्शग्रहोल्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च ।
वेपथुगद्गदवचनै स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥६।७६॥

शृङ्गारं त्रिविधं विद्यात् वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकम् ।
अङ्गनेपथ्यवाक्यैश्च हास्यरौद्रौ त्रिधा स्मृतौ ॥६।७७॥

धर्मोपघातजश्चैव तथा स्वपचयोद्भव ।
तथा शोककृतश्चैव करुणस्त्रिविध स्मृत ॥६।७८॥

दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च ।
रसवीरमपि प्राहुस्तज्ज्ञास्त्रिविधसम्मतम् ॥६।७९॥

व्याजाच्चैवापराधाच्च वित्रासितकमेव च ।
पुनर्भयानकं चापि विद्यात् त्रिविधमेव च ॥६।८०॥

बीभत्सः क्षोभजः शुद्ध उद्वेगी स्यात्तृतीयकः ।
विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभजो रुधिरादिजः ॥६।८१॥

दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतो रसः ।
दिव्यदर्शनजो दिव्यो हर्षादानन्दजः स्मृतः ॥६।८२॥

एवमेते रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिताः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भावानामपि लक्षणम् ॥६।८३॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे रसविकल्पो नाम षष्ठोऽध्यायः

२ भाववर्णनम्

भावानिदानीं वक्ष्यामः ।

अत्राह—भावा इति कस्मात् ? किं भावयन्तीति भावाः ? उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः । भाव इति करणसाधनः यथा भावितो वासितः कृत इत्यर्थान्तरम् । लोकेऽपि सिद्धं अहो ह्यन्योन्यगन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितम् । अपि च व्याप्त्यर्थं श्लोकाश्चात्र भवन्ति ।

विभावेनाहृतो योऽर्थस्त्वनुभावेन गम्यते ।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥७।१॥

वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च ।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ॥७।२॥

नानाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥७।३॥

विभाव इति कस्मादुच्यते । विभावो विज्ञानार्थः । विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः । विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभावः । यथा विभावितं विज्ञातमित्यर्थान्तरम् ।

अत्र श्लोकः

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रिताः ।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥७।४॥

अथानुभावा इति कस्मादुच्यते अत्रयमनुभावयति नानार्थाभिनिष्पन्नो वागङ्गसत्त्वं कृतोभिनय इति

अत्र श्लोक

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्तत स्मृत ॥७।५॥

तत्राष्टौ भावा स्थायिन, त्रयस्त्रिंशत् व्यभिचारिण, अष्टौ सात्त्विका इति भेदा । एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपञ्चाशत् भावा प्रत्यवगन्तव्या । एभ्यश्च *सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते* । भवति चात्र श्लोक ।

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भव ।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥७।७॥

अत्राह—यद्यन्योन्यार्थसंश्रितैर्विभावानुभावव्यञ्जितैरेकोनपञ्चाशद्भावै सामान्यगुणयोगेनाभिनिष्पद्यन्ते रसा, कथमिदानीमेते स्थायिनोऽष्टौ भावा रसत्वमाप्नुवन्तीत्युच्यते ? एवमेतदिति । कस्मात् ? यथाहि समानलक्षणास्तुल्यपाणिपादोदरसमाना समानप्रत्यया अपि पुरुषा कुलशीलविद्याकर्मशिल्पविचक्षणत्वयुक्ता राजत्वमाप्नुवन्ति तत्रैव चान्येऽल्पबुद्धयस्तेषामेवानुचरा भवन्ति । तथा विभावानुभावव्यभिचारिण स्थायिभावानुपाश्रिता भवन्तीत्याश्रयत्वात् स्वामिभूताश्च स्थायिनो भावा । तद्वत् स्थायिनि नृपवि गुणीभूता अन्ये भावा । तान् गुणवत्तयाऽऽश्रयन्ते परिजनभूता व्यभिचारिणो भावा । को दृष्टान्त इति ? यथा नरेन्द्रो बहुजनपरिवारोऽपि सन् स एव नाम लभते नान्य सुमहानपि पुरुष । यथा गच्छन्तु कश्चित् क्वचित् पृच्छति कोऽयमिति । स च तमाह राजेत्येव । तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृत्त स्थायी भावो रसनाम लभते नरेन्द्रवत् ।

भवति चात्र श्लोक

यथा नराणां नृपति शिष्याणां च यथा गुरु ।
एवं हि सर्वभावानां भाव स्थायी महानिह ॥७।८॥

व्यभिचारिभावा

व्यभिचारिण इदानीं वक्ष्याम । अत्राह । व्यभिचारिण इति कस्मादुच्यते ? वि अभि इत्येतावुपसर्गौ । चर गतौ धातु । धात्वर्थंवागङ्गसत्त्वोपेतान् विविधमभिमुखेन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिण । चरन्ति नयन्तीत्यर्थं । कथं नयन्ति ? उच्यते । यथा सूर्य

इदं नक्षत्रमग्नं वासरं नयतीति । न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते । किंतु लोकप्रसिद्धमेतत् । यथायं सूर्यो नक्षत्रमिदं वा नयतीति एवमेते व्यभिचारिण इत्यवगन्तव्याः । प्रति व्यभिचारिणस्त इमे एवं गृहीतास्त्रयस्त्रिंशद्भावाः ।

सात्त्विकभावाः

अत्राह किमन्ये भावाः सत्त्वेन विनाभिनीयन्ते यत एते सात्त्विका इत्युच्यन्ते ? अत्रोच्यते इह सत्त्वं नाम मनःप्रभवम् । तच्च समाहितमनस्त्वात् उत्पद्यते । मनःसमाधानाच्च सत्त्वनिर्वृत्तिर्भवति । तस्य च योऽसौ स्वभावः स्तम्भस्वेदरोमाञ्चाश्रुवैवर्ण्यादिको न शक्यते मनसा कर्तुमिति लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम् । अत्राह को दृष्टान्त इति चेत्, अत्रोच्यते इह हि नाट्यधर्मः प्रवृत्तः सुखदुःखकृतो भावः तथासत्त्वविशुद्धाधिष्ठित. कार्यो यथास्वरूपो भवति । तत्र दुःखं नाम रोदनात्मकम् । तत्कथमदु.खितेन, सुखं प्रहर्षात्मकं असुखितेनाभिनेतुं शक्यते इति सत्त्वसमीप्सितमिति कृत्वा सात्त्विको नाम भावः । एतदेवास्य सत्त्वं यददु.खितेन सुखितेन वा अश्रुरोमाञ्चौ दर्शयितव्याविति व्याख्यातम् । इमे

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरसादोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥७।९३॥

तत्र

क्रोधभयहर्षलज्जादुःखश्रमरोगतापघातेभ्यः ।
व्यायामक्लमघर्मात् स्वेदः संपीडनाच्चैव ॥७।९४॥

हर्षभयरोगविस्मयविषादमदरोषसम्भवः स्तम्भः ।
शीतभयहर्षरोषस्पर्शजरासम्भवः कम्पः ॥७।९५॥

आनन्दामर्षाभ्यां धूमाञ्जनजृम्भणभयाच्च ।
शोकादनिमिषप्रेक्षणशीताद्रोगात् भवेदस्रम् ॥ ७।९६ ॥

शीतक्रोधभयश्रमरोगक्लमतापजं च वैवर्ण्यम् ।
स्पर्शभयशीतहर्षात् क्रोधाद्रोगाच्च रोमाञ्चः ॥७।९७॥

स्वरसादो भयहर्षक्रोधज्वररोगमदजनितः ।
श्रममूर्च्छामदनिद्राभिघातमोहादिभिः प्रलयः ॥७।९८॥

एवमेते बुधैर्ज्ञेया भावा ह्यष्टौ तु सात्त्विकाः ।
कर्म चैषां प्रवक्ष्यामि ह्यनुभावानुभावकम् ॥७।९९॥

व्यञ्जनग्रहणाच्चापि स्वेदापनयनेन च ।
स्वेदस्याभिनयो योज्यस्तथा वाताभिलाषतः ॥७।१००॥

निश्चेष्टो निष्प्रकम्पश्च स्मितशून्यजडाकृति ।
नि संज्ञस्तब्धगात्रश्च स्तम्भं त्वभिनयेद् बुध ॥७।१०१॥

वेपनात् स्फुरणात् कम्पात् वेपथुं सम्प्रयोजयेत् ।
स्वरभेद तथा चैव भिन्नगद्गदनिस्वनं. ॥७।१०२॥

मुहुः कण्टकितत्वेन तथोल्लुकसनेन (?) च ।
रोमाञ्चस्त्वभिनेयोऽसो गात्रसंस्पर्शनेन च ॥७।१०३॥

नेत्रसंमार्जनैर्बाष्पैरश्रु त्वभिनयेद् बुध ।
मुखवर्णपरावृत्त्या नाडीपीडनयोगत ॥७।१०४॥

वैवर्ण्यमभिनेतव्यं प्रयत्नादङ्गसंश्रयम् ।
मेदिनीपतनाच्चापि प्रलयाभिनयो भवेत् ॥७।१०५॥

भावानां रसे विनियोगः

एकोनपञ्चाशदिमे यथावद् भावा व्यवस्था गदिता मया च ।
येषां च ये यत्र रसे नियोज्यास्तान् श्रोतुमर्हन्ति च विप्रमुख्याः ॥७।१०६॥

ग्लानिः शङ्का ह्यसूया च श्रमश्चपलता तथा ।
सुप्तं निद्रावहित्थ च शृंगारे वेपथुस्तथा ॥७।१०७॥

आलस्यौग्र्यजुगुप्साभिर्भावैस्तु परिवर्जिता ।
उद्भावयन्ति शृङ्गारं सर्वे भावा स्वसंज्ञया ॥७।१०८॥

ग्लानिः शङ्का ह्यसूया च श्रमश्चपलता तथा ।
सुप्तनिद्रावहित्थं च हास्ये भावाः प्रकीर्तिताः ॥७।१०९॥

निर्वेदश्चैव चिन्ता च दैन्यग्लान्यस्रमेव च ।
जडता मरणं चैव व्याधिश्च करुणे रसे ॥७।११०॥

असम्मोहस्तथोत्साह आवेगो हर्ष एव च ।
मतिश्चैव तथोग्रत्वं हर्षं उन्माद एव च ॥७।१११॥

रोमाञ्च प्रतिबोधश्च क्रोधासूये धृतिस्तथा।
गर्वश्चैव वितर्कश्च वीरे भावा भवन्ति हि ॥७।११२॥

गर्वोऽसूया तथोत्साह आवेगो मद एव च।
क्रोधश्चपलता हर्षो रौद्रे तूग्रत्वमेव च ॥७।११३॥

स्वेदश्च वेपथुश्चैव रोमाञ्चो गद्गदस्तथा।
त्रासश्च मरणं चैव वैवर्ण्यं च भयानके ॥७।११४॥

अपस्मारस्तथोन्मादो विषादो मद एव च।
मृत्युर्व्याधी भयं चैव भावा बीभत्ससंश्रिता ॥७।११५॥

स्तम्भः स्वेदश्च मोहश्च रोमाञ्चो विस्मयस्तथा।
आवेगो जडता हर्षो मूर्च्छा चैवाद्भुताश्रया ॥७।११६॥

ये त्वेते सात्त्विका भावा नानाभिनयसंश्रिताः।
रसेष्वेतेषु सर्वेषु विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥७।११७॥

न ह्येकरसजं काव्यं किञ्चिदस्ति प्रयोगतः।
भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा ॥७।११८॥

सर्वेषां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः ॥७।११९॥

विभावानुभावयुतो ह्यङ्गवस्तुसमाश्रयः।
सञ्चारिभिस्तु संयुक्तः स्थाय्येव तु रसो भवेत् ॥७।१२०॥

स्थायी सत्त्वातिरेकेण प्रयोक्तव्यः प्रयोक्तृभिः।
सञ्चार्याकारमात्रेण स्थायी यस्माद् व्यवस्थितः ॥७।१२१॥

चित्राणि न विरज्यन्ते लोके चित्रं हि दुर्लभम्।
विमर्दो रागमायाति प्रयुक्तमपि यत्नतः ॥७।१२२॥

नानार्थभावनिष्पन्ना स्थायिसत्त्वविचारिणः।
पुंसामुत्कीर्णा कर्तव्या काव्ये सत्त्वरसाश्रये ॥७।१२३॥

एवं रसाश्च भावाश्च व्यवस्था नाटके स्मृता।
य एवमेतान् जानाति स गच्छेत्सिद्धिमुत्तमाम् ॥७।१२४॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे भावव्यञ्जको नाम सप्तमोऽध्यायः।

अलङ्कार.

उपमा रूपक चैव दीपक यमक तथा ।
अलङ्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रया ॥१७।४३॥

यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते ।
उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ॥१७।४४॥

एकस्यैकेन सा कार्यानेकेनाप्यथवा पुन ।
अनेकस्य तथैकेन बहूना बहुभिस्तथा ॥१७।४५॥

तुल्य ते शशिना वक्त्रमिति ह्येककृता भवेत् ।
एकस्य बहुभि सा स्यादुपमा नाटकाश्रया ॥१७।४६॥

शशाङ्कवत् प्रकाशन्ते ज्योतींषीति भवेत्तु या ।
एकस्यानेकविषया सोपमा परिकीर्तिता ॥१७।४७॥

श्येनबर्हिणभासानां तुल्यार्थ इति या भवेत् ।
एकस्य बहुभि सा स्यादुपमा नाटकाश्रया ॥१७।४८॥

तुल्य ते शशिना वक्त्रमित्येकेऽनेकसंश्रया ।
बहूनां बहुभिर्ज्ञेया घना इव गजा इति ॥१७।४९॥

प्रशसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा ।
किञ्चिच्च सदृशी ज्ञेया ह्युपमा पञ्चधा बुधै ॥१७।५०॥

प्रशसा यथा—

दृष्ट्वा तु तां विशालाक्षीं तुतोष मनुजाधिप ।
मुनिभि साधिता कृच्छ्रात् सिद्धि मूर्तिमतीमिव ॥१७।५१॥

निन्दा यथा—

सा तं सर्वगुणैर्हीनं सस्वजे कर्कशच्छविम् ।
वने कण्ठगता वल्ली दावदग्धमिव द्रुमम् ॥१७।५२॥

कल्पिता यथा—

क्षरन्तो दानसलिलं लीलामन्थरगामिन ।
मतङ्गजा विराजन्ते जङ्गमा इव पर्वता ॥१७।५३॥

सदृशी यथा—

यत्त्वयाऽद्य कृतं कर्म परचित्तानुरोधिना ।
सदृशं तत्त्वयैव स्यादतिमानुषकर्मणा ॥१७।५४॥

किंचित्सदृशी यथा—

सम्पूर्णचन्द्रवदना नीलोत्पलदलेक्षणा ।
मत्तमातङ्गगमना सम्प्राप्तेयं सखी मम ॥१७।५५॥

उपमाया बुधैरेते भेदा ज्ञेयाः समासतः ।
शेषा ये लक्षणैर्नोक्तास्ते ग्राह्याः काव्यलोकतः ॥१७।५६॥

नानाद्रव्यानुषङ्गार्थैर्यदौपम्यं गुणाश्रयम् ।
रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम् ॥१७।५७॥

स्वविकल्पेन रचितं तुल्यावयवलक्षणम् ।
किञ्चित्सादृश्यसम्पन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत् ॥१७।५८॥

यथा—

पद्माननास्ताः कुमुदप्रहासा
विकासिनीलोत्पलचारुनेत्राः ।
वापीस्त्रियो हंसकुलैर्निनद्भिर्—
विरेजुरन्योन्यमिवाह्वयन्त्यः ॥१७।५९॥

नानाधिकरणस्थानां शब्दानां सम्प्रदीपकः ।
एकवाक्येन संयोगो यस्तद्दीपकमुच्यते ॥१७।६०॥

यथा—

सरांसि हंसैः कुसुमैश्च वृक्षा
मत्तैर्द्विरेफैश्च सरोरुहाणि ।
गोष्ठीभिरुद्यानवनानि चैव
तस्मिन्नशून्यानि सदा क्रियन्ते ॥१७।६१॥

शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम् ।
विशेषदर्शनं चास्य गदतो मे निबोधत ॥१७।६२॥

काव्य-दोषा.

अगूढमर्थान्तरमर्थहीनं
भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम् ।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि
शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषा ॥१७।८८॥

पर्यायशब्दाभिहितं गूढार्थमभिसंज्ञितम् ।
अवर्ण्यं वर्ण्यते यत्र तदर्थान्तरमिष्यते ॥१७।८९॥

अर्थहीनं त्वसम्बद्धं सा त्वशेषार्थमेव च ।
भिन्नार्थमभिविज्ञेयमसभ्यं ग्राम्यमेव च ॥१७।९०॥

(वि) वक्षितोऽन्य एवार्थो यत्रान्यार्थेन भिद्यते ।
भिन्नार्थं तदपि प्राहुः काव्यं काव्यविचक्षणा ॥१७।९१॥

एकार्थस्याभिधानं यत् तदेकार्थमिति स्मृतम् ।
अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत् पादेन समस्यते ॥१७।९२॥

न्यायादपेतं विज्ञेयं प्रमाणपरिवर्जितम् ।
वृत्त (दोषो) भवेद्यत्र विषमं नाम तद् भवेत् ॥१७।९३॥

अनुप्रतिष्ठाशब्दं यत् तद्विसन्धीति कीर्तितम् ।
शब्दहीनं च विज्ञेयमशब्दस्य च योजनात् ॥१७।९४॥

एते दोषास्तु विज्ञेया सूरिभिर्नाटकाश्रया ।
एत एव विपर्यस्ता गुणा काव्येषु कीर्तिताः ॥१७।९५॥

गुणाः

श्लेषः प्रसादः समता समाधि
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।

अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च
कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ॥१७।९६॥

विचार्यग्रहण वृत्या स्फुटश्चैव स्वभावत ।
स्वत सुप्रतिबद्धश्च श्लिष्ट तत्परिकीर्त्यते ॥१७।९७॥

ईप्सितेनार्थजातेन सम्बद्धानुपरस्परम् ।
श्लिष्टता या पदानां हि श्लेष इत्यभिधीयते ॥१७।९८ ॥

अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दोऽर्थो वा प्रतीयते ।
सुखशब्दार्थसम्बोधात् प्रसाद परिकीर्त्यते ॥१७।९९॥

अन्योन्यसदृशा यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणम् ।
अलकारगुणाश्चैव समासात समता मता ॥१७।१००॥

उपमास्विथहिष्टाना (?) अर्थानां यत्नतस्तथा ।
प्राप्ताना चातिसयोग समाधि परिकीर्त्यते ॥१७।१०१॥

बहुशो यच्छ्रुत वाक्य उक्त वापि पुन पुन ।
नोद्वेजयति यस्माद्धि तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ॥१७।१०२॥

अवगीतविहीनोऽपि स्यादुदात्तावभासक ।
यत्र शब्दार्थसम्पत्तिस्तदोज परिकीर्तितम् ॥१७।१०३॥

सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्त सुश्लिष्टसन्धिभि ।
सुकुमारार्थसयुक्त सौकुमार्यं तदुच्यते ॥१७।१०४॥

यस्यार्थानुप्रवेशेन मनसा परिकल्प्यते ।
अनन्तर प्रयोगस्य साऽर्थव्यक्तिरुदाहृता ॥१७।१०५॥

अनेकार्थविशेषैर्यत् सूक्तं सौष्ठवसयुत ।
उपेतमतिचित्रार्थैरुदात्त तच्च कीर्त्यते ॥१७।१०६॥

यो मनश्श्रोत्रविषय प्रसादजनको भवेत् ।
शब्दबन्ध प्रयोगेण स कान्त इति भण्यते ॥१७।१०७॥

अलंकार-गुणदोष-छन्दसा-रसाश्रयत्वम्

एवमेते ह्यलङ्कारा गुणा दोषाश्च कीर्तिता ।
प्रयोगमेषा च पुन वक्ष्यामि रसंसश्रयम् ॥ ७।१०८॥

लघ्वक्षरप्रायकृत उपमारूपकाश्रयम् ।
काव्य कार्यं तु काव्यज्ञं वीररौद्राद्भुताश्रयम् ॥ १७।१०९ ॥

गुर्वक्षरप्रायकृत बीभत्से करुणे तथा ।
कदाचिद्रौद्रवीराभ्या यदाघर्षणज भवेत् ॥११।११०॥

रूपदीपकसयुक्त मार्यावृत्तसमाश्रयम् ।
शृङ्गारे रसकार्यं तु काव्य स्यान्नाटकाश्रयम् ॥१७।१११॥

उत्तरोत्तरसयुक्त वीरे काव्य तु यद् भवेत् ।
जगत्यातिजगत्या वा सकृत्यां वापि तद् भवेत् ॥१७।११२॥

तथैव युद्धसस्फेटा उत्कृत्यां सम्प्रकीर्तितो ।
करुणे शक्वरी ज्ञेया ... तथैवातिधृतिर्भवेत् ॥१७।११३॥

यद् वीरे कीर्तित च्छन्द तद्रौद्रेऽपि प्रयोजयेत् ।
शेषाणामर्थयोगेन च्छन्द कार्यं प्रयोक्तृभि ॥१७।११४॥

भामह

(समय—षष्ठ शतक का मध्यकाल)

[ग्रन्थ—काव्यालङ्कार]

१ काव्य-प्रशंसा

अच्छे काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में और कलाओं में चतुरता तथा प्रीति एवं कीर्ति को देने वाली है ॥१।२॥

जैसे धनरहित दाता नहीं हो सकता, जैसे नपुंसक में अस्त्र-चातुर्य, और मूर्ख में चातुर्य नहीं हो सकता, वैसे ही अकवि शास्त्र ज्ञाता भी नहीं हो सकता ॥१।३॥

नम्रता के बिना लक्ष्मी क्या है ? चन्द्र के बिना भला रात कैसी ? सत्कवित्व से रहित वाणी-चातुर्य कैसा ? ॥१।४॥

गुरु के उपदेश से तो, जड़बुद्धि भी शास्त्र पढ़ सकता है, काव्य तो किसी प्रतिभा (नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि)—वाली से ही बन पाता है ॥ १।५ ॥

अच्छे काव्य-रूप निबन्धों के रचयिताओं का चाहे स्वर्गवास भी हो चुका हो, पर उनका काव्य रूप सुन्दर शरीर अक्षय ही रहा करता है ॥१।६॥

उसकी अनश्वर कीर्ति जब तक पृथ्वी आकाश में व्याप्त है, तब तक वह पुण्यात्मा देव-पद पर आसीन है ॥१।७॥

अतः पृथिवी की स्थिति तक स्थिर कीर्ति की इच्छा वाले विद्वान पुरुष को काव्य-रचना का यत्न करना चाहिए ॥१।८॥

२ काव्य-साधन

काव्य-रचना के अभिलाषी पुरुष को शब्द, छन्द, कोष प्रतिपादित अर्थ, ऐतिहासिक कथाएँ, लोक-व्यवहार, युक्ति और कलाओं का मनन करना चाहिए ॥१।९॥

शब्द और अर्थ को जानकर, उसके विद्वानो के समीप रह कर, दूसरो के निबन्धों को देख कर काव्य-रचना में प्रवृत्त होना चाहिए ॥१।१०॥

किसी भी अवस्था में एक पद भी सदोष नही लिखना चाहिए। कुत्सित पुत्र के समान कुलक्षण काव्य से भी (पुरुष) निन्दित होता है ॥१।११॥

कवि न होना अधर्म अथवा व्याधि या दण्ड का पात्र बनाता है, पर पण्डितो ने कुकवित्व को तो साक्षात् मृत्यु ही माना है ॥१।१२॥

काव्य के रूपक आदि अलकारो का अन्य आचार्यों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है। स्त्री का सुन्दर मुख भी बिना भूषण के नही सजता ॥१।१३॥

कुछ विद्वान रूपकादि अर्थालकारों को बाह्य (अर्थात् काव्यार्थ-प्रतीति के पीछे उत्पन्न होने वाले) बतलाते हैं। वे सुबन्त और तिङन्त पदो के अनुप्रास आदि वा रचनादि रूप शब्दालकार को ही अधिक चमत्कारक मानते हैं और कहते हैं कि शब्द-रचना की चतुराई जितनी चित्ताकर्षक होती है उतनी अर्थालकार की नहीं। परन्तु हमें तो दोनों प्रकार के भेदों से विशिष्ट काव्य चमत्कारजनक होने से रुचते हैं ॥१।१४-१५॥

३ काव्य-लक्षण

शब्द और अर्थ मिल कर ही काव्य हुआ करता है। उसके गद्य और पद्य दो भेद हैं। फिर, काव्य, सस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश तीन प्रकार का होता है ॥१।१६॥

४. काव्य-भेद

(प्रतिपाद्य वस्तु के आधार पर) काव्य के चार भेद हैं—देवादि-वृत्त का निरूपक कलाश्रित तथा शास्त्राश्रित काव्य और कल्पित वस्तु का निरूपक कलाश्रित और शास्त्राश्रित काव्य ॥१।१७॥

फिर (बन्ध की दृष्टि से) उसके पाँच भेद हैं। १ सर्गबद्ध २ अभिनेय वस्तु (नाटक) ३ आख्यायिका ४ कथा, ५ अनिबद्ध (मुक्तक) काव्य ॥१।१८॥

(क) महाकाव्य

महाकाव्य सर्गबद्ध होता है। वह महान् (विषय) का निरूपक और महान् होता है। उसमें अग्राम्य शब्द, सुन्दर अर्थ, अलकार और सद्वस्तु होनी चाहिए ॥१।१९॥

उसमें मंत्र, दूत-प्रयाण, युद्ध, नायक का अभ्युदय, पाँच सन्धियाँ हों। बहुत व्याख्या के योग्य न हो, उत्कर्षयुक्त हो ॥१।२०॥

धर्म आदि चारों वर्गों का वर्णन होने पर भी प्रधानतया उसमें अर्थ उपदिष्ट हो। उसमें लोकस्वभाव का वर्णन हो और सभी रसों का पृथक् निरूपण हो ॥१।२१॥

कुल, बल, शास्त्राध्ययन आदि से नायक का उत्कर्ष बताकर, फिर दूसरे का उत्कर्ष कहने की इच्छा से उस नायक का वध न दिखाया जाय ॥१।२२॥

यदि उस नायक को काव्य के शरीर में व्यापक नहीं करना और उसका अभ्युदय न दिखलाना हो, तो उसका आश्रयण तथा पहले स्तुति करना भी व्यर्थ है ॥१।२३॥

(ख) नाटक

नाटक में अभिनय योग्य वर्णन होता है। उसमें द्विपदी, शम्या, रासक, स्कन्धक आदि होते हैं। दूसरे पण्डितों ने उसका विस्तार से निरूपण किया है ॥१।२४॥

(ग) आख्यायिका

जिसमें प्रकरण की आकुलता न हो, श्रव्य शब्द और अर्थ एवं पद हों, गद्य का प्रयोग हो, अर्थ उदात्त (उत्कृष्ट) हो और उच्छ्वास हों उसे आख्यायिका कहते हैं ॥१।२५॥

उसमें नायक अपने वृत्त तथा चेष्टा का वर्णन करता है। वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग होता है, तथा यथावसर भविष्यत् अर्थ का निरूपण भी होता है ॥१।२६॥

(घ) कथा

कथा—कवि के साभिप्राय कथनों से युक्त होती है। उसका विषय कन्याहरण, युद्ध, वियोग (आदि) होता है ॥१।२७॥ इसमें वक्त्र, अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग नहीं होता, उच्छ्वास भी नहीं होते। उसमें संस्कृत भाषा का प्रयोग होता है तथा अपभ्रंश भाषा का भी ॥१।२८॥ नायक उसमें अपना चरित नहीं बताता, कुलीन पुरुष भला अपने गुणों का वर्णन कैसे कर सकता है ? ॥१।२९॥

(ङ) गाथा

श्लोकमात्र की प्रबंधरहित रचना गाथा होती है। उसमें वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति आदि सभी होते हैं ॥१।३०॥

५ वैदर्भ और गौडीय का भेद

वैदर्भ—दूसरे विद्वान् मानते हैं कि—वैदर्भ (मार्ग) तो कुछ और है, वही श्रेष्ठ है, सुन्दर अर्थवाला भी अन्य (मार्ग) श्रेष्ठ नही ॥१।३१॥

गौडीय—यह वैदर्भ ही गौडीय है, पृथक् मानने की आवश्यकता नही। निर्बुद्धि लोगों की दृष्टि में गतानुगतिकतावश ये भिन्न भिन्न नाम हैं ॥१।३२॥ (प्र०) अश्मकवश आदि को वैदर्भ कहा जाता है (उ०) अच्छा यही सही, परन्तु नाम तो प्राय अपनी इच्छा से रखा जाता है ॥१।३३॥ जिसमें अर्थ अपुष्ट हो, वक्रोक्ति न हो, प्रसाद गुण हो, सरल और कोमल हो वह वैदर्भ होता है। वह गेय (गीत) की भाँति भिन्न होता है, केवल सुनने में सुन्दर होता है ॥१।३४॥ अलंकार जिसमें हो, ग्राम्य-दोष न हो अर्थान्वित हो, आकुलता न हो, वही गौडीय है, वैदर्भी भी यही है, भिन्न नही ॥३५॥

६ वक्रोक्ति का माहात्म्य

'नितान्त' आदि शब्दों द्वारा व्यक्त अतिशयोक्ति से ही वाणी सौष्ठव नही हो जाता। वक्र-शब्द और अर्थ की उक्ति ही वाणी का काम्य अलंकार है ॥१।३६॥

७ सामान्य दोष

कवि लोग नेयार्थ (जबर्दस्ती का अर्थ), क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्त, और गूढ शब्दो का प्रयोग नही करते ॥१।३७॥

८ वाणी दोष

श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट, तथा श्रुतिकष्ट—यह चार प्रकार के वाणी के दोष हैं ॥१।४७॥

९ दोषों के अन्य भेद

अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ ससंशय, अपक्रम, शब्द-हीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, ॥४।१॥ देशविरुद्ध, कालविरुद्ध, प्रतिज्ञाहीन, हेतुहीन, दृष्टान्तहीन दोष (काव्य में) नहीं होने चाहिये ॥४।२॥

१० · दोष का गुणत्व-साधन

विशेष स्थितिवश दुष्ट कथन भी शोभित होता है, जैसे कि मालाओं के मध्य में बंधा हुआ नीला पत्ता भी शोभित होता है ॥१।५४॥ कोई असाधु भी शब्द आश्रय के सौंदर्य से शोभा को धारण कर लेता है, जैसे—ललना की आँखों में स्थित काला अजन भी शोभा पाता है ॥१।५५॥ 'हे कमल नयने ! तेरा यह मुख कुछ पाण्डुगण्ड (पीले कपोल) वाला है, यहां पर कुत्सित भी 'गण्ड शब्द 'पाण्डु' शब्द के मेल से अच्छा माना जाता है ॥१।५६॥ इस शैली से दूसरे असाधु शब्द को भी युक्त जान लेना चाहिए। जैसे 'विबिलन्नगण्डाना करिणा मदवारिभि' ॥१।५७॥ और 'मदक्लिन्नकपोलाना द्विरदाना चतुर्दन्ती'। इस प्रकार असाधु और साधु सुप्रयोग ही करना ठीक होता है ॥१।५८॥ 'एतद्ग्राह्य सुरभिकुसुम इस ग्राम्य को रख देना चाहिये। सुप्रयुक्त किया हुआ यह शोभित हो जाता है, यही इसके प्रयोग का स्थान है। जैसे माली अच्छी तरह देख भाल कर माला को बनाता है वैसे ही काव्यों में भी शब्द प्रयोग सावधानता से ही करना चाहिये ॥१५९॥

११ गुण

बुद्धिमान लोग माधुर्य और प्रसाद को चाहते हुए समासयुक्त बहुत पदों का प्रयोग नहीं करते ॥२।१॥ कई ओज गुण का प्रयोग करते हुए लम्बे समास भी कर दिया करते हैं। जैसे—'मन्दारकुसुमरेणुपिंजरितालका' ॥२।२॥ श्रव्य काव्य में बड़े समास न हों वह मधुर एवं प्रसाद-गुणयुक्त होना चाहिए—जिसे विद्वानों से लेकर स्त्री तथा बच्चे भी जान सकें ॥२।३॥

१२ अतिशयोक्ति

जो वचन किसी निमित्त से लोक-सीमा का अतिक्रमण कर जाय उसे अतिशयोक्ति अलंकार कहा जाता है ।।२।८१॥ जैसे—सप्तच्छद के वृक्ष अपने पुष्पों की शोभा को छीनने वाली चन्द्र की चन्द्रिका के कारण छिप गये, केवल भौंरों की वाणी से अनुमित होते थे कि हैं ॥२।८२॥ यदि पानी की त्वचा भी सांप की कंचुली की तरह

अलग हो जाय तो जल में स्त्रियो के अगों में भी शुक्ल सूक्ष्म वस्त्र दीखें ॥२।८३॥ इस प्रकार अतिशय योग से कही हुई अतिशयोक्ति होती है, उसे यथा-शास्त्र जान लेना चाहिए ॥२।८४

१३ वक्रोक्ति

यही सारी अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति होती है। इससे अर्थ चमत्कृत हो जाता है। कवि को इसी में यत्न करना चाहिये। कौन अलकार है जो इससे रहित हो ॥२।८५॥ हेतु, सूक्ष्म और लेश अलकार नही माने गये, क्योकि ये समुदाय (इतिवृत्तात्मकता) के वाचक हैं, और वक्रोक्ति के अभिधान से शून्य हैं ॥२।८६॥ जैसे—'सूर्यास्त हो गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षीगए निवास के लिए जा रहे हैं, *यह भी क्या कोई काव्य है ? इसे तो'* वार्ता' कहते हैं ॥२।८७॥

१४ काव्य का माहात्म्य

स्वादु काव्य के रस से युक्त शास्त्र का भी उपयोग किया जाता है, पहले लोग शहद चाट कर पीछे कड़वी दवाई पीते हैं ॥५।३॥ ऐसा कोई शब्द, अर्थ, न्याय या कला नही है, जो काव्य का अग न हो। अहो कवि पर कितना महान् भार है ? ॥५।४॥

१५ शब्दो का साधुत्व-असाधुत्व

वक्र वाणी वाले कवियों के प्रयोग में जो शब्द, अर्थ प्रयोज्य या अप्रयोज्य हैं, उनका हम विवेक बताते हैं ॥६।२३॥ अप्रयुक्त का प्रयोग नही करना चाहिए क्योंकि—वह चित्त को मोह में डाल देता है। जैसे कि—हन् धातु का गति अर्थ भी यद्यपि कहा *गया है, पर उसका प्रयोग करना ठीक नही* ॥६।२४॥

शिष्टों ने इसे कहा है—इसलिए भी उसका प्रयोग नही कर देना चाहिए। जो अर्थ अन्य एकदेशी शास्त्रो से सिद्ध हो, उसका भी प्रयोग नही करना चाहिए। छन्दोवत् (वेदवत्) जो प्रयोग हो, उनका भी सामान्यतया प्रयोग नही करना चाहिए, और छान्दस (वैदिक) पदों का भी कवि को प्रयोग न करना चाहिए ॥६।२७॥

जो क्रम से आया हो, कानो को सुख देने वाला हो ऐसे सार्थक शब्द का प्रयोग करना चाहिए। अभिव्यंजना की मनोहरता अलकार से भी बढ़ कर है ॥६।२८॥

अनुवादक—पं० दीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वत

भामह

[काव्यालङ्कार]*

१ काव्य-प्रशंसा

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥१।२॥

अधनस्येव दातृत्वं क्लीबस्येवास्त्रकौशलम् ।
अज्ञस्येव प्रगल्भत्वमकवेः शास्त्रवेदनम् ॥१।३॥

विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना ।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता ॥१।४॥

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ॥१।५॥

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम् ।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः ॥१।६॥

रुणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी ।
तावत् किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम् ॥१।७॥

अतोऽभिवाञ्छता कीर्तिं स्थेयसीमाभुवः स्थितेः ।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणे ॥१।८॥

२. काव्य-साधनानि

शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी ॥१।९॥

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम् ।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥१।१०॥

---

* चौखम्बा संस्कृत सीरीज में सन् १९२८ में प्रकाशित संस्करण

सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥१।११॥

अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा ।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥१।१२॥

रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥१।१३॥

रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥१।१४॥

तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥१।१५॥

३ काव्य-लक्षणम्

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यञ्च तद्द्विधा ।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥१।१६॥

४ काव्य-भेदाः

वृत्तदेवादिचरितशंसि चोत्पाद्यवस्तु च ।
कलाशास्त्राश्रयञ्चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः ॥१।१७॥

सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे ।
अनिबद्धञ्च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते ॥१।१८॥

(क) महाकाव्यम्

सर्गबन्धो महाकाव्यं महताञ्च महच्च यत् ।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यञ्च सालङ्कारं सदाश्रयम् ॥१।१९॥

मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत् ।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत् ॥१।२०॥

चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत् ।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ॥१।२१॥

नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः ।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया ॥१।२२॥

यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते ।
न चाभ्युदयभाक्तस्य मुधादौ ग्रहणस्तवौ ॥१।२३॥

(ख) नाटकम्

नाटकं द्विपदीशम्यारासकस्कन्धकादि यत् ।
उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः ॥१।२४॥

(ग) आख्यायिका

प्रकृतानाकुलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना ।
गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाख्यायिका मता ॥१।२५॥

वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम् ।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च ॥१।२६॥

(घ) कथा

कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदङ्किता ।
कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता ॥१।२७॥

न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि ।
संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक्तथा ॥१।२८॥

अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते ।
स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः ॥१।२९॥

(ङ) गाथा

अनिबद्धं पुनर्गाथाश्लोकमात्रादि तत् पुनः ।
युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ॥१।३०॥

५ वैदर्भ गौडीययोर्भेद

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे ।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम् ॥१।३१॥

गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक् ।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥१।३२॥

ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते ।
कामं तथास्तु प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते ॥१।३३॥

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम् ।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ॥१।३४॥

अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् ।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ॥१।३५॥

६ वक्रोक्तेर्माहात्म्यम्

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम् ।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः ॥१।३६॥

७ सामान्य-दोषा

नेयार्थं क्लिष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत् ।
गूढशब्दाभिधानञ्च कवयो न प्रयुञ्जते ॥१।३७॥

८ वाचा दोषा

श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि ।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम् ॥१।४७॥

९ अन्ये दोषा

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धि च ॥४।१॥

देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च ।
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते ॥४।२॥

१० दोषाणां गुणत्व-साधनम्

सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते ।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ॥१।५४॥

किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि ।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥१।५५॥

आपाण्डुगण्डमेतत्ते वदनं वनजेक्षणे ।
सङ्गमात्पाण्डुगण्डस्य गण्डः साधु यथोदितम् ॥१।५६॥

अनयाऽन्यदपि ज्ञेयं दिशा दुष्टमसाध्वपि ।
यथा शिथिलगण्डानां करिणां मदवारिभिः ॥१।५७॥

मदक्लिन्नकपोलानां द्विरदानां चतुश्शती ।
यथा तद्वदसाधीयः साधीयस्य प्रयोजयेत् ॥१।५८॥

एतद् ग्राह्यं सुरभि कुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयं
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य ।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाऽभिधानम् ॥१।५९॥

११ गुणाः

माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः ।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते ॥२।१॥

केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि ।
यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालकाः ॥२।२॥

अस्य नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते ।
आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत् ॥२।३॥

१२ अतिशयोक्ति

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा ॥२।८१॥

स्वपुष्पच्छविहारिण्या चन्द्रभासा तिरोहिता ।
अन्वमीयन्त भृङ्गालिवाचा सप्तच्छदद्रुमा ॥२।८२॥

अपां यदि त्वक् शिथिला च्युता स्यात् फणिनामिव ।
तदा शुक्लांशुकानि स्युरङ्गेष्वम्भसि योषिताम् ॥२।८३॥

इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः ।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम् ॥२।८४॥

१३ वक्रोक्ति

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥२।८५॥

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥२।८६॥

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ॥२।८७॥

१४ काव्यस्य माहात्म्यम्

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते ।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम् ॥५।३॥

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥५।४॥

१५. शब्दाना साधुत्वासाधुत्वम्

वक्रवाचा कवीना ये प्रयोगं प्रति साधव ।
प्रयोक्तु ये न युक्ताश्च तद्विवेकोऽयमुच्यते ॥६।२३॥

माऽप्रयुक्तं प्रयुञ्जीत चेत समोहकारिणम् ।
तुल्यार्थत्वेऽपि हि ब्रूयात् को हन्ति गलिवाचिनम् ॥६।२४॥

न शिष्टैरुक्तमित्येव न तन्त्रान्तरसाधिनम् ।
छन्दोवदिति चोत्सर्गान्न चापि च्छान्दसं वदेत् ॥६।२७॥

क्रमागतं श्रुतिसुखं शब्दमर्थ्यमुदीरयेत् ।
प्रतिशोते ह्यलङ्कारमग्य व्यञ्जनचारुता ॥६।२८॥

दण्डी

(समय—सप्तम शतक का उत्तरार्ध)

[काव्यादर्श]

१ काव्य और उसके भेद

प्राचीन आचार्यों ने काव्यों के शरीर तथा अलंकारों का दिग्दर्शन कराया है। इष्ट (अभीप्सित अथवा मनोरम) अर्थ से विभूषित पद-समूह ही काव्य शरीर है ॥१।१०॥

(प्राचीन आचार्यों ने) काव्य शरीर के पद्य (छंदोबद्ध), गद्य (छंद रहित) तथा पद्य-गद्य मिश्रित (चम्पू) ये तीन विभाग किये हैं। पद्य में चार चरण होते हैं और वह जाति छंद व वृत्त छंद के भेद से दो प्रकार का है ॥१।११॥

पद्य के अन्तर्गत आने वाले जातिवृत्त आदि छन्दों का वर्णन 'छंदोविचिति' ग्रन्थ में सविस्तर किया गया है। यह छंद विद्या गम्भीर काव्य-सागर को तैरने की इच्छा रखने वालों के लिये नाव (के समान) है ॥१।१२॥

मुक्तक, कुलक, कोश, सङ्घात आदि सर्गबन्ध महाकाव्य के अवयव मात्र हैं, अतः इनका विस्तृत पद्य विस्तार नहीं किया गया है ॥१।१३॥

२ महाकाव्य

अनेक सर्गों में जहाँ कथा का वर्णन हो वह महाकाव्य कहलाता है। उसका लक्षण यह है —वह आशीर्वाद, नमस्कार या वस्तु-निर्देश द्वारा आरम्भ होता है ॥१।१४॥

इस की रचना ऐतिहासिक कथा या अन्य किसी उत्कृष्ट कथा के आधार पर होनी चाहिये। यह काव्य धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष का फलदायक हो। इसका नायक चतुर (बुद्धिमान) तथा उदात्त होना चाहिये ॥१।१५॥

महाकाव्य, नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु तथा चन्द्र और सूर्य के उदय और अस्त, उपवन और जल क्रीडा, मधुपान और प्रेमोत्सव आदि के वर्णनों से अलङ्कृत होना चाहिये ॥१।१६॥

यह काव्य विरहजन्य प्रेम, विवाह, कुमारोत्पत्ति, विचार-विमर्श, राजदूतत्व, अभियान, युद्ध तथा नायक के जय-लाभ आदि के मनोहर प्रसंगों से युक्त होना चाहिये ॥१।१७॥

यह विभिन्न वृत्तान्तों से सुशोभित तथा सविस्तर वर्णन द्वारा हृदयङ्गम होना चाहिये। इसमें रस तथा भावों की लड़ी जुड़ी हो। इसके सर्ग बहुत लम्बे-लम्बे न हों। सर्गों के छन्द श्रवणीय तथा अच्छी सन्धियों से युक्त होने चाहिये ॥१।१८॥

सर्गों का अन्तिम श्लोक सर्वत्र भिन्न वृत्तों से युक्त होना चाहिये। यह काव्य लोक-रञ्जक तथा अलंकारों से अलङ्कृत होना चाहिये। ऐसा उत्तम काव्य महा प्रलय के बाद भी कल्पों तक स्थिर रहता है ॥१।१९॥

महाकाव्य के उपर्युल्लिखित अङ्गों में से किसी की न्यूनता होने पर भी यदि उसमें प्रतिपाद्य विषयवस्तु रूप सम्पत्ति का गुण-सौन्दर्य सहृदय काव्य रसिकों के चित्त को आकृष्ट कर लेता है तो वह काव्य दूषित नहीं होता है ॥१।२०॥

प्रथम नायक के गुणों का वर्णन करके फिर उसके द्वारा उसके शत्रुओं की पराजय का वर्णन करना चाहिये। इस प्रकार की वर्णन-रीति स्वभावतः मनोहर शैली है ॥१।२१॥

शत्रु के भी वश, पराक्रम तथा पाण्डित्य आदि का वर्णन करने के पश्चात् नायक द्वारा उस पर विजय-प्राप्ति के माध्यम से नायक के उत्कर्ष का वर्णन करना हमें सन्तोषप्रद है ॥१।२२॥

३ गद्य-काव्य

चरण-रहित पदसमूह का नाम गद्य है। इसके—आख्यायिका तथा कथा—ये दो भेद हैं। इनमें से आख्यायिका का लक्षण इस प्रकार है ॥१।२३॥

४ आख्यायिका

केवल नायक द्वारा ही वर्णित गद्य को आख्यायिका कहते हैं पर कथा नायक या किसी अन्य पात्र द्वारा भी वर्णित हो सकती है। यथार्थवक्ता नायक द्वारा अपने गुणों का स्वयं वर्णन करना यहाँ दोष नहीं है ॥१।२४॥

परन्तु वहाँ आख्यायिका में भी अन्य पात्रों द्वारा कथन होने से इस नियम का उल्लघन देखा गया है। अत अन्य पात्र द्वारा या स्वय नायक द्वारा कथन (आख्यायिका और कथा में) किस प्रकार भेद का कारण माना जा सकता है ? ॥१।२५॥

यदि वक्त्र और अपरवक्त्र छद और उच्छ्वासो का विभाग होना आदि आख्यायिका के द्योतक चिह्न हैं तो ये कथाओ में भी प्रसगवश होने चाहिए।॥१।२६॥

(कथा में भी प्रसगवश) आर्या आदि छन्दो के समान वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दो का प्रयोग क्यो न हो ? कथा में लम्भ आदि का भेद देखा ही गया है, उच्छ्वास भी रहे तो क्या हानि है ? ॥१।२७॥

इस प्रकार कथा और आख्यायिका, दोनो एक ही जाति की हैं, पर दो विभिन्न नामो से पुकारी गई हैं। अन्य आख्यान जातियाँ (खण्डकथा, परिकथा आदि) भी इन दो के अतर्गत ही आ जाती हैं ॥१।२८॥

कन्या का अपहरण, युद्ध, वियोगजन्य प्रेम (विप्रलम्भ), उदय (उत्पत्ति या उन्नति) आदि (आख्यायिका के लक्षण) सर्गग्रथित महाकाव्य के समान ही हैं। अत ये इसके विशेष गुण नही हैं ॥१।२९॥

'कवि द्वारा अभिप्राय विशेष से बनाया हुआ' लक्षण कथा से अन्यत्र भी दूषित नही होता। अभीप्सित अर्थ की सिद्धि के लिये विद्वान् किसी भी घटना से अपने काव्य या कथा को प्रारम्भ करने का अधिकार रखते हैं ॥१।३०॥

गद्य-पद्य-मिश्रित रचना नाटक आदि दृश्य काव्यो में भी होती है, जिसका विस्तृत वर्णन [इस ग्रन्थ में] अन्यत्र किया गया है। एक गद्य-पद्यमयी रचना चम्पू भी कहलाती है ॥१।३१॥

इस प्रकार विद्वज्जन इस वाङ्मय को सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश तथा मिश्रित (विविध भाषा युक्त)—चार प्रकार का कहते हैं ॥१।३२॥

सर्ग में रचित महाकाव्य आदि सस्कृत भाषा में, स्कन्ध आदि में रचित काव्य प्राकृत भाषा में, ओसर आदि में रचित काव्य अपभ्रश भाषा में और नाटक आदि मिश्र भाषाओ में होते हैं ॥१।३७॥

कथा की रचना सस्कृत में तथा अन्य भाषाओं में भी होती है। विविध आश्चर्ययुक्त 'बृहत्कथा' को भूत-भाषा (पैशाची भाषा) में रचित कहा गया है ॥१।३८॥

लास्य (स्त्री-पुरुष का नृत्य), छलित (पुरुष का नृत्य) शम्पा (सिर पर हाथ रखके नृत्य करना) आदि नृत्य केवल देखने के लिये ही होते हैं। (ये दृश्य काव्य के अन्तर्गत आते हैं)। परन्तु इनसे भिन्न श्रव्य काव्य की श्रेणी में आते हैं। इस तरह काव्य के दो प्रकार के मार्ग बतलाये गये हैं ॥१।३९॥

२ काव्यमार्ग और गुण

आपस में सूक्ष्म भेदो के कारण पृथक् हुई रीतियों के अनेक भेद हैं। उनमें से स्पष्ट भेद के कारण पृथक् रूप से परिलक्षित वैदर्भी तथा गौडी रीतियों का निरूपण किया जाता है ॥१।४०॥

श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि—ये दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं। गौड मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय मिलता है ॥१।४१-४२॥

वाक्य तथा वस्तु (शब्द और अर्थ) में रस की स्थिति होती है और माधुर्य गुण रसयुक्त काव्य को ही कहते हैं। इसके द्वारा बुद्धिमान् उसी प्रकार हर्षित होते हैं, जिस प्रकार शहद से मधुमक्खिकाएँ मस्त होती हैं ॥१।५१॥

जिस किसी शब्द-समूह के उच्चारण द्वारा उसमें जो समता का अनुभव होता है, वह ही अनुभव-गम्य पद स्थिति (व्यवधान रहित पद प्रयुक्ति) अनुप्रासयुक्त होकर रसोत्पत्ति करती है ॥१।५२॥

[कवि द्वारा] लोक-व्यवहार के परिपालन से अन्य अप्रस्तुत का धर्म जब अन्यत्र किसी वाक्यार्थ में सम्यक्तया स्थापित किया जाता है, तब वह वाक्यार्थ समाधि-गुण-विशिष्ट कहा जाता है ॥१।९३॥

इस कारण (अतिशय चमत्कार-बाहुल्य) से यह समाधि नाम का गुण काव्य का सर्वस्व है। [गौड, वैदर्भ आदि] सकल कवि-सम्प्रदाय इस प्रकार के उस समाधि गुण को [अपनी रचनाओं में स्थान देकर] समादृत करते हैं ॥१।१००॥

इस प्रकार प्रत्येक के अपने अपने स्वरूप के पृथक् निरूपण से [गौडी, और वैदर्भी] ये दोनों शैलियाँ भिन्न हैं। प्रत्येक कवि [की रचनाओं] में लक्षित विभिन्न भेदों [के अपरिमित होने के कारण उन] का वर्णन कर सकना कठिन है ॥१।१०१॥

३. काव्य-हेतु

(पूर्व-जन्म के संस्कारों से सम्पन्न, ईश्वर-प्रदत्त) स्वाभाविक प्रतिभा (प्रज्ञा), विविध विशुद्ध ज्ञान से युक्त अनेक शास्त्रों का ज्ञान, तथा अत्यन्त उत्साह-पूर्ण दृढ़ अभ्यास—ये सब एकत्र होकर कवित्व-सम्पदा के कारण होते हैं। १।१०३।

यद्यपि अलौकिक पूर्व-संस्कारो के गुणो से सम्बद्ध वह सहज प्रतिभा नही है (तब भी) काव्य आदि के अनुशीलन तथा अभ्यास आदि के सतत प्रयत्न से वाग्देवी सरस्वती निश्चय ही कोई अलभ्य अनुग्रह करती ही है ॥१।१०४॥

इस कारण से कवित्व-जनित यश चाहने वालो को आलस्य-रहित होकर श्रमपूर्वक निश्चय वाग्देवी सरस्वती की निरन्तर उपासना करनी चाहिए। काव्य-निर्माण का सामर्थ्य कम होने पर भी काव्यानुशीलन के प्रयास में परिश्रमी मनुष्य पण्डित-मण्डलियो में रसास्वादन करने में समर्थ होते हैं ॥१।१०५॥

४ अलकार का स्वरूप

काव्य के सौन्दर्य-कारक धर्मों (विशिष्ट गुणों) को अलकार कहते हैं। आज भी कवि लोग कल्पना के बल पर अलकारों में विविध प्रकार की उद्भावनाएँ कर रहे हैं, अत उनका पूर्ण रूप से वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है ? २।१।

५ अतिशयोक्ति अलकार

प्रस्तुत वस्तु-गत उत्कर्ष का लोक-मर्यादा को उल्लघन करके वर्णन करना अलकारो में उत्तम, अतिशयोक्ति अलकार कहलाता है ॥२।२१४॥

वाचस्पति द्वारा पूजित अर्थात् परमश्रेष्ठ इस अतिशयोक्ति को *[कवि लोग]* अन्य अलकारो का भी परम आश्रय कहते हैं ॥२।२२०॥

६ प्रेयस्, रसवत् और ऊर्जस्वि अलकार [और इनके अतर्गत रसवर्णन]

अत्यन्त प्रीतिकर भाव के कथन को प्रेय अलकार कहते हैं। [सहृदयो को] *रस के द्वारा उत्पन्न आनन्द* देने वाले भाव के कथन को रसवत् अलकार कहते हैं। जहाँ गर्व [अहकार] की स्पष्ट अभिव्यक्ति की जाय, वहाँ ऊर्जस्वि अलकार होता है। इस प्रकार उपर्युक्त तीनो अलकारो का उत्कर्ष उचित है, अर्थात् इनको अलकारो के अन्तर्गत स्वीकृति करनी चाहिए ॥२।२७५॥

हे गोविन्द ! तेरे घर आने पर आज मुझे जो प्रसन्नता हुई है, वह किसी अन्य समय पर तेरे आने से फिर होगी। विदुर जी ने यह उपयुक्त ही कहा है, दूसरों में इतना धैर्य कहाँ ? तब विदुर के उस वचन से केवल भक्ति द्वारा पूजनीय हरि सन्तुष्ट हुए। २७६–२७७।

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में वर्णित यह कथन हरि-विषयक प्रीतिकारक है अतः यहाँ प्रेय अलकार है।

चन्द्रमा, सूर्य, वायु, पृथ्वी, आकाश, यजमान, अग्नि और जल इन स्थूल रूपों का अतिक्रमण करके स्थित हुए परमात्म-स्वरूप तुमको देखने के लिये हम कहाँ समर्थ हैं ? महेश्वर को साक्षात् (प्रत्यक्ष) देख लेने पर राजा राजवर्मा का इस प्रकार की प्रसन्नता द्योतित करना ही 'प्रेय अलकार' समझना चाहिए। २।२७८।२७९।

जिस प्रिया को दिवंगता समझ कर परलोक में मिलने की इच्छा से मैं मरने का विचार कर रहा था, वही अवन्ती राजकुमारी किसी प्रकार यहाँ ही इसी जन्म में मुझे प्राप्त हो गई। २।२८०।

पहले (भगवद्-विषयक प्रेम की व्यंजना करने वाली, न कि विभाव आदि से परिपुष्ट) प्रसन्नता प्रदर्शित की गई। वह उस प्रकार की (देवादि-विषयक पूर्व प्रदर्शित) प्रीति-स्वरूप रति (विभाव, अनुभाव व्यभिचारी के सम्बन्ध से (अलौकिक आनन्द प्रद होने से), शृंगार रसत्व को प्राप्त हुई। इस कारण से यह रसवत् अलकार है। २।२८१।

जिसने मेरे सामने द्रौपदी को बालों से पकड़ कर खींचा था वही यह पापात्मा दुःशासन अब मुझे मिल गया है, क्या यह क्षण भर जीवित रहेगा ? शत्रु (आलम्बन) को देखकर भीम का क्रोध (स्थायी भाव) [विभावादि सामग्री के द्वारा] अत्यन्त उच्च अवस्था पर आरूढ होकर रौद्र रसत्व को प्राप्त हो गया—इस प्रकार यह कथन रसवत् अलकार से युक्त हुआ। २।२८२।२८३।

समुद्रों सहित पृथ्वी को न जीत कर, अश्वमेध प्रभृति अनेक यज्ञों का यजन न करके और याचकों को धन वितरण न करके मैं कैसे राजा हो सकता हूँ ? इस प्रकार [विभाव आदि से] परिपुष्ट स्वरूप वाला उत्साह (स्थायी भाव) वीररस के रूप में परिणत होता हुआ—इन कथनों में रसवत् अलकार को दृढ़ करने में समर्थ हुआ अर्थात् रसवत् बना सका। २।२८४-२८५।

जिस कोमलांगी को पुष्पों की शय्या भी कष्टप्रद होती थी, वह तन्वङ्गी प्रज्वलित चिता पर कैसे आरोहण करती है ! इस प्रकार यहाँ विभाव आदि से परिपुष्ट करुण रस का स्थायी भाव शोक रसवत् अलकार को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार बीभत्स हास्य, अद्भुत, भयानक रस भी होते हैं। २।२८६-२८७।

अतड़ियो के आभूषणों से विभूषित राक्षस तेरे शत्रुओं के रुधिर को हस्ताञ्जलियों के द्वारा पी पी कर कबन्धो के साथ नृत्य कर रहे हैं।२।२८८।

हे सखि ! यद्यपि तेरा मान कम नही हुआ पर स्तन के ऊपर लगे हुए इस नवीन नखक्षत को अपने आँचल से छिपा ले। २।२८९।

आश्चर्य है कि इन कल्पवृक्षो के वस्त्र कोमल पत्ते हैं, आभूषण फूल हार आदि हैं, तथा घर शाखायें हैं। [यह अद्भुत रस का उदाहरण है] ।२।२९०।

अपनी धार में निहित अग्नि वाला इन्द्र का यह वज्र है जिसके स्मरण से दैत्यो की स्त्रियो का गर्भपात हो जाता है। [प्रस्तुत उदाहरण में भयानक रस है] ।२।२९१।

माधुर्य गुण में तो वाक्य का ग्राम्यता दोष से रहित होना रस का कारण दिखाया गया है, और यहाँ (रसवत् अलकार में) वाणियो का आठ रसो से युक्त होना ही रसवत्ता माना गया है।२।२९२।

मैं तेरा शत्रु हूँ—यह सोचकर तेरे हृदय में मेरे कारण डर नहीं होना चाहिए। मुझ से विमुख हो जाने वालो पर मेरी तलवार कभी प्रहार नहीं करती। किसी अहंकारी पुरुष ने युद्ध में पराजित शत्रु को इस प्रकार कह कर छोड़ दिया। इस प्रकार के कथनों को ऊर्जस्वि जानना चाहिए। २।२९३—२९४।

७ श्लेष अलकार

श्लेष प्राय सब वक्रोक्तियों (वचन भङ्गिमा-युक्त अलकारों) की शोभा में अभिवृद्धि करता है। काव्य दो प्रकार का है—स्वभावोक्ति (वस्तु का स्वाभाविक रूप से वर्णन), तथा वक्रोक्ति (वस्तु का अलकार-युक्त वर्णन) ।२।३६३।

८. काव्य-दोष

[काव्यमर्मज्ञ कवियो द्वारा काव्य के गुणों और दोषों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। दोष काव्य की विफलता के कारण हैं, और गुण समृद्धि के]

निरर्थक, विरुद्धार्थक, अभिप्रार्थक, संशययुक्त, क्रमरहित, अपेक्षित-शब्द-हीन, यतिभ्रष्ट (विच्छेदरहित), असमवृत्त, सन्धि-रहित। स्थान, समय, कला, लोक-न्याय तथा आगम का विरोध—इन दस दोषों का विद्वानों को काव्य में त्याग करना चाहिए। ३।१२५-१२६।

प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त—इनका अभाव काव्य में सदोष है अथवा नहीं, यह विचार प्रायः कठिन है। इस विचार पर पिष्टपेषण करने से क्या फल है? ३।१२७।

पर्वत, वन, राष्ट्र आदि देश; रात्रि, दिन, ऋतु आदि काल; राग (काम) तथा धन के साधन नृत्य-गीत आदि अनेक कलाएं हैं।३।१६२।

'लोक' इस संज्ञा से स्थावर तथा जंगम प्राणियों का व्यवहार अभीष्ट है। हेतु-घटित विद्या (युक्तिमूलक शास्त्र) न्याय कहाता है, तथा स्मृति-सहित श्रुति (वेद) को आगम कहते हैं।३।१६३।

यदि कवि के प्रमाद से कुछ भी प्रसिद्धि के विपरीत वर्णित होता है, तो वही देश-कालादि विरोधी [दोष] माना जाता है।६।१६४।

पर ये सभी दोष कविकौशल [के बल] से कभी-कभी दोष-सीमा का उल्लंघन करके गुण भी बन जाते हैं।३।१७९।

अनु०—श्री रणवीरसिंह एम०ए०

दण्डी

[काव्यदर्शः]*

१. काव्यम्, तस्य भेदाश्च

तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥१।१०॥

पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।
पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ॥१।११॥

छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चो निदर्शितः।
सा विद्या नौर्विविक्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम् ॥१।१२॥

मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः।
सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः ॥१।१३॥

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ॥१।१४॥

इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम् ॥१।१५॥

नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ॥१६॥

विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
मन्त्रद्यूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ॥१।१७॥

अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः ॥१।१८॥

---

* ओरियण्टल बुक-सप्लाइंग एजन्सी, पूना, द्वारा सन् १९२४ में प्रकाशित संस्करण

सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम् ।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलङ्कृति ॥१।१९॥

न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति ।
यद्युपात्तेषु संपत्तिराराधयति तद्विदः ॥१।२०॥

गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम् ।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः ॥१।२१॥

वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनं च धिनोति नः ॥१।२२॥

अपादः पदसंतानो गद्यमाख्यायिका कथा ।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल ॥१।२३॥

नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा ।
स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः ॥१।२४॥

अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात् ।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदकारणम् ॥१।२५॥

वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासत्वं च भेदकम् ।
चिह्नमाख्यायिकाश्चेत् प्रसङ्गेन कथास्वपि ॥१।२६॥

आर्यादिवत् प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः ।
भेदश्च दृष्टो लम्भादिरुच्छ्वासो वास्तु किं ततः ॥१।२७॥

तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता ।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ॥१।२८॥

कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः ।
सर्गबन्धसमा एव नैते वैशेषिका गुणाः ॥१।२९॥

कविभावकृतं चिह्नमन्यत्रापि न दुष्यति ।
मुखमिष्टार्थसंसिद्धौ किं हि न स्यात् कृतात्मनाम् ॥१।३०॥

मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः ।
गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यपि विद्यते ॥१।३१॥

तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा ।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुराप्ताश्चतुर्विधम् ॥१।३२॥

संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं स्कन्धकादि यत् ।
ओसरादिरपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम् ॥१।३७॥

कथा हि सर्वभाषाभिः संस्कृतेन च बध्यते ।
भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम् ॥१।३८॥

लास्यच्छलितशम्पादि प्रेक्षार्थमितरत् पुनः ।
श्रव्यमेवेति सैषापि द्वयी गतिरुदाहृता ॥१।३९॥

२ काव्य-मार्गौ—गुणाश्च

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥१।४०॥

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः ॥१।४१॥

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः ।
एषां विपर्ययः प्रायो लक्ष्यते गौडवर्त्मनि ॥१।४२॥

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसः स्थितः ।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥१।५१॥

यया कयाचिच्छ्रुत्या यत् समानमनुभूयते ।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥१।५२॥

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते तत्र स समाधिः स्मृतो यथा ॥१।९३॥

तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः ।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेकमुपजीवति ॥१।१००॥

इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात् ।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ॥१।१०१॥

३ काव्यहेतवः

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥१।१०३॥

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना–
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥१।१०४॥

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती ।
श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः ।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा
विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ॥१।१०५॥

४ अलंकारस्वरूपम्

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥२।१

५ अतिशयोक्तिरलंकारः

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी ।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा ॥२।२१४॥

अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥२।२२०॥

६ प्रेयोरसवदूर्जस्व्यलङ्काराः, [तेष्वन्तर्गतं रसनिरूपणञ्च]

प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम् ।
ऊर्जस्वि रूढाहंकारं युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम् ॥२।२७५॥

अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ॥२।२७६॥

इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतस्तादृशी धृतिः ।
भक्तिमात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः ॥२।२७७॥

सोमः सूर्यो मरुद्भूमिर्व्योम होतानलो जलम् ।
इति रूपाण्यतिक्रम्य त्वां द्रष्टुं देव के वयम् ॥२।२७८॥

इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद्राजवर्मणः ।
प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम् ॥२।२७९॥

मृतेति प्रेत्य सङ्गन्तुं यया मे मरणं मतम् ।
सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि ॥२।२८०॥

प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृङ्गारतां गता ।
रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः ॥२।२८१॥

निगृह्य केशेष्वाकृष्टा कृष्णा येनाग्रतो मम ।
सोऽयं दुःशासनः पापो लब्धः किं जीवति क्षणम् ॥२।२८२॥

इत्यारुह्य परां कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः ।
भीमस्य पश्यतः शत्रुमित्येतद्रसवद्वचः ॥२।२८३॥

अजित्वा सार्णवामुर्वीमनिष्ट्वा विविधैर्मखैः ।
अदत्त्वा चार्थमर्थिभ्यो भवेयं पार्थिवः कथम् ॥२।२८४॥

इत्युत्साहः प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना ।
रसवत्त्वं गिरामासां समर्थयितुमीश्वरः ॥२।२८५॥

यस्याः कुसुमशय्यापि कोमलाङ्ग्या रुजाकरी ।
साधिशेते कथं देवि हुताशनवतीं चिताम् ॥२।२८६॥

इति कारुण्यमुद्रिक्तमलङ्कारतया स्मृतम् ।
तथापरेऽपि बीभत्सहास्याद्भुतभयानकाः ॥२।२८७॥

पायं पायं तवारीणां शोणितं पाणिसम्पुटैः ।
कौणपाः सह नृत्यन्ति कबन्धैरन्त्रभूषणैः ॥२।२८८॥

इदमम्लानमानाया लग्नं स्तनतटे तव ।
छाद्यतामुत्तरीयेण नवं नखपदं सखि ॥२।२८९॥

उद्भट

(समय—नवम शतक का पूर्वार्द्ध)

(क) ग्रन्थ—काव्यालंकार-सार-संग्रह

१ रसवत् अलंकार

जिस काव्य में शृंगार आदि रसों का उदय स्पष्ट रूप से दिखाया जाए, उसे रसवत् अलंकार कहते हैं। [शृंगार आदि रसों का] यह उदय स्वशब्द, स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव और अभिनय (अनुभाव) के द्वारा होता है। ४।३

नाट्य (काव्य) में रसों की संख्या नौ है—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त। ४।४

उदाहरण

पार्वती के समस्त गुणों को देखने वाले महादेव जी का 'काम' अनेक संकल्पों को एकत्रित करके प्रबल हो उठा। पसीने से क्लिन्न उनके शरीर पर रोमाञ्च हो आया, ऐसा रोमाञ्च—जो कदम्ब की कलिका के मध्य भाग में केसर-समूह के समान था। उनका मुख क्षण में उत्सुकता से पूर्ण, क्षण में चिन्ता के कारण निश्चल और क्षण में अत्यधिक आनन्द के कारण अलस आँखों से शोभित हो गया।

२ प्रेय अलंकार

रति आदि भावों[1] के सूचक अनुभाव आदि[2] के द्वारा जिस काव्य की रचना की जाए, उसे प्रेय अलंकार से युक्त (काव्य) कहते हैं। ४।२

---

१ काव्यालंकार-सार-संग्रह के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने 'रति आदि भावों' की संख्या निम्न प्रकार से पचास गिनाई है —६ स्थायी भाव, ३३ संचारी भाव और ८ सात्त्विक भाव। [का० सा० सं० पृष्ठ ५०-५१]

२ 'अनुभाव आदि' में 'आदि' से प्रतिहारेन्दुराज का तात्पर्य विभाव, व्यभिचारी भाव और स्थायी भावों से है। [वही]

उदाहरण

अपने सुत (मृग शावक) के प्रति वात्सल्य के कारण उसमें और अपने में किसी प्रकार का अन्तर न समझती हुई, स्पृहा [रति] से परिपूर्ण इस मृगी ने उसे अपनी गोद में बिठा कर उल्लाप करना प्रारम्भ कर दिया।

३ ऊर्जस्वि अलकार

काम, क्रोध आदि के कारण अनौचित्य (लोक व्यवहार) में प्रवृत्त भावों अथवा रसों की रचना का नाम ऊर्जस्वि अलकार है। ४।५

उदाहरण

ज्यों ही महादेव जी का काम बढा, त्यों ही सत्य पथ को तिरस्कृत करके वह पार्वती को हठपूर्वक पकडने के लिए उद्यत हो गए। पृष्ठ ५४

४ समाहित अलकार

जिस रचना में रस, भाव, रसाभास और भावाभास की शान्ति का वर्णन हो, तथा अन्य रसो के अनुभाव आदि को बिल्कुल स्थान न मिला हो, उसे समाहित अल-कार कहते हैं। ४।७

उदाहरण

पार्वती के सुन्दर नेत्रों, भ्रुवों के विभ्रमपूर्ण भ्रम और रोमाञ्च के स्वेद से युक्त प्रसन्न मुख राग को देख कर महादेव जी काम के ज्वर से उद्दीप्त सब अङ्गों को धारण करते हुए कल्याणपूवक उनके पास सरक गए।

५ उदात्त अलकार

किसी समृद्धिशाली वस्तु अथवा किसी महान् पुरुष के अप्रधान अथवा अङ्गरूप वर्णन को उदात्त अलकार कहते हैं। ४।८

(ख) संस्कृत के काव्यशास्त्रों से उद्धृत उद्भट-सम्मत धारणाएं*

१. गुण और अलकार में भेद

अलकार-विभाग के दिखाने के लिए ग्रन्थकार विद्यानाथ इस विषय के लिए उपयोगी स्थल उद्भटादि-सम्मत गुण और अलकार के भेद की चर्चा करते हैं—

"गुण और अलंकार (समान रूप से ही) चारुत्व के हेतु हैं, इन में केवल विषय अथवा आश्रय का ही भेद है—गुण संघटना (रचना, रीति) के आश्रित हैं, तो अलंकार शब्दार्थ के।"

[प्रतापरुद्र-यशोभूषण और उस पर रत्नापण टीका, पृष्ठ ३३७]

उद्भटादि आचार्यों ने गुण और अलकारो का प्राय साम्य ही सूचित किया है, उन्होने इनमें केवल विषय-भेद का ही अन्तर माना है और गुणो को सघटना (रचना) का ही धर्म माना है।

[अलकार-सर्वस्व, पृष्ठ ९]

"लौकिक शौर्यादि गुणों और हारादि अलंकारों में निस्सन्देह यह भेद है कि गुण समवाय (नित्य) सम्बन्ध से रहते हैं, और अलंकार संयोग (अनित्य) सम्बन्ध से, पर काव्यगत ओज आदि गुणों और अनुप्रासोपमादि अलंकारों में कोई भेद नहीं है। ये काव्य में समवाय-सम्बन्ध से ही रहते हैं। लौकिक गुणालंकार के सदृश काव्यगत गुणालंकार में भी भेद समझना भेड़चाल है।"

[काव्य-प्रकाश, अष्टम उल्लास]

२. रीति और गुण का परस्पर सम्बन्ध—निर्देश

भट्ट उद्भट आदि के मत में गुण सघटना (रचना) के गुण हैं।

[ध्वन्यालोक-लोचन, पृष्ठ २१०]

---

* उद्भट-प्रणीत दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—काव्यालंकार-संग्रह, और भामह-विवरण इनमें से द्वितीय ग्रन्थ अप्राप्य है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में उद्भट के नाम से यत्र-तत्र उल्लेख मिलते हैं, सम्भवतः ये उल्लेख भामह-विवरण से उद्धृत हैं, अथवा उस पर आधृत हैं। यहाँ कुछ एक प्राप्य स्थलों का अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है।

३ अभिधा व्यापार

भामह के 'शब्दाश्छन्दोभिधानार्थाः' (अर्थात् सामान्य रूप से रचना में शब्द अपने मुख्यार्थ के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं) इस कथन में भट्ट उद्भट ने 'अभिधान' का 'शब्द' से भेद प्रकट करने के लिए कहा है कि शब्दों का 'अभिधान' अर्थात् प्रधान अर्थ में प्रयोग अभिधा-व्यापार कहाता है। यही व्यापार मुख्य भी है, और अमुख्य (गौण) भी।

[ध्वन्यालोक-लोचन, पृष्ठ १२]

४. अलंकार

(क) जो रूपकादि अलंकार कुछ स्थलों पर वाच्य रूप से प्रसिद्ध हैं, उन्हें भट्ट उद्भट आदि ने अन्य अनेक स्थलों पर प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) रूप में भी दिखाया है।

[ध्वन्यालोक, पृष्ठ २५८]

(ख) विवरण (भामह विवरण) के कर्त्ता के मत में दीपक अलंकार का उपमा के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं है।

[ध्वन्यालोक-लोचन, पृष्ठ २५८]

(ग) यहाँ (श्लेष अलंकार के प्रकरण में) आचार्य उद्भट कहते हैं कि जिस (विधान) की अप्राप्ति के अभाव में अर्थात् उसकी सदा प्राप्ति रहने पर जब कभी अन्य विधान आरम्भ किया जाता है, तो वह (नवीन विधान) उस (प्रथम विधान) का सदा बाधक हो जाता है—[व्याकरण के] इस नियम के अनुसार [श्लेष जैसे] नवीन अलंकार की प्राप्ति ही अन्य अलंकारों का बाध कर देती है। [श्लेषालंकार-युक्त] कोई स्थल ऐसा नहीं है, जहाँ इस अलङ्कार का किसी अन्य अलंकार द्वारा बाध न हो जाए, अतः श्लिष्ट स्थलों में अन्य अलंकारों की विद्यमानता होने पर श्लेष अलंकार की ही स्वीकृति करनी चाहिए, क्योंकि अन्य अलंकार तो श्लेष के बिना भी रह सकते हैं, पर श्लेष अलंकार अन्य अलंकारों के बिना नहीं रह सकता। यदि श्लिष्ट स्थलों में भी श्लेषेतर अलंकारों की स्वीकृति की गई, तो फिर 'श्लेष' का विषय ही समाप्त हो जाएगा।

[रस-गंगाधर, पृष्ठ ५२६]

अनुवादक : प्रो० सत्यदेव चौधरी, एम. ए.

उद्भट

क—[काव्यालङ्कारसारसंग्रह]*

१ रसवदलङ्कार

रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसोदयम् ।
स्वशब्दस्थायिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम् ॥४।३॥

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥४।४॥

तस्योदाहरणम्

इति भावयतस्तस्य समस्तान् पार्वतीगुणान् ।
संभृतानल्पसङ्कल्पः कन्दर्पः प्रबलोऽभवत् ॥
स्विद्यताऽपि स गात्रेण बभार पुलकोत्करम् ।
कदम्बकलिकाकोशकेसरप्रकरोपमम् ॥
क्षणमौत्सुक्यगर्भिण्या चिन्तानिश्चलया क्षणम् ।
क्षणं प्रमोदालसया दृशास्यास्यमभूष्यत ॥

२ प्रेयोऽलङ्कार

रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः ।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ॥४।२॥

तस्योदाहरणम्

इयं च सुतवात्सल्यान्निर्विशेषा स्पृहावती ।
उल्लापयितुमारब्धा कृत्वेमं क्रोडमात्मनः ॥

---

*भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट द्वारा सन् १९५२ में प्रकाशित प्रथम संस्करण ।

३ ऊर्जस्व्यलङ्कार

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।
भावानाञ्च रसानाञ्च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥४।५॥

तस्योदाहरणम्

तथा कामोऽस्य ववृधे यथा हिमगिरेः सुताम् ।
संग्रहीतुं प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम् ॥

४ समाहितालङ्कार

रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम् ।
अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तत्समाहितम् ॥४।७॥

तस्योदाहरणम्

अथ कान्तां दृशा दृष्ट्वा विभ्रमाञ्च भ्रमं भुवो ।
प्रसन्नं मुखरागं च रोमाञ्चस्वेदसंकुलम् ॥
स्मरज्वरप्रदीप्तानि सर्वाङ्गानि समादधत् ।
उपासर्पद् गिरिसुतां गिरिशः स्वस्तिपूर्वकम् ॥

५ उदात्तालङ्कार

उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम् ।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥४।८॥

ख—[अन्यकाव्यशास्त्रेभ्यरुद्धृता उद्भटसम्मतसिद्धान्ता]

१ गुणालङ्कारयोर्भेद

अलङ्कारविभागं करिष्यमाणस्तदुपयोगितया उद्भटादिमतेनोक्तमेव गुणालङ्कार-भेदमनुवदति । चारुत्वहेतुत्वेऽपि गुणानामलङ्काराणां चाश्रयभेदाद् भेदव्यपदेशः । संघटनाश्रया गुणाः । शब्दार्थाश्रयास्त्वलङ्काराः ।

[प्रतापरुद्र यशोभूषणम्, रत्नापणाख्या टीका च, पृ० ३३७]

उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम् । विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात् । संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः । [अलङ्कारसर्वस्वम्, पृष्ठ ९]

एवञ्च "समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः, इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः। ओज प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डरिकाप्रवाहेनैवेषां भेदः।" [काव्यप्रकाशे अष्टमोल्लासः][1]

२. रीतिगुणयो. परस्परसम्बन्धनिर्देशः

'संघटनायाः धर्मा गुणाः' इति भट्टोद्भटादयः।

[ध्वन्यालोकलोचनम्, पृष्ठ ३१०]

३. अभिधाव्यापारः

भामहेनोक्तम्—'शब्दाश्छन्दोभिधानार्थाः' इति अभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातु भट्टोद्भटो बभाषे—'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च।'

[ध्वन्यालोकलोचनम्, पृष्ठ ३२]

४. अलकार.

(क) अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः। [ध्वन्यालोकः, पृष्ठ २५८]

(ख) विवरणकृत्—"दीपकस्य सर्वत्रोपमान्वयो नास्ति।" × × ×

[ध्वन्यालोकलोचनम्, पृष्ठ १२०]

(ग) अत्राहुरुद्भटाचार्याः—येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधक इति न्यायेनालङ्कारान्तरविषय एवारभ्यमाणो ऽलङ्कारान्तरं बाधते। न चास्य विविक्तः कश्चिदस्ति विषयो यत्र सावकाशो नान्यं बाधेत। [रसगंगाधर, पृष्ठ ५२६]

---

१ भामहवृत्तौ भट्टोद्भटेनोक्तमुत्थाप्य दूषयति एवं चेत्यादि।

[का० प्र०, बालबोधिनी टीका, पृष्ठ ४७०]

आचार्य वामन

(समय—लगभग ८०० ई०)

[ग्रन्थ—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति*]

१. काव्य और अलंकार

काव्य, अलकार (के योग) से (ही) उपादेय होता है। ।१, १, १।

काव्य, अलंकार (के योग) से निश्चय ही उपादेय (आदरणीय) होता है। (यद्यपि मुख्य रूप से) यह काव्य शब्द गुण तथा अलकार से संस्कृत शब्द तथा अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होता है (इसलिए अलकार काव्य से भिन्न कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका योग काव्य में हो। फिर भी यहाँ शब्दार्थ और काव्य का भेद मान कर काव्य शब्द) परन्तु लक्षणा से यहाँ केवल शब्दार्थ मात्र का बोधक (काव्य शब्द) लिया जाता है। (इसलिए अलकार के योग से काव्य उपादेय होता है यह सूत्र का अर्थ उपपन्न हो जाता है) ॥ १ ॥

(काव्य की उपादेयता का प्रयोजक) यह अलकार क्या (पदार्थ) है इस (शका के होने पर उसके निवारण) के लिए कहते हैं—

(काव्य में) सौन्दर्य (के आधायक तत्त्व) का नाम अलकार है।१, १, २।

(भावार्थक) अलकृति अलकार (शब्द का मुख्यार्थ) है। (परन्तु) करण (में घञ् प्रत्यय द्वारा) व्युत्पत्ति (करने) से (यह) अलकार शब्द उपमा आदि (प्रसिद्ध) अलकार के अर्थ में (प्रयुक्त होता) है ॥ २ ॥

वह (सौन्दर्य-रूप अलंकार) दोषों के हान (परित्याग) और गुण तथा (सौन्दर्य के साधनभूत करणार्थक प्रसिद्ध उपमादि) अलंकारों के उपादान से होता है।१, १, ३।

और वह (काव्य-सौन्दर्य-रूप) अलकार दोषों के (परित्याग) हान तथा गुण एव (उपमादि) अलकारों के उपादान से कवि सम्पादन कर सकता है ॥३॥

---

* आत्माराम एण्ड संस दिल्ली द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण

वे दोनों (दोषों का हान तथा गुणों का उपादान इस) शास्त्र से (ही सकते) हैं ।१, १, ४।

वे दोनों अर्थात् दोष तथा गुणालकार के हान और उपादान (दोषों का हान तथा गुण और अलकार का उपादान) इस (काव्यालकार-रूप) शास्त्र (के अध्ययन) से (ही) हो सकते हैं। शास्त्र से (दोषों के स्वरूप, लक्षण आदि को) जान कर दोषों का परित्याग करे और गुण तथा अलकारों (के स्वरूप, लक्षण आदि को जान कर उन) का उपादान (अपने काव्य में यथोचित प्रयोग) करे। (इसी काव्य से सौन्दर्य की सिद्धि होती है) ॥४॥ (पृष्ठ ४-७)

२ काव्य का प्रयोजन

अलकारयुक्त काव्य का क्या फल है जिससे इस (काव्य-निरूपण) के लिए यह (काव्यालकारसूत्र-रूप ग्रन्थ, या उसके लिखने का यह प्रयास) किया गया है। (इस शका के होने पर उसके उत्तर के लिए) यह कहते हैं —

सुन्दर काव्य (कवि तथा पाठक दोनों की) प्रीति (आनन्द) का और (कवि के जीवन काल में तथा उसकी मृत्यु के बाद भी उसकी स्थायी) कीर्ति का हेतु होने से दृष्ट (ऐहिक) और अदृष्ट (आमुष्मिक दोनों प्रकार के) फल वाला होता है ।१, १, ५।

सत (अर्थात्) सुन्दर काव्य (कवि तथा पाठक दोनों की) प्रीति (आनन्द) का हेतु होने से दृष्ट (ऐहिक, लौकिक) फल वाला होता है। और (कवि के इस जीवन में तथा उसकी मृत्यु के बाद भी) कीर्ति का हेतु होने से अदृष्ट (आमुष्मिक) फल वाला होता है। इस विषय में (सग्रह-रूप स्वलिखित) श्लोक (निम्न प्रकार) हैं। (उनसे काव्य का और हमारे इस ग्रन्थ का प्रयोजन भली प्रकार विदित होता है।)

काव्य-रचना की प्रतिष्ठा (सुन्दर काव्य की रचना ही) यश की प्राप्ति का मार्ग कही जाती है। इसी प्रकार कुकवित्व की (उपहास्यता-रूप) विडम्बना को अकीर्ति का मार्ग कहा जाता है ॥१॥

विद्वान् लोग कीर्ति को जब तक ससार रहे तब तक (यावच्चन्द्रदिवाकरौ) रहने वाली तथा स्वर्ग-रूप फल को देने वाली कहते हैं। और अकीर्ति को आलोकहीन (अन्धकारमय) नरक स्थान की दूती कहते हैं ॥२॥

इसलिए कीर्ति को प्राप्त करने के लिए और अकीर्ति के विनाश के लिए श्रेष्ठ कवियों को (हमारे इस ग्रन्थ) 'काव्यालकारसूत्र' के अर्थ को भली प्रकार हृदयगम करना चाहिए। (इस 'काव्यालकारसूत्र' के विषय को भली प्रकार हृदयगम करने

के बाद काव्य-रचना में प्रवृत्त होने वाले कवि, उत्तम काव्य की रचना में समर्थ होकर, कीर्ति के भाजन बनेंगे और कुकवित्व के दोष से बच सकेंगे। (यह इस ग्रन्थ के प्रयोजन की स्थापना ग्रन्थकार ने की) ॥३।५॥ (पृष्ठ ७-८)

३ काव्य के अधिकारी

अधिकारी के निरूपण के लिए कहते हैं—

'अरोचकी' (विवेकी) और 'सतृणाभ्यवहारी' (अविवेकी) दो प्रकार के कवि होते हैं ।१, २, १।

यहाँ (इस संसार में) दो प्रकार के कवि हो सकते हैं। (एक) 'अरोचकी' और (दूसरे) 'सतृणाभ्यवहारी'। यहाँ 'अरोचकी' और 'सतृणाभ्यवहारी' शब्द गौणार्थक (सादृश्यमूलक गौणी लक्षणा से प्रयुक्त हुए) हैं। (इन शब्दों का विवक्षित) वह अर्थ कौन सा है ? (यह प्रश्न करके उसका उत्तर देते हैं) 'विवेकित्व' (अरोचकी पद का) और 'अविवेकित्व' (सतृणाभ्यवहार शब्द का विवक्षित अर्थ है) ॥१॥

(उन दो प्रकार के कवियों में से) प्रथम (अरोचकी कवि ही) विवेकी होने से शिक्षा पाने के 'अधिकारी' हैं ।१, २, २।

(पूर्वोक्त दो प्रकार के कवियों में से) प्रथम अर्थात् 'अरोचकी' शिक्षा के योग्य अर्थात् उपदेश के पात्र हैं, विवेकशील अर्थात् विवेचनाशील होने से ॥२॥

दूसरे (अर्थात् 'सतृणाभ्यवहारी' अविवेकी कवि) उसके विपरीत होने से (अर्थात् विवेचनाशील न होने से) शिक्षा के अधिकारी नहीं हैं ।१, २, ३।

दूसरे अर्थात् 'सतृणाभ्यवहारी' उस (विवेचनशीलता) के विपरीत होने से शिक्षा के योग्य (काव्य-शिक्षा के अधिकारी) नहीं हैं। अविवेचनशील होने से। (यदि यह कहा जाय कि शास्त्र के पढ़ने से उनकी अविवेकशीलता दूर हो जायगी इसलिए उनको भी उपदेश देना चाहिए तो ग्रन्थकार इसका खण्डन करते हैं कि) और स्वभाव दूर नहीं किया जा सकता। इसलिए अनधिकारी व्यक्ति के ग्रन्थ पढ़ने से भी उसका वह अविवेक दूर होना सम्भव नहीं है ॥३॥

(प्रश्न) यदि ऐसा है तो (आपका) शास्त्र सबका अनुग्राहक नहीं हुआ ?

(उत्तर) तो (इस शास्त्र को सब का अनुग्राहक) मानता कौन है ? (अर्थात्) हम स्वयं इस शास्त्र को सबका अनुग्राहक नहीं मानते हैं। वह केवल विवेकशील

अधिकारी व्यक्तियों के लिए ही है, सबके लिए नहीं।) इसी बात को (अगले सूत्र में) कहते हैं—

अनधिकारियों (अविवेकी, अयोग्य व्यक्तियों) में शास्त्र सफल नहीं हो सकता है।१, २, ४।

(यह ही नहीं, कोई भी) शास्त्र अद्रव्य (अर्थात् अनधिकारी) विवेकी पुरुषों में सफल नहीं हो सकता है ॥४॥

(इसी विषय में) उदाहरण देते हैं—

निर्मली कीचड को स्वच्छ करने के लिए नहीं होती।१, २, ५।

निर्मली (वृक्ष विशेष का फल) जैसे जल को स्वच्छ कर देता है इस प्रकार कीचड को स्वच्छ करने में समर्थ नहीं होता है ॥५॥ (पृष्ठ १२-१८)

४ काव्य-रीति

अधिकारियों का निरूपण करके रीतियों के निश्चय के लिए कहते हैं—

रीति (ही) काव्य की आत्मा है।१, २, ६।

यह रीति (ही) काव्य की आत्मा है। शरीर के समान यह वाक्य शेष समझना चाहिए ॥६॥

(प्रश्न) यह रीति क्या (पदार्थ) है, यह कहते हैं—

(उत्तर) विशेष प्रकार की पद-रचना (शैली) को रीति कहते हैं।१, २, ७।

विशेष-युक्त पद-रचना रीति है ॥७॥

वह विशेष (जिससे युक्त पद-रचना को रीति कहते हैं) कौन-सा है, यह बतलाते हैं—

(विशिष्ट पद-रचना में) विशेष गुण (के अस्तित्व) स्वरूप है।१, २, ८।

विशेष (ता) के गुण रूप हैं—जिन (गुणों) का वर्णन आगे किया जाएगा ॥८॥

वह (रीति) वैदर्भी, गौडी और पांचाली इस तरह तीन प्रकार की है।१, २, ९।

उस रीति के तीन प्रकार के भेद होते हैं—(१) वैदर्भी, (२) गौडीया, और (३) पांचाली ॥९॥

(प्रश्न) क्या काव्यों के 'द्रव्य गुण' (विशेषता) की उत्पत्ति देश (विशेष) के कारण होती है, जिसके कारण (रीतियों में) यह देश विशेष (विदर्भ, गौड, पांचाल आदि) से (उनका) नामकरण किया है?

(उत्तर) यह बात नहीं है।

जैसा कि कहते हैं :—

विदर्भादि (देशों) में आविष्कृत (देखी गई) होने से (रीतियों की देशों के नामों से) वह संज्ञाएँ रखी गई हैं ।१, २, १०।

विदर्भ, गौड तथा पांचाल (देशों) में वहाँ के कवियों द्वारा वास्तविक रूप में (उपलब्ध, आविष्कृत या) प्रयुक्त होने से वे (उस प्रकार के) नाम रखे गए हैं। (वैसे) देशों से काव्य का कोई उपकार नहीं होता है, (जिससे किसी देश के नाम पर रीतियों का नामकरण किया जाता) ॥१०॥

उन (रीतियों) का गुणों के भेद से भेद (होता है यह) कहते हैं—

समस्त गुणों से युक्त वैदर्भी (रीति) है ।१, २, ११।

समस्त (अर्थात् दस शब्द-गुण तथा दस अर्थ-गुण) ओज, प्रसाद आदि से युक्त रीति का नाम वैदर्भी रीति है। इस (वैदर्भी रीति के निरूपण) में निम्न दो श्लोक हैं—

(आगे कहे जाने वाले काव्य-) दोषों की मात्रा से भी रहित और समस्त गुणों से युक्त वीणा के स्वर के समान मधुर (लगने वाली) वैदर्भी रीति मानी जाती है।

उस (वैदर्भी रीति) की कवि लोग इस प्रकार स्तुति करते हैं—

(सुकवि-रूप योग्य) वक्ता, (सुन्दर वर्ण्य-विषय-रूप) अर्थ, और शब्दों पर अधिकार (शब्द कोष) रहते हुए भी जिस (विशिष्ट रचना-शैली) के बिना वाणी का मधु रस स्रवित नहीं होता है (वह ही वैदर्भी रीति है)।

(महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक का निम्न पद्य इस वैदर्भी रीति का सुन्दर) उदाहरण है —

(आज) भैंसे सींगों से बार-बार ताडित किए हुए कुएँ के समीपवर्ती पोखरों के जल में खूब डुबकी लगावें। (भैंसों और भैंसियों का यह स्वभाव है कि यदि उन्हें पोखरों का जल मिल जावे तो वह उसमें घुस जाते हैं। मुख को छोड़ कर शेष सारा शरीर पानी में डुबा लेते हैं। इससे शायद उनको मक्खियों के कष्ट से छुटकारा मिल

जाता है। परन्तु फिर भी उनका मुख भाग जो ऊपर रह जाता है उसमें मक्खियाँ लगती ही हैं। उस समय उन मक्खियों के उडाने के लिए वह जोर से सिर हिलाते रहते हैं, जिससे उनके सींग पानी में लगते रहते हैं। इसी दृश्य को कवि ने स्वभावोक्ति से 'गाहन्ता महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितम्' इन शब्दों में लिखा है।) मृगों (मृगों और मृगियों) का समूह (वृक्षों की शीतल) छाया में झुण्ड बना कर (निश्चिन्त होकर बैठ कर) बार-बार जुगाली करें। (जंगली) सूअरों की पंक्ति पल्वल (छोटे तालाब के किनारे) पर नागरमोथा (की जड़ों) को निश्चिन्त होकर खोदें (और खावें। नागरमोथा एक प्रकार की घास होती है। इसकी जड़ को सूअर अपनी थूथनी से खोद कर बड़े चाव से खाता है। इसी का वर्णन यहाँ कवि ने किया है। यह औषधि के रूप में प्रयुक्त होती है और हवन-सामग्री में भी पड़ती है।) और प्रत्यञ्चा ढीली कर देने से आज हमारा यह धनुष भी विश्राम करे। ॥११॥

'ओज' और 'कान्ति' (नामक केवल दो गुणों) से युक्त 'गौडी' (रीति) है।१, २, १२।

(पूर्वोक्त दस गुणों में से केवल दो) ओज और कान्ति जिस में पाए जावें वह ओज—कान्तिमती गौडीया रीति (कही जाती) है। 'माधुर्य' तथा 'सौकुमार्य' (गुणों) के न होने से (यह गौडी रीति) समासबहुल और अत्यन्त उग्र पदों वाली होती है। (जैसा कि) उसके विषय में (निम्न) श्लोक (से प्रतीत होता) है।

(अत्यधिक) समासयुक्त, उत्कट पदों से युक्त 'ओज' और 'कान्ति' गुणों से समन्वित रीति को रीति (शास्त्र) के पण्डित 'गौडीया' रीति कहते हैं।

(गौडीया रीति का) उदाहरण (निम्न श्लोक है):—

(श्री रामचन्द्रजी के द्वारा अनायास) हाथ में उठाए हुए (चन्द्रशेखर) शिवजी के धनुष के दण्ड के टूटने से उत्पन्न हुआ और आगे (रामचन्द्रजी) के बाल-चरित्र रूप (उनके भावी जीवन की) प्रस्तावना का उद्घोषक, टङ्कार-ध्वनि (उस भीषण टङ्कार के कारण) एकदम काँप उठने (झाक् झटिति पर्यस्त चलित) वाले (पृथ्वी तथा आकाश-रूप छोटे छोटे) कपाल-सम्पुटों में सीमित (छोटे-से) ब्रह्माण्ड-रूप भाण्ड (घड़ा आदि रूप बर्तन) के भीतर घूमने के कारण और अधिक भयङ्करता को प्राप्त होकर अब तक भी शान्त नहीं हुआ है। यह आश्चर्य है ॥१२॥

(ओज और कान्ति के विपरीत) 'माधुर्य' और 'सौकुमार्य' (रूप दो गुणों) से युक्त पाञ्चाली रीति होती है। १, २, १३।

'माधुर्य' तथा 'सौकुमार्य' गुणों से युक्त 'पाञ्चाली' नामक रीति होती है। (उसमें) ओज और कान्ति का अभाव होने से उसके पद (गाढत्व रूप 'ओज' से

विहीन) सुकुमार और (कान्ति का अभाव होने से) विच्छाय (कान्तिविहीन) होते हैं। जैसा कि (उस 'पाचाली' के विषय में निम्नलिखित प्राचीन) श्लोक है—

गाढबन्ध से रहित (ओजोविहीन) और शिथिल (अनुज्ज्वल) पद वाली, गौडी रीति के विषय-भूत, 'ओज' के विपरीत) 'माधुर्य' और (कान्ति के विपरीत) 'सौकुमार्य,' से युक्त सम्पूर्ण सौन्दर्य से शोभित 'रीति' को कवि 'पाचाली' रीति कहते हैं।

जैसे :—

हे पथिक ! इस ग्राम में अब पथिको को (रात्रि में ठहरने के लिए) स्थान नहीं दिया जाता है। (क्योकि एक बार ऐसे ही किसी पथिक को यहाँ ठहरा लिया था, परन्तु) रात्रि में यहाँ विहार (बौद्ध मठ) के मण्डप के नीचे सोते हुए उस (नवयुवक पथिक) ने (वर्षा ऋतु की रात्रि में) मेघ के गर्जने पर उठ कर (उसके कारण) अपनी प्रिया को स्मरण करके वह (कर्म) किया (जो कहने योग्य भी नहीं है, और) जिसके कारण यहाँ (ग्राम) के लोग (पथिक के) वध के दण्ड की शका से भयभीत हैं।

इन तीन रीतियों के भीतर काव्य इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है, जिस *प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र प्रतिष्ठित होता है ॥१३॥*

उनमें से प्रथम (अर्थात् वैदर्भी रीति) समस्त (अर्थात् दसो) गुणो से युक्त होने के कारण ग्राह्य है। (शेष दोनो उतनी ग्राह्य नहीं हैं) ।१, २, १४।

इन तीनो रीतियों में से प्रथम अर्थात् वैदर्भी (रीति सबसे अधिक) ग्राह्य है, सम्पूर्ण (दसो) गुणो से युक्त होने के कारण ॥१४॥

अन्य दोनों (गौडी तथा पाचाली रीतियाँ) अल्प-गुण (केवल दो-दो गुण) वाली होने से (उतनी) ग्राह्य नहीं हैं ।१, २, १५।

दूसरी गौडी और पाचाली (यह दोनो रीतियाँ) स्वल्पगुण वाली (केवल दो-दो गुण वाली) होने से (उतनी) ग्राह्य नहीं हैं ॥१५॥

उस (वैदर्भी रीति) के आरोहण के लिए दूसरी (गौडी तथा पाचाली रीति) का अभ्यास (उपयोगी या साधनभूत होता है), ऐसा कोई लोग मानते हैं ।१, १, १६।

वह ठीक नही है। अतत्त्व के अभ्यास से तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। १, २, १७।

अतत्त्व, का अभ्यास करने वाले को तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है ॥१७॥

(अपने इस कथन की पुष्टि में) उदाहरण (के लिए) कहते हैं—

सन की डोरी (की पट्टियों) के बुनने का अभ्यास करने पर टसर (रेशम) के सूत्र के बुनने में विचक्षणता (कौशल) की प्राप्ति नहीं होती है ।१, २, १८।

सन के सूत्र से बुनने का अभ्यास करने वाला बुनकर टसर (रेशम) के सूत्र के बुनने में वैचित्र्य को प्राप्त नहीं करता है ॥१८॥

यह (वैदर्भी रीति) भी समास के न होने पर (और भी उत्कृष्ट) शुद्ध वैदर्भी कहलाती है ।१, २, १९।

वह वैदर्भी भी शुद्ध वैदर्भी कही जाती है यदि उसमें समासयुक्त पद न हो। (वैदर्भी का भी उत्कृष्ट रूप यह शुद्ध वैदर्भी है। यह अभिप्राय है) ॥१९॥

उसमें अर्थ-गुणों का वैभव (सम्पत्ति, समग्रता, पूर्ण सौन्दर्य) आस्वाद्य अर्थात् अनुभव करने योग्य होता है ।१, २, २०।

उस वैदर्भी (रीति) में अर्थ-गुणों का वैभव आस्वाद के योग्य होता है ॥२०॥

उस (वैदर्भी रीति) के सहारे से अर्थगुणों का लेश मात्र भी आस्वाद के योग्य हो जाता है (अर्थगुण-सम्पत्ति की तो बात ही क्या!) ।१, २, २१।

उस (वैदर्भी रीति) के सहारे से अर्थ का लेश (सामान्य अर्थ) भी आस्वाद योग्य हो जाता है, अर्थगुण-सम्पत्ति की तो बात ही क्या कहना !

जैसा कि (वैदर्भी रीति की प्रशंसा में लिखे गए निम्न श्लोकों में) कहा है—

किन्तु यह (वैदर्भी रीतिमयी) कुछ और ही (प्रकार की लोकोत्तर) पद-रचना है जिसमें (निबद्ध होने पर) न कुछ (तुच्छ या असत्)-सी वस्तु भी कुछ (अलौकिक चमत्कारमय) सी प्रतीत होती है। और सहृदयों के कर्णगोचर होकर उनके चित्त को इस प्रकार आह्लादित करती है मानो (वहीं से) अमृत की वर्षा हो रही है।

जिस (वैदर्भी रीति) को (काव्य रूप) वाक्य में प्राप्त करके शब्द सौन्दर्य (वाचकश्री) थिरकने लगता है, जहाँ (वैदर्भी रीति में पहुँच कर) नीरस (वितथ) वस्तु भी सरस (अवितथ) हो उठती है, सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाला कुछ ऐसा अनिर्वचनीय शब्दपाक वैदर्भी रीति में (ही) कहीं उदय होता है। (जिसके कारण शब्द-शोभा मानो नाचने सी लगती है और नीरस वस्तु भी सरस हो जाती है। टीकाकार ने वितथ शब्द का अर्थ नीरस और अवितथ शब्द का अर्थ सरस किया है।) ॥२१॥

उस (वैदर्भी रीति) में रहने के कारण वह (अर्थगुण-सम्पत्ति भी) (उपचार या लक्षणा से) वैदर्भी (नाम से कही जा सकती) है ।१, २, २२।

वह अर्थगुण-सम्पत्ति भी वैदर्भी (नाम से) कही गई है। सूत्र में प्रयुक्त 'तात्स्थ्यात्' इस पद से उस (वैदर्भी रीति) में स्थित होने के कारण (अर्थ-सम्पत्ति भी वैदर्भी नाम से कही गई है। । इस प्रकार उपचार (लक्षणा) से व्यवहार दिखलाते हैं) ॥२२॥ (पृष्ठ १८-२१)

५ काव्य के अंग (साधन)

काव्य के साधनों (अंगों) को दिखलाने के लिए कहते हैं—

(१) लोक (अर्थात् स्थावर-जंगमात्मक लोक का व्यवहार), (२) विद्या चौदह अथवा अठारह भेदों से प्रसिद्ध समस्त विद्याएं), और (३) (काव्यों का ज्ञान, काव्यज्ञों की सेवा, पदों के निर्वाचन की सावधानता, और स्वाभाविक प्रतिभा, तथा उद्योग रूप पांच को मिलाकर) प्रकीर्ण (फुटकर—इस प्रकार यह तीन मुख्य) काव्य (निर्माण में कौशल प्राप्त करने) के साधन हैं ।१, ३, १।

लोक-व्यवहार (यहां) लोक (शब्द से अभिप्रेत) है ।१, ३, २।

स्थावर (वृक्षादि अचल) और जंगम (चल मनुष्यादि) रूप (जगत्) लोक (शब्द का मुख्यार्थ) है। उसका वृत्त अर्थात् व्यवहार यह (लोकवृत्त पद का) अर्थ है ॥२॥

शब्द-स्मृति (व्याकरण-शास्त्र), अभिधान-कोश (कोशग्रन्थ), छन्दोविचिति (छन्द शास्त्र), कला-शास्त्र (चौंसठ प्रकार की कलाओं और चौदह प्रकार की उप-कलाओं के प्रतिपादक शास्त्र), काम-शास्त्र (वात्स्यायन आदि प्रणीत), और दण्ड-नीति (कौटिल्यादि प्रणीत अर्थशास्त्र) 'विद्या' (शब्द से ग्रहण करने योग्य) हैं ।१, ३, ३।

शब्द-स्मृति (व्याकरण) आदि का काव्य का पूर्ववर्तित्व (तत्पूर्वकत्व) काव्य-रचना में (सबसे) पहिले अपेक्षित होने के कारण (कहा गया) है ॥३॥

उनकी काव्यांगता की योजना करने के लिए कहते हैं—

शब्द-स्मृति (व्याकरण शास्त्र) से शब्द की शुद्धि होती है ।१, ३, ४।

शब्द स्मृति अर्थात् व्याकरण से शब्दों की शुद्धि अर्थात् साधुत्व का निश्चय करना चाहिए। शुद्ध पदों को कवि निर्भय (निष्कम्प) होकर प्रयुक्त कर सकते हैं ॥४॥

अभिधान-कोश (के परिज्ञान) से पदों के (ठीक) अर्थ का निश्चय करना चाहिए।१, ३, ४।

रचना में रखने योग्य पद का विचार करते हुए (यदि कोश का ज्ञान नहीं है तो) अर्थ का सन्देह रहने से (उस विशेष पद को) ग्रहण करे अथवा न करे, छोड़ दे अथवा न छोड़े यह (द्विविधा) काव्य-रचना में (बड़ा) विघ्न (करती) है। इसलिए अभिधान-कोश से पदों के अर्थ का (ठीक तरह से) निश्चय करना चाहिए।

अपूर्व (नए-नए) पद के लाभ को अभिधान-कोश का फल मानना उचित नहीं है। (क्योंकि महाकवियों द्वारा) अप्रयुक्त (पद का) प्रयोग उचित नहीं है।

(प्रश्न) फिर यदि प्रयुक्त (पदों) का (ही) प्रयोग किया जाता है तो (उनका तो अर्थ निश्चित ही है) फिर पदों की सन्दिग्धार्थता की शंका क्यों की है?

(उत्तर) ऐसा कहना ठीक नहीं है। ऐसे शब्दों में सामान्य रूप से अर्थ की प्रतीति हो सकती है (परन्तु विशेष अर्थ का ज्ञान न होने से संशय अथवा अनुचित प्रयोग हो जाता है। ऐसे संशय के निवारण के लिए कोश का उपयोग करना चाहिए) जैसे कमर पर पहिने जाने वाले वस्त्र के बाँधने वाले नारे को 'नीवी' कहते हैं यह कोई (कवि सामान्य रूप से) जानता है। परन्तु 'नीवी संग्रथन नार्या जघनस्थस्य वाससः' इस नाममाला के प्रतीक को न जानने वाले (कवि) को, यह स्त्री का (नारा) या पुरुष का (नारा—नीवी कहलाता है) यह संशय हो सकता है। (जब वह इस 'नीवी संग्रथन नार्या जघनस्थस्य वाससः' इत्यादि कोश को देख लेता है तब उसको यह निश्चय हो जाता है कि 'नीवी' शब्द पुरुष के नारे के लिए नहीं, केवल स्त्री के नारे के लिए प्रयुक्त करना चाहिए)।

प्रश्न—यदि 'नीवी' शब्द स्त्री के वस्त्र के नारे के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है) तो फिर,

नाना प्रकार के व्यंजनों के प्रचुर परिमाण (में पेट में पहुँचने) से पेट फूलने वाले (भोजन-भट्ट) ने पहले से ही ढीले किए हुए अपने नारे को और भी ढीला कर दिया।

यह 'पुरुष के नारे के लिए 'नीवी' शब्द का) प्रयोग कैसे हुआ?

(उत्तर) भ्रान्ति से अथवा उपचार से ॥५॥

छन्दोविचिति (छन्द-शास्त्र) से वृत्त (छन्द) विषयक संशय का नाश होता है।१, ३, ६।

(यद्यपि) काव्य (रचना) के अभ्यास से (साधारणतः) वृत्तों का परिचय हो जाता है, फिर भी (कभी-कभी) मात्रिक वृत्त आदि में कहीं संशय हो सकता है। इसलिए छन्द शास्त्र (के अभ्यास) से वृत्त (सम्बन्धी) संशय का निराकरण करना चाहिए ॥६॥

कला शास्त्रों के द्वारा कला के तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ।१, ३, ७।

गाना, नाचना, चित्र आदि कलाएं हैं । उनका प्रतिपादन करने वाले 'विशाखिल' आदि रचितशास्त्र कला शास्त्र (कहलाते) हैं। उन (कला शास्त्रों) से कलाओं के तत्त्वों का संवित् अर्थात् संवेदन (ज्ञान) करना चाहिए । कलाओं के तत्त्व को समझे बिना (काव्य में) कला (सम्बन्धी) वस्तु का भली प्रकार वर्णन करना सम्भव नहीं है। (इसलिए कलाओं का ज्ञान कवि के लिए आवश्यक है) ॥७॥

काम-शास्त्र (के अध्ययन) से काम-(सम्बन्धी) व्यवहार का (ज्ञान प्राप्त करना चाहिए) ।१, ३, ८।

संवित् (इस पद) की (पूर्वसूत्र से) अनुवृत्ति आती है । काम-(सम्बन्धी) व्यवहार का ज्ञान काम शास्त्र से करना चाहिए यह (इस सूत्र का अर्थ है) । काव्य की वस्तु में कामोपचार (कामशास्त्र-सम्बन्धी व्यवहार) का बाहुल्य रहता है, इसलिए (काम-शास्त्र का अध्ययन कवि के लिए अत्यन्त आवश्यक है) ॥८॥

दण्ड-नीति (कौटिल्यादि प्रणीत अर्थ शास्त्र) से नय और अपनय का (ज्ञान करना चाहिए ।१, ३, ९।

दण्ड-नीति (अर्थात् कौटिल्यादि प्रणीत) अर्थ-शास्त्र से नय (उचित नीति) और अपनय (अनुचित नीति) का ज्ञान होता है । उनमें से (१ सन्धि, २ विग्रह, ३ यान, ४. आसन, ५ संश्रय, ६ द्वैधीभाव इन) षड्गुणों का यथोचित प्रयोग नय (कहलाता) है । उसके विपरीत (उन्हीं षड्गुणों का अनुचित प्रयोग) अपनय (कहलाता है) । उन दोनों (नय और अपनय) को जाने बिना नायक और प्रतिनायक के व्यवहार को (काव्य में भली प्रकार) वर्णन करना सम्भव नहीं है । (इसलिए दण्ड-नीति या अर्थ-शास्त्र का ज्ञान भी कवि के लिए आवश्यक है) ॥९॥

और इस (दण्ड-नीति के परिज्ञान) से (ही) इतिवृत्त (कथा के आख्यान वस्तु) की (काव्योपयोगी आवश्यक) कुटिलता होती है ।१, ३, १०।

काव्य का शरीर-भूत इतिहासादि (आख्यान वस्तु) इतिवृत्त (शब्द से यहाँ अभिप्रेत) है । उसकी (काव्योपयोगी) विचित्रता (कुटिलता) उस दण्ड-नीति से (ही)

हो सकती है। 'आबलीयस' प्रभृति प्रयोगों की व्युत्पत्ति में (दण्ड-नीति का उपयोग है)। उस (दण्ड-नीति) के (तद्विषयक) ज्ञान का कारण होने से (दण्ड-नीति का ज्ञान भी काव्य के सौन्दर्याधान के निमित्त, कवि के लिए आवश्यक है)।

'अबलीयासमधिकृत्य कृतमधिकरणं आबलीयसम्। प्रयोगा मित्रभेदसुहृल्लाभादयः।' वृत्ति में आए हुए 'आबलीयस' तथा 'प्रयोग' शब्द की इस प्रकार की व्याख्या टीकाकार ने की है। 'आबलीयस' नाम का अधिकरण अर्थ-शास्त्र में मिलता है।

इस प्रकार (यहाँ न कही हुई) अन्य विद्याओं का (काव्य के लिए) यथोचित उपयोग समझ लेना चाहिए (वर्णन करना चाहिए) ॥१०॥

(१) लक्ष्यज्ञत्व, (२) अभियोग, (३) वृद्ध-सेवा, (४) अवेक्षण, (५) प्रतिभान, और (६) अवधान (यह छः) प्रकीर्ण (शब्द से यहाँ अभिप्रेत) हैं।१, ३, ११।

उनमें से (अन्य महाकवियों के बनाए हुए) काव्यों का परिचय (पुनः पुनः अवलोकन) लक्ष्यज्ञत्व (पद से यहाँ अभिप्रेत) है।१, ३, १२।

दूसरों (अन्य महाकवियों) के काव्यों में परिचय (अभ्यास) लक्ष्यज्ञत्व (कहलाता) है। उस (काव्यानुशीलन) से काव्य-रचना में व्युत्पत्ति होती है। (इसलिए कविता करने की इच्छा रखने वाले को अन्य कवियों की रचनाओं का अनुशीलन अवश्य ही करना चाहिए) ॥१२॥

काव्य-रचना के लिए उद्योग 'अभियोग' (कहलाता) है।१, ३, १३।

(बन्धन अर्थात्) रचना (का नाम) बन्ध है। काव्य का बन्ध अर्थात् रचना काव्य-बन्ध (कहलाती) है। उसके लिए प्रयत्न (यहाँ सूत्र में) अभियोग (शब्द से अभिप्रेत) है। वह (प्रयत्न) कवित्व के उत्कर्ष का आधान करता है ॥१३॥

काव्य की शिक्षा देने वाले गुरुओं की सेवा 'वृद्ध-सेवा' (शब्द से अभिप्रेत) है।१, ३, १४।

काव्योपदेश में गुरु (अर्थात् शिक्षा देने वाले) उपदेष्टा (काव्योपदेश-गुरु कहलाते हैं)। उनकी सेवा 'वृद्धसेवा' (शब्द से अभिप्रेत) है। उससे 'काव्यविद्या' (अर्थात् काव्य-निर्माण में नैपुण्य) की (अभ्यासी शिष्य में) सङ्क्रान्ति होती है ॥१४॥

पद (विशेष) के (रचना) में रखने और हटाने (के द्वारा उसके सौन्दर्य और उपयोगिता की परीक्षा करने) को अवेक्षण कहते हैं।१, ३, १५।

पद का आधान अर्थात् रखना, और उद्धरण अर्थात् निकालना इन दोनों (रूपों) में (उसकी उपयोगिता की परीक्षा) अवेक्षण है। इस विषय में (निम्नलिखित) दो श्लोक हैं:—

जब तक मन (पद की उपयोगिता के विषय में) स्थिर नहीं होता तब तक पद का रखना और हटाना होता (ही) रहता है। और (कवि के पदों में) स्थिरता स्थापित हो जाने पर तो सरस्वती सिद्ध हुई समझो।

जिस (अवस्था) में (पहुँच कर कवि के) पद परिवर्तन-सहत्व को छोड़ देते हैं (अर्थात् कवि ने जहाँ जो पद एक बार रख दिया उसको बदल करके कोई और अधिक सुन्दर शब्द वहाँ रख सकना सम्भव नहीं रहता है। कवि की) उस (स्थिति) को शब्द-विन्यास में निपुण (महाकवि) 'शब्दपाक' (पद से) कहते हैं ॥१५॥

कवित्व का बीज प्रतिभा (जन्मसिद्ध संस्कार विशेष) है।१, ३, १६।

कवित्व का बीज—कवित्व-बीज—(यह षष्ठी-तत्पुरुष समास कवित्व-बीज पद में है और उसका अर्थ) जन्मान्तरागत कोई (अपूर्व) संस्कार-विशेष है। जिस (प्रतिभा) के बिना काव्य बनता ही नहीं अथवा (जैसा-तैसा कुछ) बन भी जाय तो उपहास के योग्य होता है। (उस जन्म-सिद्ध प्रतिभा का होना कवि के लिए अत्यन्त आवश्यक है) ॥१६॥

चित्त की एकाग्रता अवधान (कहलाती है)।१, ३, १७।

चित्त की एकाग्रता अर्थात् बाह्य अर्थों से निवृत्ति अवधान (कहलाती) है। क्योंकि अवहित (एकाग्र) (चित्त ही) अर्थों को देखता है। (एकाग्रता के बिना कोई भी काम ठीक ढंग से नहीं होता है। इसलिए काव्य-रचना भी उसके बिना सम्भव नहीं है। वह चित्त की एकाग्रता कैसे प्राप्त हो, इसके लिए सूत्रकार आगे कहते हैं)॥१७॥

वह (एकाग्रता-रूप अवधान) देश और काल से (प्राप्त होता है)।१, ३, १८।

वह अवधान (अर्थात ऐकाग्र्य) देश और काल (विशेष) से उत्पन्न होता है ॥१८॥

विविक्त (अर्थात् निर्जन) देश (एकाग्रता के लिए आवश्यक) है।१, ३, १९।

विविक्त का अर्थ निर्जन है। (स्थान की निर्जनता)। चित्त की एकाग्रता-सम्पादन के लिए अत्यन्त आवश्यक है॥१९॥

रात्रि का चौथा प्रहर। (ब्राह्ममुहूर्त का काल चित्त की एकाग्रता के लिए सबसे अधिक उपयुक्त) काल है।१, ३, २०।

रात्रि का याम— रात्रियाम (यह षष्ठी तत्पुरुष समास) है। (याम का अर्थ) प्रहर है। तुरीय (का अर्थ) चतुर्थ। (रात्रि का चतुर्थ पहर, अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त का समय चित्त की एकाग्रता का उपयुक्त) काल है। उस (समय) के प्रभाव से विषयों से विरत और निर्मल चित्त एकाग्र हो जाता है। (वह समय काव्य-निर्माण के लिए अत्यन्त उपयोगी है) ॥२०॥ (पृष्ठ ३६-५४)

६. काव्य के भेद

इस प्रकार काव्य के साधनों का कथन करके काव्य के भेदों के निरूपण के लिए कहते हैं—

काव्य गद्य और पद्य (रूप से दो प्रकार का) होता है ।१, ३, २१।

(काव्य के इन दोनों भेदों में से) गद्य का पहले निर्देश उसकी विशेषताओं के दुर्ज्ञेय और उसकी रचना के कठिन होने के कारण किया गया है। जैसा कि (लोकोक्ति में) कहा है—

गद्य को कवियों की (प्रतिभा की) कसौटी कहते हैं ॥२१॥

वह (गद्य) भी तीन प्रकार का होता है यह दिखलाने के लिए कहते हैं—

गद्य (१) वृत्तगन्धि, (२) चूर्ण, और (३) उत्कलिकाप्राय (तीन प्रकार का) होता है ।१, ३, २२।

उन (तीनों गद्य-भेदों) के लक्षण कहते हैं—

(जो गद्य पढ़ने में) पद्यभाग से युक्त (या उसके समान प्रतीत) हो (उसमें वृत्त अर्थात् छन्द की *गन्ध होने से*) उसको 'वृत्तगन्धि' कहते हैं ।१, ३, २३।

('पद्यभागवत्' का समास कहते हैं) पद्य का भाग—पद्यभाग (यह षष्ठी तत्पुरुष समास है) उससे युक्त (या उसके समान गद्य) 'वृत्तगन्धि' (कहलाता) है। जैसे—

पाताल [redacted] तालु के तले में रहने वाले दानवों में।

इस (उदाहरण) में 'वसन्ततिलका' छन्द का भाग (एक चरण, पढ़ते ही) पहिचान लिया जाता है। (इसलिए इस गद्यांश में 'वसन्ततिलका' वृत्त की गन्ध होने से यह सारा गद्य-भाग जिसका यह एकदेश उदाहरणार्थ लिया गया है, 'वृत्तगन्धि' गद्य कहलाता है) ॥२३॥

असमस्त (अनाविद्ध) और ललित पदों से युक्त (गद्यभाग) 'चूर्ण' कहलाता है।१, ३, २४।

अनाविद्ध अर्थात् दीर्घ-समास-रहित और सुन्दर कोमल पद जिस में हो वह अनाविद्ध ललितपद वाला गद्य 'चूर्ण' कहलाता है। जैसे—

कर्मों के अभ्यास से ही कौशल प्राप्त होता है। केवल एक बार गिरने से तो जल की बूँद भी पत्थर में गड्ढा नहीं डालती ॥२४॥

(चूर्णात्मक गद्य से) विपरीत 'उत्कलिकाप्राय' (गद्य) होता है।१, ३, २५।

(चूर्णात्मक गद्य से) विपरीत अर्थात् दीर्घसमासयुक्त (आविद्ध) और उद्धत पदों से युक्त (गद्य) 'उत्कलिकाप्राय' (गद्य नाम से कहा जाता) है। जैसे

वज्रकोटि के समान तीक्ष्ण नखो के कारण भयकर थप्पड़ से विदीर्ण मत्त हाथी के कुम्भस्थल से गिरती हुए मदधारा से भीगे हुए अयालो के समूह से देदीप्यमान मुख वाले सिंह के होने पर ॥२५॥

पद्य अनेक प्रकार के होते हैं।१, ३, २६।

सम, अर्धसम और विषम आदि भेद से पद्य अनेक प्रकार के होते हैं ॥२६॥

वह गद्यपद्यात्मक काव्य (प्रकारान्तर से) अनिबद्ध (फुटकर, मुक्तक आदि रूप में) और निबद्ध (परस्पर-सम्बद्ध खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि रूप में) दो प्रकार के होता है।१, ३, २७।

यह गद्य और पद्य-रूप काव्य अनिबद्ध (परस्पर-असम्बद्ध, फुटकर-मुक्तक आदि रूप) और निबद्ध (परस्पर-सम्बद्ध प्रबन्ध-काव्य—खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि रूप से) दो प्रकार का होता है। इन दोनो (मुक्तक अनिबद्ध, और निबद्ध प्रबन्ध-काव्यों) के प्रसिद्ध होने से (यहाँ उनके) लक्षण नहीं कहे हैं ॥२७॥

माला और मौर (शेखर) के समान उन दोनों (अनिबद्ध और निबद्ध काव्यों) की सिद्धि क्रमशः होती है।१, ३, २८।

'तयो' पद से अनिबद्ध और निबद्ध का ग्रहण होता है। क्रम से सिद्धि क्रम-सिद्धि (यह तृतीया तत्पुरुष समास) है। अनिबद्ध (मुक्तक) की सिद्धि हो जाने पर निबद्ध, (प्रबन्ध काव्य) की सिद्धि होती है। माला और मौर के समान। जैसे स्रक् अर्थात् माला के बन जाने पर (उससे ही) उत्तंस अर्थात् मौर (मुकुट, शेखर) बन जाता है ॥२८॥

कुछ (काव्य) मुक्तकों (की रचना) में ही समाप्त हो जाते हैं उनका दोष दिखलाने के लिए कहते हैं—

अग्नि के अकेले परमाणु के समान मुक्तक अकेला शोभित नहीं होता है ।१, ३, २६।

जैसे अग्नि का एक परमाणु नहीं चमकता है। इसी प्रकार अनिबद्ध (मुक्तक) काव्य प्रकाशित नहीं होता है। इसी विषय में यह निम्न श्लोक है—

असकलित (मुक्तक) काव्यों में चारुता नहीं आती। जैसे अग्नि के अलग-अलग परमाणु नहीं चमकते हैं (मिल कर ही चमकते हैं। इसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य ही शोभित होते हैं। 'मुक्तक' उतने शोभित नहीं होते।) ॥२९॥

प्रबन्ध-काव्यों में दस प्रकार के रूपक उत्तम होते हैं ।१, ३, ३०।

सन्दर्भ अर्थात् प्रबन्ध-काव्यों में दस रूपक—नाटकादि उत्तम होते हैं ॥३०॥

वह (प्रबन्ध-काव्यों में दशरूपक की उत्तमता) क्यों है यह बतलाते हैं—

वह (दस प्रकार के रूपक) चित्रपट के समान समस्त विशेषताओं से युक्त होने के कारण चित्र-रूप (आश्चर्यकारक तथा आनन्ददायक) हैं ।१, ३, ३१।

क्योंकि वह दस प्रकार का रूपक चित्रपट के समान चित्र-रूप (अभिनय के चित्र-रूप अथवा आश्चर्यकारक तथा आनन्ददायक) है, समस्त गुणों से पूर्ण होने से (और चित्रमय होने से वह चित्रपट के समान आकर्षक है) ॥३१॥

उस (दस रूपक) से (काव्य, आख्यायिका आदि साहित्य के) अन्य भेदों की कल्पना की जाती है ।१, ३, ३२।

उस 'दशरूपक' से (काव्यादि) अन्य भेदों की क्लृप्ति अर्थात् कल्पना होती है। यह सब जो कथा, आख्यायिका और महाकाव्य आदि हैं 'दशरूपक' का ही विस्तार मात्र है, उनके लक्षण अधिक मनोरंजक नहीं हैं, इसलिए हमने उनकी यहाँ उपेक्षा कर दी है। उनका ज्ञान अन्य ग्रन्थों से प्राप्त कर लेना चाहिए ॥३२॥

अनुवादक—आचार्य विश्वेश्वर

वामन

[काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति]*

१ अलंकार एव काव्यम्

काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् । १, १, १ ।

काव्यं खलु ग्राह्यमुपादेयं भवति, अलङ्कारात् । काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कार-संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते । भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते ॥१॥

कोऽसावलङ्कार इत्यत आह—

सौन्दर्यमलङ्कारः । १, १, २ ।

अलङ्कृतिरलङ्कारः । करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते ॥२॥

स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम् । १, १, ३ ।

स खल्वलङ्कारो दोषहानात् गुणालङ्कारादानाच्च सम्पाद्यः कवेः ॥३॥

शास्त्रतस्ते । १, १, ४ ।

ते दोषगुणालङ्कारहानादाने । शास्त्रादस्मात् । शास्त्रतो हि ज्ञात्वा दोषान् जह्यात् गुणालङ्कारांश्चाददीत ॥४॥

२ काव्यस्य प्रयोजनम्

किं पुनः फलमलङ्कारवता काव्येन येनैतदर्थोऽयमित्याह—

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् । १, १, ५ ।

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् । काव्यं सत् चारु, दृष्टप्रयोजनं प्रीतिहेतुत्वात् । अदृष्टप्रयोजनं कीर्तिहेतुत्वात् । अत्र श्लोकाः —

प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः ।
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम् ॥१॥

---

*आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण

कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः ।
अकीर्तिं तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम् ॥२॥

तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिञ्च निबर्हितुम् ।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः ॥३॥५॥

३. काव्याधिकारिणः

अधिकारिनिरूपणार्थमाह—

अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः । १, २, १ ।

इह खलु द्वये कवयः सम्भवन्ति । अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्चेति । अरोचकिसतृणाभ्यवहारिशब्दौ गौणार्थौ । कोऽसावर्थः । विवेकित्वमविवेकित्वञ्चेति ॥१॥

पूर्वे शिष्याः विवेकित्वात् । १, २, २ ।

पूर्वे खल्वरोचकिनः शिष्याः, शासनीयाः, विवेकित्वात् विवेचन-शीलत्वात् ॥२॥

नेतरे तद्विपर्ययात् । १, २, ३ ।

इतरे सतृणाभ्यवहारिणो न शिष्याः । तद्विपर्ययात् । अविवेचनशीलत्वात् । न च शीलमपाकर्तुं शक्यम् ॥३॥

नन्वेवं शास्त्रं सर्वत्रानुग्राहि स्यात् । को वा मन्यते ? तत्राह—

न शास्त्रमद्रव्येष्वर्थवत् । १, २, ४ ।

न खलु शास्त्रमद्रव्येष्वविवेकिष्वर्थवत् ॥४॥

निदर्शनमाह—

न कतकं पङ्कप्रसादनाय । १, २, ५ ।

न हि कतकं पयस इव पङ्कप्रसादनाय भवति ॥५॥

४. काव्य-रीतिः

अधिकारिणो निरूप्य रीतिनिश्चयार्थमाह—

रीतिरात्मा काव्यस्य । १, २, ६ ।

रीतिर्नामेयमात्मा काव्यस्य शरीरस्येवेति वाक्यशेषः ॥६॥

किं पुनरियं रीतिरित्याह—

विशिष्टपदरचनारीतिः । १, २, ७ ।

विशेषवती पदानां रचना रीतिः ॥७॥

कोऽसौ विशेष इत्याह—

विशेषो गुणात्मा । १, २, ८ ।

वक्ष्यमाणगुणरूपो विशेषः ॥८॥

सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति । १, २, ९ ।

सा चेयं रीतिस्त्रेधा भिद्यते । वैदर्भी, गौडीया, पांचाली चेति ॥९॥

किं पुनर्देशवशाद् द्रव्यगुणोत्पत्तिः काव्यानां येनायं देशविशेषव्यपदेशः ? नैवम् ।

यदाह—

विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या । १, २, १० ।

विदर्भगौडपाञ्चालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या । न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम् ॥१०॥

तासां गुणभेदाद् भेदमाह—

समग्रगुणा वैदर्भी । १, २, ११ ।

समग्रैरोजःप्रसादप्रमुखैर्गुणैरुपेता वैदर्भी नाम रीतिः ।

अत्र श्लोकौ—

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥

तामेतां कवयः स्तुवन्ति—

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥

उदाहरणम्

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विस्रब्धं कुरुतां वराहविततिर्मुस्ताक्षतिं पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥११॥

ओजःकान्तिमती गौडीया। १, २, १२।

ओजः कान्तिश्च विद्येते यस्यां सा ओजःकान्तिमती, गौडीया नाम रीतिः। माधुर्यसौकुमार्ययोरभावात् समासबहुला अत्युल्बणपदा च। अत्र श्लोकः—

समस्तात्युद्भटपदामोजःकान्तिगुणान्विताम्।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः॥

उदाहरणम्,

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत—

टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः।

द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-

भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥१२॥

माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली। १, २, १३।

माधुर्येण सौकुमार्येण च गुणेनोपपन्ना पाञ्चाली नाम रीतिः। ओजःकान्त्यभावादनुल्बणपदा विच्छाया च। तथा च श्लोकः—

अश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम्।
मधुरां सुकुमाराञ्च पाञ्चालीं कवयो विदुः॥

यथा

ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय नैव वसतिः पान्थाधुना दीयते,
रात्रावत्र विहारमण्डपतले पान्थः प्रसुप्तो युवा।
तेनोत्थाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत्कृतम्,
येनाद्यापि करङ्कदण्डपतनाशङ्की जनस्तिष्ठति॥

एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति ॥१३॥

तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात् १, २, १४ ।

तासां तिसृणां रीतीनां पूर्वा वैदर्भी ग्राह्या गुणानां साकल्यात् ॥१४॥

न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् । १, २, १५ ।

इतरे गौडीयपाञ्चाल्यौ न ग्राह्ये, स्तोकगुणत्वात् ॥१५॥

तदारोहणार्थमितराभ्यास इत्येके । १, २, १६ ।

तस्या वैदर्भ्या एवारोहणार्थमितरयोरपि रीत्योरभ्यास इत्येके मन्यन्ते ॥१६॥

तच्च न, अतत्त्वशीलस्य तत्त्वानिष्पत्तेः । १, २, १७ ।

निदर्शनमाह—

न शणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यलाभः । १, २, १८ ।

न हि शणसूत्रवानमभ्यसन् कुविन्दस्त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यं लभते ॥१८॥

सापि समासाभावे शुद्धवैदर्भी । १, २, १९ ।

सापि वैदर्भी शुद्धवैदर्भी भण्यते, यदि समासवत् पदं न भवति ॥१९॥

तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या । १, २, २० ।

तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या भवति ॥२०॥

तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि । १, २, २१ ।

तदुपधानतः खल्वर्थलेशोऽपि स्वदते । किमङ्ग पुनरर्थगुणसम्पत् ।

तथा चाहुः—

किंत्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी,
यस्यां न किञ्चिदपि किञ्चिदिवावभाति ।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता,
चेतः सताममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा ॥

वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचकश्री-
र्वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति ।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ
सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः ॥२१॥

साऽपि वैदर्भी तात्स्थ्यात् । १, २, २२ ।

सापीयमर्थगुणसम्पद् वैदर्भीत्युक्ता । तात्स्थ्यादित्युपचारतो व्यवहारं दर्शयति ॥२२॥

५. काव्याङ्गानि

काव्याङ्गान्युपदर्शयितुमाह—

लोको विद्या प्रकीर्णंञ्च काव्याङ्गानि ।१, ३, १।

उद्देशक्रमेणैतद् व्याचष्टे—

लोकवृत्त लोकः ।१, ३, २।

लोकः स्थावरजङ्गमात्मा । तस्य वर्तनं वृत्तमिति ॥२॥

शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः ।१,३,३।

शब्दस्मृत्यादीनां तत्पूर्वकत्वं पूर्वं काव्यबन्धेष्वपेक्षणीयत्वात् ॥३॥

तासां काव्याङ्गत्वं योजयितुमाह—

शब्दस्मृतेः शब्दशुद्धिः ।१, ३, ४।

शब्दस्मृतेर्व्याकरणात्, शब्दानां शुद्धिः साधुत्वनिश्चयः कर्तव्यः । शुद्धानि हि पदानि निष्कम्पैः कविभिः प्रयुज्यन्ते ॥४॥

अभिधानकोशतः पदार्थनिश्चयः ।१, ३, [redacted]

पदं हि रचनाप्रवेशयोग्यं भावयन् सन्दिग्धार्थत्वेन गृह्णीयान्न वा गृह्णीयात्, जह्यान्न वा जह्यादिति काव्यबन्धविघ्नः । तस्मादभिधानकोशतः पदार्थनिश्चयः कर्तव्य इति ।

अपूर्वाभिधानलाभार्थत्वं त्वयुक्तमभिधानकोशस्य । अप्रयुक्तस्याप्रयोज्यत्वात् ।

यदि तर्हि प्रयुक्तं प्रयुज्यते किमिति सन्दिग्धार्थत्वमाशङ्कितं पदस्य ?

सत्य । तत्र सामान्येनार्थावगतिः सम्भवति । यथा नीवीशब्देन जघनवस्त्रग्रन्थि-रुच्यते इति कस्यचिन्निश्चयः । स्त्रियो वा पुरुषस्य वेति संशयः । 'नीवी संग्रथनं नार्या जघनस्थस्य वाससः' इति नाममालाप्रतीकमपश्यतः इति ।

अत्र कथम्—

विचित्रभोजनाभोगवर्धमानोदरास्थिना ।
केनचित् पूर्वमुक्तोऽपि नोदीयन्यः दलयीकृतः ॥

इति प्रयोगः । भ्रान्तेरपचाराद्वा ॥५॥

छन्दोविचितेर्वृत्तसंशयच्छेदः ।१, ३, ६।

काव्याभ्यासाद् वृत्तसङ्क्रान्तिर्भवत्येव, किन्तु मात्रावृत्तादिषु क्वचित् संशयः स्यात् । अतो वृत्तसंशयच्छेदश्छन्दोविचितेर्विधेय इति ॥६॥

कलाशास्त्रेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित् ।१, ३, ७।

कला गीतनृत्यचित्रादिकास्तासामभिधायकानि शास्त्राणि विशाखिलादिप्रणीतानि कलाशास्त्राणि । तेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित् संवेदनम् । न हि कलातत्त्वानुपलब्धौ कलावस्तु सम्यङ् निबद्धुं शक्यमिति ॥७॥

कामशास्त्रतः कामोपचारस्य ।१, ३, ८।

संविदित्यनुवर्तते । कामोपचारस्य संवित् कामशास्त्रत इति । कामोपचारबहुलं हि वस्तु काव्यस्येति ॥८॥

दण्डनीतेर्नयापनययोः । १, ३, ९ ।

दण्डनीतेरर्थशास्त्रान्नयस्यापनयस्य च संविदिति । तत्र षाड्गुण्यस्य यथावत् प्रयोगो नयः । तद्विपरीतोऽपनयः । न तावविज्ञाय नायकप्रतिनायकयोर्वृत्तं शक्यं काव्ये निबद्धुमिति ॥९॥

इतिवृत्तकुटिलत्वञ्च ततः । १, ३, १० ।

इतिहासादिरितिवृत्तम् काव्यशरीरम् । तस्य कुटिलत्वम् । ततो दण्डनीतेः । आवलीयसप्रभृतिप्रयोगव्युत्पत्तौ, व्युत्पत्तिमूलत्वात् तस्याः । एवमन्यासामपि विद्यानां यथास्वमुपयोगो वर्णनीय इति ॥१०॥

लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं
प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम् । १, ३, ११ ।

तत्र काव्यपरिचयो लक्ष्यज्ञत्वम् । १, ३, १२ ।

अन्येषां काव्येषु परिचयो लक्ष्यज्ञत्वम्। ततो हि काव्यबन्धस्य व्युत्पत्ति-र्भवति ॥१२॥

काव्यबन्धोद्यमोऽभियोगः। १, ३, १३।

बन्धनं बन्धः। काव्यस्य बन्धो रचना काव्यबन्धः। तत्रोद्यमोऽभियोगः। स हि कवित्वप्रकर्षमादधाति ॥१३॥

काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा ॥१, ३, १४॥

काव्योपदेशे गुरव उपदेष्टारः। तेषां शुश्रूषणं वृद्धसेवा। ततः काव्यविद्यायाः सङ्क्रान्तिर्भवति ॥१४॥

पदाधानोद्धरणमवेक्षणम् ॥१, ३, १५॥

पदस्याधानं न्यासः, उद्धरणमपसारणम्। तयो खल्ववेक्षणम्। अत्र श्लोकौ—

आधानोद्धरणे तावद् यावद्दोलायते मनः।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥
यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥१५॥

कवित्वबीजं प्रतिभानम्। १, ३, १६।

कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम्। जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित्। यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात् ॥१६॥

चित्तैकाग्र्यमवधानम्। १, ३, १७।

चित्तैकाग्र्यं बाह्यार्थनिवृत्तिस्तदवधानम्। अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यति ॥१७॥

तद्देशकालाभ्याम्। १, ३, १८।

तदवधानं देशात् कालाच्च समुत्पद्यते ॥१८॥

विविक्तो देशः। १, ३, १९।

विविक्तो निर्जनः ॥१९॥

रात्रियामस्तुरीयः कालः। १, ३, २०।

रात्रेर्यामो रात्रियामः प्रहरस्तुरीयश्चतुर्थः काल इति। तदुपरताद् विषयोपरतं चित्तं प्रसन्नमवधत्ते ॥२०॥

६. काव्यभेदा.

एवं काव्याङ्गान्युपदिश्य काव्यविशेषकथनार्थमाह—

काव्यं गद्यं पद्यञ्च । १, ३, २१ ।

गद्यस्य पूर्वनिर्देशो दुर्लक्ष्यविशेषत्वेन दुर्बन्धत्वात् । तथाहु :—

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' ॥२१॥

तच्च त्रिधा भिन्नमिति दर्शयितुमाह—

गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायञ्च । १, ३, २२ ।

तल्लक्षणान्याह—

पद्यभागवद् वृत्तगन्धि । १, ३, २३ ।

पद्यस्य भागाः पद्यभागाः । तद्वद् वृत्तगन्धि । यथा—

'पातालतालुतलवासिषु दानवेषु' इति ।

अत्र हि 'वसन्ततिलका' वृत्तस्य भागः प्रत्यभिज्ञायते ॥२३॥

अनाविद्धललितपदं चूर्णम् । १, ३, २४ ।

अनाविद्धान्यदीर्घसमासानि ललितान्यनुद्धतानि पदानि यस्मिंस्तदनाविद्धललितपदं चूर्णमिति । यथा—

अभ्यासो हि कर्मणां कौशलमावहति । न हि सकृन्निपातमात्रेणोदबिन्दुरपि ग्रावणि निम्नतामादधाति ॥२४॥

विपरीतमुत्कलिकाप्रायम् । १, ३, २५ ।

विपरीतमाविद्धोद्धतपदमुत्कलिकाप्रायम् । यथा—

कुलिशशिखरखरनखरप्रचयप्रचण्डचपेटापाटितमत्तमातङ्गकुम्भस्थलगलन्मदच्छटाच्छुरितचारुकेसरभारभासुरमुखे केसरिणि ॥२५॥

पद्यमनेकभेदम् । १, ३, २६ ।

पद्यं खल्वनेकेन समार्धसमविषमादिना भेदेन भिन्नं भवति ॥२६॥

तदनिबद्धं निबद्धञ्च । १, ३, २७ ।

तदिदं गद्यपद्यरूपं काव्यमनिबद्धं निबद्धञ्च । अनयोः प्रसिद्धत्वाल्लक्षणं नोक्तम् ॥२७॥

क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत् । १, ३, २८ ।

तयोरित्यनिबद्धं निबद्धञ्च परामृश्येते । क्रमेण सिद्धिः क्रमसिद्धिः । अनिबद्धसिद्धौ निबद्धसिद्धिः । यथा स्रजि मालायां सिद्धायाम्, उत्तंसः शेखरः सिद्ध्यतीति ॥२८॥

केचिदनिबद्ध एव पर्यवसितास्तद् प्रत्यर्थमाह—

नानिबद्धं चकास्त्येकतेजः परमाणुवत् । १, ३, २९ ।

न खल्वनिबद्धं काव्यं चकास्ति, दीप्यते । यथैकतेजः परमाणुरिति ।

अत्र श्लोकः—

असङ्कलितरूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता ।
न प्रत्येकं प्रकाशन्ते तैजसाः परमाणवः ॥२९॥

सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः । १, ३, ३० ।

सन्दर्भेषु प्रबन्धेषु दशरूपकं नाटकादि श्रेयः ॥३०॥

कस्मात् तदाह—

तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात् । १, ३, ३१।

तद् दशरूपकं हि यस्माच्चित्रं चित्रपटवत् । विशेषाणां साकल्यात् ॥३१॥

ततोऽन्यभेदक्लृप्तिः । १, ३, ३२ ।

ततो दशरूपकादन्येषां भेदानां क्लृप्तिः कल्पनमिति । दशरूपकस्यैव हीदं सर्वं विलसितम् । यच्च कथाख्यायिके महाकाव्यमिति । तल्लक्षणाच्च नातीव हृदयङ्गममित्युपेक्षितमस्माभिः । तदन्यतो ग्राह्यम् ॥३२॥

रुद्रट

[समय—नवम शताब्दी का प्रारम्भ]

ग्रन्थ—काव्यालंकार

१ काव्य-प्रयोजन

(सालंकारता के कारण) देदीप्यमान और (दोषाभाव के कारण) निर्मल रचना का निर्माता महाकवि सरस काव्य की रचना करता हुआ, अपने तथा नायक के प्रत्यक्ष, युगान्त तक रहने वाले, जगद् व्यापी यश का विस्तार करता है ॥१।४॥

यदि उन नायकों के चरित्र को प्रबन्ध के रूप में लिखने वाले सुकवि न होते तो उनके द्वारा बनाए हुए इन्द्रमहल आदि के समान समय पाकर नष्ट हो जाने पर कोई उनका नाम भी न जान पाता ॥१।५॥

इस प्रकार चिरस्थायी, महान्, निर्मल, अत्यधिक, सब मनुष्यों के प्रिय जिस राजादि के यश का कवि विस्तार करता है, उससे वह नायक अवश्य ही उपकृत होता है ॥१।६॥

परमार्थ-तत्त्व को जानने वाले वादियों का इस विषय में कोई विवाद नहीं कि परोपकार करना महान् धर्म के लिए होता है ॥१।७॥

रुचिर देव-स्तुति की रचना करने वाला कवि धन, विपत्तियों का विनाश, असाधारण आनन्द अथवा जिस किसी भी वस्तु की कामना करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है ॥१।८॥

उदाहरण-स्वरूप कुछ (अनिरुद्धादिक) व्यक्ति दुर्गा की स्तुति कर शत्रु की आधीनता रूप अपार विपत्ति से पार हो गए। कुछ (वीरदेवादि) व्यक्ति देवता की स्तुति से नीरोग हो गए, और कइयों ने अभीप्सित वर को पाया ॥१।९॥

यद्यपि राजाओं में परिवर्तन हो गया है, तथापि कविगण स्तुति कर जिनसे अभिप्सित वर पाते थे, वे देवगण आज भी वही हैं ॥१।१०॥

अथवा कहाँ तक वर्णन करें, क्योंकि असख्य मणि वाले समुद्र की भाँति महान् यश के कारण इस काव्य-सागर के अनन्त गुणो की गणना करने में कौन समर्थ है ॥१।११॥

इसलिए पुरुषार्थ की पूर्ण विशद सिद्धि चाहने वाले निपुण, सम्पूर्ण पदार्थो के ज्ञाता कवियो को ही निर्दोष काव्य की रचना में प्रवृत्त होना चाहिए ॥१।१२॥

क्योकि ज्ञानी पुरुषो के ज्ञान का यही फल है कि विस्तृत व्याकरण, तर्क-शास्त्र आदि के द्वारा वाणी का सस्कार हो और उस वाणी का फल है सुन्दर काव्य ॥१।१३॥

क्योकि रसिक जन नीरस शास्त्रो से भय खाते हैं, अतएव उनको शीघ्र सहज उपाय के द्वारा काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है ॥१२।१॥

२ काव्य-हेतु

दोषों के हान एव अलकारो के उपादान द्वारा, सुन्दर काव्य के निर्माण के लिए शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनो की आवश्यकता होती है ॥१।१४॥

जिसके होने पर स्वस्थ चित्त में निरन्तर अनेक प्रकार के वाक्यो की स्फूर्ति होती है, तथा जिसकी विद्यमानता में शीघ्र ही अर्थ-प्रतिपादन में समर्थ पद प्रस्फुटित होते हैं, उसको शक्ति कहते हैं ॥१।१५॥

इसी शक्ति को (दण्डिप्रमुख) आलकारिको ने *प्रतिभा* कहा है। वह सहजा और उत्पाद्या भेद से दो प्रकार की है। पुरुष के साथ उत्पन्न होने से इन दोनो में सहजा श्रेष्ठ है ॥१।१६॥

यह सहजा शक्ति अपने आप उत्कर्षाधायक है, जो उत्पाद्या की हेतु है। उत्पाद्या तो बाद में होने वाली व्युत्पत्ति से बड़े कष्ट से सिद्ध होती है ॥१।१७॥

छन्द, व्याकरण, कला, लोकस्थिति पद तथा पदार्थों के विशेष ज्ञान से उचित एव अनुचित का सम्यक् परिज्ञान—सक्षेप में तो यही व्युत्पत्ति है, और विस्तार से, सर्वज्ञता ही को विस्तर-व्युत्पत्ति कहते हैं, क्योकि इस जगत में कोई भी ऐसा वाच्य तथा वाचक नहीं जो काव्याग न हो ॥१।१८, १९॥

सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता और शक्तिमान् भी कवि को सुजन (सहृदय) एव सुकवि के पार्श्व में, रात-दिन, सर्वदा काव्य का अभ्यास करना चाहिए ॥१।२०॥

३. अलंकार-वर्गीकरण

अर्थालंकार चार हैं—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। अन्य सम्पूर्ण रूपकादि अलंकार इन्हीं के विशेष रूप होते हैं ॥७।९॥

(क) वास्तव—

जो वस्तु के स्वरूप का वर्णन करे, उसे 'वास्तव' कहते हैं। वह अर्थ की पुष्टि करने वाला, विपरीत प्रतीति से निवृत्ति कराने वाला तथा उपमा, अतिशय एवं श्लेष से भिन्न होता है ॥७।१०॥

वास्तव के भेद—

उस वास्तव के सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित और एकावली—ये तेईस भेद होते हैं ॥७।११-१२॥

(ख) औपम्य—

जिसमें वक्ता, किसी वस्तु के स्वरूप का सम्यक् प्रतिपादन करने के लिए उसके समान दूसरी वस्तु का वर्णन करे, उसमें औपम्य अलंकार होता है ॥८।१॥

औपम्य [redacted] भेद—

उसके उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण—ये इक्कीस भेद होते हैं ॥८।२-३॥

(ग) अतिशय—

जहाँ कोई अर्थ और धर्म का नियम कहीं प्रसिद्धि के बाध से लोक का उल्लंघन करके अन्यथा स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, वहाँ अतिशय अलंकार होता है ॥९।१॥

अतिशय के भेद—

उसके पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात, अहेतु—ये बारह भेद होते हैं ॥९।२॥

(घ) श्लेष—

जहाँ अनेकार्थक पदों से एक ही वाक्य अनेक अर्थों का बोध कराता है, वहाँ श्लेष अलंकार होता है ॥१०।१॥

श्लेष के भेद—

अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व, विरोधाभास—ये दस शुद्ध-श्लेष के भेद हैं ॥१०।२॥

अनुवादक : श्री आर्येन्द्र शर्मा, एम० ए०

रुद्रट

[काव्यालङ्कार]*

१ काव्यप्रयोजनम्

ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम् ।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ॥१।४॥

तत्कारितसुरसदनप्रभृतिनि नष्टे तथाहि कालेन ।
न भवेन्नामापि ततो यदि न स्युः सुकवयो राज्ञाम् ॥१।५॥

इत्थं स्थास्नु गरीयो विमलमलं सकललोककमनीयम् ।
यो यस्य यशस्तनुते तेन कथं तस्य नोपकृतम् ॥१।६॥

अन्योपकारकरणं धर्माय महीयसे च भवतीति ।
अधिगतपरमार्थानामविवादो वादिनामत्र ॥१।७॥

अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य ।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः ॥१।८॥

नुत्वा तथाहि दुर्गां केचित्तीर्णा दुरुत्तरां विपदम् ।
अपरे रोगविमुक्तिं वरमन्ये लेभिरेऽभिमतम् ॥१।९॥

आराध्यते स्म सदा स्तुतिभिर्यैर्योऽभिवाञ्छितं कविभिः ।
अद्यापि त एव सुरा यदि नाम नराधिपा अन्ये ॥१।१०॥

कियदथवा वच्मि यतो गुरुगुणमणिसागरस्य काव्यस्य ।
कः खलु निखिलं कलयत्यलमलघुयशोनिदानस्य ॥१।११॥

तदिति पुरुषार्थसिद्धिं साधुविधास्यद्भिरविरलं कुशलैः ।
अधिगतसकलज्ञेयैः कर्तव्यं काव्यममलमलम् ॥१।१२॥

फलमिदमेव हि विदुषां शुचिपदवाक्यप्रमाणशास्त्रेभ्यः ।
प्रसरत्कारो वाचां वाच्यश्च सुखाकराव्यफला ॥१।१३॥

* निर्णयसागर प्रेस, बम्बई द्वारा सन् १९२८ में प्रकाशित तृतीय संस्करण

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ॥१२।१॥

२ काव्य-हेतव

तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुणः करणे ।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः ॥१।१४॥

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥१।१५॥

प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति ।
पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा ॥१।१६॥

स्वस्यासौ संस्कारे परमपरं मृगयते यतो हेतुम् ।
उत्पाद्या तु कथंचिद् व्युत्पत्त्या जन्यते परया ॥१।१७॥

छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात् ।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ॥१।१८॥

विस्तरतस्तु किमन्यत्तत इह वाच्यं न वाचकं लोके ।
न भवति यत्काव्याङ्गं सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा ॥१।१९॥

अधिगतसकलज्ञेयः सुकवेः सुजनस्य संनिधौ नियतम् ।
नक्तंदिनमभ्यस्येदभियुक्तः शक्तिमान्काव्यम् ॥१।२०॥

३ अलंकार-वर्गीकरणम्

अर्थस्यालङ्कारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः ।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः ॥७।९॥

(क) वास्तवम्

वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत् ।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयमश्लेषम् ॥७।१०॥

तस्य सहोक्तिसमुच्चयजातियथासंख्यभावपर्यायाः ।
विषमानुमानदीपकपरिकरपरिवृत्तिपरिसंख्याः ॥७।११॥

हेतु कारणमाला व्यतिरेकोऽन्योन्यमुत्तर सारम ।
सूक्ष्म लेशोऽवसरो मीलितमेकावली भेदा ॥७।१२॥

(ख) औपम्यम्

सम्यक्प्रतिपादयितु स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति ।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद्वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम् ॥८।१॥

उपमोत्प्रेक्षारूपकमपह्नुति संशय समासोक्ति ।
मतमुत्तरमन्योक्ति प्रतीपमर्थान्तरन्यास ॥८।२॥

उभयन्यासभ्रान्तिमदाक्षेपप्रत्यनीकदृष्टान्ता ।
पूर्वसहोक्तिसमुच्चयसाम्यस्मरणानि तद्भेदा ॥८।३॥

(ग) अतिशय

यत्रार्थधर्मनियम प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति ।
कश्चित्क्वचिदतिलोक स स्यादित्यतिशयस्तस्य ॥९।१॥

पूर्वविशेषोत्प्रेक्षाविभावनातद्गुणाधिकविरोधा ।
विषमासंगतिपिहितव्याघाताहेतवो भेदा ॥९।२॥

(घ) श्लेष

यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्य रचित पदैरनेकस्मिन् ।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेष स विज्ञेय ॥१०।१॥

अविशेषविरोधाधिकवक्रव्याजोक्त्यसम्भवावयवा ।
तत्त्वविरोधाभासाविति भेदास्तस्य शुद्धस्य ॥१०।२॥

आनन्दवर्द्धन

समय—नवम शताब्दी का आरम्भ

[ग्रन्थ—ध्वन्यालोक]*

१. ध्वनि की स्थिति और स्वरूप

काव्य के आत्मभूत जिस तत्त्व को विद्वान् लोग ध्वनि नाम से कहते आए हैं, कुछ लोग उसका अभाव मानते हैं। दूसरे लोग उसे भाक्त (गौण, लक्षणागम्य) कहते हैं और कुछ लोग उसके रहस्य को वाणी का अविषय (अवर्णनीय, अनिर्वचनीय) बतलाते हैं। अतएव (ध्वनि के विषय में इन नाना विप्रतिपत्तियों के होने के कारण उनका निराकरण कर ध्वनि-स्थापना द्वारा) सहृदयों (काव्य-मर्मज्ञजनों) के मन की प्रसन्नता (हृदयाह्लाद) के लिए हम उस (ध्वनि) के स्वरूप का निरूपण करते हैं।१।१।

बुध अर्थात् काव्य-मर्मज्ञों ने काव्य के आत्मभूत जिस तत्त्व को ध्वनि नाम दिया और (इसके पूर्व किसी विशेष पुस्तक आदि में निवेश किए बिना भी) परम्परा से जिसको बार-बार प्रकाशित किया है। भली प्रकार विशद रूप से अनेक बार प्रकट किया है, सहृदय (काव्य मर्मज्ञ) जनों के मन में प्रकाशमान (सकल-सहृदय-संवेद्य) उस (चमत्कार-जनक काव्यात्मभूत ध्वनि) तत्त्व का भी (भामह, भट्टोद्भट आदि) कुछ लोग अभाव कहते हैं।

उन अभाववादियों के ये (निम्नलिखित तीन) विकल्प हो सकते हैं.

१—कोई (अभाववादी) कह सकते हैं कि काव्य शब्दार्थ शरीर वाला है। *(अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं।) यह तो निर्विवाद है। ('तावत्' शब्द* ध्वनिवादी सहित इस विषय में सबकी सहमति सूचित करता है। काव्य के शरीरभूत उन शब्द-अर्थ के चारुत्व-हेतु दो प्रकार के हो सकते हैं। एक स्वरूपगत और दूसरे सघटनागत।) उनमें शब्दगत (शब्द के स्वरूपगत) चारुत्व-हेतु अनुप्रासादि (शब्दालंकार) और अर्थगत (अर्थ के स्वरूपगत) चारुत्व हेतु उपमादि (अर्थालंकार) प्रसिद्ध ही हैं। और (इन शब्द अर्थ के सघटनागत चारुत्व-हेतु) वर्ण सघटना धर्म जो

---

* गौतम बुक डिपो, दिल्ली द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण।

माधुर्यादि (गुण) हैं वे भी प्रतीत होते हैं। उन (अलकार तथा गुणों) से अभिन्न जो उपनागरिकादि वृत्तियाँ किन्हीं (भट्टोद्भट) ने प्रकाशित की हैं वह भी श्रवणगोचर हुई हैं, और माधुर्यादि गुणों से अभिन्न) वैदर्भी प्रभृति रीतियाँ भी। (परन्तु) उन से भिन्न यह ध्वनि कौन-सा (नया) पदार्थ है ?

२—दूसरे (अभाववादी) कह सकते हैं कि, ध्वनि (कुछ) है ही नहीं। प्रसिद्ध (प्रस्थान, प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत् प्रस्थानम्। शब्द और अर्थ जिनमें परम्परा से काव्य व्यवहार होता है उस प्रसिद्ध) मार्ग को अतिक्रमण करने वाले (किसी नवीन) काव्य प्रकार (को मानने से उस) में काव्यत्व-हानि होगी (उसमें काव्य का लक्षण ही नहीं बनेगा। क्योंकि) सहृदय हृदयाह्लादक शब्दार्थ-युक्त तत्त्व ही काव्य का लक्षण है। और उक्त (शब्दार्थ शरीर काव्य वाले) मार्ग का अतिक्रमण करने वाले मार्ग में वह (काव्य-लक्षण) सम्भव नहीं है। और न उस (ध्वनि) सम्प्रदाय के माननेवालों के) अन्तर्गत (ही) किन्हीं (व्यक्तियों को स्वेच्छा से) सहृदय मान कर, उनके कथनानुसार ही (किसी परिकल्पित नवीन) ध्वनि में काव्य नाम का व्यवहार प्रचलित करने पर भी वह सब विद्वानों को स्वीकार्य (मनोग्राही) नहीं हो सकता।

३—तीसरे (अभाववादी) उस (ध्वनि) का अभाव अन्य प्रकार से कह सकते हैं। ध्वनि नाम का कोई नया पदार्थ सम्भव ही नहीं है। (क्योंकि यदि वह) कमनीयता का अतिक्रमण नहीं करता है तो उसका उक्त (गुण, अलकारादि) चारुत्व-हेतुओं में ही अन्तर्भाव हो जायेगा। अथवा यदि उन्हीं (गुण, अलकारादि) में से किसी का (ध्वनि) यह नया नाम रख दिया जाय तो वह बड़ी तुच्छ-सी बात होगी।

और (वक्तीति वाक् शब्द, उच्यते इति वागर्थ, उच्यतेऽनया इति वागभिधा-व्यापार। अर्थात् शब्द, अर्थ शब्दशक्ति-रूप वाणी द्वारा) कथन शैलियों के अनन्त प्रकार होने से, प्रसिद्ध काव्य लक्षणकारों द्वारा अप्रदर्शित कोई छोटा मोटा प्रकार सम्भव भी हो तो भी ध्वनि-ध्वनि कह कर और मिथ्या सहृदयत्व की भावना से आँखें बन्द करके जो यह अकाड ताडव (नर्तन) किया जाता है इसका (तो कोई उचित) कारण प्रतीत नहीं होता। अन्य विद्वान् महात्माओं ने (काव्य के शोभा-सम्पादक) सहस्रों प्रकार के अलकार प्रकाशित किये हैं और प्रकाशित कर रहे हैं। उनकी तो यह (मिथ्या सहृदयत्वाभिमान-मूलक अकाड ताडव की) अवस्था सुनने में नहीं आती। (*इसलिए ध्वनिवादी का यह अकांड ताडव सर्वथा व्यर्थ है।*) इसलिए ध्वनि एक प्रवादमात्र है। उसका विचार-योग्य तत्त्व कुछ भी नहीं बताया जा सकता है। इसी आशय का अन्य (ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धनाचार्य के समकालीन मनोरथ कवि) का श्लोक भी है।

जिसमें अलंकारयुक्त अतएव मन को आह्लादित करने वाला कोई वर्णनीय अर्थ-तत्व (वस्तु) नहीं है (इससे अर्थालंकारों का अभाव सूचित होता है), जो चातुर्य से युक्त सुन्दर शब्दों से विरचित नहीं हुआ है (इससे शब्दालंकारशून्यता सूचित होती है), और जो सुन्दर उक्तियों से शून्य है (इससे गुणराहित्य सूचित होता है। इस प्रकार जो शब्द के चारुत्व-हेतु अनुप्रासादि शब्दालंकारों, अर्थ के चारुत्व-हेतु उपमादि अर्थालंकारों और शब्दार्थ-संघटना के चारुत्व-हेतु माधुर्यादि गुणों से सर्वथा शून्य है) उस को यह ध्वनि-युक्त (उत्तम) काव्य है यह कह कर (गतानुगतिक, गड्डलिका प्रवाह से) प्रीतिपूर्वक प्रशंसा करने वाला मूर्ख किसी बुद्धिमान् के पूछने पर मालूम नहीं ध्वनि का क्या स्वरूप बतावेगा।

४—दूसरे लोग उसको लक्ष्य या गौण कहते हैं। अन्य लोग उस ध्वनि नामक काव्य को गुणवृत्ति गौण कहते हैं।

यद्यपि काव्य-लक्षणकारों ने ध्वनि शब्द का उल्लेख करके (ध्वनि नाम लेकर) गुणवृत्ति या अन्य (गुण अलंकारादि) कोई प्रकार प्रदर्शित नहीं किया है, फिर भी (भामह के 'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थां' के व्याख्या प्रसंग में 'शब्दानामभिधानमभिधा-व्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' लिखकर) काव्यों में गुणवृत्ति से व्यवहार दिखाने वाले (भट्टोद्भट या उनके उपजीव्य भामह) ने ध्वनिमार्ग का थोड़ा-सा स्पर्श करके भी (उसका स्पष्ट) लक्षण नहीं किया (इसलिए अर्थतः उनके मत में गुण-वृति ही ध्वनि है) ऐसी कल्पना करके 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' यह कहा गया है।

५—लक्षण-निर्माण में असमर्थबुद्धि किन्हीं (तीसरे वादी) ने ध्वनि के तत्त्व को ('न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते' के समान) केवल सहृदयहृदय-संवेद्य और वाणी के परे (अलक्षणीय, अनिर्वचनीय) कहा है। इस प्रकार के मतभेदों के होने से सहृदयों के हृदयाह्लाद के लिए हम उसका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं।

उस ध्वनि का स्वरूप समस्त सत्कवियों के काव्यों का परम रहस्यभूत, अत्यन्त सुन्दर, प्राचीन काव्यलक्षणकारों की सूक्ष्मतर बुद्धियों से भी प्रस्फुटित नहीं हुआ है। इसलिए, और रामायण महाभारत आदि लक्ष्य ग्रन्थों में सर्वत्र उसके प्रसिद्ध व्यवहार को परिलक्षित करने वाले सहृदयों के मन में आनन्द (प्रतिष्ठा) को प्राप्त करे इसलिए उसको प्रकाशित किया जाता है ॥१॥

विषय और प्रयोजन के स्थित हो जाने पर, जिस ध्वनि का लक्षण करने जा रहे है उसकी आधार-भूमि (भूमिरिव भूमिका) निर्माण के लिए यह कहते हैं।

सहृदयों द्वारा प्रशंसित जो अर्थ काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद कहे गए हैं ॥१।२॥

शरीर में आत्मा के समान, सुन्दर (गुणालंकार युक्त), उचित (रसादि के अनुरूप) रचना के कारण रमणीय काव्य के साररूप में स्थित, सहृदय प्रशंसित जो अर्थ है उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद हैं ॥२॥

उनमें से, वाच्य अर्थ वह है जो उपमादि (गुणालंकार) प्रकारों से प्रसिद्ध है और अन्यों ने (पूर्व काव्य-लक्षणकारों ने) अनेक प्रकार से उसका प्रदर्शन किया है। इसलिए हम यहाँ उसका विस्तार से प्रतिपादन नहीं कर रहे। केवल आवश्यकतानुसार उसका अनुवाद मात्र करेंगे ॥१।३॥

प्रतीयमान कुछ और ही चीज जो रमणियों के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि) अवयवों से भिन्न (उनके) लावण्य के समान, महाकवियों की सूक्तियों में (वाच्य अर्थ से अलग ही) भासित होता है ॥१।४॥

महाकवियों की वाणियों में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है जो प्रसिद्ध अलंकारों अथवा प्रतीत होने वाले अवयवों से भिन्न, सहृदय-सुप्रसिद्ध, अंगनाओं के लावण्य के समान (अलग ही) प्रकाशित होता है। जिस प्रकार सुन्दरियों का सौन्दर्य पृथक् दिखाई देने वाला समस्त अवयवों से भिन्न सहृदय नेत्रों के लिए अमृत तुल्य कुछ और ही तत्व है, इसी प्रकार वह (प्रतीयमान) अर्थ है।

वह (प्रतीयमान) अर्थ वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त वस्तुमात्र, अलंकार, और रसादि भेद से अनेक प्रकार का दिखाया जायेगा। उन सब ही भेदों में वह वाच्य से अलग ही है जैसा पहला (वस्तु ध्वनि) भेद वाच्य से अत्यन्त भिन्न है (क्योंकि) वाच्य विधि-रूप होने पर (भी) वह (प्रतीयमान) निषेध-रूप होता है। जैसे :—

पंडित जी महाराज ! गोदावरी के किनारे कुंज में रहने वाले मदमत्त सिंह ने आज (आपको तंग करने वाले, आप पर दौड़ने वाले) उस कुत्ते को मार डाला है, अब आप निश्चिन्त होकर भ्रमण कीजिए ॥४॥ (पृष्ठ ५-२०)

× × ×

काव्य का आत्मा वही (प्रतीयमान रस) अर्थ है। इसी से प्राचीन-काल में क्रौंच (पक्षी) के जोड़े के वियोग से उत्पन्न आदि कवि वाल्मीकि का शोक (करुण रस का स्थायी भाव) श्लोक (काव्य)-रूप में परिणत हुआ ॥१।५॥

नाना प्रकार के शब्द, अर्थ और सघटना के प्रपंच से मनोहर काव्य का सार-भूत (आत्मा) वही (प्रतीयमान रस-रूप) अर्थ है। तभी (निषाद के बाण से विद्ध किए गए, *मरणासन्न* मृत) सहचरी के वियोग से कातर, (जो) क्रौंच (तत्कर्तृक, अथवा क्रौंचोद्देश्यक क्रौंचीकर्तृक) के क्रन्दन से उत्पन्न आदि कवि वाल्मीकि का (वाल्मीकि-निष्ठ करुण रस का स्थायी भाव) शोक श्लोक (मा निषाद इत्यादि काव्य) रूप में परिणत हुआ।

हे व्याध ! तूने काममोहित, क्रौंच के जोड़े में से एक (क्रौंच) को मार डाला अतएव तू अनन्त काल तक (कभी) प्रतिष्ठा (सुकीर्ति) को प्राप्त न हो।

शोक करुण रस का स्थायी भाव है। (यद्यपि) प्रतीयमान के और (वस्तु, अलंकार, ध्वनि) भी भेद दिखाए गए हैं परन्तु (रसादि के) प्राधान्य से रस-भाव द्वारा ही उनका उपलक्षण (*ज्ञापन*) होता है ॥५॥

उस आस्वादमय (रस-भाव-रूप) अर्थ-तत्त्व को प्रवाहित करने वाली महा-कवियों की वाणी (उनकी) अलौकिक, प्रतिभासमान प्रतिभा, (अपूर्ववस्तु-निर्माणक्षमा प्रज्ञा) के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है ॥१.६॥

उस (प्रतीयमान रस भावादि) अर्थ-तत्त्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी (उनकी) अलौकिक, प्रतिभासमान, प्रतिभा-विशेष को व्यक्त करती है। जिसके कारण नानाविध कवि-परम्पराशाली इस संसार में कालिदास आदि दो-तीन अथवा पाँच-छह ही महाकवि गिने जाते हैं ॥६॥

प्रतीयमान अर्थ की सत्ता सिद्ध करने वाला यह और भी प्रमाण है। वह (प्रतीयमान अर्थ) शब्द-शास्त्र (व्याकरणादि) और अर्थ-शास्त्र (कोशादि) के ज्ञान मात्र से ही प्रतीत नहीं होता, वह तो केवल काव्य-मर्मज्ञों को ही विदित होता है ॥१.७॥

क्योंकि केवल काव्यार्थ-तत्त्वज्ञ ही उस अर्थ को जान सकते हैं। यदि वह अर्थ केवल वाच्य-रूप ही होता तो शब्द और अर्थ के ज्ञानमात्र से ही उसकी प्रतीति होती। (*परन्तु केवल पुस्तक से*) *गन्धर्व-विद्या को सीख लेने वाले उत्कृष्ट गान के* अनभ्यासी (नौसिखिया) गायकों के लिए स्वर श्रुति आदि के रहस्य के समान, काव्यार्थ-भावना से रहित केवल वाच्य-वाचक (कोशादि अर्थ निरूपक शास्त्र और व्याकरणादि शब्द-शास्त्र) में कृतश्रम पुरुषों के लिए वह (प्रतीयमान) अर्थ अज्ञात ही रहता है। ७।

इस प्रकार वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्य की सत्ता को सिद्ध करके प्राधान्य (भी) उसी का है यह दिखाते हैं।

वह (प्रतीयमान) अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ विशेष शब्द इन दोनों को भली प्रकार पहिचानने का प्रयत्न महाकवि को (जो महाकवि बनना चाहे उसको) करना चाहिए ॥१।८॥

वह *व्यंग्य अर्थ* और उसको अभिव्यक्त करने की शक्ति से युक्त कोई विशेष शब्द (ही) है। शब्दमात्र (सारे शब्द) नही। महाकवि (बनने के अभिलाषी) को वही शब्द और अर्थ भली प्रकार पहिचानने चाहिएँ। व्यंग्य और व्यंजक के सुन्दर *प्रयोग से ही महाकवियों को महाकवि पद की प्राप्ति होती है, वाच्य-वाचक-रचना* मात्र से नही ॥८॥

२ ध्वनि के भेद

ध्वनि सामान्यतः अविवक्षित वाच्य (लक्षणा मूल) और विवक्षितान्यपर-*वाच्य (अभिधा-मूल) भेद से दो प्रकार की होती है। उनमें से प्रथम (अविवक्षित* वाच्य, लक्षणा-मूल ध्वनि) का उदाहरण यह है —

सुवर्ण जिसका पुष्प है ऐसी पृथ्वी का चयन (अर्थात् पृथ्वी-रूप लता के सुवर्ण-रूप पुष्पों का चयन) तीन ही पुरुष करते हैं शूर, विद्वान् और जो सेवा करना जानता है।

दूसरे (विवक्षितान्यपर-वाच्य, अभिधा-मूल ध्वनि) का भी (उदाहरण निम्न है) —

हे सुमुखि ! इस शुक शावक ने *किस पर्वत पर*, कितने दिनों तक, कौन सा तप किया है जिसके कारण तुम्हारे अधर के समान रक्तवर्ण बिम्ब फल को काट (ने का सौभाग्य—पुण्यातिशयलभ्य सौभाग्य—प्राप्त कर) रहा है। (पृष्ठ ७८-७९)

× × ×

अविवक्षितवाच्य ध्वनि का वाच्य (जिस वाच्य के अविवक्षित होने के कारण इसका नाम अविवक्षितवाच्य रखा गया है वह वाच्य) कहीं अर्थान्तर-संक्रमित और कहीं अत्यन्त तिरस्कृत होने से दो प्रकार का माना गया है ॥२।१॥

उस प्रकार के (अर्थात् अर्थान्तर संक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत स्वरूप) उन दोनों (वाच्यों) से व्यंग्यार्थ का ही विशेष (उत्कर्ष) होता है। (इसलिए व्यंग्यान्तर

ध्वनि के प्रभेद के प्रसग में जो यह वाच्य के दो भेद प्रदर्शित किए हैं वह अप्रासंगिक नही हैं क्योंकि उनके द्वारा व्यग्य का ही उत्कर्ष सपादन होता है ॥१॥

× × ×

विवक्षितवाच्य (अभिधा-मूल) ध्वनि का आत्मा (स्वरूप) असलक्षित क्रम से और दूसरा सलक्षित क्रम से प्रकाशित (होने से) दो प्रकार का माना गया है ॥२।२॥

प्रधान रूप से प्रकाशित होने वाला व्यग्य अर्थ, ध्वनि का आत्मा (स्वरूप) है। और वह कोई वाच्यार्थ की अपेक्षा से अलक्षित क्रम से प्रकाशित होता है और कोई (सलक्ष्य) क्रम से, उस प्रकार दो तरह का माना गया है ॥२॥

उनमें से —

रस, भाव, तदाभास, (अर्थात् रसाभास और भावाभास) और भावशान्ति आदि (आदि शब्द से भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का भी ग्रहण करना चाहिए) अक्रम (असलक्ष्य क्रम व्यग्य) अगीभाव से (अर्थात् प्राधान्येन) प्रतीत होता हुआ ध्वनि के आत्मा (स्वरूप) रूप से स्थित होता है ॥२।३॥

रसादि रूप अर्थ वाच्य के साथ ही-सा प्रतीत होता है। और वह प्रधान रूप से प्रतीत होने पर ध्वनि का आत्मा (स्वरूप) होता है ॥१॥ (पृष्ठ १०३-१०४)

३ प्रबन्ध-काव्य में रसाभिव्यजना

सर्गबन्ध (महाकाव्य) में रस-प्रधान होने पर रस के अनुसार औचित्य होना चाहिए अन्यथा (केवल इतिवृत्त-प्रधान महाकाव्य, जैसे भट्ट जयन्त का कादम्बरी कथासार, होने पर) तो कामचार (स्वतन्त्रता) है। (रस-प्रधान और इतिवृत्तमात्र प्रधान) दोनों प्रकार के महाकाव्य-निर्माता देखे जाते हैं (उनमें से) रस प्रधान (महाकाव्य) श्रेष्ठ है। अभिनेयार्थ (नाटकादि) में तो सर्वथा रस-योजना पर पूर्ण बल देना चाहिए। आख्यायिका और कथा में तो गद्य-रचना की (ही) प्रधानता रहने और गद्य में छन्दोबद्ध रचना से भिन्न मार्ग होने से उसके विषय में कोई नियामक हेतु इसके पूर्व निर्मित न होने पर भी कुछ थोडा सा (निर्देश) करते हैं ॥३।७॥

यह पूर्ववर्णित औचित्य ही, छन्द के नियम से रहित गद्य-रचना में भी सर्वत्र (उस) सघटना का नियामक होता है ॥३।८॥

सघटना का नियामक वक्तृगत और वाच्यगत जो यह औचित्य बताया है, छन्दोनियम-रहित गद्य में भी विषयगत (औचित्य) सहित वही नियामक हेतु होता है। इसलिए जब यहाँ (गद्य में) भी कवि या कविनिबद्ध वक्ता रसभाव-रहित होता है तब स्वतन्त्रता (कामचार) है। और वक्ता के रसभाव-युक्त होने पर तो पूर्वोक्त (नियमो) का ही पालन करना चाहिए। उसमें भी विषयगत औचित्य होता ही है। आख्यायिका में तो अधिकतर मध्यसमासा और दीर्घसमासा सघटना ही होती है क्योकि कठिन रचना से गद्य में सौन्दर्य आ जाता है। और उस (विकटबन्ध) में रचना सौन्दर्य का प्रकर्ष [विशेषता] होने से। कथा में गद्य की कठिन [विकट] रचना का बाहुल्य होने पर भी रसबन्ध-सम्बन्धी औचित्य का पालन करना ही चाहिए ॥८॥

रसबन्ध में उक्त (नियमनार्थ प्रतिपादित) औचित्य का आश्रय करने वाली रचना सर्वत्र (गद्य-पद्य दोनो में) शोभित होती है। विषयगत (औचित्य) की दृष्टि से उसमें कुछ (थोडा) भेद हो जाता है ॥३।९॥

अथवा पद्य (रचना) के समान गद्य में भी रसबन्धोक्त औचित्य का सर्वत्र आश्रय लेने वाली रचना शोभित होती है। वह (औचित्य) विषय (गत औचित्य) की दृष्टि से कुछ विशेष हो जाता है। (परन्तु) सर्वथा नही। उदाहरणार्थ गद्य-रचना में भी, करुण और विप्रलम्भ शृगार में आख्यायिका तक में भी, अत्यन्त दीर्घ समास वाली रचना अच्छी नही लगती। नाटकादि में भी असमासा सघटना ही होनी चाहिए। (नाटकादि में) रौद्र, वीर आदि के वर्णन में विषय की अपेक्षा करने वाला औचित्य प्रमाण (रसबन्धोक्त औचित्य-रूप प्रमाण) के बल से घट-बढ जाता है। जैसे आख्यायिका में स्वविषय (करुण विप्रलम्भ शृगार) में भी अत्यन्त समासहीन, और नाटक आदि में (स्वविषय रौद्र वीरादि में) भी अत्यन्त दीर्घसमासा रचना नही होनी चाहिए। सघटना के इसी मार्ग का (सर्वत्र) अनुसरण करना चाहिए ॥९॥

अब, असलक्ष्यक्रम व्यग्य (रसादि) ध्वनि जो रामायण, महाभारत आदि में प्रबन्धगत रूप से प्रकाशित होता हुआ प्रसिद्ध ही है उसका जिस प्रकार प्रकाशन (होना चाहिए) वह (प्रकार) कहते हैं :—

१. विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव और सचारी भाव के औचित्य से सुन्दर, (वृत्त पूर्व-घटित अर्थात्) ऐतिहासिक अथवा (उत्प्रेक्षित अर्थात्) कल्पित कथा-शरीर का निर्माण ॥३।१०॥

२. ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त होने पर भी रस के प्रतिकूल स्थिति

(कथाशादि) को छोड़ कर, बीच में अभीष्ट रस के अनुकूल नवीन कल्पना करके भी कथा का संस्करण ॥३।११॥

३ केवल शास्त्रीय विधान के परिपालन की इच्छा से नहीं, अपितु (शुद्ध) रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से सन्धि और सन्ध्यंगों की रचना ॥३।१२॥

४ यथावसर (रसों के) उद्दीपन तथा प्रशमन (की योजना) और विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसन्धान (स्मरण रखना) ॥३।१३॥

५ (अलंकारों के यथेच्छ प्रयोग की पूर्ण) शक्ति होने पर भी (रस के) अनुरूप ही (परिमित मात्रा में) अलंकारों की योजना ॥३।१४॥

यह पाँच प्रबन्धगत रस के अभिव्यंजक हेतु हैं।

१. प्रबन्ध (काव्य) भी रसादि का व्यंजक होता है यह (इसी उद्योत की दूसरी कारिका में) कहा है। उसके व्यंजकत्व के हेतु (निम्नलिखित पाँच हैं)

सबसे पहिले विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव और संचारी भाव के औचित्य से सुन्दर कथा-शरीर का निर्माण (है)। उचित प्रकार से प्रतिपादनाभिमत रस भाव आदि की दृष्टि से जो उचित विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव, या संचारी भाव उनके औचित्य से सुन्दर कथा शरीर का निर्माण (रस का) अभिव्यंजक पहिला कारण है।

उनमें से विभाव का औचित्य तो (लोक तथा भरत नाट्य-शास्त्र आदि में) प्रसिद्ध ही है। (स्थायी) भाव का औचित्य प्रकृति के औचित्य से होता है। प्रकृति उत्तम, मध्यम, अधम और दिव्य तथा मानुष भेद से भिन्न प्रकार की होती है। उसको यथोचित रूप से अनुसरण करते हुए असंकीर्ण (बिना मिलावट के, शुद्ध) रूप से उपनिबद्ध स्थायी भाव औचित्य-युक्त माना जाता है। नहीं तो केवल मानुष (प्रकृति) के आश्रय, दिव्य (प्रकृति) के उत्साहादि, अथवा केवल दिव्य (प्रकृति) के आश्रय से उपनिबध्यमान केवल मानुष के उत्साहादि (स्थायी-भाव) अनुचित होते हैं। इसलिए केवल मानुष (प्रकृति) राजा आदि के वर्णन में, सात समुद्र पार करने आदि के उत्साह के वर्णन सुन्दर होने पर भी निश्चित रूप से नीरस ही (प्रतीत) होते हैं। इसका कारण अनौचित्य ही है।

(प्रश्न) सातवाहन आदि राजाओं के नागलोक-गमन आदि का वर्णन मिलता है तो समस्त पृथ्वी के धारण में समर्थ राजाओं के अलौकिक प्रभावातिशय के वर्णन में क्या अनौचित्य है?

(उत्तर) यह बात नही है। हम यह नही कहते कि राजाओं के प्रभावातिशय का वर्णन करना अनुचित है। किन्तु केवल मानुष (प्रकृति) के आधार पर जो कथा कल्पित की जाये उसमें दिव्य (प्रकृति) के औचित्य को नही जोडना चाहिए। दिव्य और मानुष (उभय प्रकृतिक) कथा में तो दोनो प्रकार के औचित्यों का वर्णन अविरुद्ध है जैसे पाण्डु आदि की कथा में। सातवाहन (की कथा) आदि में तो जिन (के विषय) में जितना पूर्व वृत्तान्त (दिव्य प्रकृति सम्बन्धी) सुना जाता है उन (कथाओं) में केवल उतन (अश) का अनुसरण तो उचित प्रतीत होता है (परन्तु) उनका भी उससे अधिक का वर्णन अनुचित है। ('यावदपदान श्रूयते' इस मूल में 'अपदान' शब्द आया है। अमरकोष में उसका अर्थ 'अपदान कर्मवृत्तम्' अर्थात् प्राचीन प्रशस्त चरित किया है।)

इसलिए इस सब का साराश यह हुआ कि—

अनौचित्य के अतिरिक्त रस भग का और कोई कारण नही है और प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण ही रस का परम रहस्य है।

इसीलिए भरत (के नाट्य-शास्त्र) में नाटक में प्रख्यात वस्तु (कथा) को विषय और प्रख्यात उदात्त नायक का रखना अनिवार्य (अवश्य कर्तव्य) प्रतिपादित किया है। इससे नायक के औचित्य अनौचित्य के विषय में कवि भ्रम में नही पडता। और जो कल्पित कथा के आधार पर नाटकादि का निर्माण करता है उससे अप्रसिद्ध और अनुचित नायक-स्वभावादि वर्णन में बडी भूल हो सकती है।

(प्रश्न) उत्साह आदि (स्थायी) भावों के वर्णन में यदि दिव्य, मानुष्य आदि (प्रकृति) के औचित्य की परीक्षा करते है तो करें परन्तु रत्यादि (स्थायी भाव के वर्णन) में उस (परीक्षा) से क्या लाभ ? रति तो भारतवर्षोचित व्यवहार से ही (दिव्यों) देवताओं की भी वर्णन करनी चाहिए यह (भरत [illegible] नाट्य-शास्त्र २०, १०१ का) सिद्धान्त है।

(उत्तर) यह बात नहीं है। वहाँ (रतिविषय में) भी औचित्य का उल्लघन करने में दोष ही है। क्योंकि उत्तम प्रकृति (के नायक-नायिका) के अधम प्रकृति के उचित शृंगारादि के वर्णन में कौन-सी उपहास्यता नहीं होगी ?

(प्रश्नकर्त्ता) भारतवर्ष में भी तीन प्रकार का शृंगार विषयक प्रकृति का औचित्य पाया जाता है। (उससे भिन्न) जो (कोई और) दिव्य औचित्य है वह उस (रसाभिव्यक्ति) में अनुपकारक ही है। (क्योंकि उस दिव्य रति आदि विषयक सस्कार के न होने से प्रेक्षक को उससे रसानुभूति नहीं होगी)।

(उत्तर) हम शृंगार विषयक दिव्य औचित्य (भारतवर्षोचित औचित्य से) अलग कुछ और नहीं बताते हैं।

(प्रश्न) तो फिर ? (आप क्या कहते हैं)

(उत्तर) भारतवर्ष (के) विषय में उत्तम नायक राजा आदि में जिस प्रकार के शृंगार का वर्णन होता है वह दिव्य (नायक आदि) आश्रित भी शोभित होता है। (और जैसे) राजा आदि (उत्तम नायकादि) में प्रसिद्ध ग्राम्य शृंगार का वर्णन नाटकादि में प्रचलित नहीं है उसी प्रकार देवों में भी उसको बचाना चाहिए। (यह हमारे कहने का अभिप्राय है।)

(प्रश्नकर्ता) नाटकादि अभिनेयार्थ होते हैं। सम्भोग-शृंगार-विषयक अभिनय के असभ्य (-ता पूर्ण) होने से नाटकादि में उसका परिहार किया जाता है (परन्तु काव्य में तो अभिनय न होने से उसके परिहार की आवश्यकता नहीं है।) यदि ऐसा कहें तो ?

(उत्तर) उचित नहीं है। यदि इस प्रकार का (सम्भोग-शृंगार-विषयक) अभिनय असभ्यतापूर्ण है तो इस प्रकार के (सम्भोग-शृंगार-विषयक) काव्य में उस (असभ्यता दोष) को कौन निवारण कर सकता है ? (वहाँ भी वह दोष होगा ही) इसलिए अभिनेयार्थ या अनभिनेयार्थ (सभी प्रकार के) काव्य में उत्तम प्रकृति राजा आदि का उत्तम प्रकृति की नायिका के साथ जो ग्राम्य सम्भोग का वर्णन (करना) है वह माता-पिता के सम्भोग वर्णन के समान अत्यन्त (अनुचित और) असभ्यतापूर्ण है। उसी प्रकार उत्तम देवता-विषयक (सम्भोग-शृंगार-वर्णन अनुचित और असभ्य) है।

सम्भोग शृंगार का केवल सुरत-वर्णन रूप एक ही प्रकार तो नहीं है। अपितु उसके परस्पर प्रेम-दर्शन आदि और भी भेद हो सकते हैं। उत्तम प्रकृति के (नायकादि) के विषय में उनका वर्णन क्यों नहीं करते। (अर्थात् उन्हीं का वर्णन करना चाहिये) इसलिये उत्साह के समान रति में भी प्रकृत्यौचित्य का अनुसरण करना ही चाहिये। इसी प्रकार विस्मयादि में भी। इसी प्रकार के विषय में जो (कालिदासादि) महाकवियों की असमीक्ष्यकारिता (कुमारसम्भवादि) लक्ष्य ग्रन्थों में देखी जाती है वह दोष-रूप ही है। केवल उनकी प्रतिभा से अभिभूत हो (दब) जाने से प्रतीत नहीं होती यह कह ही चुके हैं।

अनुभावों का औचित्य तो भरतादि (के नाट्य-शास्त्रादि) में प्रसिद्ध ही है। केवल इतना तो (विशेष रूप से) कहना है कि भरतादि मुनियों द्वारा निर्धारित मर्यादा

का पालन करते हुए, महाकवियो के प्रबन्धो (काव्यो) का पर्यालोचन करते हुए और अपनी प्रतिभा का अनुसरण करते हुए कवि का सावधान होकर विभावादि के औचित्य से पतित होने से बचने के लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

ऐतिहासिक अथवा कल्पित औचित्य-युक्त कथा-शरीर का ग्रहण करना (रस का) अभिव्यंजक होता है, इससे (कारिकाकार) यह प्रतिपादन करते हैं कि इतिहासादि में (साधारणजनो के अभिप्राय से) नाना प्रकार की रसवती कथाओं के होने पर भी उनमें जो विभावादि के औचित्य से युक्त कथा-वस्तु है उसी को ग्रहण करना चाहिये, अन्यो को नही। और ऐतिहासिक कथा-वस्तु से भी अधिक कल्पित कथा-वस्तु में (सावधान रहने का) प्रयत्न करना चाहिए। वहाँ (कल्पित कथा वस्तु में) असावधानी से भूल कर जाने पर कवि की अव्युत्पत्ति (अज्ञान) की बहुत सम्भावना रहती है।

इस विषय में सारांश श्लोक (यह) है

कल्पित कथा वस्तु को इस प्रकार निर्माण करना चाहिये जिससे वह सबकी सब रसमय ही प्रतीत हो।

उसका उपाय विभावादि के औचित्य का भली प्रकार अनुसरण करना (ही) है। और उसे दिखा ही चुके हैं।

और भी (कहा है) —

सिद्ध रसो के समान (सब आस्वादमात्र योग्य न कि भावनीय या परिकल्पनीय) कथाओ के आश्रय जो रामायणादि (इतिहास) हैं उनके साथ रस विरोधिनी स्वेच्छा का प्रयोग नही करना चाहिये।

पहिली बात तो यह कि उन कथाश्रयो में स्वेच्छा लगानी ही नही चाहिये। जैसा कि कहा है कथा में थोडा भी हेर फेर न करें। और यदि (प्रयोजनवश) स्वेच्छा का प्रयोग करें भी तो रस विरोधिनी स्वेच्छा का प्रयोग न करें।

२ प्रबन्ध (काव्य) के रसाभिव्यंजकत्व का यह भी (दूसरा) और कारण है कि एतिहासिक परम्परा से प्राप्त (होने पर भी) किसी प्रकार (से भी) रस विरोधिनी स्थिति (कथांश) को छोड कर और बीच में कल्पना करके भी अभीष्ट रसोचित कथा का निर्माण करना चाहिए। जैसे कालिदास की रचनाओं में (रघुवंश में अजादि राजाओ का विवाह-वर्णन और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में शकुन्तला का प्रत्याख्यान आदि इतिहास में उस रूप में वर्णित नही है किन्तु कथा को रसानुगुण और

राजा दुष्यन्त को उदात्त-चरित बनाने के लिए उनकी कल्पना की गई है) और जैसे सर्वसेनविरचित हरिविजय (महाकाव्य) में (कान्ता के अनुनय के लिये पारिजातहरण का वर्णन) और जैसे मेरे ही बनाए अर्जुन-चरित महाकाव्य में (अर्जुन की पाताल-विजयादि उस रूप से इतिहास में वर्णित न होने पर भी कथा को रसानुगुण बनाने के लिये कल्पित की गयी है)। काव्य का निर्माण करते समय कवि को पूर्ण रूप से रस-परतन्त्र बन जाना चाहिये। इसलिए यदि इतिहास में रस के विपरीत स्थिति देखे तो उसको तोड कर स्वतन्त्र रूप से रस के अनुरूप दूसरी (प्रकार से) कथा बना ले। इतिवृत्त का निर्वाह कर देने मात्र से कवि का कोई लाभ नही है क्योंकि वह प्रयोजन तो इतिहास से भी सिद्ध हो सकता है।

३ प्रबन्ध (काव्य) के रसादिव्यंजकत्व का यह और (तीसरा) मुख्य कारण है कि (नाटय-शास्त्रोक्त) मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, और निर्वहण नामक (पच) सन्धियो और उनके उपक्षेपादि (६४) अगो का रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से जोडना—जैसे 'रत्नावली' (नाटिका) में, न कि केवल शास्त्र-मर्यादा का पालन करने मात्र की इच्छा से, जैसे 'वेणीसहार (नाटक) में, 'प्रतिमुख' सन्धि के 'विलास नामक अग को प्रकृत रस (वीर रस) के विरुद्ध होने पर भी भरत-मत के अनुसरण मात्र की इच्छा से द्वितीय अक में (दुर्योधन और भानुमती के शृगार-वर्णन के रूप में) जोडना है।

४. प्रबन्ध (काव्य) के रसाभिव्यञ्जकत्व का यह और (चौथा) कारण है कि बीच-बीच में यथावसर रस का उद्दीपन और प्रशमन करना जैसे रत्नावली' में ही। और प्रधान रस के विश्रान्त (विच्छिन्न-सा) होने लगने पर उसको फिर सँभाल लेना। जैसे 'तापसवत्सराज' में। (तापसवत्सराज नाम का कोई नाटक इस समय उपलब्ध नही है)।

५. प्रबन्ध-विशेष नाटकादि की रसाभिव्यक्ति का यह और (पाँचवाँ) निमित्त समझना चाहिए कि (अलकारो के यथेष्ट प्रयोग की पूर्ण) शक्ति रहने पर भी (रस के) अनुरूप ही अलकारो की योजना करना। (अलकार-रचना में) समर्थ कवि कभी-कभी अलकार-रचना में ही मग्न होकर रसबन्ध की परवाह न करके ही प्रबन्ध-रचना करने लगता है। उसके उपदेश के लिए यह (पचम हेतु) कहा है। काव्यों में रस की चिन्ता न कर अलकार-निरूपण में ही आनन्द लेने वाले कवि भी पाये जाते हैं॥१४॥

(पृष्ठ २५३-२६६)

४ रस-विरोधी तत्व

(रसादि के) वे विरोधी तत्व जिनको यत्न-पूर्वक कवि को बचाना चाहि

कौन से हैं, यह बतलाते हैं।

१ विरोधी रस के सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण कर लेना।

२ (रस से) सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन करना।

३ असमय में रस को समाप्त कर देना अथवा अनवसर में उसका प्रकाशन करना।

४ (रस का) पूर्ण परिपोषण हो जाने पर भी बार-बार उसका उद्दीपन करना।

५ और व्यवहार का अनौचित्य।

(ये पाँचों) रस के विरोधकारी होते हैं ॥३।१८,१९॥

प्रस्तुत रस की दृष्टि से जो विरोधी रस हो उससे सम्बन्ध रखने वाले विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का वर्णन (सब से पहिला) रस विरोधी हेतु समझना चाहिए।

(अ) उनमें विरोधी रस के विभाव परिग्रह (का उदाहरण) जैसे शान्त रस के विभावों का उसके विभाव रूप में ही वर्णन करने के बाद तुरन्त ही श्रृंगार के विभाव का वर्णन करने लगना। (शान्त और श्रृंगार का नैरन्तर्येण विरोध होने से ऐसा वर्णन दोषाधायक है।)

(ब) विरोधी में रस के भाव (व्यभिचारी भाव) के परिग्रह (का उदाहरण) जैसे, प्रिय के प्रति प्रणय-कलह में कुपित कामिनियों के वैराग्य-चर्चा द्वारा अनुनय-वर्णन में।

(स) विरोधी रस के अनुभाव के परिग्रह (का उदाहरण) जैसे प्रणय-कलह में कुपित मानिनी के प्रसन्न न होने पर कोपाविष्ट नायक के रौद्रानुभावों का वर्णन करना।

यह (दूसरा) रस भंग का हेतु और है कि प्रस्तुत रस से किसी प्रकार सम्बद्ध होने पर भी (रस से भिन्न) किसी अन्य वस्तु का विस्तार-पूर्वक वर्णन। जैसे किसी

नायक के विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन प्रारम्भ कर कवि का यमकादि रचना के अनुराग से अत्यन्त विस्तार के साथ पर्वतादि का वर्णन करने लगना। (जैसे 'किरातार्जुनीय' (काव्य) में सुरागनाविलासादि। अथवा 'हयग्रीव-वध' में हयग्रीव का अति विस्तृत वर्णन)।

२ अकाण्ड (अनवसर) में रस को विच्छिन्न कर देना अथवा अनवसर में में ही उसका विस्तार (करने लगना) यह भी और (तीसरा) रस-भंग का हेतु है।

(अ) उसमें अकाण्ड में विराम (का उदाहरण) जैसे किसी नायक का जिसके साथ समागम उसको अभीष्ट है ऐसी नायिका के साथ (किसी प्रकार) शृंगार (रति) के परिपुष्ट हो जाने और (उनके) परस्पर अनुराग का पता लग जाने पर उनके समागम के उपाय के चिन्तन योग्य व्यापार को छोड़ कर स्वतन्त्र रूप से किसी अन्य व्यापार का वर्णन करने लगना। (जैसे 'रत्नावली' (नाटिका) में 'बाभ्रव्य' के आने पर सागरिका की विस्मृति।)

(ब) अनवसर में रस के प्रकाशन (का उदाहरण) जैसे नाना वीरों के विनाशक कल्प प्रलय के समान भीषण संग्राम के प्रारम्भ हो जाने पर विप्रलम्भ शृंगार के प्रसंग के बिना और बिना किसी उचित कारण के रामचन्द्र सरीखे देवपुरुष का भी शृंगार-कथा में पड़ जाने का वर्णन करने में (भी रस-भंग होता है जैसे 'वेणीसंहार' के द्वितीय अंक में महाभारत का युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर भी भानुमती और दुर्योधन के शृंगार-वर्णन में)।

इस प्रकार के विषय में (यहाँ दुर्योधन ने दैववश व्यामोह में पड़ कर यह सब-कुछ किया इस प्रकार) कथा-नायक के दैवी व्यामोह से उस दोष का परिहार नहीं हो सकता है क्योंकि रस-बन्धन ही कवि की प्रवृत्ति का मुख्य कारण है और इतिहास वर्णन तो उसका उपाय मात्र ही है। यह बात 'आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः' इत्यादि से (प्रथम उद्योत की नवम कारिका में) पहिले ही कह चुके हैं।

इसलिए केवल इतिहास के वर्णन का प्राधान्य होने पर अंग और अंगी भाव का विचार किए बिना ही रस और भाव का निबन्धन करने से कवियों से इस प्रकार के (सब) दोष हो जाते हैं अतः रसादिरूप व्यंग्य तत्परत्व ही उनके लिए उचित है इसी दृष्टि से हमने यह (ध्वनि-निरूपण का) यत्न आरम्भ किया है, केवल ध्वनि के प्रतिपादन के आग्रह के कारण ही नहीं।

४. फिर यह (चौथा) और रस-भंग का हेतु समझना चाहिए कि रस के परिपुष्टि को प्राप्त हो जाने पर भी बार-बार उसको उद्दीप्त करना। अपनी (विभावादि) सामग्री से परिपुष्ट और उपभुक्त रस बार-बार स्पर्श करने से मुरझाए हुए फूल के समान मलिन हो जाता है।

५. और (पाँचवाँ) व्यवहार का जो अनौचित्य है वह भी रस-भंग का ही हेतु होता है। जैसे नायक के प्रति किसी नायिका का उचित हाव-भाव के बिना स्वयं (शब्दत) सम्भोगाभिलाष कहने में (व्यवहार का अनौचित्य हो जाने से रस-भंग होता है)।

अथवा भरत प्रसिद्ध कैशिकी आदि वृत्तियों का अथवा दूसरे (भामह-कृत) काव्यालंकार (और उस पर भट्टोद्भटकृत 'भामह विवरण') में प्रसिद्ध उपनागरिका आदि वृत्तियों का जो अनौचित्य अर्थात् अविषय में निबन्धन है वह भी रस-भंग का (पाँचवाँ) हेतु है।

इस प्रकार इन रस-विरोधियों (पाँचों हेतुओं) का और इसी मार्ग से स्वयं उत्प्रेक्षित अन्य रसभंग हेतुओं का परिहार करने में सत्कवियों को सावधान रहना चाहिए। इस विषय के संग्रह श्लोक (इस प्रकार) है—

१ सुकवियों के व्यापार के मुख्य विषय रसादि हैं उनके निबन्धन में उन सत्कवियों को सदैव प्रमाद-रहित (जागरूक) रहना चाहिए।

२ कवि का जो नीरस काव्य है वह (उसके लिए) महान् अपशब्द है। उस नीरस काव्य से वह कवि ही नहीं रहता। (कविरूप में) कोई उसका नाम भी याद नहीं करता।

३. (इन नियमों का उल्लंघन करने वाले) स्वच्छन्द रचना करने वाले जो पूर्वकवि प्रसिद्ध हो गए हैं उनको (उनके उदाहरण को) लेकर बुद्धिमान् (नवकवि) को यह नीति नहीं छोड़नी चाहिए।)

४ (क्योंकि) वाल्मीकि, व्यास इत्यादि जो प्रसिद्ध कवीश्वर हुए हैं उनके अभिप्राय के विरुद्ध हमने यह नीति निर्धारित नहीं की है ॥१६॥ (पृष्ठ २८९-२९६)

५. प्रबन्ध-काव्य में अंगी रस

अन्य अनेक रसों के (एक-सा) परिपोष प्राप्त होने पर (उनमें से किसी) एक का अंगी होना विरोधी क्यों नहीं होगा इस बात की आशंका करके यह कहते हैं—

(प्रधान रस का) अन्य रसों के साथ प्रस्तुत (प्रधान) रस का जो समावेश है वह स्थायी (प्रबन्ध-व्यापी) रूप से प्रतीत होने वाले इस (प्रस्तुत प्रधान रस) की अंगिता (प्राधान्य) का विघातक नहीं होता है ॥३।२३॥

प्रबन्धों (काव्य या नाटकादि) में (अन्यों की अपेक्षा) प्रथम प्रस्तुत और बार-बार उपलब्ध होने से जो स्थायी रस है, सम्पूर्ण प्रबन्ध में (आद्यन्त) वर्तमान, उस रस का बीच-बीच में आए हुए अन्य रसों के साथ जो समावेश है, वह (उसके) प्राधान्य (अंगिता) का विघातक नहीं होता है ॥२२॥

इसी का उपपादन करने के लिए कहते हैं —

जैसे प्रबन्ध में (आद्योपान्त) व्यापक (प्रासंगिक अवान्तर कार्य अथवा आख्यान वस्तु से परिपुष्ट) एक प्रधान कार्य (विषय आख्यान वस्तु) रखा जाता है (और अवान्तर अनेक कार्य उसको परिपुष्ट करते हैं) इसी प्रकार रस की विधि (एक प्रबन्ध-व्यापी अंगी रस के साथ अंगभूत अवान्तर रसों के समावेश) में भी विरोध नहीं है ॥३।२३॥

सन्धि आदि से युक्त प्रबन्ध (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण सन्धि रूप पञ्च-सन्धि युक्त प्रबन्ध अर्थात् नाटकादि) शरीर में जैसे समस्त प्रबन्ध में व्यापक निरन्तर विद्यमान एक (आधिकारिक वस्तु) कार्य की रचना की जाती है। वह आधिकारिक वस्तु (कार्य) अन्य (प्रासंगिक) कार्यों से संकीर्ण नहीं होता हो सो बात नहीं है। (अन्य प्रासंगिक वस्तुओं से आधिकारिक वस्तु का सम्बन्ध अवश्य होता है) परन्तु उनसे सम्बन्ध होने पर भी उस (आधिकारिक मुख्य कथा-वस्तु) का प्राधान्य कम नहीं होता है। इसी प्रकार (अन्य अनेक अंगभूत रसों के साथ प्रधान भूत) एक रस का (अंगित्वेन) सन्निवेश करने में कोई विरोध नहीं होता। अपितु विवेकी और पारखी सहृदयों को इस प्रकार के विषयों में और अधिक आनन्द आता है ॥२३॥

जिन रसों का परस्पर-अविरोध है (वध्य-घातक भाव विरोध नहीं है) जैसे वीर और शृंगार का (युद्ध नीति, पराक्रम आदि से कन्यारत्न के लाभ में), शृंगार और हास्य का (हास्य के स्वयं पुरुषार्थ न होने और अनुरंजनात्मक होने से), रौद्र और शृंगार का (भरत के नाट्य-शास्त्र में 'शृंगारश्च तैः प्रसभं सेव्यते' में, 'तैः रौद्र-प्रकृतिभिः रक्षोदानवोद्धतमनुष्यैः सेव्यते' इस व्याख्या से रौद्र और शृंगार का कथंचित् अविरोध है। केवल नायिका विषयक उग्रता बचानी चाहिए।) वीर और अद्भुत का (वीरस्य चैव यत्कर्म सोऽद्भुत, भ० ना०), रौद्र और करुण का (रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः), अथवा शृंगार और अद्भुत का, (जैसे रत्नावली में ऐन्द्रजालिक

के वर्णन प्रसग में) वहाँ अगागिभाव भले ही हो जाय परन्तु उनका वह (अगागिभाव) कैसे होगा जिनका बाध्य-बाधक भाव (विरोध) है। जैसे शृगार और बीभत्स का (आलम्बन रूप नायिका में अनुरक्ति से रति की, और आलम्बन से पलायमान रूप से जुगुप्सा की उत्पत्ति होती है इसलिए आलम्बनैक्य में रति और जुगुप्सा दोनो का वध्य घातक-भाव विरोध है। वीर और भयानक का (भय और उत्साह का आश्रयैक्य में 'वध्य-घातक भाव' विरोध है) शान्त और रौद्र का (नैरन्तर्य और विभावैक्य में दोनो रूप में 'वध्य घातक-भाव' विरोध है। अथवा शान्त तथा शृगार का (विभावैक्य तथा नैरन्तर्य में विरोध है, इनमें अङ्गाङ्गिभाव कैसे बनेगा) इस आशका से यह कहते हैं।

दूसरे रस के प्रधान होने पर उसके अविरोधी अथवा विरोधी (किसी भी) रस का (अत्यन्त परिपोष नही करना चाहिए। इससे उनका अविरोध हो सकता है ॥३।२४॥

प्रधानभूत शृगारादि रस के प्रबन्ध व्यग्य होने पर उसके अविरोधी अथवा विरोधी रस का परिपोषण नही करना चाहिए। (उस परिपोषण के तीन प्रकार के परिहार क्रम से कहते हैं)।

१. उनमें से अविरोधी रस का अगी प्रधानभूत रस की अपेक्षा अत्यन्त आधिक्य नहा करना चाहिए यह प्रथम परिहार है। उन दोनों का समान उत्कर्ष हो जाने (तक) पर भी विरोध सम्भव नही है।

जैसे—

एक ओर प्रियतमा रो रही है और दूसरी ओर युद्ध के बाजे का घोष हो रहा है। अत स्नेह और युद्धोत्साह से वीर का हृदय दोलायमान हो रहा है।

यहाँ वीर और शृगार का साम्य होने पर भी अविरोध है।

अथवा (दो रसो में साम्य होने पर भी अविरोध का दूसरा उदाहरण)

जैसे —

गले में से हार को तोड (निकाल) कर हाथ में जपमाला के समान उसको फेरती हुई, नागराज के स्थान पर मेखला सूत्र से पर्यंक बन्ध आसन बाँध कर मूठमूठ मन्त्र जप के कारण हिलते हुए अधरपुट से अभिव्यक्त हास को प्रकट करती हुई, सन्ध्या नामक (सपत्नी) के प्रति ईर्ष्यावश, महादेव का उपहास करती हुई देखी गई, देवी पार्वती तुम्हारी रक्षा करें।

इसमें (प्रकृत ईर्ष्या विप्रलम्भ और तद्विरोधी मत्र-जपादि से व्यग्य शान्त इन दोनों रसों का साम्य होने पर भी विरोध नहीं है)।

२ अंगी रस के विरुद्ध, व्यभिचारी भावों का अधिक निवेश न करना, अथवा निवेश करने पर शीघ्र ही अंगीरस के व्यभिचारी रूप में परिणत कर देना यह (परिपोष के परिहार का) दूसरा (प्रकार) है।

३ अंगभूत रस का परिपोष करने पर भी बार बार उसकी अंगरूपता का ध्यान रखना यह (परिपोष के परिहार का) तीसरा (प्रकार) है। (इस विषय में वत्सराज में वत्सराज के पद्मावती-विषयक सम्भोग शृंगार को उदाहरण रूप में रखा जा सकता है।) इस शैली से अन्य प्रकार भी (स्वयं) समझ लेने चाहिएँ। (जैसे) किसी विरोधी रस की अंगी रस की अपेक्षा न्यूनता कर लेनी चाहिए। जैसे शान्त रस के प्रधान होने पर शृंगार की अथवा शृंगार के प्रधान होने पर शान्त की।

परिपोष प्राप्त हुए बिना रस का रसत्व ही कैसे बनेगा? यदि यह पूछा जाय तो (इसके उत्तर में) 'अंगिरसापेक्षया' कहा गया है। (अर्थात्) अंगी रस का जितना परिपोष किया जाय उतना परिपोष उस (विरोधी रस) का नहीं करना चाहिये। स्वयं होने वाले (साधारण) परिपोषण को कौन मना करता है?

अनेक रसों वाले प्रबन्धों में रसों के परस्पर अंगांगिभाव को न मानने वाले भी इस आपेक्षिक (प्रधान रस को अधिक और शेष रसों को कम) प्रकर्ष का खण्डन नहीं कर सकते। इस प्रकार से भी प्रबन्धों में अविरोधी और विरोधी रसों के अंगांगि-भाव से समावेश करने में अविरोध हो सकता है।

यह सब बात उनके मत से कही गई है जो एक रस को दूसरे रस में व्यभिचारी (अंग) होने का सिद्धान्त मानते हैं। दूसरे (रस का रसान्त में व्यभिचारित्व अर्थात् अंगत्व न मानने वाले) मत में रस के स्थायी भाव उपचार से रस शब्द से कहे गये हैं (ऐसा समाधान समझना चाहिये)। उन (स्थायी भावों) का अंगत्व तो निर्विरोध है (अर्थात् स्थायी भावों को अंग मानने में उनको भी कोई आपत्ति नहीं है जो रसों का अंगत्व स्वीकार नहीं करते हैं।) ॥२४॥　　　　(पृष्ठ ३१३-३१९)

६. शृंगार का प्रमुख रसत्व

सत्कवि को उसी (शृंगार) रस में अत्यन्त सावधान रहना चाहिये (क्योंकि) उसमें (तनिक सा भी) प्रमाद तुरन्त प्रतीत हो जाता है ॥३।२९॥

सब रसों से अधिक सुकुमार उसी रस में कवि को सावधान, (और) प्रयत्नशील होना चाहिए। उसमें प्रमाद करने वाले उस (कवि) की सहृदयों के बीच शीघ्र

ही तिरस्कार विषयता हो जाती है ॥२९॥

शृंगाररस समस्त सांसारिक पुरुषों के अनुभव का विषय अवश्य होता है अतः सौन्दर्य की दृष्टि से प्रधानतम है। ऐसा होने से —

शिष्यों को (शिक्षणीय विषय में) प्रवृत्त करने की दृष्टि से अथवा काव्य की शोभा के लिए उस (शृंगार) के विरोधी (शान्त आदि) रसों में उस (शृंगार) के अंगों (व्यभिचारी भावादि) का स्पर्श (पुट) दूषित नहीं होता ॥३।३०॥

शृंगार के अंगों का जो शृंगार विरुद्ध रसों के साथ स्पर्श है वह केवल पूर्वोक्त अविरोध लक्षणों के होने पर ही निर्दोष हो यह बात नहीं है अपितु शिष्यों को उन्मुख करने अथवा काव्य शोभा की दृष्टि से किया जाने पर (भी) दूषित नहीं होता है। शृंगार रस के अंगों से प्रवृत्त हुए शिष्यगण सदाचार के उपदेशों को आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। (भरतादि) मुनियों ने शिक्षणीय जनों के हित के लिए ही सदाचारोपदेश रूप नाटकादि गोष्ठी (मण्डली) की अवतारणा की है।

और शृंगार के सब लोगों के मन को हरण करने वाला और सुन्दर होने से उसके अंगों का समावेश काव्य में सौन्दर्य के अतिशय की वृद्धि करने वाला होता है इस प्रकार से भी विरोधी रस में शृंगार का समावेश विरोधी नहीं है। इसलिये —

यह ठीक है कि स्त्रियाँ बड़ी मनोरम होती हैं, यह ठीक है कि (ऐश्वर्य) विभूति बड़ी सुन्दर होती हैं, किन्तु (उनका भोग करने वाला यह) जीवन (तो) मत्त स्त्री के कटाक्ष के समान अत्यन्त अस्थिर है।

इत्यादि में रस-विरोध का दोष नहीं हैं ॥३०॥

(पृष्ठ ३२८-३३०)

७ गुणीभूत व्यंग्य

जहाँ व्यंग्य के सम्बन्ध होने पर वाच्य का चारुत्व अधिक प्रकर्ष-युक्त हो जाता है वह गुणीभूत व्यंग्य नाम का काव्य का दूसरा भेद होता है ॥३।३५॥

(प्रतीयमान पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ १, ४ इत्यादि कारिका में) ललनाओं के लावण्य के समान जिस व्यंग्य अर्थ का प्रतिपादन किया है उसका प्राधान्य होने पर ध्वनि (काव्य) होता है यह कह चुके हैं। उस (व्यंग्य) में गुणीभाव हो जाने से वाच्य

(अर्थ) के चारुत्व की वृद्धि हो जाने पर गुणीभूत व्यंग्य नाम का काव्य-भेद माना जाता है। उनमें (अविवक्षित वाच्य, लक्षणा-मूल ध्वनि के अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य प्रभेद में) तिरस्कृत वाच्य (वाले) शब्दों से प्रतीयमान वस्तु मात्र व्यंग्य के कभी वाच्य रूप वाक्यार्थ की अपेक्षा गुणीभाव (अप्राधान्य) होने पर गुणीभूत व्यंग्य (काव्य) होता है। जैसे —

(नदी के किनारे स्नानार्थ आई हुई किसी तरुणी को देख कर किसी रसिक जन की यह उक्ति है। इसमें युवती को स्वयं नदी-रूप में वर्णन किया है।) यहाँ (नदी तट पर) यह नई कौन-सी लावण्य की नदी आ गई है जिसमें चन्द्रमा के साथ कमल तैरते हैं, जिसमें हाथी की गण्डस्थली उभर रही है, और जहाँ कुछ और ही प्रकार के कदली काण्ड तथा मृणाल दण्ड दिखाई देते हैं।

कभी अतिरस्कृत वाच्य शब्दों से प्रतीयमान व्यंग्य का काव्य के चारुत्व की अपेक्षा से वाच्य का प्राधान्य होने से गुणीभाव हो जाने पर गुणीभूत व्यंग्यता हो जाती है जैसे, अनुरागवती सन्ध्या इत्यादि उदाहरण दे चुके हैं।

उसी (व्यंग्य वस्तु) के स्वयं (अपने वचन द्वारा) प्रकाशित कर देने से (वाच्य-सिद्ध्यंग व्यंग्य) गुणीभाव होता है। जैसे 'संकेत कालमनसं' इत्यादि उदाहरण दिया जा चुका है।

रसादि-रूप व्यंग्य का गुणीभाव रसवत् अलंकार (के प्रसंग) में दिखा चुके हैं। वहाँ (रसवदलंकार में) उन (रसादि) का आधिकारिक (मुख्य) वाक्य की अपेक्षा से विवाह में प्रवृत्त (वर-रूप) भृत्य के अनुयायी राजा [illegible] समान गुणीभाव होता है।

व्यंग्य अलंकार के गुणीभाव का विषय दीपक आदि (अलंकार) हैं ॥३५॥

प्रसन्न (प्रसादगुण-युक्त) और गम्भीर (व्यंग्य सम्बन्ध से अर्थ-गाम्भीर्ययुक्त) आनन्ददायक काव्य रचनाएँ (हों), उनमें बुद्धिमान् कवि को इसी प्रकार का उपयोग करना चाहिये। (ध्वनि के सम्भव न होने पर गुणीभूत व्यंग्य की योजना से भी कवि को कवि-पद की प्राप्ति हो सकती है। अन्यथा तो फिर कविता उपहास-योग्य ही होती है।) ॥३।३६॥

और जो यह नाना प्रकार (अपरिमितस्वरूपा) की उस (अलौकिक व्यंग्य के सम्पर्क) प्रकार के अर्थ से रमणीय प्रकाशमान रचनाएँ विद्वानों के लिए आनन्ददायक

होती हैं उन सभी काव्य-रचनाओं में गुणीभूत व्यंग्य नाम का यह प्रकार उपयोग में लाना चाहिए । ॥३६॥

× × ×

इस प्रकार व्यंग्य के संस्पर्श होने पर शोभातिशय को प्राप्त होने वाले रूपक आदि सब ही अलंकार गुणीभूत व्यंग्य के मार्ग हैं और गुणीभूत व्यंग्यत्व उस प्रकार के (व्यंग्य-संस्पर्श से चारुत्वयोगी) कहे गए (दीपक, तुल्ययोगिता आदि) या न कहे हुए (सन्देह आदि) उन सभी अलंकारों में सामान्य रूप से रहता है। उस (गुणीभूत व्यंग्य) के लक्षण हो जाने पर (या समझ लेने से) यह सब ही अलंकार) सुलक्षित हो जाते हैं।

सामान्य लक्षण-रहित प्रत्येक अलंकार के अलग-अलग स्वरूप कथन से तो प्रतिपद पाठ से (अनन्त) शब्दों के (ज्ञान) के समान उन (अलंकारों) का, अनन्त होने से, पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। कथन की अनन्त शैलियाँ हैं और वही अनन्त अलंकार के प्रकार हैं।

और गुणीभूत व्यंग्य का विषय (केवल एक अलंकार में दूसरे व्यंग्य अलंकार के सम्बन्ध से ही नहीं अपितु वस्तु अथवा रसादि रूप अन्य) व्यंग्य अर्थ के सम्बन्ध से अन्य प्रकार से भी होता ही है। इसलिए अति रमणीय महाकवि-विषयक यह दूसरा ध्वनि-प्रवाह भी सहृदयों को समझ लेना चाहिए। सहृदयों के हृदय को मुग्ध करने वाले काव्य का ऐसा कोई भेद नहीं है, जिसमें व्यंग्य अर्थ के सम्बन्ध से सौन्दर्य न आ जाता हो। इसलिए विद्वानों को यह समझ लेना चाहिए कि यह (व्यंग्य, और केवल व्यंग्य संस्पर्श ही) काव्य का परम रहस्य है ॥३७॥

अलंकार आदि से युक्त होने पर भी जैसे लज्जा ही कुलवधुओं का मुख्य अलंकार होती है, उसी प्रकार (उपमादि अलंकारों से भूषित होने पर भी) यह व्यंग्यार्थ की छाया ही महाकवियों की वाणी का मुख्य अलंकार है ॥३।३८॥

इस प्रतीयमान की छाया या व्यंग्य के संस्पर्श से सुप्रसिद्ध (बहुवर्णित होने से बासी हुए) अर्थ में भी कुछ अनिर्वचनीय (नूतन) सौन्दर्य आ जाता है। जैसे—

(अनुल्लंघ्यशासन) कामदेव की आज्ञापालन में मुग्धाक्षी (वामलोचना सुन्दरी) के विश्वास (परिचय, तथा मदनोद्रेकजन्य त्रपा साध्वस आदि के ध्वंस) से उत्पन्न और केवल चित्त से (भी) अक्षुण्ण प्रतिक्षण नवीन जो कोई अनिर्वचनीय हाव-भाव (होते) हैं, वह एकान्त में बैठ कर (तन्मय होकर) चिन्तन करने योग्य होते हैं।

इस उदाहरण में वाच्य अर्थ को स्पष्ट रूप से न कहने वाले 'के पि' इस पद ने अनन्त और अविनिष्ट व्यंग्य का बोधन कराते हुए कौन-सा सौन्दर्य नहीं उत्पन्न कर दिया है ॥३८॥

और काकु द्वारा जो यह (प्रसिद्ध) अर्थान्तर (बिल्कुल भिन्न अर्थ, अथवा उसी अर्थ का वैशिष्ट्य, अथवा उसका अभाव-रूप अन्य अर्थ) की प्रतीति दिखाई देती है वह व्यंग्य के गौण होने से इसी (गुणीभूत व्यंग्य) भेद के अन्तर्गत होती है ॥३।३९॥

और कहीं काकु से जो यह (प्रसिद्ध) अन्य (वाच्य अर्थ से भिन्न १ अर्थान्तर, अथवा उसी वाच्य अर्थ का २. अर्थान्तर-सङ्क्रमित विशेष, अथवा ३ तदभाव रूप (त्रिविध) अर्थ की प्रतीति देखी जाती है वह व्यंग्य अर्थ के गुणी भाव होने पर गुणीभूत व्यंग्य नामक काव्य भेद के अन्तर्गत होती है ॥३९॥

यह गुणीभूत व्यंग्य का प्रकार भी रस आदि तात्पर्य का विचार करने से फिर ध्वनि (काव्य) हो जाता है। (असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य की दृष्टि से गुणीभूत होने पर भी रसादि के विचार से वह ध्वनि रूप में परिगणित हो सकता है) ॥३।४१॥

गुणीभूत व्यंग्य नामक काव्य का भेद रस आदि के तात्पर्य के विचार करने से फिर ध्वनि रूप ही हो जाता है। जैसे ऊपर उदाहृत (पत्यु 'शिरश्चन्द्रकला' तथा 'प्रयच्छतोच्चैः') दोनों श्लोकों में। (गुणीभूत व्यंग्यत्व का उपपादन कर चुके हैं। फिर भी उन दोनों में शृंगार रस के प्राधान्य होने से ध्वनि काव्यत्व उचित ही है)।

(पृष्ठ ३८९–४०६)

८ चित्र-काव्य का स्वरूप

चित्रकाव्य-निरूपण—

इसी प्रकार व्यंग्य के प्रधान और गुणभाव से स्थिर होने पर यह दोनों (ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य) काव्य होते हैं। और उन से भिन्न जो (काव्य रह जाता) है उसे (चित्र के समान काव्य के तात्विक व्यंग्यरूप से विहीन छन्दोबद्ध काव्य की प्रतिकृति के समान होने से) चित्र (काव्य) कहते हैं ॥३।४२॥

शब्द और अर्थ के भेद से चित्र (काव्य) दो प्रकार का होता है। इनसे कुछ शब्द चित्र होते हैं और उन (शब्द-चित्र) से भिन्न अर्थ-चित्र कहलाते हैं ॥३।४३॥

व्यंग्य अर्थ का प्राधान्य होने पर ध्वनि नाम का काव्य-भेद (होता है) और गौण होने पर गुणीभूत व्यंग्यत्व होता है। उन (ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य दोनों) से भिन्न रस, भाव आदि में तात्पर्य से रहित, और व्यंग्यार्थ विशेष के प्रकाशन की शक्ति से रहित, केवल वाच्य वाचक (अर्थ और शब्द) के वैचित्र्य के आधार पर निर्मित जो काव्य आलेख्य (चित्र) के समान (तात्विक-रूप-रहित प्रतिकृति मात्र) प्रतीत होता है उसको चित्र (काव्य) कहते हैं। वह मुख्य रूप से (यथार्थ) काव्य नहीं है अपितु काव्य की अनुकृति (नक्ल) मात्र है। उनमें से कुछ शब्द चित्र होते हैं जैसे दुष्कर यमक आदि। और अर्थ चित्र शब्द-चित्र से भिन्न, व्यंग्य सस्पर्श रहित, रसादि तात्पर्य से शून्य, प्रधान वाक्यार्थ रूप से स्थित उत्प्रेक्षा आदि (अर्थ-चित्र या वाच्य-चित्र) होते हैं।

(पूर्वपक्ष) अच्छा यह 'चित्र-काव्य' क्या है? जिस में प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ का सम्बन्ध न हो? (उसी को चित्र-काव्य कहते हैं न?) प्रतीयमान अर्थ (वस्तु, अलंकार और रसादि रूप) तीन प्रकार का होता है यह बात पहिले प्रतिपादन कर चुके हैं। उनमें से जहाँ वस्तु अथवा अलंकारादि व्यंग्य न हो उसे चित्र-काव्य का विषय भले ही मान लो। (परन्तु जो रसादि का विषय न हो ऐसा कोई काव्य-भेद सम्भव नहीं है। क्योंकि काव्य में किसी वस्तु का संस्पर्श (पदार्थ-बोधकत्व) न हो यह युक्तिसंगत नहीं है। और संसार की सभी वस्तुएँ किसी रस या भाव का अंग अवश्य ही बन जाती हैं (अन्य रूप से रस सम्बन्ध न सम्भव हो सके तो भी) अन्ततः विभाव-रूप से (प्रत्येक वस्तु का किसी न किसी रस से सम्बन्ध हो ही जाता है)। रसादि (के अनुभवात्मक होने से और अनुभव के चित्तवृत्ति-रूप होने से) चित्तवृत्ति विशेष रूप ही है। और (संसार में) ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो किसी प्रकार की चित्तवृत्ति को उत्पन्न न करे। अथवा यदि वह (वस्तु) उस (चित्तवृत्ति) को उत्पन्न नहीं करती है तो वह कवि का विषय ही नहीं हो सकती है। (क्योंकि सांख्य, योग आदि दर्शनों के सिद्धान्त में इन्द्रिय प्रणालिका अर्थात् श्रोत्र आदि द्वारा चित्त का विषय के साथ सम्बन्ध होने पर चित्त का अर्थाकार जो परिणाम होता है उसी को चित्तवृत्ति कहते हैं और उसी से पुरुष को बोध होता है। चित्तवृत्ति प्रमाण अर्थात् प्रमा का साधन रूप होती है और उससे पुरुष को जो बोध होता है वही प्रमा या उसका फल कहलाता है—इसी को ज्ञान कहते हैं। इसलिए यदि चित्तवृत्ति उत्पन्न न हो तो उस पदार्थ का ज्ञान ही नहीं हो सकता है। अतः वह कवि के ज्ञान का विषय नहीं हो सकती है।) कवि का विषय (भूत) कोई पदार्थ ही चित्र (काव्य, कवि कर्म) कहलाता है।

(सिद्धान्त पक्ष) ठीक है, ऐसा कोई काव्य-प्रकार नहीं है जिसमें रसादि की प्रतीति न हो। किन्तु रस, भाव आदि की विवक्षा से रहित कवि, जब अर्थालंकार

अथवा शब्दालंकार की रचना करता है तब उसकी विवक्षा की दृष्टि से (काव्य में) रसादिशून्यता की कल्पना करते हैं। काव्य में विवक्षित अर्थ ही शब्द का अर्थ होता है। उस प्रकार के (चित्र-काव्य) के विषय में कवि की (रसादि विषयक) विवक्षा न होने पर भी यदि रसादि की प्रतीति होती है तो वह दुर्बल होती है। इसलिए भी उसको नीरस मान कर चित्र-काव्य का विषय माना है। सो ऐसा कहा भी है—

रस भाव आदि की विवक्षा के अभाव में जो अलंकारों की रचना है वह चित्र (काव्य) का विषय माना गया है।

और जब रस भाव आदि की तात्पर्य रूप (प्रधान-रूप) से विवक्षा हो तब ऐसा कोई काव्य नहीं हो सकता है जो ध्वनि का विषय न हो।

विशृंखल वाणी वाले कवियों की, रसादि में तात्पर्य की अपेक्षा किए बिना ही काव्य (रचना की) प्रवृत्ति देखने से ही हमने इस चित्र (काव्य) की कल्पना की है। उचित काव्य-मार्ग के निर्धारण कर दिए जाने पर (ध्वनि-प्रस्थापन के बाद के) आधुनिक कवियों के लिए तो ध्वनि से भिन्न और कोई काव्य-प्रकार है ही नहीं। रसादि तात्पर्य के बिना परिपाकवान् कवियों का व्यापार ही शोभित नहीं होता। (यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्, ॥ शब्दन्यासनिष्णाता शब्दपाक प्रचक्षते। रसादि की दृष्टि से उचित शब्द और अर्थ की, जिसमें एक भी शब्द को इधर-उधर अथवा परिवर्तन करने का अवकाश न हो—इस प्रकार की रचना का जिनको अभ्यास हो गया है वह कवि परिपाक-युक्त कवि होते हैं)। रसादि (में) तात्पर्य होने पर तो कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो अभिमत रस का अंग बनाने पर चमक न उठे। (प्रशस्तगुण-युक्त न हो जाय)। अचेतन पदार्थ भी कोई ऐसे नहीं हैं जो कि ढंग से, उचित रस के विभाव-रूप से अथवा (उनके साथ) चेतन व्यवहार के सम्बन्ध द्वारा रस का अंग न बन सकें। जैसा कि कहा भी है—

अनन्त काव्य-जगत में (उसका निर्माता) केवल कवि ही एक प्रजापति (ब्रह्मा) है। उसे जैसा अच्छा लगता है वह विश्व उसी प्रकार बदल जाता है।

यदि कवि रसिक (शृंगार प्रधान) है तो वह सारा जगत रसमय (शृंगारमय) हो जाता है और यदि वह वैरागी है तो यह वह सब ही नीरस हो जाता है।

सुकवि (अपने) काव्य में अचेतन पदार्थों को भी चेतन के समान और चेतन पदार्थों को भी अचेतन के समान जैसा चाहता है वैसा व्यवहार कराता है।

पूर्ण रूप से रस में तत्पर कवि की ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती है जो उसकी इच्छा से उसके अभिमत रस का अंग न बन जाये अथवा इस प्रकार (रसांगतया) उपनिबद्ध हो कर चारुत्वातिशय को पोषित न करे। यह सब कुछ, महाकवियों के काव्यों में दृष्टिगोचर होता है। हमने भी अपने काव्य प्रबन्धों (विषमबाणलीला, अर्जुनचरित और देवीशतक आदि) में उचित रूप से दिखाया है। इस प्रकार (सब पदार्थों का रस के साथ सम्बन्ध) स्थिर हो जाने पर (सर्व एव) कोई भी काव्य-प्रकार ध्वनि-रूपता का अतिक्रमण नहीं करता। कवि को रसादि की अपेक्षा होने पर गुणी-भूतव्यंग्य रूप भेद भी इस (ध्वनि) का अंग बन जाता है, यह पहिले कह चुके हैं।

जब राजा आदि की स्तुतियों (चाटु, खुशामद, राजादि की स्तुति) अथवा देवताओं की स्तुतियों में रसादि की अंग-रूप से) स्थिति हो, और (प्राकृत कवियों की गोष्ठी में हिअअलिया नाम से प्रसिद्ध विशेष प्रकार की) हृदयवती (नामक) सहृदयों ('सप्रज्ञका सहृदया उच्यन्ते' इति लोचनम्) की किन्हीं गाथाओं में व्यंग्य-विशिष्ट वाच्य में प्राधान्य हो तब भी गुणीभूत व्यंग्य, ध्वनि की विशेष धारा रूप ही होता है यह बात पहिले कह आए हैं। (दीधितिकार ने सप्रज्ञक की जगह षट्प्रज्ञक पाठ माना है—धर्मार्थकाममोक्षेषु लोकतत्त्वार्थयोरपि। षट्सु प्रज्ञास्ति यस्योच्चै षट्प्रज्ञ इति सस्मृत ॥ इति त्रिकाण्ड शेषः।) इस प्रकार (ध्वनि के ही प्रधान होने पर आधुनिक कवियों के लिए काव्यनीति का उपदेश (शिक्षण) करने में (स्थिति इस प्रकार है कि) यदि (आवश्यकता हो तो), केवल अभ्यासार्थी भले ही 'चित्र काव्य' का व्यवहार कर लें, परन्तु परिपक्व (सिद्धहस्त) कवियों के लिए तो ध्वनि ही (एकमात्र) काव्य है यह सिद्ध हो गया। × × × ॥४३॥ (पृष्ठ ४१८—४२४)

९. कवि-प्रतिभा

यदि (कवि में) प्रतिभा गुण हो तो इस प्रकार ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के आश्रय से काव्य के (वर्णनीय रमणीय) अर्थों की कभी समाप्ति ही नहीं हो सकती है। ॥४।६॥

प्राचीन कवियों के प्रबन्धों (काव्यों) के रहते हुए भी, यदि (कवि में) प्रतिभा गुण है (तो नवीन वर्णनीय तत्त्वों की समाप्ति नहीं हो सकती है)। और उस (प्रतिभा) के न होने पर तो कवि के (पास) कोई वस्तु नहीं है (जिससे वह अपूर्व चमत्कारयुक्त काव्य का निर्माण कर सके)। दोनों अर्थों (ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य) के अनुरूप शब्दों के सन्निवेश रूप, रचना का सौन्दर्य भी (आवश्यक) अर्थ की प्रतिभा (प्रतिभान, प्रतिभा) के अभाव में कैसे आ सकता है। (ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यंग्य) अर्थ की अपेक्षा के बिना ही अक्षरों की रचना मात्र ही रचना का सौन्दर्य (रचना

सौन्दर्यजनक) है। यह बात सहृदयों के (हृदय के) समीप नहीं पहुँच सकती। ऐसा होने पर (ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यंग्य के बिना भी अक्षर-रचना मात्र से रचना में सौन्दर्य मानने से) तो अर्थहीन (ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य अर्थ से रहित) चतुर (समास आदि रूप से सगठित) और मधुर (मृदु-कोमल अक्षरों से परिपूर्ण) रचना में भी काव्य व्यवहार होने लगेगा। शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव (साहित्य) में ही काव्यत्व होता है इसलिए उस प्रकार के (अर्थहीन, चतुर, मधुर रचना) विषय में काव्यत्व की व्यवस्था कैसे होगी (अर्थात् काव्य व्यवहार प्राप्त नहीं होगा) यह कहें तो (उत्तर यह है कि) दूसरे के (मत में) उपनिबद्ध (शब्द निरपेक्ष उत्कृष्ट ध्वनि रूप) अर्थ (से युक्त) रचना में जैसे (केवल अर्थ के वैचित्र्य से) काव्य व्यवहार (वह करता है इसी प्रकार इस प्रकार के (अर्थ-निरपेक्ष शब्द रचना मात्र) काव्य सन्दर्भों में भी (काव्य व्यवहार) होने लगेगा। (अतएव) अर्थ-निरपेक्ष अक्षर-रचना मात्र सौन्दर्य का हेतु नहीं है) ॥६॥ (पृष्ठ ४७३-४७४)

अनुवादक : आचार्य विश्वेश्वर

आनन्दवर्द्धन

[ध्वन्यालोक]*

१ ध्वनेः स्थितिः स्वरूपञ्च

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥१॥१॥

बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्ताद्, म्नातः, प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः। तदभाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति।

तत्र केचिदाचक्षीरन्, शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्। तत्र शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसङ्घटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति।

अन्ये ब्रूयुः नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः। सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्सम्भवति। न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित् परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः। न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्। कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात्। तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किंचन कथनं स्यात्।

किं च, वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षण-विधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे, ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावना

---

*गौतम बुक डिपो, दिल्ली द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण

मुकुलितलोचनैर्नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते। तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्। तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः,—

> यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनः प्रह्लादि सालङ्कृति,
> व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
> काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो,
> नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥

भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः।

यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्, भाक्तमाहुस्तमन्ये इति।

केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः। तेनैवंविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतं, अतिरमणीयं, अणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्। अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानां, आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते॥१॥

तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

> योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
> वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥१।२॥

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थः, तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ॥२॥

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।

बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः,

काव्यलक्ष्मविधायिभिः ।

ततो नेह प्रतन्यते ॥१।३॥

केवलमूनद्यते पुनर्यथोपयोगम् ॥३॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥१।४॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद् वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत् तत् सहृदयसुप्रसिद्धं, प्रसिद्धेभ्योऽलङ्कृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वाऽवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु । यथा ह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ् निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं, तत्त्वान्तरं, तद्वदेव सोऽर्थः ।

स ह्यर्थो, वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रम्, अलङ्काररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते । सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम् । तथा हि, आद्यस्तावत् प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान् । स हि कदाचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः । यथा—

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअ सीहेण ॥
[भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥ इतिच्छाया]

× × × ×

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥१।५॥

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः । तथा चादिकवेर्वाल्मीकेर्निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः ।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

शोको हि करुणरसस्थायिभावः । प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखे-नैवोपलक्षणं प्राधान्यात् ॥५॥

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥१।६॥

तत् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तं अभिव्यनक्ति । येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा एव वा महाकवय इति गण्यन्ते ॥६॥

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥१।७॥

सोऽर्थो यस्मात् केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते । यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्, तद् वाच्यवाचकस्वरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात् । अथ च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाप्रगीतानां गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः ॥७॥

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं तस्यैवेति दर्शयति—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥१।८॥

स व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम् । तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ । व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण ॥८॥

२. ध्वनेर्भेदाः

अस्ति ध्वनिः । स चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन । तत्राद्यस्योदाहरणम् :—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

द्वितीयस्यापि :—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥

(पृष्ठ ७८ ७९)

अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम् ॥२।१॥

तथाविधाभ्यां च ताभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव विशेषः ॥ × × ×

असंलक्ष्यक्रमोद्द्योतः क्रमेण द्योतितः परः ।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥२।२॥

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा । स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिद लक्ष्यक्रमतया प्रकाशते, कश्चित् क्रमेणेति द्विधा मतः ॥२॥

तत्र,

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥२।३॥

रसादिरर्थो हि सहेव वाच्येनावभासते । ॥ चाङ्गित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा ॥३॥

३ प्रबन्धकाव्ये रसाभिव्यञ्जना

सर्गबन्धे तु रसतात्पर्यं यथारसमौचित्यम्, अन्यथा तु कामचारः । द्वयोरपि मार्गयोः सर्गबन्धविधायिनां दर्शनाद् रसतात्पर्यं साधीयः । अभिनेयार्थे तु सर्वथा रसबन्धेऽभिनिवेशः कार्यः । आख्यायिकाकथयोस्तु गद्यनिबन्धनबाहुल्याद्, गद्ये च छन्दोबन्धभिन्नप्रस्थानत्वादिह नियमहेतुरकृतपूर्वोऽपि मनाक् क्रियते ॥३।७॥

एतद् यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम् ।
सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ॥३।८॥

यदेतदौचित्यं वक्तृवाच्यगतं सङ्घटनाया नियामकमुक्तमेतदेव गद्ये छन्दोनियमवर्जितेऽपि विषयापेक्षं नियमहेतुः। तथाह्यत्रापि यदा कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावरहितस्तदा कामचारः। रसभावसमन्विते तु वक्तरि पूर्वोक्तमेवानुसर्तव्यम्। तत्रापि च विषयौचित्यमेव। आख्यायिकायान्तु भूम्ना मध्यमसमासादीर्घसमासे एव सङ्घटने। गद्यस्य विकटबन्धाश्रयेण छायावत्त्वात्। तत्र च तस्य प्रकृष्यमाणत्वात्। कथायान्तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम् ॥८॥

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किंचिद् विभेदवत् ॥३।९॥

अथवा पद्यवद् गद्यबन्धेऽपि रसबन्धोक्तमौचित्यं सर्वत्र संश्रिता रचना भाति तत्तु विषयापेक्षं किञ्चिद् विशेषवद् भवति। न तु सर्वाकारम्। तथाहि गद्यबन्धेऽपि अतिदीर्घसमासा रचना न विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोराख्यायिकायामपि शोभते। नाटकादावप्यसमासैव सङ्घटना। रौद्रवीरादिवर्णने विषयापेक्षं त्वौचित्यं प्रमाणतोऽपकृष्यते प्रकृष्यते च। तथा ह्याख्यायिकायां नात्यन्तमसमासा स्वविषयेऽपि, नाटकादौ नातिदीर्घसमासा चेति सङ्घटनाया दिगनुसर्तव्या ॥९॥

इदानीमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः प्रबन्धात्मा रामायणमहाभारतादौ प्रकाशमानः प्रसिद्ध एव। तस्य तु यथा प्रकाशनं तत् प्रतिपाद्यते :—

विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥३।१०॥

इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्ट-रसोचित-कथोन्नयः ॥३।११॥

सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्र स्थितिसंपादनेच्छया ॥३।१२॥

उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ॥३।१३॥

अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥३।१४॥

प्रबन्धोऽपि रसादीनां व्यञ्जक इत्युक्तं तस्य व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्।

प्रथमं तावत्, विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः कथाशरीरस्य विधिः । यथायथं प्रतिपिपादयिषितरसभावाद्यपेक्षया य उचितो विभावो भावोऽनुभावः सञ्चारी वा तदौचित्यचारुणः कथाशरीरस्य विधिर्व्यञ्जकत्वे निबन्धनमेकम् ।

तत्र विभावौचित्यं तावत् प्रसिद्धम् । भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात् । प्रकृतिर्हि, उत्तममध्यमाधमभावेन दिव्यमानुषादिभावेन च विभेदिनी । तां यथायथमनुसृत्यासङ्कीर्णः स्थायीभाव उपनिबध्यमान औचित्यभाग् भवति । अन्यथा तु केवलमानुषाश्रयेण दिव्यस्य, केवलदिव्याश्रयेण वा केवलमानुषस्य, उत्साहादय उपनिबध्यमाना अनुचिता भवन्ति । तथा च केवलमानुषस्य राजादेर्वर्णने सप्तार्णवलङ्घनादिलक्षणा व्यापारा उपनिबध्यमानाः सौष्ठवभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति । तत्र त्वनौचित्यमेव हेतुः ।

ननु नागलोकगमनादयः सातवाहनप्रभृतीनां श्रूयन्ते तदलोकसामान्यप्रभावातिशयवर्णने किमनौचित्यं सर्वोर्वीभरणक्षमाणां क्ष्माभुजामिति ।

नैतदस्ति । न वयं ब्रूमो यत् प्रभावातिशयवर्णनमनुचितं राज्ञाम् । किन्तु केवलमानुषाश्रयेण योत्पाद्यवस्तुकथा क्रियते तस्यां दिव्यमौचित्यं न योजनीयम् । दिव्यमानुष्यायान्तु कथायामुभयौचित्ययोजनमविरुद्धमेव । यथा पाण्डवादिकथायाम् । सातवाहनादिषु तु येषु यावदपदानं श्रूयते तेषु तावन्मात्रमनुगम्यमानमनुगुणत्वेन प्रतिभासते । व्यतिरिक्तं तु तेषामेवोपनिबध्यमानमनुचितम् ।

तदयमत्र परमार्थः —

'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥'

अतएव च भरते प्रख्यातवस्तुविषयत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकर्तव्यतयोपन्यस्तम् । तेन हि नायकौचित्यानौचित्यविषये कविर्न व्यामुह्यति । यस्तूत्पाद्यवस्तु नाटकादि कुर्यात्, तस्याप्रसिद्धानुचितनायकस्वभाववर्णने महान् प्रमादः ।

ननु यद्युत्साहादिभाववर्णने कथञ्चिद् दिव्यमानुष्याद्यौचित्यपरीक्षा क्रियते तत् क्रियताम् । रत्यादौ तु किं तया प्रयोजनम् । रतिर्हि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण दिव्यानामपि वर्णनीयेति स्थितिः ।

नैवम् । तत्रौचित्यातिक्रमेण सुतरां दोषः । तथा ह्यधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृतेः शृङ्गारोपनिबन्धने का भवेन्नोपहास्यता ।

त्रिविधं प्रकृत्यौचित्यं भारते वर्षेऽप्यस्ति शृङ्गारविषयम् ।

यत्तु दिव्यमौचित्यं तत् तत्रानुपकारकमेवेति चेत् ?

न वयं दिव्यमौचित्यं शृङ्गारविषयमन्यत्किञ्चिद्ब्रूमः ।

किं तर्हि ?

भारतवर्षविषये यथोत्तमनायकेषु राजादिषु शृङ्गारोपनिबन्धस्तथा दिव्याश्रयोऽपि शोभते । न च राजादिषु प्रसिद्धग्राम्यशृङ्गारोपनिबन्धनं प्रसिद्धं नाटकादौ, तथैव देवेषु तत् परिहर्तव्यम् ।

नाटकादेरभिनेयार्थत्वादभिनयस्य च सम्भोगशृङ्गारविषयस्यासभ्यत्वात् तत्र परिहार इति चेत् ?

न । यद्यभिनयस्यैवंविषयस्यासभ्यता तत् काव्यस्यैवंविषयस्य सा केन निवार्यते । तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तत् पित्रोः सम्भोगवर्णनमिव सुतरामसभ्यम् । तथैवोत्तमदेवताविषयम् ।

न च सम्भोगशृङ्गारस्य सुरतलक्षण एवैकः प्रकारः, यावदन्येऽपि प्रभेदाः परस्परप्रेमदर्शनादयः सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृतिविषये न वर्ण्यन्ते । तस्मादुत्साहवद् रतावपि प्रकृत्यौचित्यमनुसर्तव्यम् । तथैव विस्मयादिषु । यत्त्वेवंविधे विषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव । स तु शक्तितिरस्कृतत्वात् तेषां न लक्ष्यते, इत्युक्तमेव ।

अनुभावौचित्यं तु भरतादौ प्रसिद्धमेव । इयत्तूच्यते । भरतादिविरचितां स्थितिं चानुवर्तमानेन महाकविप्रबन्धांश्च पर्यालोचयता स्वप्रतिभां चानुसरता कविनाऽवहितचेतसा भूत्वा विभावाद्यौचित्यभ्रंशपरित्यागे परः प्रयत्नो विधेयः ।

औचित्यवतः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ग्रहो व्यञ्जक इत्येतेनैतत् प्रतिपादयति यदितिहासादिषु कथासु रसवतीषु विविधासु सतीष्वपि यत्तत्र विभावाद्यौचित्यवत् कथाशरीरं तदेव ग्राह्यं नेतरत् । वृत्तादपि च कथाशरीरादुत्प्रेक्षिते विशेषतः प्रयत्नवता भवितव्यम् । तत्र ह्यनवधानात् स्खलतः कवेरव्युत्पत्तिसम्भावना महती भवति ।

परिकरश्लोकश्चात्र —

कथाशरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं तथा तथा।
यथा रसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते॥

तत्र चाभ्युपायः सम्यग् विभावाद्यौचित्यानुसरणम्, तच्च दर्शितमेव।

किञ्च :—

सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः। ९
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी॥

तेषु हि कथाश्रयेषु तावत् स्वेच्छैव न योज्या। यदुक्तम् 'कथामार्गे न चाल्पोऽप्यतिक्रमः।' स्वेच्छापि यदि योज्या तद्रसविरोधिनी न योज्या।

इदमपरं प्रबन्धस्य रसाभिव्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। इतिवृत्तवशायातां कथञ्चिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयः। यथा कालिदासप्रबन्धेषु। यथा च सर्वसेनविरचिते हरिविजये। यथा च मदीय एवार्जुनचरिते महाकाव्ये। कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत् तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत्। न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किञ्चित् प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः।

रसादिव्यञ्जकत्वे प्रबन्धस्य चेदमन्यन्मुख्यं निबन्धनं, यत् सन्धीनां मुखप्रतिमुखगर्भावमर्शनिर्वहणाख्यानां, तदङ्गानां चोपक्षेपादीनां घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया। यथा रत्नावल्याम्। न तु केवलं शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया यथा वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्ध्यङ्गस्य प्रकृतरसनिबन्धनाननुगुणमपि द्वितीयेऽङ्के भरतमतानुसरणमात्रेच्छया घटनम्।

इदं चापरं प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकत्वे निमित्तं यदुद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा रसस्य, यथा रत्नावल्यामेव। पुनरारब्धविश्रान्तेः रसस्याङ्गिनोऽनुसन्धिश्च, यथा तापसवत्सराजे।

प्रबन्धविशेषस्य नाटकादे रसव्यक्तिनिमित्तमिदं चापरमवगन्तव्यं यदलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्। शक्तो हि कविः कदाचित् अलङ्कारनिबन्धने तदाक्षिप्ततयैवानपेक्षितरसबन्धः प्रबन्धमारभते तदुपदेशार्थमिदमुक्तम्। दृश्यन्ते च कवयोऽलङ्कारनिबन्धनैकरसा अनपेक्षितरसाः प्रबन्धेषु॥१४॥

(पृष्ठ २५३-२६६)

४. रसविरोधीनि तत्त्वानि

कानि पुनस्तानि विरोधीनि यानि यत्नतः कवेः परिहर्तव्यानीत्युच्यते :—

विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥३।१८॥

अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् ।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥३।१९॥

प्रस्तुतरसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य सम्बन्धिनां विभावभावानुभावानां परिग्रहो रसविरोधहेतुकः सम्भावनीयः ।

तत्र विरोधिरसविभावपरिग्रहो यथा, शान्तरसविभावेषु तद्विभावतयैव निरूपितेष्वनन्तरमेव शृङ्गारादिविभाववर्णने ।

विरोधिरसभावपरिग्रहो यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथाभिरनुनये ।

विरोधिरसानुभावपरिग्रहो यथा प्रणयकुपितायां प्रियायामप्रसीदन्त्यां नायकस्य कोपावेशविवशस्य रौद्रानुभाववर्णने ।

अयं चान्यो रसभङ्गहेतुर्यत् प्रस्तुतरसापेक्षया वस्तुनोऽन्यस्य कथञ्चिदन्वितस्यापि विस्तरेण कथनम् । यथा विप्रलम्भशृङ्गारे नायकस्य कस्यचिद् वर्णयितुमुपक्रान्ते, कवेर्यमकाद्यलङ्कारनिबन्धनरसिकतया महता प्रबन्धेन पर्वतादिवर्णने ।

अयं चापरो रसभङ्गहेतुरवगन्तव्यो यदकाण्ड एव विच्छित्ती रसस्याकाण्ड एव च प्रकाशनम् ।

तत्रानवसरे विरामो यथा नायकस्य कस्यचित् स्पृहणीयसमागमया नायिकया कयाचित् परां परिपोषपदवीं प्राप्ते शृङ्गारे, विदिते च परस्परानुरागे, समागमोपायचिन्तोचितं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तरवर्णने ।

अनवसरे च प्रकाशनं रसस्य यथा प्रवृत्ते प्रवृद्धविविधवीरसंक्षये कल्पसंक्षयकल्पे संग्रामे रामदेवप्रायस्यापि तावन्नायकस्यानुपक्रान्तविप्रलम्भशृङ्गारस्य निमित्तमुचितमन्तरेणैव शृङ्गारकथायामवतारवर्णने ।

न चैवंविधे विषये दैवव्यामोहितत्व कथापुरुषस्य परिहारो, यतो रसबन्ध एव कवे प्राधान्येन प्रवृत्तिनिबन्धनं युक्तम् । इतिवृत्तवर्णनं तदुपाय एवेत्युक्तं प्राक् —'आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जन" इत्यादिना ।

अतएव चेतिवृत्तमात्रवर्णनप्राधान्येऽङ्गाङ्गिभावरहितरसभावनिबन्धेन च कवीनामेवंविधानि स्खलितानि भवन्तीति रसादिरूपव्यङ्ग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो न ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन ।

पुनश्चायमन्यो रसभङ्गहेतुरवधारणीयो यत् परिपोषं गतस्यापि रसस्य पौन:पुन्येन दीपनम् । उपभुक्तो हि रस स्वसामग्रीलब्धपरिपोष पुन पुन परामृश्यमाण परिम्लानकुसुमकल्प कल्पते ।

तथावृत्तेर्व्यवहारस्य यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गहेतुरेव । यथा नायक प्रति नायिकाया कस्याश्चिदुचितां भङ्गिमन्तरेण स्वयं सम्भोगाभिलाषकथने ।

यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निबन्धनं तदपि रसभङ्गहेतु ।

एवमेषां रसविरोधिनामन्येषां चानया दिशा स्वयमुत्प्रेक्षितानां परिहारे सत्कविभिरवहितैर्भवितव्यम् । परिकरश्लोकाश्चात्र —

मुख्या व्यापारविषया सुकवीनां रसादय ।
तेषां निबन्धने भाव्यं तै सदैवाप्रमादिभि ॥
नीरसस्तु प्रबन्धो य सोऽपशब्दो महान् कवे ।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षण ॥
पूर्वे विशृङ्खलगिर कवय प्राप्तकीर्तय ।
तान् समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा ॥
वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ये प्रख्याता कवीश्वरा ।
तदभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नय ॥ इति ॥१९॥

(पृष्ठ २४९ २६४)

५ प्रबन्धकाव्येऽङ्गभूतो रस

ननु रसान्तरेषु बहुषु प्राप्तपरिपोषेषु सत्सु कथमेकस्याङ्गिता न विरुध्यत इत्याशङ्क्येदमुच्यते —

रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः ।
नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिनः ॥३।२२॥

प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरनुसन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रसस्तस्य सकलबन्धव्यापिनो रसान्तरैरन्तरालवर्तिभिः समावेशो यः स नाङ्गितामुपहन्ति ॥२२॥

एतदेवोपपादयितुमुच्यते :—

कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते ।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधो नैव विद्यते ॥३।२३॥

सन्ध्यादिमयस्य प्रबन्धशरीरस्य यथा कार्यमेकमनुयायि व्यापकं कल्प्यते न च तत् कार्यान्तरैर्न संकीर्यते, न च तैः सङ्कीर्यमाणस्यापि तस्य प्राधान्यमपचीयते, तथैव रसस्याप्येकस्य सन्निवेशे क्रियमाणे विरोधो न कश्चित् । प्रत्युत प्रत्युदितविवेकानामनुसन्धानवतां सचेतसां तथाविधे विषये प्रह्लादातिशयः प्रवर्तते ॥२३॥

ननु येषां रसानां परस्पराविरोधः यथा वीरशृंगारयोः, शृंगारहास्ययोः, रौद्रशृंगारयोः, वीराद्भुतयोः, वीररौद्रयोः, रौद्रकरुणयोः, शृंगाराद्भुतयोर्वा तत्र भवत्वङ्गाङ्गिभावः । तेषां तु स कथं भवेद् येषां परस्परं बाध्यबाधकभावो यथा शृंगारबीभत्सयोः, वीरभयानकयोः, शान्तरौद्रयोः, शान्तशृंगारयोर्वा इत्याशङ्क्येदमुच्यते :—

अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे ।
परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता ॥३।२४॥

अङ्गिनि रसान्तरे शृंगारादौ प्रबन्धव्यङ्ग्ये सति, अविरोधी विरोधी वा रसः परिपोषं न नेतव्यः । तत्राविरोधिनो रसस्याङ्गिरसापेक्षयात्यन्तमाधिक्यं न कर्तव्यमित्ययं प्रथमः परिपोषपरिहारः । उत्कर्षसाम्येऽपि तयोः विरोधासम्भवात् ।

यथा—

एकत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो ।
णेहेण रणरसेण अ भडस्स दोलाइअं हिअअम् ॥

[एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः ।
स्नेहेन रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ॥ इतिच्छाया ॥]

यथा वा—

कण्ठाच्छित्त्वाक्षमालावलयमिव करे हारमावर्तयन्ती,
कृत्वा पर्यङ्कबन्धं विषधरपतिना मेखलाया गुणेन।
मिथ्यामन्त्राभिजापस्फुरदधरपुटव्यञ्जिताव्यक्तहासा
देवी सन्ध्याभ्यसूयाहसितपशुपतिस्तत्र दृष्टा तु वोऽव्यात् ॥

इत्यत्र।

अङ्गिरसविरुद्धानां व्यभिचारिणां प्राचुर्येणानिवेशनम्, निवेशने वा क्षिप्रमेवाङ्गिरसव्यभिचार्यनुवृत्तिरिति द्वितीयः।

अङ्गत्वेन पुनः पुनः प्रत्यवेक्षा परिपोषं नीयमानस्याप्यङ्गभूतस्य रसस्येति तृतीयः। अनया दिशान्येऽपि प्रकारा उत्प्रेक्षणीयाः। विरोधिनस्तु रसस्याङ्गिरसापेक्षया कस्यचिन्न्यूनता सम्पादनीया, यथा शान्तेऽङ्गिनि शृङ्गारस्य, शृङ्गारे वा शान्तस्य।

परिपोषरहितस्य रसस्य कथं रसत्वमिति चेत्, उक्तमत्राङ्गिरसापेक्षयेति। अङ्गिनो हि रसस्य यावान् परिपोषस्तावांस्तस्य न कर्तव्यः। स्वतस्तु सम्भवी परिपोषः केन वार्यते।

एतच्चापेक्षिकं प्रकर्षयोगित्वमेकस्य रसस्य बहुरसेषु प्रबन्धेषु रसानामङ्गाङ्गिभावमनभ्युपगच्छतामप्यशक्यप्रतिक्षेपमित्यनेन प्रकारेणाविरोधिनां विरोधिनां च रसानामङ्गाङ्गिभावेन समावेशे प्रबन्धेषु स्यादविरोधः।

एतच्च सर्वं येषां रसो रसान्तरस्य व्यभिचारी भवति इति दर्शनं तन्मतेनोच्यते। मतान्तरे तु रसानां स्थायिनो भावा उपचारात् रसशब्देनोक्तास्तेषामङ्गत्वं निर्विरोधमेव ॥२४॥ (पृष्ठ ३११-३१६)

६ शृङ्गारस्य प्रमुखरसत्वम्

अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कविः।
भवेत् तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते ॥३।२६॥

तत्रैव च रसे सर्वेभ्योऽपि रसेभ्यः सौकुमार्यातिशययोगिनि कविरवधानवान् प्रयत्नवान् स्यात्। तत्र हि प्रमाद्यतस्तस्य सहृदयमध्ये क्षिप्रमेवावज्ञानविषयता भवति ॥२६॥

शृङ्गाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात् सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः। एवं च सति :—

विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ॥३।३०॥

शृङ्गारविरुद्धरसस्पर्शः शृङ्गाराङ्गानां यः स न केवलमविरोधलक्षणयोगे सति न दुष्यति, यावद् विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणो न दुष्यति। शृङ्गाररसाङ्गैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशान् गृह्णन्ति। सदाचारोपदेशरूपा हि नाटकादिगोष्ठी, विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता।

किञ्च शृङ्गारस्य सकलजनमनोहराभिरामत्वात् तदङ्गसमावेशः काव्ये शोभातिशयं पुष्यतीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि रसे शृङ्गाराङ्गसमावेशो न विरोधी। ततश्च —

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥

इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः ॥३०

(पृष्ठ ३२८-३३०)

७ गुणीभूतव्यङ्ग्य

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥३।३४॥

व्यङ्ग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम्। तस्य तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते। तत्र वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यस्य तिरस्कृतवाच्येभ्यः प्रतीयमानस्य कदाचिद्वाच्यरूपवाक्यार्थापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता।

यथा :—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥

अतिरस्कृतवाच्येभ्योऽपि शब्देभ्यः प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्य कदाचिद्वाच्यप्राधान्येन काव्यचारुत्वापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता। यथोदाहृतं, 'अनुरा-

गवती सन्ध्या' इत्येवमादि ।

तस्यैव स्वयमुक्त्या प्रकाशीकृतत्वेन गुणीभावो यथोदाहृतम्, 'सङ्केतकालमनसम्' इत्यादि । रसादिरूपव्यङ्ग्यस्य गुणीभावो रसवदलङ्कारे दर्शितः । तत्र च तेषामाधिकारिकवाक्यापेक्षया गुणीभावो विवहनप्रवृत्तभृत्यानुयायिराजवत् ।

व्यङ्ग्यालङ्कारस्य गुणीभावे दीपकादिविषयः ॥३५॥

तथा :—

प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः ।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा ॥३।३६॥

ये चैतेऽपरिमितस्वरूपा अपि प्रकाशमानास्तथाविधार्थरमणीयाः सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यबन्धास्तेषु सर्वेष्वेवायं प्रकारो गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम योजनीयः । × ×
(पृष्ठ ३८९-३९२)

तथैव व्यङ्ग्यांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलङ्काराः सर्व एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः । गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं च तेषां तथाजातीयानां सर्वेषामेवोक्तानामनुक्तानां सामान्यम् । तल्लक्षणे सर्व एवैते सुलक्षिता भवन्ति ।

एकैकस्य स्वरूपविशेषकथनेन तु सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपदपाठेनेव शब्दा न शक्यन्ते तत्त्वतो निर्ज्ञातुम् । आनन्त्यात् । अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः ।

गुणीभूतव्यंग्यस्य च प्रकारान्तरेणापि व्यङ्ग्यार्थानुगमलक्षणेन विषयत्वमस्त्येव । तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः । सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम् । तदिदं काव्यरहस्यं परमिति सूरिभिर्भावनीयम् ॥३।३७॥

मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥३।३८॥

अनया सुप्रसिद्धोऽप्यर्थः किमपि कामनीयकमानीयते । तद्यथा—विस्रम्भोत्था मन्मथाज्ञाविधाने ये मुग्धाक्ष्याः केऽपि लीलाविशेषाः । अक्षुण्णास्ते चेतसा केवलेन, स्थित्वैकान्ते सन्ततं भावनीयाः ॥

इत्यत्र, तेऽप्येतेनैव पदेन वाच्यमस्पष्टमभिदधता प्रतीयमानं वस्त्वक्लिष्टमनन्तमर्पयता का छाया नोपपादिता ॥२८॥

अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते ।
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ॥३।३९॥

या चैषा काक्वा क्वचिदर्थान्तरप्रतीतिर्दृश्यते सा व्यङ्ग्यस्यार्थस्य गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणं काव्यप्रभेदमाश्रयते । × × ×

(पृष्ठ ४००-४०४)

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥३।४१॥

गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि काव्यप्रकारो रसभावादितात्पर्यालोचने पुनर्ध्वनिरेव सम्पद्यते । यथात्रैवानन्तरोदाहृते श्लोकद्वये । (पृष्ठ ४०६)

८ चित्रकाव्यस्य स्वरूपम्

गुणप्रधानभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥३।४२॥

चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥३।४३॥

व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः, गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता । ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम् । न तन्मुख्यं काव्यम् । काव्यानुकारो ह्यसौ । तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं, यथा दुष्करयमकादि । वाच्यचित्रं ततः शब्दचित्रादन्यद् व्यङ्ग्यार्थसंस्पर्शरहितं, प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं रसादितात्पर्यरहितमुत्प्रेक्षादि ।

अथ किमिदं चित्रं नाम ? यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शः । प्रतीयमानो ह्यर्थस्त्रिभेदः प्राक् प्रदर्शितः । तत्र, यत्र वस्त्वलङ्कारान्तरं वा व्यङ्ग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः । यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव । यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते । वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वाऽङ्गत्वं प्रतिपद्यते, अन्ततो विभावत्वेन । चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः । न च

तदस्ति वस्तु किंचिद् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति । तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् । कविविषयश्च चित्रतया कश्चिन्निरूप्यते ।

अत्रोच्यते । सत्यं न तादृक् काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः । किन्तु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालंकारमर्थालंकारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते । विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः । वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते । तदिदमुक्तम्—

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति ।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा ।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः ॥

एतच्च चित्रं कवीनां विशृङ्खलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्तिदर्शनादस्माभिः परिकल्पितम् । इदानींतनानां तु न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः । यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते । रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदभिमतरसाङ्गतां नीयमानं न प्रगुणीभवति । अचेतना अपि हि भावा यथायथमुचितरसविभावतया चेतनवृत्तान्तयोजनया वा न सन्त्येव ते ये यान्ति न रसाङ्गताम् । तथा चेदमुच्यते—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ॥
भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् ।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥

तस्मान्नास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेस्तदिच्छया तदभिमतरसाङ्गतां न धत्ते । तथोपनिबध्यमानं वा न चारुत्वातिशयं पुष्णाति सर्वमेतच्च महाकवीनां काव्येषु दृश्यते । अस्माभिरपि स्वेषु काव्यप्रबन्धेषु यथायथं दर्शितमेव । स्थिते चैवं सर्व एव काव्यप्रकारो न ध्वनिधर्मतामतिपतति । रसाद्यपेक्षायां कवेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणोऽपि प्रकारस्तदङ्गतामवलम्बते, इत्युक्तं प्राक् ।

यदा तु चाटुषु देवतास्तुतिषु वा रसादीनामङ्गतया व्यवस्थानं, हृदयवतीषु च सप्रज्ञकगाथासु कासुचिद् व्यंग्यविशिष्टवाच्ये प्राधान्यं तदपि गुणीभूतव्यंग्यस्य ध्वनि-निष्यन्दभूतत्वमेवेत्युक्तं प्राक्। तदेवमिदानीन्तनकविकाव्यनयोपदेशे क्रियमाणे प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः। प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव काव्यमिति स्थितमेतत्। (पृष्ठ ४१८-४२३)

९. कवि-प्रतिभा

ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यंग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ॥४.६॥

सत्स्वपि पुरातनकविप्रबन्धेषु यदि स्यात्प्रतिभागुणः। तस्मिंस्त्वसति न किञ्चिदेव कवेर्वस्त्वस्ति। बन्धच्छायाप्यर्थद्वयानुरूपशब्दसंनिवेशोऽर्थप्रतिभानाभावे कथमुपपद्यते। अनपेक्षितार्थविशेषाक्षररचनैव बन्धच्छायेति नेदं नेदीयः सहृदयानाम्। एवं हि सत्यर्था-नपेक्षचतुरमधुरवचनरचनायामपि काव्यव्यपदेशः प्रवर्तेत। शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे कथं तथाविधे विषये काव्यव्यवस्थेति चेत्, परोपनिबद्धार्थविरचने यथा तत्काव्यत्व-व्यवहारस्तथा तथाविधानां काव्यसन्दर्भाणाम् ॥६॥

(पृष्ठ ४७२-४७४)

अभिनवगुप्त

समय—दशम शतक का अन्त—एकादश शतक का प्रारम्भ

[अभिनव-भारती]*

१. भरत सूत्र की व्याख्या

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः—

इस सूत्र की भट्ट लोल्लट आदिकों ने इस प्रकार व्याख्या की—

भट्ट लोल्लट

विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग, अर्थात् स्थायी भाव के साथ संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। उनमें से 'विभाव' स्थायी स्वरूप वाली चित्त-वृत्ति के कारण हैं। 'अनुभाव' शब्द से यहाँ पर रस से उत्पन्न (सहृदय के) अनुभाव अपेक्षित नहीं हैं, क्योंकि रस के कारण-रूप में उनकी गणना नहीं हो सकती है अपितु भावों से उत्पन्न अनुभाव ही यहाँ अभिप्रेत हैं। यद्यपि व्यभिचारी भाव चित्त-वृत्ति रूप होने से स्थायी भाव के सहभावी नहीं हैं तो भी उनका वासनात्मक रूप ही यहाँ विवक्षित है। × × × अतएव विभाव, अनुभाव आदि से परिपुष्ट स्थायी भाव ही रस होता है और अपरिपुष्ट दशा में वह स्थायी भाव कहलाता है। वह रस मुख्य रूप से तो रामादि अनुकार्य में रहता है, और रामादि के रूप में अपने आप को ढाल देने के कारण वह अभिनेता में भी [गौण रूप से] रहता है। (पृष्ठ २७४)

शंकुक

उपर्युक्त लोल्लट-सम्मत व्याख्या ठीक नहीं है—ऐसा श्री शंकुक का मत है। (यथार्थ) विभावादि के संयोग के बिना स्थायी भाव के लिंगों के अभाव में उस (रस) की प्रतीति असम्भव हो जायेगी, क्योंकि भावों की पूर्व स्थिति आवश्यक है, अतः वर्तमान दशा में [हमारी व्याख्या के अतिरिक्त] दूसरी व्याख्या व्यर्थ होगी।

उपचितावस्थापन्न स्थायी भाव को रस कहने से निम्नांकित आपत्तियाँ खड़ी हो जायेंगी—

---

* भरत-प्रणीत नाट्य-शास्त्र पर अभिनव-भारती नामक टीका।

(क) स्थायी भाव और रस भी मन्द, मन्दतर, मन्दतम और मध्यम रूप से कई प्रकार का होता है, अत किस अवस्था को लोल्लट के मतानुसार उपचित माना जाएगा।

(ख) इसी प्रकार हास्य रस के भी [स्मित, अवहसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित] जो कि उत्तरोत्तर प्रकृष्टावस्थापन्न हैं, रस नहीं माने जा सकेंगे, क्योंकि आपके मत में जो उचित है, वही (अतिहसित ही) रस नाम से अभिहित होगा।

(ग) इसी प्रकार शृगार-रसान्तर्भूत काम की अभिलाष आदि दस अवस्थाओं में जो शृगार अथवा रति आदि असख्य रूप धारण कर लेते हैं, वे सभी के सभी रस नहीं कहला सकेंगे।

(घ) इस के अतिरिक्त शोक जसे भाव का काल-क्रम से तीव्रता से मन्दता को प्राप्त हो जाना अवश्यम्भावी है। जिस प्रकार सेवा के द्वारा अमर्ष भाव का ह्रास हो जाता है, उसी प्रकार विभिन्न कारणों से क्रोध, उत्साह और रति का भी। अत राम आदि अनुकार्य के रत्यादि भावों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हुए बिना स्थायी भाव उपचितावस्था को प्राप्त नहीं हो सकेंगे।

अत हमारा मत यह है कि रस मुख्य वृत्ति से रामादि अनुकार्य में रहता है। अभिनेता प्रयत्न द्वारा कारण-रूप विभाव, कार्य रूप अनुभाव और सहकारी कारण-रूप व्यभिचारी भावों का अनुकरण करता है, उसके अभिनय कौशल के कारण वे विभावादि कृत्रिम होने पर भी सामाजिक को कृत्रिम प्रतीत नहीं होते। सामाजिक अनुमान के बल से अभिनेता में प्रतीयमान स्थायी भाव को वास्तविक मान लेता है, और तभी उसे रस की अनुभूति होती है। (पृष्ठ २७४)

भट्टनायक

भट्टनायक इस प्रकार मानते हैं—रस की न तो अनुमिति होती है, न उत्पत्ति होती है और न अभिव्यक्ति। आत्मगत रूप से अनुमिति मानने पर, करुण में दुःख की ही प्रतीति होनी चाहिए। पर यह प्रतीति ठीक नहीं है, क्योंकि सीतादि की वहाँ विभाव-रूप से स्थिति नहीं है। अपनी प्रिया की स्मृति में भी ज्ञानाभाव है। देवतादि में साधारणीकरण की योग्यता नहीं है क्योंकि समुद्र लाँघना आदि असाधारण व्यापार हैं। इन सबसे युक्त राम की स्मृति अभाव से नहीं हो सकती है। शब्द, अनुमान आदि के द्वारा राम की प्रतीति होने पर लोक की सरसता प्रत्यक्ष के समान हो जाती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि नायकद्वय की प्रतीति में तो लज्जा,

जुगुप्सा, स्पृहा आदि उनमें रहने वाली दूसरी चित्तवृत्तियो का उदय हो जायेगा। × × × (भट्ट लोल्लट के) उत्पत्तिवाद में भी यह दोष समान है। × × × इसलिए काव्य में दोष के अभाव एव गुणालकार के योग की विशेषता वाले, नाट्य में चतुर्विध अभिनय रूप वाले, × × विभावादि के साधारणी-करण रूप से अभिधा के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के भावकत्व व्यापार से भावित होता हुआ रस अनुभव, स्मृति आदि से विलक्षण, रज और तम के निरोध के वैशिष्ट्य के कारण हृदय में विस्तार के विकास की विशेषता से युक्त, सत्त्व के उद्रेक से प्रकाश आनन्द स्वरूप, आत्मज्ञान की विश्रान्ति से विलक्षण, परब्रह्म के आस्वाद के समान भोगरूप शक्ति के द्वारा विशेष रूप से भुक्त होता है। × × ×

(पृष्ठ २७८-२७९)

अभिनवगुप्त

जैसा शकुकादिकों का कथन है कि 'स्थायी ही विभावादि से अनुमेय होकर प्रतीत होने से रस कहलाता है—यह ठीक नही। इस प्रकार मान लेने पर लौकिक सम्बन्धों में भी रस की प्रतीति क्यो नही होगी? जहाँ वस्तु के न होने पर भी रस माना जा रहा है वहां वस्तु के होने पर रस की प्रतीति क्यों नही होगी? अतएव स्थायी की प्रतीति अनुमिति के रूप में कही जा सकती है न कि रस की। इसीलिए सूत्र में स्थायी को नही रखा है। क्योकि उसका रखना केवल बाधा-स्वरूप होता। केवल औचित्य के कारण ही ऐसा कह देते हैं कि स्थायी भाव रस को प्राप्त होता है।

× × × (पृष्ठ २८५)

पाक के स्वरूप वाली सम्यक् योजना के द्वारा अलौकिक रस की उत्पत्ति होती है। उसमें प्रधान रूप से जल रस का अभिव्यञ्जक है, और व्यजन विभाव का, तथा इमली, हल्दी आदि अनुभाव तुल्य हैं। गुड, इमली आदि द्रव्य अपने खट्टेपन आदि रसों से विलक्षण, मधुर आदि के योग से व्यभिचारी भाव के सदृश हैं जो अपने में उनका रस ग्रहण और उनमें अपने रस का सक्रमण कर विचित्र आस्वाद धारण कर लेते हैं। मिश्रण के उपरान्त होने वाला विभाव-तुल्य व्यञ्जन से उत्पन्न रस विशेष स्थायी सदृश होता है। वह पानक रस लौकिक है। यह कुशलजनों की निर्वृति के योग्य और सहृदयों द्वारा आस्वाद्य होता है। इसलिए अन्न के अध्याहार की आवश्य-कता नही है। जैसे कि वर्णित सूत्र में स्थायी-ग्रहण कण्टक सदृश होने से तीन का ही ग्रहण किया गया है, उसी प्रकार दृष्टान्त में भी तीन का उपादान ही ठीक है।

जिस प्रकार व्यजन के आस्वाद में तत्पर चित्त वाले भोक्ता में आस्वादकता होती है क्योंकि दूसरी जगह मन रहने से भोजन करके भी आस्वाद का ज्ञान नहीं होता है। प्रसन्नता, वृद्धि, जीवन, पुष्टि, बल और आरोग्य आस्वाद के फल होते हैं।

उसी प्रकार अभिनय के द्वारा व्यक्त, स्थायी शब्द से प्रतिपादित रस में आस्वाद्यता निर्विवाद है। एकाग्रचित्त तन्मय सामाजिक में आस्वादकता होती है। हर्ष-प्रधान धर्मादि की व्युत्पत्ति, वैदग्ध्य आदि आस्वाद के फल होते हैं, इसलिए कर्म, कर्ता और फल की समानता से विभावादि से उत्पन्न ज्ञान विशेष रसना का व्यापार माना गया है, यह तात्पर्य है।   ×   ×   ×   ×   (पृष्ठ २८६-२६०)

अभिनय का महत्त्व

दूसरे तो काव्य में भी गुण, अलंकार, सौन्दर्यातिशय से रसास्वाद मानते हैं। हमारा कथन है—मुख्य रूप से काव्य दश-रूपकात्मक होता है। उसमें उचित भाषा, व्यापार, काकु, नेपथ्य आदि के द्वारा रसवत्ता की पूर्ति होती है।

×   ×   ×

जो स्वभाव से स्वच्छ दर्पण के समान हृदय वाले हैं, उनका मन संसारोचित क्रोध, मोह, इच्छा आदि के वशीभूत नहीं होता है। दश-रूपक के श्रवण के समय साधारण रसनात्मक आस्वाद से ग्राह्य उन की रसानुभूति नाट्यलक्षण में स्पष्ट ही है। जो (व्यक्ति) उस प्रकार की वृत्ति वाले नहीं हैं, भरत मुनि ने उन के आस्वाद के लिए तो नटादि का व्यापार तथा आत्मगत, क्रोध, शोक आदि संकटमय ग्रन्थियों के नष्ट करने के लिए गीत आदि का विधान किया है।

×   ×   ×

अन्य तो अभिनय आदि सामग्री से युक्त बाहर दिखाई पड़ने वाला नाट्य नटोचित कर्म रूप है; इस तात्पर्य से नाट्य से रसोत्पत्ति होती है ऐसा कहते हैं।.... ...

जो ऐसा कहते हैं कि रत्यादि का अनुकरण रूप रस है, उनके मत में शोक किस प्रकार सुख का कारण होता है? वे उसका परिहार करते हैं कि नाट्यगत यह कोई विशेष धर्म है, उनका यह कथन ठीक नहीं है। क्या प्रतीयमान शोक प्रतीति करने वाले के मन में नियमत: दु:ख की अनुभूति कराता है क्योंकि शत्रु के दु:ख में हर्ष होता है एवं अन्यत्र उदासीनता रहती है। उत्तर—ऐसा कुछ नहीं। वस्तु-स्वभाव के अनुसार ही भावानुभूति होती है।

हमारे मत में तो आनन्दातिशय संवेदन का ही आस्वाद होता है। वहाँ दु:ख की आशङ्का ही क्या है? केवल उसी की चित्रता के लिए रति, शोक आदि वासना के व्यापार हैं एवं उसी के उद्बोधन के लिए अभिनय आदि।

× × ×

रसों से भाव उत्पन्न नहीं होते हैं, यह भाव शब्द के अर्थ पर विचार करने से सिद्ध होता है। इसी को श्लोक में कहा है—भली भाँति सम्बद्ध हृदयगत रसों का अनेक प्रकार के अभिनयों द्वारा भावन अर्थात् सम्पादन करने के कारण भाव कहलाते हैं। × × × (पृष्ठ २९१-२९४)

२. शान्त रस

रस नौ प्रकार के है, जो ऐसा स्वीकार करते हैं उनके मत में शान्त रस के स्वरूप का कथन किया जाता है। इस विषय में कुछ कहते हैं कि शम स्थायी भावात्मक शान्त रस तपस्या, योगियों के सम्पर्क आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है। काम, क्रोध आदि के अभाव-रूप अनुभावों से उसका अभिनय होता है। धृति, मति आदि उसके व्यभिचारी भाव हैं।

इस बात (शान्त रस की स्वीकृति) को दूसरे नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि शम और शान्त के पर्यायवाची होने के कारण एक सचा घट ज्ञान से पचास भाव नहीं हो सकते × × × तप और अध्ययन आदि शान्त के अनन्तर हेतु नहीं हैं। यदि यह कहा जाय कि ये तत्त्व-ज्ञान के अनन्तर हेतु हैं तो वे प्राक्प्रतिपादित तत्त्व ज्ञान में प्रयोजक होते हैं अतएव तप, अध्ययन आदि को विभाव कहना अनुचित है। कामादि का अभाव भी अनुभाव नहीं हो सकता, क्योंकि शान्त से इतर रसों में भी उसकी सत्ता पाई जाती है और इसी से वह अनुमापक नहीं है। ज्ञापक और अभिनय में समवाय रूप से स्थिति नहीं है। व्यापार का अभाव अभिनेय नहीं। सुप्तावस्था, मूर्च्छा आदिक भी निश्वास, उच्छ्वास, पतन एवं पृथ्वी-शयन आदि चेष्टा-रूप अनुभावों से व्यक्त किए जाते हैं। विषयों से उपरक्त धृति आदि भी किस प्रकार शान्त में हो सकते हैं? × × × इसलिए शान्त रस पृथक् नहीं है।

इसका उत्तर यह है—जिस प्रकार इस संसार में धर्म, अर्थ, काम हैं उसी प्रकार मोक्ष भी पुरुषार्थ है। शास्त्रों में, स्मृति इतिहास, आदि में प्रधान रूप से उपाय रूप में मोक्ष का कथन है यह सुप्रसिद्ध है। जिस प्रकार कामादिकों में समुचित चित्त-वृत्तियाँ रत्यादि शब्द से अभिहित होकर कवि व्यापार के और नट के द्वारा आस्वाद की योग्यता प्राप्त कर उस प्रकार के हृदय ज्ञान से सामाजिकों के प्रति शृंगार आदि रसावस्था को प्राप्त कराती हैं, उसी प्रकार मोक्ष नामक परम पुरुषार्थ के योग्य चित्त-वृत्ति रस की अवस्था को क्यों नहीं प्राप्त कराती? जो इस प्रकार की चित्त-वृत्ति है वही यहाँ पर शान्त रस का स्थायी भाव है। विचारणीय यह है कि वह क्या

वस्तु है ? कुछ कहते हैं कि यह तत्त्व-ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद है। उस का प्रतिपादन करते हैं—दारिद्र्य आदि के द्वारा उत्पन्न निर्वेद से तत्त्व-ज्ञान द्वारा उत्पन्न निर्वेद भिन्न होता है क्योंकि इन दोनों के हेतु भिन्न हैं। स्थायी और संचारी के बीच में इसीलिए इसका पाठ है। अन्यथा मङ्गल में विश्वास रखने वाले मुनि उस प्रकार से न पढ़ते। × × ×

तत्त्व-ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद अन्य स्थायियों को दबा देने वाला है। भाव-वैचित्र्य को सहन करने वाले रत्यादिकों की अपेक्षा जो अधिक स्थायित्वयुक्त होता है वही अन्य स्थायी भावों को दबा सकता है। यह भी प्रश्न उठता है—तत्त्व-ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद को स्थायी भाव मानने पर तत्त्व-ज्ञान को विभाव मानना होगा। वैराग्य-कारण तत्त्व-ज्ञान में किस प्रकार विभावत्व होगा ? वैराग्य का उपाय होने के कारण, कारण के कारण के लिए भी विभाव का व्यवहार हो सकता है। यह सब अति प्रसंग अनावश्यक है। तथा यह निर्वेद सर्वत्र अनुपादेयता-ज्ञापक होने पर भी वैराग्य लक्षणारत तत्त्व-ज्ञान के प्रति उपयोगी होता है। विरक्त पुरुष उस प्रकार का यत्न करता है जिससे उसे तत्त्व-ज्ञान उत्पन्न होता है। तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष होता है। तत्त्व-ज्ञान से निर्वेद और निर्वेद से मोक्ष यह ठीक नहीं, क्यों कि वैराग्य से सब प्रकृतियाँ शान्त हो जाती हैं ऐसा आचार्यों का मत है।

तत्त्व-ज्ञानी को सर्वत्र अत्यधिक वैराग्य देखा गया है। जैसा कि योगदर्शनकार ने कहा है—'पुरुष को स्वरूप-ज्ञान के अनन्तर सर्वत्र वैराग्य हो जाता है'। ऐसा होने पर "इस प्रकार का ज्ञान वैराग्य की अन्तिम सीमा है" यह भगवान पतञ्जलि ने स्वयं कहा है। तो यह तत्त्व-ज्ञान ही तत्त्व-ज्ञान की परम्परा से पुष्ट किया जाता है इसलिए निर्वेद स्थायी भाव नहीं हो सकता अपितु तत्त्व-ज्ञान ही स्थायी रूप से होगा। जो कि व्यभिचारी की व्याख्या के अवसर में कहा जाएगा वह चिरकालीन भ्रान्ति और प्रपञ्च की उपादेयता की निवृत्ति के लिए साधन मात्र है। जैसे कि कहा है—

> "मुझ जैसे मूर्ख ने तुझ जैसे कृपण एवं अगुणज्ञ को प्रणाम किया—
> स्तन के भार से नत गौ समझकर बैल को व्यर्थ दुहा। लावण्यहीन
> नपुंसक को युवती समझ कर आलिङ्गन किया। सूर्य-किरणों से
> प्रकाशित काच के टुकड़ों में वैदूर्यमणि की आशा की।"

यह खेद-रूप निर्वेद विभाव है, यह हम वहीं कहेंगे। × × ×

शोक के प्रवाह को फैलाने वाली विशेष चित्त-वृत्ति का नाम ही निर्वेद है। रागादि का विनाश वैराग्य होता है।

यदि वैराग्य को ही निर्वेद मान लें तो भी उसके अपने कारण तत्त्व-ज्ञान के आधीन होने से बीच में होने पर भी साध्य मोक्ष में सूत्रस्थानीयता नहीं है। यह आचार्य द्वारा प्रतिपादित है। तत्त्व-ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद होता है इसलिए शम का ही निर्वेद नाम हो सकता है। शम और शान्त का पर्यायवाचित्व ह्रास और हास्य की भाँति व्याख्यात है। पहला सिद्ध है दूसरा साध्य है। अलौकिक रूप से साधारणत्व और असाधारणत्व के द्वारा शम और शान्त की विलक्षणता भी सहज ही है। इसलिए निर्वेद को स्थायी नहीं कह सकते हैं।

दूसरे यह मानते हैं कि रति आदि ही आठ विशेष चित्त-वृत्तियाँ कही हैं, वे ही कथित विभाव से पृथक् श्रुतादि अलौकिक विभाव विशेष के आधीन होती हुई विचित्र ही हैं। उन्हीं में से एक यहाँ स्थायी अपने स्वरूप से अवच्छिन्न स्वात्म-विषयक रति ही मोक्ष का साधन है। वही शास्त्र में स्थायिनी है। जैसा कि कहा है—

"जो मनुष्य अपने में लीन होकर अपने से ही तृप्त रहता हुआ अपने आप में सन्तुष्ट रहता है उसके लिए कोई कार्य शेष नहीं रहता है।" (गीता ३—१७)

इस प्रकार समस्त विषयों में विकार को देखने वाले, संसार को शोचनीय जानने वाले और सांसारिक वृत्तान्त को अपकारी समझने वाले, अत्यधिक मोह-रहित शक्ति का आश्रय लेने वाले, सब विषयों से पृथक्, सब लोकों से अभिलषित, स्त्रियों के प्रति जुगुप्सा धारण करने वाले, अपने पूर्व आत्मस्वरूप की प्राप्ति से विस्मित को मोक्ष की सिद्धि होती है, इसलिए रति, हास आदि से लेकर विस्मय पर्यन्त में एक को स्थायी समझना चाहिए। यह मुनि को अभिमत नहीं है ऐसी बात नहीं है। जिन विशिष्ट विभावों का परिगणन किया है उनमें [भरत मुनि ने] 'रत्यादि ग्रौत्स' शब्द से इस प्रकार के ग्रन्थों का भी ग्रहण किया है। तभी उनसे पृथक् अलौकिक हेतु से उपनत रत्यादि को मोक्ष का विषय माना है, इस प्रकार कहने वालों के परस्पर विचार में एक का स्थायित्व नष्ट हो जाता है। उपाय भेद से उन का स्थायित्व कथन खण्डित ही है। प्रत्येक पुरुष का स्थायी भाव भिन्न होने से रस की अनन्तता माननी पड़ेगी। यदि यह कहा जाय कि एकमात्र मोक्ष ही फल होने के कारण रस एक है, तो साथ ही एक मात्र फल होने पर वीर, रौद्र में भी एकता माननी पड़ेगी।

कुछ ऐसा कहते हैं कि पानक रस के समान एकत्व को प्राप्त हुए सब रत्यादि यहाँ स्थायी होते हैं। चित्त-वृत्तियों के एक साथ न होने के कारण तथा परस्पर विरोध होने के कारण भी शोभन नहीं। तो यहाँ स्थायी भाव क्या है? इसका उत्तर देते हैं—यहाँ तत्त्व-ज्ञान ही मोक्ष का साधन है अतएव उसी की मोक्ष में स्थायिता मानना

उचित है। तत्व-ज्ञान आत्म-ज्ञान को कहते हैं।　　×　　×　　×

परिकल्पित विषय और उपभोग से रहित, ज्ञान, आनन्द आदि विशुद्ध धर्म से युक्त आत्मा ही यहाँ स्थायी है। स्थायी भाव के रूप से इसकी स्थायिता खण्डनीय नहीं। भिन्न-भिन्न कारणों के उदय और नाश से उत्पन्न और निरुद्ध होने वाले अपेक्षाकृत कुछ काल तक स्थायी रूप से अपने स्वरूप में स्थित रहने वाले स्थायी कहलाते हैं। तत्त्व-ज्ञान तो अन्य सभी भावों का आधार है, सब स्थायी भावों में स्थायितम, सब रत्यादिक चित्त-वृत्तियों को व्यभिचारी रूप से प्रकट करता हुआ स्वभावतः स्थायी है यह निन्दनीय नहीं है। इसलिए इसका पृथक् परिगणन ठीक नहीं है। ········· तो फिर इस को पृथक् गणना क्यों नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि इसका आस्वाद भिन्न नहीं है।　　×　　×　　×

यह सम्पूर्ण लौकिक और अलौकिक चित्त-वृत्ति समूह तत्त्व-ज्ञान रूप स्थायी भाव का व्यभिचारी होता है। उसके प्रभाव हो यम नियम आदि से अनुकूल अनुभाव होते हैं।

×　　×　　×

अपनी आत्मा में ही कृतकृत्य, परोपकार-विषयक इच्छा के प्रयत्न-रूप दूसरे के लिए किया गया उद्योग उत्साह है जो दया का पर्यायवाची और अत्यधिक अन्तरंग है। अतएव इसकी व्यभिचारिता के कारण इसका कोई दयावीर-रूप से और दूसरे धर्मवीर-रूप से कथन करते हैं।

उत्साह दो प्रकार का है—अहंकार-विशिष्ट और अहंकार-रहित शान्त। विरोधी भाव को व्यभिचारी मानना भी अनुचित नहीं, जैसे रति आदि में निर्वेद आदि—

> "हरी घास की शय्या, पवित्र शिला का आसन, वृक्षों के नीचे निवास, पीने के लिए सुन्दर झरने का पानी, खाने के लिए कन्दमूल, साथी के रूप में मृग, इस प्रकार बिना किसी याचना के सब ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी एक ही दोष वन में है कि याचकों के दुर्लभ होने के कारण परोपकार-रहित जनों का जीवन व्यर्थ है।"

—इत्यादि में परोपकार करने में उत्साह का उत्कर्ष ही दृष्टिगोचर होता है। अन्यथा उत्साहहीन कोई भी दशा इच्छा एवं प्रयत्न के अभाव से पत्थर के समान प्रतीत होगी। जिससे ही परावर को जान लेने से अपनी आत्मा के उद्देश्य से कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता है इसलिए शान्त हृदय वालों का परोपकार के लिए शरीर सर्वस्व आदि का दान शान्त रस का विरोधी नहीं होता है।　×　×　×

वहाँ भी हमारा अभिमत तत्त्व-ज्ञान अवश्य मानना पड़ेगा। अन्यथा शरीर को ही आत्मा मानने वालों का सर्वस्व-भूत शरीर होने पर, धर्मादि को लक्ष्य में न रख कर देहत्याग असम्भव हो जायगा। युद्ध में भी शरीर त्याग के लिए उद्यम नहीं, अपितु दूसरे की पराजय को लक्ष्य में रख कर ही प्रवृत्ति होती है। भृगुपतन आदि में भी अन्य सुन्दर-तर शरीर प्राप्त करने की इच्छा ही प्रतीत होती है। तो स्वार्थ को लक्ष्य में न रख कर परोपकार के लिए जो जो देह-त्याग-पर्यन्त उपदेश, दान आदि कार्य किए जाते हैं वे आत्मा के तत्त्व-ज्ञान को न जानने वाले के लिए असम्भव हैं। 'वे ही तत्त्व-ज्ञानी हैं और सब आश्रमों में तत्त्व ज्ञानियों की मुक्ति है।' यह स्मृतियों में कहा है और श्रुति में भी। जैसा कि कहा है—

"देव पूजन में लगा हुआ, तत्त्व-ज्ञान को जानने वाला, अतिथियों की सेवा करने वाला, श्राद्ध कर द्रव्य दान करने वाला गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है।"

केवल परोपकार-रूप फल से युक्त पदार्थ से सम्बन्धित धर्मभाव के कारण, उसके उपयुक्त शरीर का प्रादुर्भाव बोधिसत्त्व आदि तत्त्व ज्ञानियों के विषय में भी देखा गया है। × × × ×

इसीलिए प्राचीन पुस्तकों में 'स्थायी भावों का रसत्व कहेंगे' इसके बाद 'शम-स्थायी भावात्मक शान्तरस होता है' इत्यादि शान्त का लक्षण कहा गया है। × × × इतिहास, पुराण, कोश आदि में भी नव रस ही कहे गए हैं। और सिद्धान्त शास्त्रों में भी। जैसा कि कहा है—

"आठों देवताओं के शृंगार आदि रस दिखलाने चाहिए और उनके मध्य में देवाधिदेव के शान्त रूप की कल्पना करनी चाहिए।'

उसके विभाव हैं—वैराग्य, संसार से भीरुता आदि। वह उन्हीं से उपनिबद्ध होकर ज्ञात होता है। मोक्ष, शास्त्र की चिन्ता आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, मति, स्मृति, धृति आदि व्यभिचारी भाव हैं। अतएव ईश्वरोपासना विषयक भक्ति और श्रद्धा, स्मृति, मति, धृति, उत्साह आदि में ही समाविष्ट होने के कारण अंग रूप ही है अत उनका पृथक् रस रूप से परिगणन नहीं है। इस विषय में संग्रह कारिका है—

"जिसका निमित्त मोक्ष और अध्यात्म है और जो तत्त्व ज्ञान विषयक हेतु से युक्त है तथा निःश्रेयस धर्म के सहित है, उसको शान्त रस जानना चाहिए।"

विभाव, स्थायी और अनुभावों का सम्बन्ध क्रमश तीन विशेषणों से दिख-लाया गया है।

"प्रत्येक भाव की अपने-अपने निमित्त को प्राप्त कर शान्त से ही प्रवृत्ति होती है। पुन निमित्त के विनष्ट होने पर शान्त में लीन हो जाता है।"

इत्यादि से अन्य रसों की प्रकृति का उपसंहार कर दिया। × × ×

इस प्रकार ये नवरस पुरुषार्थ के उपयोगी होने से अथवा रागाधिक्य से इतने ही वर्णित हैं। × × ×

३. अन्य रस

आर्द्रता स्थायी भाव वाला स्नेह रस होता है, यह ठीक नहीं है। स्नेह आसक्ति का नाम है। वह रति, उत्साह में ही अन्तर्भूत हो जाता है।

उसी प्रकार बालक का माता-पिता आदि के प्रति स्नेह (आदर) भय में शान्त होता है, युवकों का मित्रजन के प्रति स्नेह रति में, लक्ष्मण आदि का भाई के प्रति स्नेह धर्मवीर में हो। इसी प्रकार वृद्ध का पुत्र आदि के प्रति स्नेह भी द्रष्टव्य है। लालच स्थायी भाव वाले लोल्य रस के खण्डन में भी यही पद्धति मान्य है क्योंकि उसका पर्यवसान भी हास में, रति में अथवा अन्यत्र हो जाता है। भक्ति के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। (पृष्ठ ३३३-३४२)

अनुवादक : डा० उदयभानु सिंह,
श्री आर्येन्द्र शर्मा एम. ए.
श्री सत्यदेव चौधरी एम. ए.

अभिनवगुप्तः

[अभिनव-भारती]*

१. भरतसूत्रस्य व्याख्या

भट्टलोल्लटः

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्युः—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः, तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्, अपि तु भावानामेव। येऽनुभावाः व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना, तथापि वासनात्मतेह तस्य विवक्षिता। × × × तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी [भव]त्वनुपचितः। स चोभयोरपि मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्येऽनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलात्—इति। (पृष्ठ २७४)

शङ्कुकः

एतन्नेति श्रीशङ्कुकः। विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्तेर्भावानां पूर्वमभिधेयताप्रसङ्गात्, स्थितदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्, मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः, हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्तेः, कामावस्थासु दशस्वसङ्ख्यरसभावादिप्रसङ्गात्, शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात् मान्द्यदर्शनं क्रोधोत्साहरतीनाममर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च, तस्माद्धेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः, अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः। (पृष्ठ २७४)

---

* 'नाट्य-शास्त्रम्, अभिनवगुप्त विरचित-वृत्तिसमेतम्'। गायकवाड़ ओरिएण्टियल सीरीज बड़ोदा। जिल्द १, अध्याय ६

भट्टनायकः

भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्, न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात्, स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्, देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्, समुद्रलङ्घनादेरसाधारण्यात्। न च तद्वतो रामस्य स्मृतिरनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यस्तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता युक्ता प्रत्यक्षादिव, नायकयुगलकावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्त्यन्तरोदय॰। × × × उत्पत्तावपि तुल्यमेतद् दूषणम्। × × × तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण, × × × विभावादिसाधारणीकरणात्मनाभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो, रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुति विस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन पर भुज्यते इति। × × × (पृष्ठ २७८-२७६)

अभिनवगुप्त

ननु (न ? तु) यथा शङ्कुकादिभिरभ्यधीयत, "स्थाय्येव विभावादिप्रत्ययाग्यो रस्यमानत्वाद्रस उच्यते" इति॥ एवं हि लौकिकेऽपि किं न रस, अततोऽपि हि यत्र रसनीयता स्यात्तत्र वस्तुसत कथं न भविष्यति। तेन स्थायिप्रतीतिरनुमितिरूपा वाच्या, न रस। अत एव सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। केवलमौचित्यादेवमुच्यते स्थायी रसीभूत इति। × × × (पृष्ठ २८५)

पाकक्रमात् सम्यग्योजनया तावदलौकिको रसः जायते। तत्र च प्रधानत्वेन जलस्य रसाभिव्यञ्जकत्वमिति स्थायिस्थानीयं विभावस्थानीयं। विरुद्धाहरिद्रादयनुभावप्रायम्। द्रव्याणि तु गुडादि, तदीयचुक्रादिरसविलक्षणमधुरादियोगाद्व्यभिचारिकल्प स्यात्मनि तदुपजीवनेन न परत्र च स्वरससङ्क्रमणया वैचित्र्याधायकत्वात्। अत्र तु स्थायिस्वरूपस्तन्मिश्रणासमप्रभावी रसविशेषो विभावकल्पव्यञ्जनजनितो मन्तव्य॰। स हि लौकिक। अयन्तु कुशलैकनिव (थं ?) त्यसंस्तद्विदां रसनीयो भवति। तेनास्त्येतदध्याहारो न युक्त। यथा हि दार्ष्टान्तिकसूत्रे स्थायिग्रहणं शल्यकल्पमिति त्रयमेवोपात्तं तथा दृष्टान्तेऽपि त्रयस्यैवोपादानं युक्तम्।

यथा हि व्यञ्जनसंस्कृतेनास्वाद्यतंकायमनसि च भोक्तुर्यास्वादयितृता, अन्यचित्तस्य भुञ्जानस्याप्यास्वादाभिमानाभावात्, प्रहर्षाप्यायजीवनपुष्टिबलारोग्यादीनां चास्वादफलता, तथाभिनयव्यञ्जितेऽविच्छत्या स्थायिशब्दव्यपदेश्ये रसे आस्वाद्यता, एकाग्रे च सामाजिके तन्मयीभूत आस्वादयितृता, हर्षप्रधानानां धर्मादिव्युत्पत्तिवैरस्यादीनामास्वादफलत्वमिति

कर्मकर्तृफलसादृश्याद्विभावादिज प्रतीतिविशेषो रसनाक्रियेति व्यपदिष्ट इति तात्पर्यम् ।

× × × (पृष्ठ २८६-२६०)

अभिनयस्य महत्त्वम्

अन्ये तु काव्येऽपि गुणालङ्कारसौन्दर्यातिशयकृत रसचर्वणमाहु । वय तु ब्रूम — काव्य तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव । तत्र हृद्य चित्तवृत्तिकाकुर्नपथ्यप्रभृतिभि पूर्यते च रसवत्ता । ××× तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एव ससारोचितक्रोध मोहाभिलाषपरवशमनसो न भवन्ति । तेषा तथाविधदशरूपकाकर्णनसमये साधारणरस नात्मकचर्वणग्राह्यो रससचयो नाट्यलक्षणस्फुट एव । ये त्वतथाभूतास्तेषा प्रत्यक्षोचित तथाविधचर्वणा लाभाय नटादिप्रक्रिया, स्वगतक्रोधशोकादिसङ्कटहृदयग्रन्थिभञ्जनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता । × × × अन्ये त्वभिनयादिसामग्रीमय बहिर्दृश्यमान नाट्य नटधर्मकर्मरूपमित्याशयेन नाट्यपाठका इत्याहु । × × × ये तु रत्याद्यनुकरणरूप रसमाहु (ते) अत्र चोदयन्ति शोक कथ सुखहेतुरिति । परिहरन्ति च, अस्ति कोऽपि नाट्यगताना विशय इति । तत्र चोद्य तावदसत । शोको हि प्रतीयमान किं स्वात्मनि प्रत्येतुर्न स वितनोतीति नियम, अन्नुत्वे प्रहर्षति, मध्यत्र च मध्यस्थत्वात् । उत्तर तु भावाना वस्तुस्वभावमात्रेणेति न किञ्चिदेतत् ।

परमन्तो तु सवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते । तत्र का दुःखाशङ्का । केवल तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारस्तदुद्बोधने चाभिनयादिव्यापारः ।

× × × ×

न रसेभ्यो भावा, भावशब्दार्थपर्यालोचनया चैतदेवोपपन्नमिति श्लोकेनाह । नानाभिनयं सम्बन्धान् हृदयङ्गतान् भावयन्ति सम्पादयन्ति रसांस्तस्माद्भावा ।

× × × (पृष्ठ २६१ २६४)

२ शान्तोरस*

ये पुनर्नव रसा इति पठन्ति तन्मते शान्तस्वरूपमभिधीयते । तत्र केचिदाहु — शान्त शमस्थायिभावात्मकस्तपस्यायोगिसम्पर्कादिभि विभावैरुत्पद्यते । तस्य काम क्रोधाद्यभावरूपैरनुभावैरभिनय । व्यभिचारी धृतिमतिप्रभृति (इति) ।।

---

* शान्तरस विषयक निम्नलिखित पाठ गा० औ० सी० में प्रकाशित नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्त रचित वृत्ति से लिया गया है, पर अर्थ-सुकरता और पाठ-शुद्धता के लिए राघवन प्रणीत "नम्बर आफ रस'सृ'-सस्करण १९४० (पृष्ठ ६२-१०६) से भी सहायता ली गई है, और उसी के अनुसार पाठ में भी थोड़ा परिवर्तन कर दिया गया है । जिज्ञासु पाठक उक्त दोनों ग्रन्थ देख लें ।

एतदपरे न सहन्ते, शमशान्तयो पर्यायत्वाविवेकात् तत्त्वाशाङ्कुवा इति सङ्ख्यायोगात्। × × × तपोऽध्ययनादयस्तु न शान्तस्य, समनन्तरहेतव । तत्त्वज्ञानस्यानन्तरहेतव इति चेत्पूर्वोदिततत्त्वज्ञानेऽपि तर्हि प्रयोज्यतेति तपोऽध्ययनादीना विभावतायत्ता स्यात्। कामाद्यभावोऽपि मानुभाव, शान्तद्विपक्षादव्यावृत्ते अगमकत्वात्प्रयोगासमवायित्वाच्च। न हि चेष्टाद्युपरम प्रयोगयोग्य । सुप्तमोहादयोऽपि हि निःश्वासोच्छ्वासपतनभूगमनादिभिरेवचेष्टाभिरेवानुभाव्यन्ते। धृतिप्रभृतिरपि प्राप्तविषयोपराग कथ शान्ते स्यात। × × × तत्र शान्तो रस इति ॥

अत्रोच्यते—यथा इह तावद्धर्मादिवितयमेव मोक्षोऽपि पुरुषार्थ, शास्त्रेषु स्मृतीतिहासादिषु च प्राधान्येनोपायतो व्युत्पाद्यत इति सुप्रसिद्धम्। यथा च कामादिषु समुचिताश्चित्तवृत्तयो रत्यादिशब्दवाच्या कविनटव्यापारेणास्वादयोग्यताप्रापणद्वारेण तथाविधहृदयसंवादवत सामाजिकान्प्रति रसत्व शृङ्गारादितया नीयन्ते, तथा मोक्षाभिधानपरमपुरुषार्थोचिता चित्तवृत्ति किमिति रसत्व नानीयत इति वक्तव्यम्। या चासौ तथाभूता चित्तवृत्ति सैवात्र स्थायिभाव। एतत्तु चिन्त्यम्, कि नामासौ तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति केचित्। तथा हि—दारिद्र्यादिप्रभवो यो निर्वेदस्ततोऽन्य एव हेतोस्तत्त्वज्ञानस्य वैलक्षण्यात्। स्थायिसञ्चारिमध्ये चैतदयमेवात्र पठितोऽन्यथा माङ्गलिको मुनिस्तथा न पठेत्। × × × तत्त्वज्ञानजश्च निर्वेद स्थाय्यन्तरोपमर्दक । भाववैचित्र्यसहिष्णुभ्यो रत्यादिभ्यो य परमस्थायिनीत स एव हि स्थाय्यन्तराणामुपमर्दक । इदमपि पर्यनुयुज्यते—तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य [स्य] स्थायीति वदता तत्त्वज्ञानमेवात्र विभावत्वेनोक्त स्यात। वैराग्यबोधादिषु कथ विभावत्व, तदुपायत्वादिति चेत्कारणकारणेऽपि विभावताव्यवहार, स चातिप्रसङ्गावह । किञ्च निर्वेदो नाम सर्वत्रानुपादेयताप्रत्ययो वैराग्यलक्षणस्य च तत्त्वज्ञानस्य प्रत्युतोपयोगी। विरक्तो हि तथा प्रयतते यथाऽस्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते। तत्त्वज्ञानाद्धि मोक्षो, न तु तत्त्व ज्ञात्वा निर्विद्यते निर्वेदाच्च मोक्ष इति, वैराग्यात्प्रकृतिलय इति हि तत्र भवन्त ॥

ननु तत्त्वज्ञानिन सर्वत्र बृहतर वैराग्य दृष्टम्। तत्र भवद्भिरप्युक्त "ततपर पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्य" मिति। भवत्येवम्, "तादृग तु वैराग्य ज्ञानस्यैव पराकाष्ठे"ति भुजङ्गविभुर्नव भगवताऽप्यधायि। ततश्च तत्त्वज्ञानमेवेव तत्त्वज्ञानमालया परिपोष्यमाणमिति न निर्वेद स्थायी, किन्तु तत्त्वज्ञानमेव स्थायीति भवेत्। यत्तु व्यभिचारिव्याख्यानावसरे वक्ष्यते तच्चिरकालविभ्रमविप्रलब्धस्योपादेयत्वनिवृत्तये परसम्यग्ज्ञानम्। यथा—

"वृथा दुग्धोऽनड्वानिति स्तनभरनता गौरिति पर
परिष्वक्त. षण्डो युवतिरिति लावण्यरहित

कृता वदूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
मया मूढेन त्वां कृपणमगुणज्ञ प्रणमता" ॥ इति

तन्निर्वेदस्य खेदरूपस्य विभावत्वेनैतच्च तत्रैव वक्ष्याम ॥

× × ×

निर्वेदो हि शोकप्रवाहप्रसररूपश्चित्तवृत्तिविशेषः । वैराग्यं तु रागादीनां प्रध्वंसः । भवतु वा वैराग्यमेव निर्वेदः तथापि तस्य स्वकारणवशान्मध्यभाविनोऽपि न मोक्षे साक्षात् सूत्रस्थानीयता प्रत्यपादि आचार्येण । किञ्च तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति शमस्यैव निर्वेदनामकृतं स्यात् । शमशान्तयोः पर्यायत्वं तु हासहास्याभ्यां व्याख्यातं, सिद्धसाध्यतया, अथलौकिकत्वेन साधारणासाधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरपि सुलभमेव । तस्मान्न निर्वेदः स्थायीति ॥

अन्ये मन्यन्ते रत्यादय एवाष्टौ चित्तवृत्तिविशेषा उक्तास्त एव कथितविभावविविक्तश्रुतादलौकिकविभावविशेषसम्भवा विचित्रा एव तावत् । ततश्च तत्सम्भवादेवान्य तनोऽत्र स्थायी तत्रात्माहृतात्ममयस्वात्मविषया रतिरेव मोक्षसाधनमिति सैव शास्त्रे स्थायिनीति, यथोक्तम्—

"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥" इति (गीता ३–१७) ।

एवं समस्तविषयं वैकृतं पश्यतो विस्मयः च शोच्यं विलोकयतः सांसारिकं च वृत्तान्तमपकारित्वेन पश्यतः सातिशयमसम्मोहप्रधानं वीर्यमाश्रितवतः सर्वस्मादेव विषयसार्थाद्विभ्यतः सर्वलोकस्पृहणीयावपि प्रमदादेर्जुगुप्समानस्य पुंस्त्वात्मातिशयलाभाद्विस्मयमानस्य मोक्षसिद्धिरिति रतिहासादीनां विस्मयान्तानामन्यतमस्य स्थायित्वं निरूपणीयम् । न चैतन्मुनेर्न सम्मतम् । यावदेव हि विशिष्टान्विभावान्परिगणयति रत्यादिशब्देन च शब्देन च तत्प्रकारानेवाभ्यां गृह्णीते, तावदेव तद्व्यतिरिक्तालौकिकहेतूपगतानां रत्यादीनामनुज्ञानात्येवापवर्गविषयत्वम् । एववादिनां तु परस्परमेव विचारयतामेकस्य स्थायित्वं विशीर्यत एव । तदुपायभेदात्तस्य तस्य स्थायित्वमित्यप्युच्यमानं असमुक्तमेव । स्थायिभेदेन प्रतिपुरुषं रसस्याप्यानन्त्यापत्तेः । मोक्षैकफलत्वादेको रस इति चेत्, अर्थैकफलत्वे वीररौद्रयोरप्येकत्वं स्यात् ।

अन्ये तु पानकरसवदविभागं प्राप्ताः सर्व एव रत्यादयोऽत्र स्थायिन इत्याहुः । चित्तवृत्तीनामयुगपद्भावात्, अयोग्यः च विरोधादेतदपि न मनोज्ञम् । कस्तर्हि अत्र स्थायी । उच्यते—इह तत्त्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनमिति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता । तत्त्वज्ञानं च नामात्मज्ञानमेव । × × × आत्मैव

ज्ञानानन्दादिविशुद्धधर्मयोगी परिकल्पितविषयोपभोगरहितोऽत्र स्थायी । न चास्य स्थायितया स्थायित्वं वचनीयम् । रत्यादयो हि तत्तत्कारणान्तरोदयप्रलयोत्पद्यमाननिरुध्यमानवृत्तयः कञ्चित्कालमापेक्षिकतया स्थायिस्वात्मभित्तिसंश्रयात् स्थायिन इत्युच्यन्ते । तत्त्वज्ञानं तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीयं सर्वस्थायिभ्यः स्थायितमं सर्वान् रत्यादिकांश्चित्तवृत्तीर्व्यभिचारीभावयन्निसर्गत एव सिद्धस्थायिभावमिति तस्य वचनीयम् । अत एव पृथगस्य गणना न युक्ता । × × × अस्यापि कथं न पृथग्गणनेति चेत् पृथगास्वादायोगादिति ब्रूमहे । × × × तत्त्वज्ञानलक्षणस्य च स्थायिनः समस्तोऽयं लौकिकालौकिकचित्तवृत्तिकलापो व्यभिचारितामभ्येति । तदनुभावा एव च यमनियमाद्यनुकृता अनुभावाः । × × × स्वात्मनि च कृतकृत्यस्य परार्थघटनायामेवोद्यम इत्युत्साहोऽस्य परोपकारविषयेच्छाप्रयत्नरूपो दयापरपर्यायोऽभ्यधिकोऽन्तरङ्गः । अत एव एतद् व्यभिचारिबलात् केचिद्दयावीरत्वेन व्यपदिशन्ति, अन्ये धर्मवीरत्वेन ।

ननूत्साहोऽहङ्कारप्रायः शान्तस्त्वहङ्कारलोपित्वाद् द्वैविध्यात्मकः । व्यभिचारित्वं हि विरुद्धस्यापि नानुचितम्, रताविव निर्वेदादेः—

> शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः
> शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः ।
> इत्यप्रार्थितसर्वलभ्यविभवे दोषोऽयमेको वने
> दुष्प्रापार्थिनि यत्परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते" (नागा ४-२)

इत्यादौ हि परोपकारकरणे उत्साहस्यैव प्रकर्षो लक्ष्यते । न तूत्साहशून्या काचिदस्य अवस्था, इच्छाप्रयत्नव्यतिरेकेण पाषाणतापत्तेः, अत एव च परिपुष्टपरत्वेन स्वात्मोद्देशेन कर्तव्यान्तरमावशिष्यते । अत एव शान्तहृदयानां परोपकाराय शरीरसर्वस्वादिदानं न शान्तविरोधि । × × × अस्तत्त्वज्ञानित्वं तावदक्षममस्ति । अन्यथा देहात्ममानिनां देह एव सर्वस्वभूते धर्माद्यनुद्देशेन परार्थे त्यागस्यासम्भवात् । युद्धेऽपि हि न शरीरस्य त्यागमोद्यमः परपराजयोद्देशेनैव प्रवृत्तेः । भृगुपतनादावपि शुभतरदेहान्तरसम्पिपादयिषैवाधिक विजृम्भते । तत्स्वार्थानुद्देशेन परार्थसम्पत्त्यै यदुच्चेष्टितं देहत्यागपर्यन्तमुपदेशदानादि तत्तदलब्धात्मतत्त्वज्ञानानामसम्भाव्यमेवेति । 'तेऽपि तत्त्वज्ञानिनः, (तत्त्व) ज्ञानिनां सर्वेष्वाश्रमेषु मुक्ति" रिति स्मार्तेषु । श्रुतौ च, यथोक्तम्—

> "देवार्चनरतस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
> श्राद्धं कृत्वा ददद्द्रव्यं गृहस्थोऽपि हि मुच्यते" इति

केवल परार्थाभिसन्धिजाद्धर्मात्परोपकारात्मकफलत्वेनैवाभिसंहिताद् पुनरपि देहस्य तदुचितस्यैव प्रादुर्भावो बोधिसत्त्वादीनां, तत्त्वज्ञानिनामपि (दृष्टः) । × × × चिरन्तनपुस्तकेषु

स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम इत्यनन्तरं शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मक इत्यादि-शान्तलक्षणं पठ्यते । × × × इतिहासपुराणाभिधानकोशादौ च नव रसाः श्रूयन्ते श्रीमरसिद्धान्तशास्त्रेऽप्यपि । तथाप्योक्त—

'अष्टानामिह देवानां शृङ्गारादीन् प्रदर्शयेत् ।
मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत् ॥"

तस्य च वैराग्यसंसारभीरुतादयो विभावा । स हि तैरुपनिबद्धैर्विज्ञायते । मोक्षशास्त्र-चिन्तादयोऽनुभावा । निर्वेदमतिस्मृतिधृत्यादयो व्यभिचारिणः । अत एवेश्वरप्रणिधान-विषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेभ्योऽन्यथैवाङ्गमिति न तयोः पृथग् रसत्वेन गणनम् । अत्र सङ्ग्रहकारिका—

मोक्षाख्यात्मनिमित्तस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः ।
निःश्रेयसधर्मयुतः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥

विभावस्थाप्यनुभावयोश्च क्रमाद्वितीयसूत्रार्धेण वर्णितः ।

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥

इत्यादिना रसान्तरप्रकृतित्वमुपसंहृतम् । × × × एवं ते नव रसाः पुमर्थोपयोगित्वेन रसनाविषयेन वेयतामेवोपदेश्यत्वात् । × × ×

२ अन्ये रसा

आर्द्रतास्थायिक स्नेहो रस इति त्वसत् । स्नेहो ह्यभिषङ्गः । स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति । तथा हि बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः, यूनोर्मित्रजने रतौ, लक्ष्मणादेः भ्रातरि स्नेहः धर्मवीर एव । एवं वृद्धस्य पुत्रादावपि द्रष्टव्यम् । एवं गर्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने सर्वनिर्मन्तव्या, हासे वा रतौ वान्यत्र पर्यवसानात् । एवं भक्तावपि वाच्यमिति । (पृष्ठ ३३१-३४२)

राजशेखर

समय—सन् ८८०-९२० ई०

[ग्रन्थ—काव्य-मीमांसा]

१. काव्य की रचना और स्वरूप

अब काव्य की विवेचना आरम्भ करते हैं। भगवान श्रीकंठ—शिव ने इस काव्य-विद्या का सर्वप्रथम उपदेश परमेष्ठी, वैकुण्ठ आदि चौंसठ शिष्यों को किया था। उनमें से प्रथम शिष्य स्वयम्भू-ब्रह्मदेव ने इस विद्या का द्वितीय बार उपदेश अपनी इच्छा से उत्पन्न (अयोनिज) शिष्यों—ऋषियों को किया। इन शिष्यों में सरस्वती का पुत्र काव्य-पुरुष भी एक था, जगद्वन्द्य देवता भी जिसकी वन्दना करते थे। ब्रह्मदेव ने त्रिकालज्ञ और दिव्य-दृष्टि द्वारा भविष्य बातों को जानने वाले उस काव्य-पुरुष को भू, भुव और स्वर्ग-तीनों लोक-निवासिनी प्रजा में काव्य-विद्या के प्रचार के लिए आज्ञा दी। काव्य-पुरुष ने अठारह भागों में विभक्त काव्य-विद्या का उपदेश सब से प्रथम सहस्राक्ष आदि दिव्य (स्वर्गीय) स्नातकों को किया। उनमें से एक-एक शिष्य ने, अठारह भागों में विभक्त उस काव्य-विद्या के एक-एक भाग में विशेषता प्राप्त करके, अपने-अपने विषय पर पृथक्-पृथक् ग्रन्थ-रचना की।

सहस्राक्ष इन्द्र ने कवि-रहस्य नामक प्रथम अधिकरण (भाग) का निर्माण किया। इसी प्रकार उक्तिगर्भ ने उक्ति-विषयक ग्रन्थ का निर्माण किया। सुवर्णनाभ ने रीति-विषयक, प्रचेता ने अनुप्रास-सम्बन्धी, यम ने यमक-सम्बन्धी, चित्रांगद ने चित्रकाव्य-विषयक, शेष ने शब्द-श्लेष पर, पुलस्त्य ने वास्तव अर्थात् स्वभावोक्ति पर, औपकायन ने उपमालंकार के सम्बन्ध में, पाराशर ने अतिशयोक्ति के सम्बन्ध में, उतथ्य ने अर्थ-श्लेष पर, कुबेर ने शब्द और अर्थ-उभय अलंकारों के सम्बन्ध में, कामदेव ने विनोद-सम्बन्धी, भरत ने नाट्य-विषय पर, नन्दिकेश्वर ने रस-विषय पर, धिषण-बृहस्पति ने दोष पर, उपमन्यु ने गुणों के सम्बन्ध में और कुचमार ने औपनिषदिक विषयों पर स्वतन्त्र रूप से अपनी-अपनी ग्रन्थ रचना की।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों की ग्रन्थ-रचनाओं से काव्य-विद्या अनेक भागों में विभक्त होकर छिन्न-भिन्न-सी हो गयी। इसलिए अत्यावश्यक काव्य विद्या के सभी

विषयों को संक्षिप्त करके हमने अठारह अधिकरणों में काव्य-मीमांसा नामक ग्रन्थ की रचना की। उसका यह प्रथम अधिकरण या भाग प्रारम्भ किया जाता है, जिसका नाम कवि-रहस्य है। (पृ० ३-४)

× × ×

प्राचीन काल में पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से सरस्वती ने हिमालय पर्वत पर जाकर तपस्या प्रारम्भ की। उसकी तपश्चर्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने वरदान देते हुए कहा कि मैं तेरे लिए पुत्र उत्पन्न करता हूँ।

इस घटना के कुछ दिनों के पश्चात् सरस्वती ने पुत्र उत्पन्न किया। उस पुत्र ने उत्पन्न होते ही उठकर माता के चरणों का स्पर्श करते हुए छन्दोबद्ध भाषा में कहा—

हे माता! यह सारा वाङ्मय विश्व, जिसके द्वारा अर्थ-रूप में परिणत हो जाता है, वह (काव्य-पुरुष) मैं तुम्हारे चरणों की वन्दना करता हूँ।

इस प्रकार की छन्दोबद्ध वाणी अभी तक केवल वेदों में ही देखी गयी थी। उसी के समान भाषा-संस्कृत में भी छन्दोबद्ध वाणी को सुनकर सरस्वती अत्यन्त हर्षित हुई और उस नवजात शिशु को अंक में लेकर प्यार करते हुए बोली—"पुत्र! यद्यपि मैं समूचे वाङ्मय की माता हूँ, परन्तु तूने इस प्रकार की छन्दोबद्ध भाषा से आज मुझ पर भी विजय प्राप्त कर ली, यह अत्यन्त हर्ष की बात है। कहा जाता है कि पुत्र से पराजित होना द्वितीय पुत्र-जन्म के समान है। तुमसे पूर्वज विद्वानों ने गद्य की सृष्टि की है, पद्य की नहीं। इस छन्दोबद्ध वाणी के प्रथम आविष्कारक तुम ही हो। अतः तुम सचमुच प्रशंसनीय हो।

शब्द और अर्थ तेरे शरीर हैं। संस्कृत-भाषा मुख है। प्राकृत भाषाएँ तेरी भुजाएँ हैं। अपभ्रंश भाषा जघा है। पिशाच-भाषा चरण है और मिश्र-भाषाएँ वक्ष स्थल हैं। तू सम, प्रसन्न, मधुर, उदार और ओजस्वी है। (ये काव्य के गुण हैं)। तेरी वाणी उत्कृष्ट है। रस तेरी आत्मा है। छन्द तेरे रोम हैं। प्रश्नोत्तर, पहेली, समस्या आदि तेरे वाग्विनोद हैं और अनुप्रास, उपमा आदि तुझे अलङ्कृत करते हैं। भावी अर्थों को बताने वाली श्रुति (वेद) भी तेरी स्तुति करती है—

जिसके चार शृंग (सींग) हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं—ऐसे तीन प्रकार से बँधा हुआ और शब्द करता हुआ यह महादेव मर्त्यलोक में अवतीर्ण हुआ है। (पृ० १३-१४)

× × ×

काव्य-रचना के लिए विषय या अर्थ-प्राप्ति के प्रधानतः बारह स्रोत बताए गये हैं। वे ये हैं :—१. वेद, २. स्मृति (मनु आदि धर्म-शास्त्र) ३. इतिहास, ४. पुराण ५. प्रमाण-विद्या (मीमांसा और छः प्रकार का तर्क-शास्त्र), ६. राजसिद्धान्तत्रयी अर्थात् अर्थ-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र और काम-शास्त्र, ७ लोक (सांसारिक या व्यावहारिक वृत्त), ८. विरचना (अन्यान्य कवियों की रचनाएँ काव्य, नाटक, महाकाव्य आदि) और ९. प्रकीर्णक, (चौंसठ कलाएँ, आवश्यक आयुर्वेद, ज्योतिष, वृक्ष-शास्त्र, अश्व-गज-लक्षण आदि)। यह प्राचीन आचार्यों का मत है। यायावरीय राजशेखर का मत है कि इनमें चार और मिला कर सोलह काव्यार्थ-स्रोत हैं। वे चार हैं—१. उचित-संयोग, २. योक्तृ-संयोग, ३. उत्पाद्य-संयोग और ४. संयोग-विकार। इनका स्पष्टीकरण यथावसर आगे किया जायगा।

(पृ० ८५)

× × ×

काव्य-विद्या के विद्यार्थी को चाहिए, पहिले काव्योपयोगिनी विद्याओं और काव्य की उपविद्याओं का भली भाँति अध्ययन करके काव्य-रचना की ओर प्रवृत्ति करे। व्याकरण, कोष, छन्द और अलंकार—ये चार काव्योपयोगी मुख्य विद्याएँ हैं। चौंसठ कलाएँ काव्य की उपविद्याएँ हैं। इनके अतिरिक्त ये विषय काव्य के प्रधान जीवन-स्रोत हैं। जैसे उच्चस्तर के विषयों का सत्संग, देशों एवं विदेशों के समाचार, चतुर विद्वानों की सूक्तियाँ, सांसारिक व्यवहार, विद्वद्गोष्ठी और प्राचीन कवियों के प्रबन्धों का मनन। कहा भी है—

स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृति-दृढ़ता और उत्साह—कवित्व की ये आठ माताएँ हैं। (पृ० १२१)

× × ×

जो व्याकरण-शास्त्र से प्रकृति-प्रत्यय द्वारा सिद्ध किया जाता है, उसे शब्द कहते हैं और निरुक्त, निघण्टु, कोष, व्यवहार आदि से शब्द जिस वस्तु का संकेत करता है, वह उसका अभिधेय-अर्थ है। शब्द और अर्थ—दोनों मिलकर 'पद' कहे जाते हैं। (पृ० ५३)

× · × ×

गुणों और अलंकारों से युक्त वाक्य का नाम काव्य है। कुछ लोगों का मत

है कि काव्यों में असत्य-आलंकारिक बातों का उल्लेख रहता है। अतः यह उपदेश करने योग्य नहीं है। जैसे—

कवि, राजा के यश का वर्णन करते हुए कहता है कि राजन्! तुम्हारा यश पहले पृथ्वी पर चारों दिशाओं में फैला, परन्तु दिशाओं की दीवारों से टकरा कर जब अधिक मात्रा में एकत्रित हुआ तब क्षीर-समुद्र के मध्य में प्रविष्ट हुआ, समुद्र में प्रवेश करने पर भी न तो उसका शरीर गीला हुआ, न श्वास की रुकावट हुई और न आँखें ही बन्द हुईं। इस प्रकार समुद्र को श्वेत बनाकर भी जब उसके लिए स्थानाभाव से रहना असम्भव हो गया तब वह (यश) आकाश को भी धवल करने लगा। इस प्रकार तुम्हारे यश से तीनों लोकों के धवल हो जाने पर मृगनयनियों को आश्चर्य होता है।

इन श्लोकों में वर्णित यश का इस प्रकार दिग्भित्तियों से टकराना, समुद्र में गोता लगाना, आकाश को धवल करना और इससे मृगनयनियों का आश्चर्य करना सब असंगत और असत्य है।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण है—

राजा की सेना के सम्मर्द से तीनों लोकों में उथल-पुथल मच गई। विशाल सैन्य-भार से पृथ्वी दबने लगी और उसके दबाव से शेषनाग की भौंहें फटने लगीं, इस कारण शेषनाग ने दुःख से जो विषमय और उष्ण फुंकार किया, उससे पाताल का तालु गरम हो उठा। इधर पृथ्वी के ऊपर सेना के संघर्ष से बड़े-बड़े पर्वतों के शिखर टूट-टूट कर समुद्र में गिरने लगे और जलराशि उद्वेलित हो उठी। जब सेना की घनी धूल उड़कर स्वर्ग तक पहुँची तब उससे घबराकर देवांगनाएँ स्वर्ग की सीमा छोड़कर भवनों के भीतर जा घुसीं। इस प्रकार राजा के सैन्य-सम्मर्द से तीनों लोकों का दमन होने लगा।

इस श्लोक में वर्णित ये चाटुकारों की बातें सर्वथा असत्य और आलंकारिक हैं। कहा है—

काव्यों में कुछ बातें प्रत्यक्ष होती हैं, कुछ अप्रत्यक्ष। कुछ बातें वाचाल कवियों की कल्पना से प्रसूत होती हैं, कुछ बुढ़िया-पुराण की-सी गप्पें होती हैं। कुछ शास्त्रीय होती हैं और कुछ कवियों के काव्य-कौशल की होती हैं। अतः यह काव्य निरर्गल है। अन्य रत्नों के समान इस काव्य-रत्न का जन्म न तो समुद्र से है और न रोहण-पर्वत से।

राजशेखर का कथन है कि 'काव्य अतिशयोक्ति-पूर्ण होने तथा असत्य वर्णनामय होने से त्याज्य है, यह बात नहीं।' काव्यों में वर्णनीय व्यक्ति या विषय के प्रति जो अर्थवाद या अतिशयोक्ति की जाती है, वह असंगत या असत्य नहीं है। इस प्रकार के अर्थवाद-पूर्ण वर्णन तो वेदों में, शास्त्रों में और लोक में भी पाये जाते हैं। देखिए, ऐतरेय ब्राह्मण का एक उदाहरण—

हे तपस्विन्, चलने वाले व्यक्ति की जाँघें पुष्पवती-सुदृढ होती हैं, उसमें आत्मा की वृद्धि होती है और उसे आरोग्य रूप फल मिलता है, चलने वाले पुरुष के सभी पाप नष्ट होकर सो जाते हैं, अर्थात् चलने वाले को मार्ग में अनेक तीर्थों, देवताओं और महात्माओं के अनायास दर्शन होते हैं, जिससे उसके पाप नष्ट हो जाते हैं।

यहाँ भ्रमण की इतनी प्रशंसा या अर्थवाद असत्य है, परन्तु स्वार्थ-साधन के लिए वेद ने भी उसे अपनाया।

शास्त्रों में अर्थवाद का उदाहरण—

पृथ्वी पर सबसे अधिक पवित्र वस्तु जल है, जल से अधिक पवित्र मन्त्र हैं, उन मन्त्रों में भी ऋक्, यजुष् और साम के मन्त्र पवित्रतम हैं, महर्षिगण व्याकरण-शास्त्र को इन वेदत्रयी के मन्त्रों से भी अधिक पवित्र मानते हैं।

यहाँ व्याकरण-शास्त्र को वेदों से भी अधिक मानने का कारण उसकी आवश्यकता प्रदर्शन-मात्र है। वास्तव में वह वेदों से पवित्र नहीं है। इस प्रकार वर्णनीय विषय के प्रति अतिशयोक्ति का आश्रय काव्य के समान शास्त्रों ने भी लिया है।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण भगवान् पतंजलि का देखिए—

"व्याकरण-शास्त्र के जानने वाला जो विद्वान उचित समय पर शब्दों का यथार्थ रूप में प्रयोग करता है, वह वाणी के वास्तविक प्रयोग को जानने वाला विद्वान, परलोक में अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त करता है और जो वाणी के समुचित प्रयोग को जानने वाला अपशब्द—अशुद्ध शब्द—का प्रयोग करता है, वह दूषित होकर नरक में जाता है।

आगे भाष्यकार उसी को स्पष्ट करते हैं—

यहाँ प्रश्न होता है कि कौन दूषित होता है वाणी के प्रयोग को जानने वाला या मूर्ख? उत्तर—मूर्ख नहीं, वाणी के प्रयोग को जानने वाला ही दूषित होता है।

पुन प्रश्न—ऐसा क्यों ? वाणी के प्रयोग को जानने वाला ही क्यो दूषित होता है ? उत्तर—इसलिए कि जो शुद्ध शब्दो को जानता है, वह अशुद्ध शब्दो को भी जानता है। जैसे शुद्ध शब्द के ज्ञान से धर्म होता है उसी प्रकार अपशब्द के प्रयोग से अधर्म भी प्राप्त होगा। अथवा अधर्म अधिक मात्रा में प्राप्त होगा क्योंकि अपशब्द अधिक हैं और शुद्ध शब्द कम है। जैसे—गौ, यह शुद्ध शब्द है और इसके अनेक अपभ्रंश हैं—गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि। इसलिए अपशब्दो की अधिकता के कारण अधर्म अधिक प्राप्त होगा।

अथवा जो-जो वाग्योगविद् हैं, उन्हें ही अधर्म होता है और जो व्याकरण-शास्त्र को नहीं जानता, वह तो अज्ञान के कारण अपशब्दो का प्रयोग करेगा ही। अत (अज्ञान के कारण) उसे अधर्म नही कहा जा सकता। केवल अज्ञान को लेकर पीछा नही छुड़ाया जा सकता। क्योंकि अज्ञानवश ब्रह्म-हत्या, गो-हत्या, मद्य-पान आदि करने वाला मनुष्य भी पतित ही समझा जायगा, पाप से वह छूट नही सकता। अच्छा, जाने दो। इसका यह अर्थ करो कि जो वाग्योग को जानता है अर्थात् शुद्ध शब्दों का प्रयोग करता है वह परलोक में विजय प्राप्त करता है और जो नही जानता वह नरक में जाता है। अत व्याकरणाध्ययन के द्वारा शुद्ध शब्दो को जानना चाहिए।

प्रश्न होता है कि यह श्लोक कहाँ लिखा गया है जिस पर इतना विचार किया गया। उत्तर—यह भ्राज नामक श्लोक कात्यायन मुनि का है।

प्रश्न—क्यो भाई, धर्म और अधर्म के निर्णय में श्लोक भी प्रमाण हो सकते हैं ? यदि हाँ, तो इस श्लोक को भी प्रमाण मानो। जैसे—

"यदि पके हुए ग्रूलर के समान लाल रग वाली सुरा से भरी हुई ये बोतलें स्वर्ग में पहुँचाने में असमर्थ हैं, तो क्या सौत्रामणि-यज्ञ में एक पात्र प्रमाण पिया हुआ स्वल्प-सम मद्य स्वर्ग में पहुँचा सकेगा ? अर्थात् यदि सौत्रामणि यज्ञ में एक प्याला दूध पीने से ही स्वर्ग मिल जाता है, तो क्यों न मद्य-शाला में जाकर भर पेट मद्य-पान कर लें।

इस पर आचार्य गोनर्दीय-पतजलि उत्तर देते हैं कि यह श्लोक किसी पागल का प्रलाप है। यदि किसी प्रामाणिक व्यक्ति का बनाया हुआ श्लोक हो तो उसे धर्म-विषय में प्रमाण माना जा सकता है।"

ऊपर कहे गये भगवान् पतजलि के लम्बे वक्तव्य का तात्पर्य लोक-रुचि को व्याकरण शास्त्र की ओर प्रवृत्त करना है। इसलिए उन्होंने उसके विषय में इतने अर्थ-वाद या अतिशयोक्ति का आश्रय लिया है।

लौकिक मर्थवाद का उदाहरण—

हे राजन् ! तुम्हारे गुण और अनुराग से मिले हुए यश ने चारों ओर फैलते हुए दिशारूपी वधुओं के ललाटों पर आधा कुंकुम-तिलक लगा दिया। गुणों का रंग श्वेत है और अनुराग का लाल, इसलिए आधा तिलक हुआ।

इस उदाहरण में राजा का शौर्य प्रसिद्ध करने के लिए यह अर्थवाद किया गया है।

कुछ लोगों का मत है कि काव्य असत्-मार्ग का उपदेश करते हैं। लोक में सन्मार्ग का उपदेश उचित है। अतः काव्य अग्राह्य या त्याज्य है। उनका उपदेश न करना चाहिए। उदाहरण जैसे—

पातिव्रत्य से जीवन निर्वाह करने की प्रतिज्ञा करने वाली पुत्री के प्रति वेश्या माता उपदेश करती है—पुत्रि, हम वेश्याओं की विवाह-विधि यह है कि लड़कपन में लड़को को, यौवनावस्था में युवकों को और इस वृद्धावस्था में भी बूढ़ों को चाहती हैं—यह वेश्या-धर्म है। तुमने यह क्या अमार्ग से जीवन व्यतीत करने की सोच ली? हमारे कुल में पातिव्रत्य का कलंक कभी नहीं लगा, जिसे आज तुम लगाने जा रही हो।

यहाँ पर पवित्र परिणय-विधि या पातिव्रत्य की जो दुर्दशा की गई है, वह संस्कृति-विरुद्ध होने के कारण त्याज्य है। काव्य ऐसी ही अमर्यादित शिक्षाएँ देता है। अतः सर्वथा हेय है।

यायावरीय राजशेखर कहते हैं—'यह उपदेश है, किन्तु निषेध-रूप से, विधि रूप से नहीं। वेश्या-गामियों को वेश्याओं के ऐसे कुत्सित-चरित्र का ज्ञान हो, वे उन्हें पतिव्रता समझने की भूल न करें। दूसरे ऐसे चरित्रों से स्त्रियों की रक्षा की जाय—यह कवि का भाव है। इसी प्रकार सांसारिक व्यवहार कवियों के वचनों पर आधारित हैं। कवियों के आदेशानुसार किये गए लोक-व्यवहार मानव के लिए कल्याणकारी होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

जब तक पृथ्वी पर विशुद्ध काव्यमयी वाणी का प्रचार रहता है, तब तक कवि सारस्वत लोक (सरस्वती के लोक) में स्थान पाता और आनन्द प्राप्त करता है।

प्राचीन राजाओं के प्रभावशाली चरित्र देवताओं की प्रभुत्व-लीला और ऋषियों

एव तपस्वियो के अलौकिक प्रभाव—ये सभी कुछ कवियो की वेद-वाणी से प्रसूत और प्रसिद्ध हुए हैं। पुन

कवियों के कारण ही राजाओं की प्रसिद्धि हुई और राजाओ का आश्रय मिलने के कारण कवि-गण प्रसिद्ध हुए। अत राजाओ के सिवा कवियों का उपकार करने वाला दूसरा नही और कवियो के सिवा राजा का भी दूसरा सहायक नही।

जिस सारस्वत मार्ग (काव्य-रचना-प्रणाली) के प्रथम प्रवर्तक प्राचीन मुनि वाल्मीकि और महर्षि व्यास हैं वह अनिन्दनीय सारस्वत-मार्ग किसके लिए वन्दनीय नही है ? अर्थात् सभी के लिए आदरणीय है।

कुछ लोगो का कथन है कि काव्य में अश्लील अर्थ रहता है, वह असभ्य बातों को बतलाता है। अत उसका ग्रहण न करना चाहिए। जैसे,

अश्लीलता का उदाहरण—

यह विपरीत-सुरत वर्णन है—विपरीत रति क्रिया के कारण होने वाला कनक काची का कमनीय कलकल शब्द, पतियो पर तरुण रमणियों की प्रगल्भता-धृष्टता का परिचय देता है। अर्थात् रति-समय में कामावेश से उन्मत्त होकर प्रमदाएँ पतियो के ऊपर आ गई है, अत उनके कटि-सचालन से कमर में बँधी हुई सोने की करधनियो के घुँघुरू बजने लगे, जघाओं के सचालन से होने वाली काची की यह घनी झनझनाहट शयनागार की खिडकियों से बाहर निकल कर शून्य और नीरव आकाश में चारो ओर सुन पडती थी।

दूसरा उदाहरण—

हे मित्र ! वे युवतियाँ तुमसे सदा प्रेम रखें, जिनके कपोलस्थल कर्णफूलों के निरन्तर हिलने से लाल हो रहे हैं और जो नितम्ब भाग पर पडी हुई रत्न-मण्डित सुन्दर काचियों को कामावेश में आकर निरन्तर नचाया करती है। अर्थात् विपरीत रति में स्त्रियो के ऊपर होकर शरीर-सचालन करने के कारण कानो के झुमके कोमल कपोलो से रगड खाकर उन्हें लाल कर देते है और नितम्ब में पडी हुई रत्नकाची नृत्य करती हुई मधुर शब्द करती है।

उक्त दोनो उदाहरणो में विपरीत-रति का वर्णन अत्यन्त अश्लील होने के कारण असभ्य अर्थ का प्रदर्शक है। अत ऐसे असभ्य वर्णनों के कारण काव्य हेय है।

यायावरीय राजशेखर का मत है कि प्रसंग आने पर ऐसे वर्णन करने पड़ते हैं और यह उचित भी है। ऐसे अश्लील अर्थों का उल्लेख वेदों और शास्त्रों में भी पाया जाता है। इसका उदाहरण यजुर्वेद में देखिए—

योनि-रूपी ऊखल और शिश्न-रूपी मूसल—इन्हीं दोनों का नाम मिथुन है, इस मिथुन से प्रजनन (सन्तानोत्पत्ति) होता है।

ऋग्वेद में भी ऐसा उदाहरण देखिए—

बृहस्पति की पुत्री रोमशा ने अपने पति का जब मैथुन के लिए आह्वान किया तब उसके छोटे और रोम-रहित अंगों को देखकर उसका पति हँस दिया, इस पर वह कहती है—हे स्वामिन्! मेरे पास आकर मेरा आलिंगन करो अर्थात् मुझे भोग के योग्य समझो। मेरे शरीर के रोमों को छोटा न समझो, मैं सम्पूर्ण शरीर से रोम वाली हूँ, या रोमवाली में पूर्णांगी हूँ। मैं उसी प्रकार रोमशा हूँ, जिस प्रकार गान्धार देश की भेडें होती हैं। यहाँ भावार्थ यह है कि 'अजात-लोमा स्त्री से सम्पर्क न करें'—इस शास्त्रीय आज्ञा से भय न करो, मैं सर्वांग से रोमवाली हूँ, अतएव भोग-योग्य हूँ।

शास्त्र में अश्लील अर्थ के वर्णन का उदाहरण—

जिस स्त्री के नेत्र प्रसन्न (स्वच्छ), धवल (श्वेत) और लम्बी पलकों वाले होते हैं, उसका स्मर-मन्दिर (प्रजननेन्द्रिय) तुरन्त निकाले हुए मक्खन के समान कोमल होता है।

तात्पर्य यह है कि प्रसंगवश (आवश्यकता आ जाने पर) ऐसे अश्लील अर्थों का वर्णन काव्यों में ही नहीं, वेदों और शास्त्रों में भी किया गया है। अतः इस कारण ये हेय नहीं हो सकते।

इस प्रकार इस अध्याय में पद और वाक्य का कुछ विवेचन किया गया है, अब अगले अध्याय में वाक्य के अन्यान्य भेदों का ज्ञान कराना चाहिए। (६१-६९)

२. कवि-प्रतिभा और आलोचक

बुद्धि तीन प्रकार की होती है—स्मृति, मति और प्रज्ञा। पिछले अनुभूत विषयों का स्मरण रखने वाली बुद्धि स्मृति कहलाती है। वर्तमान विषयों का मनन

करने वाली बुद्धि का नाम मति और भविष्य-दर्शिनी या दीर्घ-दर्शिनी बुद्धि का नाम प्रज्ञा है। तीनों प्रकार की बुद्धि कवि के लिए उपकारक और आवश्यक है।

(पृष्ठ २४)

× × ×

श्यामदेव का मत है कि कवि को कविता करने में समाधि की परम आवश्यकता है। समाधि का अर्थ मन की एकाग्रता है। एकाग्र चित्त व्यक्ति विविध सूक्ष्म विषयों का चिन्तन कर सकता है। कहा है—

सरस्वती का रहस्य (काव्य-निर्माण) महान् गम्भीर और अवर्णनीय है। वह अत्यन्त निपुण विद्वानों के ज्ञान का विषय है, उसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय है—ज्ञान-पूर्ण मन की समाधि अर्थात् एकाग्रता।

मंगल नामक विद्वान का मत है कि 'काव्य-निर्माण के लिए अभ्यास ही प्रधान कारण है।' निरन्तर अनुशीलन का नाम अभ्यास है। अभ्यास सभी विषयों के लिए आवश्यक है और उसके द्वारा उत्कृष्टतम कुशलता प्राप्त होती है। वास्तव में समाधि या एकाग्रता आन्तरिक प्रयत्न है और अभ्यास बाह्य। समाधि और अभ्यास ये दोनों कवित्व-शक्ति को उत्पन्न करते हैं। 'वह शक्ति ही काव्य निर्माण में प्रधान कारण होती है'—यह मत राजशेखर का है।

शक्ति, प्रतिभा और व्युत्पत्ति से भिन्न (पृथक्) वस्तु है। वास्तव शक्ति कर्तृ-रूप है और प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति कर्म-रूप। शक्तिवाले में प्रतिभा उत्पन्न होती है और शक्ति-सम्पन्न ही व्युत्पन्न होता है। प्रतिभा, शब्दों के समूह को, अर्थों के समुदाय को, अलकारों एवं सुन्दर उक्तियों को तथा अन्यान्य काव्य-सामग्री को हृदय के भीतर प्रतिभासित करती है। जिसमें प्रतिभा नहीं है, उसके लिए प्रत्यक्ष दीखते हुए भी अनेक पदार्थ परोक्ष से मालूम होते हैं और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के लिए अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं। (पृष्ठ २६–२७)

× × ×

प्रतिभा दो प्रकार की होती है—१ कारयित्री और २ भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि की उपकारक होती है। वह तीन प्रकार की है —१ सहजा, २ आहार्या और ३. औपदेशिकी। पूर्व जन्म के संस्कारों से प्राप्त जन्म-जात प्रतिभा सहजा, जन्म और शास्त्रों एवं काव्यों के अभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा आहार्या तथा

मन्त्र, तन्त्र, देवता, गुरु आदि के वरदान या उपदेश से प्राप्त प्रतिभा औपदेशिकी कही जाती है। सहजा-कारयित्री प्रतिभा जन्मजात होने के कारण इस जन्म के अल्प संस्कार से ही उद्बुद्ध हो जाती है। आहार्या कारयित्री प्रतिभा के लिए अधिक संस्कार या अभ्यास की आवश्यकता होती है। औपदेशिकी प्रतिभा इस जन्म के उपदेश, वरदान आदि से प्राप्त होती है। इसका उपदेश और संस्कार इस जन्म में ही होता है, जन्मान्तर से कोई सम्बन्ध नहीं।

इस प्रकार ऊपर कही हुई तीन प्रकार की कारयित्री प्रतिभा से सम्पन्न कवि भी क्रमशः तीन प्रकार के होते हैं, जैसे—१ सारस्वत, २. आभ्यासिक और ३ औपदेशिक।

जिसकी सरस्वती जन्मान्तरीय संस्कारों से प्रवृत्त होती है, उस स्वाभाविक बुद्धिमान कवि का नाम सारस्वत है। इस जन्म के अभ्यास से जिसकी सरस्वती उन्मिषित होती है, उस शास्त्राभ्यास-जन्य बुद्धि वाले कवि को आभ्यासिक कहा जाता है। मन्द-बुद्धि होने पर भी मन्त्रोपदेश अनुष्ठान आदि से वाणी का वैभव प्रदर्शित करने वाला कवि औपदेशिक कहा जाता है।

'सारस्वत और आभ्यासिक इन दोनों कवियों को तन्त्र, मन्त्र आदि के अनुष्ठान की आवश्यकता उसी प्रकार नहीं होती जिस प्रकार स्वभाव से ही मधुर द्राक्षा को मीठी चासनी में पकाने की आवश्यकता नहीं रहती'—ऐसा आचार्यों का मत है। यायावरीय राजशेखर का मत इससे कुछ भिन्न है। उनका कहना है कि 'द्राक्षा को चासनी से संस्कृत करना हानिकारक नहीं, एक कार्य के लिए दो उपाय किए जायँ तो उसका फल भी दूना होता है।' श्यामदेव के मत में 'तीसरे से दूसरा और उससे भी पहला कवि श्रेष्ठ है।' क्योंकि—

सारस्वत कवि, स्वतन्त्रता के साथ निरर्गल रचना करता है, आभ्यासिक कवि एक सीमित रूप से काव्य-निर्माण करता है और औपदेशिक कवि, सुन्दर किन्तु सारहीन रचना करता है।

यायावरीय राजशेखर का कथन है कि 'जितना भी अधिक उत्कर्ष प्राप्त किया जाय, अच्छा है, उत्कर्ष की प्राप्ति अनेक गुणों के एकत्र होने से ही होती है'। कहा भी है—

बुद्धिमत्ता, काव्य एवं उसकी अंगभूत विद्याओं में अभ्यास और साथ ही दैवी शक्ति—ये तीनों एक साथ दुर्लभ होते हैं।

काव्य और काव्यांग विद्याओं में निष्णात, बुद्धिमान और मन्त्र, अनुष्ठान आदि में श्रद्धा रखने वाले कवि के लिए कविराजता दूर नहीं है अर्थात् वह कविराज कहा जा सकता है या इस उपाधि से अलङ्कृत हो सकता है।

कवियों में कुछ तारतम्य अवश्य होता है। जैसा कि कहा गया है—

कुछ कवि ऐसे होते हैं जिनकी रचना अपने घर की चहारदीवारी के भीतर ही विचरण करती रह जाती है, कुछ कवियों की रचनाएँ उनके मित्रों के भवनों तक पहुँच जाती हैं और कुछ कवि ऐसे होते हैं, जिनकी रचना सभी के मुख पर पदन्यास करती हुई विश्व-भ्रमण की इच्छा पूर्ण करती है। अर्थात् उनकी रचना के पद पठित तथा अपठित सभी के मुख पर स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार कवि से सम्बन्ध रखने वाली कारयित्री प्रतिभा का विवेचन किया गया। अब समालोचक से सम्बद्ध भावयित्री प्रतिभा का विवेचन किया जाता है।

भावयित्री प्रतिभा भावक या आलोचक का उपकार करती है, अतः उसका नाम भावयित्री है। यह प्रतिभा कवि की कविता लता को सफल बनाती है। इसके बिना कविता निष्फल रह जाती है। प्राचीन आचार्य कहते हैं कि कवि और भावक (आलोचक) में भेद नहीं है क्योंकि दोनों ही कवि हैं।' कहा भी है—

प्रतिभा के तारतम्य से संसार में विविध प्रकार की प्रतिष्ठा होती है। भावक कवि प्रायः प्रथम दशा को प्राप्त नहीं होते।

कालिदास का मत इससे भिन्न है। उनके मत में कवित्व से भावकत्व पृथक् है अर्थात् कवि और सहृदय या आलोचक एक दूसरे से भिन्न हैं। इनमें एक का विषय शब्द-रचना है और दूसरे का विषय-रसास्वादन। जैसा कि कहा गया है—

कोई तो वाणी की रचना (कविता) करने में निपुण है और कोई उसके सुनने में ही प्रवीण है। तुम्हारी दोनों प्रकार की बुद्धि आश्चर्य-जनक है। एक में अनेक गुणों का समन्वय कठिन है। एक पत्थर (शालग्राम की शिला आदि) सुवर्ण उत्पन्न करता है, और दूसरा पत्थर (कसौटी) उसकी परीक्षा करता है।

जैन महाकवि मंगल के मत में भावक या आलोचक दो प्रकार के होते हैं — १ अरोचकी २ सतृणाभ्यवहारी। वामन के मत में कवि भी अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी दो प्रकार के होते हैं। यायावरीय का मत में ये भावक चार प्रकार के होते

है :—१. अरोचकी और २ सतृणाभ्यवहारी, ३ मत्सरी और ४. तत्त्वाभिनिवेशी। वामन के मतानुयायियों का कहना है कि इनमें अरोचकी और विवेकी, ये दो विवेकी हैं और सतृणाभ्यवहारी तथा अविवेकी, ये दो अविवेकी हैं।

अरोचकी समालोचक वे होते हैं, जिन्हें किसी की अच्छी-से-अच्छी रचना भी नहीं जँचती। सतृणाभ्यवहारी आलोचक वे होते हैं, जो भली-बुरी सभी प्रकार की रचनाओं पर 'वाह वाह' कर उठते हैं। मत्सरी वे होते हैं, जो ईर्ष्यावश किसी रचना को पसन्द नहीं करते और कुछ-न-कुछ दोष-दर्शन कराने की चेष्टा करते रहते हैं तथा तत्त्वाभिनिवेशी वे हैं, जो निष्पक्ष और सच्चे समालोचक होते हैं।

"अरोचकी आलोचकों की अरोचकता दो प्रकार की होती है—एक स्वाभाविकी और दूसरी ज्ञानयोनि। स्वाभाविकी अरोचकता सैकड़ों संस्कारों से भी दूर नहीं हो सकती। जिस प्रकार कि रांगे के कितनी ही बार औषधियों द्वारा संस्कार किये जाने पर भी उसकी कालिमा नहीं मिटती। यदि अरोचकता ज्ञान-जन्य अर्थात् समझ-बूझ कर है तो किसी अलौकिक एवं विशिष्ट काव्य-रचना पर रोचकता उत्पन्न हो जाती है।"—यह मत यायावरीय राजशेखर का है।

सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारण है। ऐसे आलोचक या भावक नये होते हैं और कुतूहलवश सर्वत्र सभी रचनाओं पर कुछ कह बैठते हैं। विवेक-रहित प्रतिभा गुणों और दोषों का विवेचन नहीं कर सकती। ऐसे आलोचक रचना में से बहुत कुछ ले लेते हैं और बहुत-कुछ छोड़ देते हैं। बुद्धि अपने विवेक के अनुसार ही संग्रह करती है। परिणाम में वास्तविकता को देखना चाहिए। अविवेक का भंग (नष्ट) होना ही कल्याणकारी होता है।

मत्सरी आलोचक, देखते हुए भी आँखें मूँद लेते हैं, क्योंकि वे दूसरों के गुणों का वर्णन करने में मौन रहना चाहते हैं। मात्सर्य-रहित और गुणज्ञ आलोचक विरले ही होते हैं। (पृष्ठ २९-३३)

× × ×

कुछ आलोचक वाणी द्वारा अपने भाव प्रकट करते हैं, कुछ हृदय द्वारा एव कुछ मानसिक और शारीरिक चेष्टाओं द्वारा उन्हें व्यक्त करते हैं।

(पृष्ठ ३५)

३ प्रतिभा और व्युत्पत्ति

"व्युत्पत्ति का अर्थ बहुज्ञता है"—ऐसा प्राचीन आचार्यों का मत है। अर्थात् शास्त्र, लोक-व्यवहार एवं प्रकृति-परिचय आदि का अधिक से अधिक ज्ञान ही व्युत्पत्ति है। कारण यह कि कवि की वाणी चारों ओर प्रवाहित होती है। उसके लिए सब कुछ वर्णनीय है। अत उसे विविध ज्ञान की आवश्यकता है। किसी ने कहा भी है कि —

अनभ्यस्त विषय का वर्णन करने में भी किसी की वाणी किसी प्रकार भी प्रगति नहीं कर सकती। कवित्व वही है कि ज्ञात एवं अज्ञात सभी विषयों में वाणी का निर्बाध रूप से प्रसार हो।

तात्पर्य यह है कि बहुज्ञता होने पर ही बहुविषय-वर्णन-समर्थता प्राप्त हो सकती है। क्योंकि काव्य में विविध विषयों का वर्णन करना पड़ता है, जो बहुज्ञता के बिना सम्भव नहीं। अत अधिक-से अधिक बहुज्ञता का नाम ही व्युत्पत्ति है।

यायावरीय राजशेखर का मत है कि 'उचित और अनुचित की विवेचना करना ही व्युत्पत्ति है।' आचार्य आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति इन दोनों में प्रतिभा उत्तम है।' कारण यह है कि वह प्रतिभा कवि की अव्युत्पत्ति को आच्छादित कर देती है। अर्थात् कवि प्रखर-प्रतिभा प्रकर्ष से अपनी अज्ञता को छिपा लेता है, प्रकट नहीं होने देता। जैसा कि कहा है—

कवि अपनी शक्ति से अव्युत्पत्तिजन्य अज्ञानता को छिपा सकता है, परन्तु कवि की असमर्थता के कारण होने वाले दोष नहीं छिपते। उसे भावक (समालोचक) तुरन्त समझ लेते हैं। (पृष्ठ १७-१८)

× × ×

मंगल नामक आचार्य कहते हैं कि 'प्रतिभा से व्युत्पत्ति उत्कृष्ट है', क्योंकि व्युत्पत्ति के बल से कवि अपनी असमर्थता के कारण होने वाले दोषों को छिपा लेता है। जैसे कि कहा गया है—

काव्य रचना में व्युत्पत्ति-बल से कवि की असमर्थता छिप जाती है। श्रोता या आलोचक कवि की अलौकिक कल्पना या भाव की ओर आकृष्ट हो जाते हैं और उस कवि की शब्द एवं अर्थ-योजना पर ध्यान नहीं देते।

(पृष्ठ १८)

× × ×

यायावरीय राजशेखर का मत है कि 'प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों संयुक्त रूप से काव्य-रचना में उपकारिणी होती हैं। जैसे, लावण्य के बिना सुन्दर रूप फीका प्रतीत होता है और रूप-सम्पत्ति के बिना लावण्य भी अधिक आकर्षक नहीं होता।

(पृष्ठ ३९)

× × ×

अतः यह सिद्ध हुआ कि कवि को प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों की समान रूप से आवश्यकता है। इन दोनों से युक्त कवि ही कवि है।

कवि तीन प्रकार के होते हैं—शास्त्र-कवि, काव्य-कवि और उभय-कवि अर्थात् शास्त्र और काव्य दोनों में प्रवीण कवि।

श्यामदेव कहते हैं—'इन तीनों में उत्तर-उत्तर कवि श्रेष्ठ है।' अर्थात् शास्त्र-कवि से काव्य-कवि और उससे भी उभय-कवि श्रेष्ठ है।

राजशेखर कहते हैं—'नहीं, अपने-अपने विषय में सभी श्रेष्ठ हैं। राजहंस चन्द्रिका-पान नहीं कर सकता और चकोर नीर-क्षीर-विवेक में असमर्थ है। अर्थात् अपने-अपने विषय में दोनों ही श्रेष्ठ कलाविद् हैं। इसी प्रकार शास्त्र-कवि शास्त्रीय गम्भीरता के कारण उत्तम रस, ध्वनि आदि के द्वारा काव्य में रस-सम्पत्ति की शोभा बढ़ाता है और काव्य-कवि, तर्क-कर्कश शास्त्रीय जटिल विषयों को अपनी सुकुमार कला-कृति से सरस एवं सुन्दर बना देता है। उभय-कवि दोनों विषयों में सिद्ध-हस्त होने के कारण वास्तव में दोनों से श्रेष्ठ है। अतः शास्त्र-कवि और काव्य-कवि दोनों परस्पर समान स्थान प्राप्त करते हैं।

इसे हम मानते हैं कि काव्य और शास्त्र का परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव है। अर्थात् शास्त्र के द्वारा काव्य का उपकार-साधन होता है और काव्य के द्वारा शास्त्र का। कवि यदि शास्त्रों का भी विद्वान् हो तो उसकी रचना अधिक गम्भीर, सरस और उच्च कोटि की होती है। केवल शास्त्र का विद्वान् कविता का विरोधी है। उसकी कविता अरोचक और नीरस होती है। इसी प्रकार काव्य का ज्ञान सरलता-पूर्वक शास्त्रीय वाक्यों का पोषण करने में सहायक होता है। केवल काव्य-ज्ञान में शास्त्रीय गाम्भीर्य का अभाव रहता है।

शास्त्र-कवि तीन प्रकार के होते हैं—१. शास्त्र का निर्माण करने वाला, २ शास्त्र में काव्य का निवेश करने वाला और ३ काव्य में शास्त्रीय अर्थों का निवेश करने वाला।

काव्य-कवि आठ प्रकार के होते हैं १ रचना-कवि, २ शब्द-कवि, ३. अर्थ-कवि, ४ अलंकार-कवि, ५ उक्ति-कवि, ६ रस-कवि, ७ मार्ग-कवि और ८ शास्त्रार्थ-कवि। इनके उदाहरण क्रमशः नीचे दिए जाते हैं। रचना-कवि के अग्रिम उदाहरण में केवल शब्दों की रचना-छटा सुनने और पढ़ने में सुन्दर प्रतीत होती है, परन्तु अर्थ में कुछ भी गाम्भीर्य नहीं है। जैसे—

राजा ने समुद्र के वेला-तट को पार कर जिन पर्वतों की तलहटी के ऊंचे उठे हुए पिंड खजूर के वृक्षों की वायु से चंचल एवं विशाल सरोवरों में विकसित होने वाली कमल-बेल के पुष्पों (कमलों) की सुगन्धि से सुरभित वायु का सेवन किया, उन पर्वतों की गुहाएँ (स्वाभाविक गुफाएँ), चपल और लटकती हुई लम्बी पूछों से मौलसिरी की मोटी-मोटी शाखाओं को लपेटकर किलकिलाते हुए मयूरों के चीत्कार की प्रतिध्वनि से मुखरित हो रही थीं।

शब्द-कवि तीन प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो नाम या संज्ञा-वाचक सुबन्त शब्दों का अधिक प्रयोग करते है, वे नाम-कवि हैं। दूसरे, आख्यात-कवि, वे होते हैं जो तिङन्त शब्दों—क्रियाओं का प्रयोग अधिक मात्रा में करते हैं और तीसरे नामाख्यात-कवि जो दोनों का प्रयोग समान रूप से करते हैं।

नाम-कवि का उदाहरण—

जैसे, पुरुष के लिए विद्या, राजा के लिए महिमा, वैद्य के लिए प्रज्ञा, भविष्य-दर्शिनी बुद्धि, सज्जन के लिए दया, वीर के लिए लज्जा और युवक के लिए नम्रता उसी प्रकार उस राजा के लिए वही भूषण है।

इस पद्य में अनेक नामों—सुबन्त शब्दों—का एक ही क्रिया या आख्यात के साथ सम्बन्ध है। इसलिए ऐसी रचना करने वाला कवि नाम-कवि कहा जाता है।

आख्यात-कवि का उदाहरण—

समुद्र से अमृत-मन्थन के समय गुरु (बृहस्पति) द्वारा अमृत-लाभ होने की महत्वपूर्ण घोषणा सुनकर देवतागण अट्टहास करते थे, प्रसन्न होते थे, गरजते थे,

फड़कती हुई भुजाओं से परस्पर आघात करते थे, स्तुति करते थे और प्रमुदित होते थे।

यह वर्णन समुद्र-मथन के प्रसग का है। इसमें नाम या सुबन्त-पद एक दो हैं, और सभी आख्यात अर्थात् क्रियापद हैं।

नामाख्यात कवि का उदाहरण—

कान्तिहीन, अन्धे, थके हुए कन्धों और हाथों वाले लक्ष्मी की अप्राप्ति से उत्पन्न शोक के कारण चेतना-शून्य से वे दैत्यगण न चिल्लाते थे, न रोते थे, न किसी प्रकार का शब्द करते थे और न हिलते-डुलते थे। वे क्षण भर के लिए चित्रित से हो गए।

यहां 'भिन्न' के स्थान पर 'स्त्रिय' पाठ करने पर इसका अर्थ इस प्रकार होगा—समर में मारे गए दैत्यों की पत्नियां पति-मरण के विषाद से कान्तिहीन हो गई, उनके कन्धे और हाथ शिथिल होकर झूल गये और वे अत्यन्त शोक से चेतना-शून्य हो गई। अतः न रोती थीं, न चिल्लाती थी, न किसी प्रकार का शब्द करतीं थी, मानों वे क्षण-भर के लिए चित्रित-सी हो गई।

अर्थ-कवि का उदाहरण—

कुमार कार्तिकेय के जन्म-महोत्सव पर हर्ष से हाथ उठाए हुए भृ गिरिट गण एक ओर से चिल्लाते हुए आ रहे थे और कह रहे थे कि 'हे गणो, क्या बैठे हो? देवी (पार्वती) ने पुत्र-प्रसव किया है, गाओ और नाचो। इसी प्रकार दूसरी ओर से चामुण्डा आ रही थी, दोनों मिलकर परस्पर आलिंगन करते हुए नृत्य करने लगे। उनके गलों में लटकती हुई पुरानी सूखी हड्डियों की मालाएँ परस्पर की रगड़ से ऐसा भयकर शब्द करने लगी कि उसकी ध्वनि से देवताओं की दुन्दुभि-ध्वनि भी दब गई।

यहां कवि ने शब्द-रचना भी की है, किन्तु उसकी अपेक्षा अर्थ प्रधानतः चमत्कारकारी है।

अलकार-कवि दो प्रकार के होते हैं—एक शब्दालकार-प्रिय, जो अनुप्रास, यमक आदि शब्दालकारों द्वारा रचना को विशेष सजाने की चेष्टा करते हैं। दूसरे, उपमा, रूपक आदि अलकारों द्वारा रचना को सजाने में विशेष रुचि रखते हैं।

शब्दालकार कवि का उदाहरण—

खेद है कि मैंने अपने पाप-कर्मों के कारण विषम (भीषण) रण को न प्राप्त किया और विष-मरण प्राप्त किया। मैं मन्द-भागी भागीरथी (गंगा) में न मरकर साधारण-सी रथ्या (गली) में दुर्गति के साथ मरा।

यहाँ 'विषम रण' और 'विष-मरण' 'भागीरथ्याम्' और 'मन्दभागी' 'रथ्याम्' में पाद-मध्य-यमक नामक शब्दालंकार है।

अर्थालंकार कवि का उदाहरण—

फहराती हुई जिह्वा-रूपी पताका वाले और फणरूपी छत्र को धारण करने वाले सर्पराज वासुकि के दाँत-रूपी शलाकाओं का भंग करने के लिए मेरी भुजा समर्थ है।

यहाँ 'जिह्वा-पताका', 'फणच्छत्र', 'दंष्ट्रा-शलाका' आदि में रूपकालंकार की प्रधानतया प्रतीति होती है।

उक्ति-कवि का उदाहरण—

यौवन, इस सुनयना रमणी में रमणीय केलियाँ कर रहा है। इसकी सुन्दर पतली कमर मानिनी के श्वासों से भग होने के योग्य है, स्तनों की विशालता सुन्दर भुज-लताओं का आलिंगन कर रही है और इसका मुख-चन्द्र आँखों की नलिका से पान करने योग्य आकर्षक हो गया है। यहाँ यौवनारम्भ का वर्णन करने में कवि ने मानिनी के श्वास से भग होने योग्य कटि, स्तनों का दोलंता से आलिंगन और मुख-चन्द्र का नेत्र-नलिका से पान—इन सुन्दर उक्तियों में विशेषता प्रदर्शित की है।

दूसरा उदाहरण—

यह भी यौवनारम्भ का वर्णन है। इस रमणी का अधर अशोक के अभिनव अरुण-पल्लवों से परावर्तन की इच्छा करता है, कपोल पाण्डु-वर्ण होने के कारण तालफल की परिपक्व अवस्था की ओर उतर रहे हैं और इसके नेत्र कुछ मुरझाती हुई कमलिनी का अनुकरण कर रहे हैं। इस प्रकार इस रमणी में माधुर्य और कृशता की वृद्धि हो रही है अर्थात् अधरों में लालिमा, कपोलों में चिकनेपन के साथ पाण्डुता, आँखों में लज्जा, आकृति में मधुरता और शरीर में कृशता बढ़ रही है।

इस पद्य में भी कवि की अभिनव प्रकार से कही गई उक्तियाँ विलक्षण काव्य-रमणीयता का प्रदर्शन करती हैं।

रस-कवि का उदाहरण—

प्राय यह लोकवाद प्रसिद्ध है कि दक्षिण-देश की प्रसिद्ध ताम्रपर्णी नदी, जिस स्थान पर समुद्र से सगम करती है, वहाँ उच्च-कोटि के मोती अधिक उत्पन्न होते हैं। कालिदास ने भी इसकी चर्चा की है। यहाँ कवि उसी का वर्णन करता है—

हे कृशोदरि ! समुद्र में मिलती हुई इस ताम्रपर्णी नदी को देखो, सीपियों के सम्पुट से निकले हुए जिसके जल-कण, सुन्दरियों के विशाल स्तन-तटों पर मोतियों के हार के रूप में शोभित होते हैं।

यहाँ कवि ने इस वर्णन को सम्भोग शृगार-रस-पूर्ण बनाने में सफलता प्राप्त की है।

मार्ग (रीति) कवि का उदाहरण—

पूर्वकाल में जब शिवजी की नेत्र-ज्वाला से कामदेव दग्ध हो गया, तब उसके मित्र ग्रीष्म (ऋतु) ने उसे दाह-शमन करने वाली औषधियाँ प्रदान की, जिससे उसका ताप शान्त हो सके। जैसे, सुगन्धबाला की जड़, मालती की छाल, चन्दन वृक्षों का सार (जल), अशोक के हरे सरस-पल्लव, शिरीष के पुष्प और पके हुए केले के फल। तात्पर्य यह है कि ये सभी साधन ग्रीष्म काल में शीतल अतएव काम के जीवन होते हैं।

यहाँ कवि ने जड़ से फल तक की औषधियों का वर्णन-क्रम अत्यन्त आकर्षक ढंग और वैदर्भी रीति या मार्ग से किया है।

शास्त्रार्थ-कवि का उदाहरण—

दुर्योधन द्वारा सन्धिदूत श्रीकृष्ण का अपमान होने पर क्रुद्ध भीमसेन की सहदेव के प्रति उक्ति—

आत्मा में रमण करने वाले एव पूर्णज्ञान के उदय से जिनकी ज्ञानमय ग्रन्थियाँ खुल गई हैं, ऐसे सत्त्वमय आत्म-ज्ञानी पुरुष जिस परम ज्योति का दर्शन निर्विकल्प समाधि द्वारा करते हैं, उस पुराण-पुरुष भगवान् (श्रीकृष्ण) को वह दुष्ट मोहान्ध दुर्योधन कैसे पहचान सकता है ?

यहाँ 'आत्माराम', 'तमोग्रन्थि', 'निर्विकल्प समाधि' आदि शब्द योग-शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। कवि ने योग-शास्त्र के अर्थ का रचना में उपयोग किया है।

ऊपर कहे हुए इन गुणों में दो-तीन गुणों वाला कवि कनिष्ठ श्रेणी का कवि कहा जाता है, पाँच गुणों वाला मध्यम और सभी गुणों से युक्त कवि महाकवि होता है।

कवि की दस अवस्थाएँ होती हैं। उनमें बुद्धिमान् और आहार्य-बुद्धि कवि की सात तथा औपदेशिक कवि की तीन अवस्थाएँ होती हैं। दस अवस्थाओं के नाम इस प्रकार हैं—१ काव्य-विद्या-स्नातक, २. हृदय-कवि, ३ अन्यापदेशी, ४ सेविता, ५. घटमान, ६ महाकवि, ७ कविराज, ८ आवेशिक, ९. अविच्छेदी और १०. सङ्क्रामयिता।

जो कवित्व-प्राप्ति की इच्छा से काव्य और तदङ्गभूत अलकार, छन्द, कला आदि विद्याओं के ज्ञान के लिए गुरुकुल में जाता है—वह काव्य-विद्या-स्नातक है।

जो मन-ही-मन कविता की रचना करता है और सकोच अथवा दोष के भय से किसी को सुनाता नही, मन ही में रखता है, वह हृदय-कवि है।

जो अपनी ही रचना को दोष या विपरीत आलोचना के भय से दूसरे की रचना बताकर पढता या सुनाता है, वह अन्यापदेशी कवि है।

जो कवि कुछ-कुछ रचना करने लगता है और पुरातन कवियो में से किसी एक को अपना आदर्श मानकर उसकी छाया पर काव्य-रचना करता है, वह सेविता है।

जो प्रकीर्ण रूप से अर्थात् भिन्न-भिन्न विषयो पर फुटकर रचना करता है, किसी एक निबन्ध का निर्माण नहीं करता, वह घटमान-कवि है।

जो किसी एक महान् या पूर्ण निबन्ध-काव्य का निर्माण करता है, वह महाकवि कहा जाता है।

जो भिन्न-भिन्न भाषाओ में, भिन्न-भिन्न प्रबन्ध-रचनाओं में और भिन्न-भिन्न रसों में स्वतन्त्रता-पूर्वक निर्बाध रचना करने में समर्थ है, वह कविराज कहलाता है। ऐसे कविराज ससार में कुछ इने-गिने ही होते हैं।

जो मन्त्र आदि के उपदेश और अनुष्ठान से कवित्व-सिद्धि प्राप्त करते है, वे आवेशिक कवि कहे जाते हैं।

जो जभी चाहे तभी धारा-प्रवाह से जिस-किसी भी विषय पर आशु कविता करता है, वह अविच्छेदी कवि कहलाता है।

जो अविवाहित कन्याओं या कुमारों पर मन्त्र-शक्ति द्वारा सरस्वती का संचार करा कर उनसे काव्य-रचना कराता है, वह सङ्क्रामयिता कहा जाता है।

निरन्तर अभ्यास से कवि के वाक्यों में परिपक्वता आती है। यह पाक या परिपक्वता क्या है ? यह आचार्यों का प्रश्न है। मंगल का मत है कि यह निरन्तर अभ्यास का 'परिणाम' या 'परिपाक' है। पुनः आचार्यों का प्रश्न है कि यह 'परिणाम' क्या है ? मंगल का उत्तर है —सुबन्त या तिङन्त शब्दों की श्रोत्रमधुर व्युत्पत्ति ही परिणाम है। अर्थात् सुन्दर शब्दों का प्रयोग। आचार्यों का मत है कि परिणाम या परिपाक शब्द का अर्थ है—पदों के प्रयोग में निर्भीकता या निःसन्दिग्धता। जैसा कि कहा है—

कविता में सन्दर्भ के अनुकूल पदों के रखने और हटाने में जब तक चित्त चंचल रहता है, तभी तक कवि को अपरिपक्व अवस्था समझनी चाहिए। जब पद विन्यास में स्थिरता प्राप्त हो जाय, तब समझना चाहिए कि अब सरस्वती सिद्ध हो गई अर्थात् सिद्ध-सारस्वत कवि हो गया।

वामन का मत है कि 'आग्रह के कारण भी पदों की स्थिरता में सन्देह रहता है। अतः एक बार लिखे गए पद के पुनः परिवर्तन की आवश्यकता न होना ही 'पाक' है। जैसा कि कहा है—

शब्द-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान शब्द-पाक उसे कहते हैं जहाँ एक बार प्रयुक्त शब्द पुनः परिवर्तन की अपेक्षा न रखे।

अवन्तिसुन्दरी का मत है कि "यह अशक्ति है, पाक नहीं। महाकवियों के काव्यों में एक के स्थान पर अनेक पाठ मिलते हैं। वे सभी परिपक्व तथा उपयुक्त भी होते हैं। इसलिए रस के अनुकूल और अनुगुण शब्द, अर्थ एवं सूक्तियों का निबन्ध करना पाक है।" जैसा कि कहा गया है—

जो गुण, अलंकार, रीति और उक्ति के अनुसार शब्दों और अर्थों का गुम्फन-क्रम है, वह सहृदयों, श्रोताओं और भावकों को आकर्षक और स्वादु प्रतीत होता है—यही वाक्य-पाक है। इस सम्बन्ध में कहा भी है—

कवि, अर्थ और शब्द इन सभी के रहने पर भी जिसके बिना वाङ्मधु का परिस्रवण नहीं होता, वही अनिर्वचनीय वस्तु 'पाक' है। जो सहृदय जनों द्वारा आस्वाद्य और काव्य का प्रधान जीवन है। अर्थात् सब कुछ होते हुए भी काव्य-रचना में कवि की प्रौढ़ता जीवन डाल देती है, यह प्रौढ़ता ही पाक है।

काव्य-पाक के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों के मतों का प्रदर्शन कर यायावरीय राजशेखर अपना मत प्रदर्शित करते हैं कि—'जहाँ पदों के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है, वह शब्द पाक वाला काव्य है। जहाँ रस, गुण और अलकारों का सुन्दर क्रम है, वह वाक्य पाक है। इसका समुचित निर्णय सहृदय समालोचकों की आलोचना द्वारा ही हो सकता है।'

काव्य रचना का अभ्यास करने वाले कवियों के लिए नौ प्रकार का पाक होता है—

१ आदि और अन्त दोनों में अस्वादु-नीरस-पाक का नाम 'पिचुमन्द' पाक है। पिचुमन्द नाम नीम का है, वह सदा तिक्त ही रहता है। ऐसी काव्य-रचना जो आदि और अन्त दोनों में नीरस हो, वह निम्ब-पाक वाली कही जाती है।

२. आदि में नीरस और अन्त में कुछ सरस रचना 'बदर-पाक' कही जाती है। बेर का फल खाने में पहले कुछ फीका और अन्त में कुछ मीठा लगता है।

३ आदि में नीरस और अन्त में सरस रचना 'मृद्वीका-पाक' कही जाती है। मृद्वीका पहले कुछ कसैली और अन्त में अति मधुर स्वाद वाली होती है।

४. आदि में कुछ मधुर और अन्त में सर्वथा नीरस रचना 'वार्ताक-पाक' है। वार्ताक (बैंगन) आदि में कुछ अच्छा और अन्त में फीका लगता है।

५. आदि और अन्त—दोनों में मध्यम स्वाद वाली रचना 'तिन्तिडीक पाक' है। तिन्तिडी (इमली) आदि और अन्त में एक-सा स्वाद देती है।

६. आदि में कुछ मध्यम और अन्त में स्वादु रचना 'सहकार-पाक' है। सहकार (आम) पहले कुछ कसैला और अन्त में अति मधुर होता है।

७ आदि में स्वादु और अन्त में नीरस रचना 'क्रमुक-पाक' है। क्रमुक (सुपारी) पहले मधुर और अन्त में कसैली लगती है।

८. आदि में स्वादु और अन्त में मध्यम रचना 'त्रपुस-पाक' है। त्रपुस (ककडी) आदि में मधुर और अन्त में कुछ फीकी-सी लगती है।

९. आदि से अन्त तक मधुर 'नारिकेल-पाक' है। नारिकेल (नारियल) आदि से अन्त तक मधुर होता है।

इनमें पिचुमन्द-पाक, वार्ताक-पाक और क्रमुक-पाक सर्वथा त्याज्य हैं। कवि न होना अच्छा है, परन्तु कुकवि न होना चाहिए क्योंकि कुकविता करना दुःख के साथ मृत्यु के समान है। मध्यम पाक-बदर, तिन्तिडीक और त्रपुस वालों की रचनाओं का संस्कार करके उन्हें सरस और मधुर बनाना चाहिए। कारण यह कि संस्कार द्वारा गुणों की वृद्धि की जा सकती है। अनेक प्रकार के धातुओं से मिला हुआ सोना अग्नि-संस्कार से विशुद्ध बन जाता है। शेष तीन पाक-मृद्वीका, सहकार और नारिकेल ग्राह्य हैं।

जो प्रकृति या स्वभाव से शुद्ध हैं, उनके लिए संस्कार की अपेक्षा नहीं रहती। मोती का संस्कार करने पर भी वह अधिक सुन्दर या बृहत् नहीं बनाया जा सकता।

जिस काव्य-रचना में अव्यवस्थित रूप से परिपाक होता है, अर्थात् कहीं सरस, कहीं नीरस और कहीं मध्यम, उसे कपित्थ पाक कहते हैं। जैसे, पलाल (पुआल या पोरा) को धुनने से कहीं दैववश एक-आध अन्न का दाना मिल जाता है, उसी प्रकार कपित्थ-पाक वाली रचना में कहीं ढूंढने पर एक-आधी सूक्ति भी दिखाई पड़ सकती है।

इस प्रकार अभ्यास करने वाले कवि के काव्य के पाक नौ प्रकार के होते हैं। बुद्धिमान कवि को चाहिये कि उनमें पहले हेय (त्याज्य) और उपादेय (ग्राह्य) का विभाजन कर ले।

इस प्रकार काव्य की शिक्षा ग्रहण करने वाले शिष्यों के लिए तीन प्रकारों के प्रदर्शन किए गए हैं। यों तो विशाल संसार में इसके अनेक भेद किए जा सकते हैं।
(पृष्ठ ४०-५२)

४. काव्यार्थ

आचार्यों का मत है कि 'इस उपर्युक्त प्रकार से उल्लेख किये गये कवियों की प्रतिभा से सेव्यमान अर्थों की तो सीमा नहीं है। यह अर्थ कर्म निःसीम है।'

दूसरे आचार्य अर्थों की निःसीमता को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि ठीक है। अर्थ-समूह अवश्य निःसीम है, परन्तु उसे केवल दो मार्गों में ही विभक्त किया जा सकता है। एक विचारित-सुस्थ और दूसरा अविचारित-रमणीय।'

एक अर्थ ऐसा है जो विचार करने पर स्थिर होता है। अर्थात् उस पर जितना विचार किया जाय, उतनी ही नवीनता मिलती है और इस अर्थ पर पर्याप्त-

रूप से तर्क-वितर्क भी किया जा सकता है। ऐसा अर्थ विचारित-सुस्थ है, जो दर्शन आदि शास्त्रों में वर्णित है। दूसरा, अविचारित-रमणीय अर्थ काव्यों में पाया जाता है, जिसे आपात-रमणीय भी कहते हैं। काव्यों में वर्णित अर्थ सुनने और जानने पर एक बार चमत्कार उत्पन्न कर देता है, किन्तु यदि उस पर क्षोद-क्षेम या तर्क-वितर्क किया जाय तो उसके भीतर कुछ तत्व नहीं मिलता।

अतः शास्त्रों में वर्णित अर्थ विचारित-सुस्थ अर्थ है और काव्यों में अविचारित-रमणीय या आपात-रमणीय है। यह उद्भट मतानुयायी आचार्यों का मत है।

इसका उदाहरण—

हनुमान समुद्र का उल्लंघन करने के लिए अपनी कान्ति से आकाश को पीला करते हुए और स्वयं आकाश के नीले रंग से नील कमल की शोभा को धारण करते हुए आकाश में उड़े।

यहाँ आकाश का अपना नील गुण त्याग कर हनुमान के पीत गुण का स्वीकार करना, यह तद्गुण नामक अलंकार है। इस श्लोक का अर्थ सुनने और परस्पर रंग बदलने की कल्पना से आनन्द और आकर्षण अवश्य होता है, परन्तु आकाश वास्तव में नीरूप (रूपरहित) पदार्थ है। न तो उसमें अपना रंग है और न वह दूसरे के रंग को ग्रहण ही कर सकता है। अतः यह अर्थ विचार करने पर स्थिर नहीं रहता। अतः अविचारित-रमणीय है। विचारित-सुस्थ नहीं।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण—

वे मन के समान वेग वाले परम-ऋषिगण, तलवार के समान श्याम वर्ण आकाश से उड़कर औषधिप्रस्थ (हिमालय की राजधानी) में पहुँचे।

यहाँ आकाश का श्याम वर्ण शास्त्रीय दृष्टि से असंगत होने पर भी काव्य-दृष्टि से सुन्दर प्रतीत होता है, जो विचारित-सुस्थ नहीं है। खग का श्याम वर्ण केवल कवि-सम्प्रदाय में वर्णित होता है। वास्तव में वह श्वेत है।

इसी प्रकार 'नदियों का जल ही तेज का महान स्थान है,' इत्यादि उदाहरण दिए जा सकते हैं। यहाँ जल से तेज की उत्पत्ति सृष्टि-क्रम के विरुद्ध है।

यायावरीय राजशेखर कहते हैं—'ठीक है। उक्त काव्य-रचना में वर्णित आकाश का रूप और नदियों की तेजोजनकता वास्तविक स्वरूप का वर्णन नहीं है,

किन्तु प्रतिभास मात्र है। श्राभास या प्रतिभास किसी वस्तु में स्वाभाविक रूप से नहीं रहता। यदि श्राभास को ही वस्तु का स्वाभाविक धर्म मान लें तो सूर्य और चन्द्रमा के मण्डल, जो देखने से बारह अंगुल के प्रतीत होते हैं, वे पृथ्वी की गोलाई के बराबर या उससे भी बड़े नहीं माने जा सकते, जैसा कि पुराणों में वर्णन किया गया है। इसी प्रकार नक्षत्र, पर्वत, नदीजल आदि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

प्रतिभास या श्राभास वस्तु का वास्तविक धर्म नहीं है—यह समझते हुए भी प्रतिभास के समान ही वस्तु के स्वरूप का वर्णन करना शास्त्र और काव्य में उल्लेख करने के लिए उपयुक्त होता है। शास्त्र में प्रतिभास का उदाहरण—

मेघ रूपी पंक से रहित और नक्षत्र रूप कुमुदों से शोभित विमल आकाश-रूपी जल में चन्द्रमा हंस के समान प्रतीत होता है।

इसी प्रकार शास्त्र और काव्य में वस्तु का उल्लेख प्रतिभास द्वारा ही किया जा सकता है। सभी काव्य इसी प्रकार प्रतिभासमय अतएव अविचारित-रमणीय होते हैं।

अपराजित के पुत्र भट्ट लोल्लट का मत है कि 'अर्थ का निबन्धन होना अत्यावश्यक है। नीरस विषय का नहीं।' जैसा कि कहा है—

जल-क्रीडा पुष्पावचय, सन्ध्या और चन्द्रोदय आदि का वर्णन सरस होने पर भी अधिक मात्रा में न होना चाहिए तथा प्रस्तुत प्रसंग एवं रस के विरुद्ध भी न होना चाहिए।

कविगण नदी, पर्वत, समुद्र, नगर, घोड़े, हाथी एवं रथ आदि के वर्णनों में जो प्रयत्न करते हैं, वह उनकी काव्य-रचना शक्ति का प्रचार मात्र है। मर्मज्ञ विद्वान इसे बहुत अच्छा नहीं समझते।

यायावरीय कहते हैं कि यह उचित है, किन्तु यह भी अनुभव से सिद्ध है कि कोई अर्थ रस के अनुकूल होता है और कोई उसके प्रतिकूल। यह तो निश्चित रूप से देखा जाता है कि काव्यों में कवियों के वाक्य ही सरसता और नीरसता उत्पन्न करते हैं। अर्थ सरस या विरस नहीं होते। क्योंकि प्रतिभा-सम्पन्न कवि साधारण (तुच्छ) अर्थ को भी सरस और चमत्कारी बना देते हैं और प्रतिभा-शून्य कवि सरस अर्थ को भी नीरस बना देते हैं।

नदी-वर्णन की सरसता—

हे कृशोदरि ! समुद्र में मिलती हुई इस ताम्रपर्णी नदी को देखो, सीपियों के सम्पुट से निकाले गये जिसके जल-कण, सुन्दरियो के विशाल स्तन-तटों पर मोतियो के हार के रूप में शोभा पाते हैं।

इस रचना में नदी के जल-बिन्दु, वामनयनाम्रो के स्तनों पर हार-रूप से परिणत होते हैं—इस प्रकार सम्भोग-शृंगार-रस के उद्दीपन विभाव का वर्णन किया गया है।

पर्वत-वर्णन की सरसता—

हे मृगनयने ! ये मलय पर्वत की अधित्यका में बहने वाली नदियों की वे तीर-भूमियाँ हैं, जो भगवान कामदेव की प्यारी और उसके धनुष चलाने का अभ्यास करने का स्थान हैं। इन तीर प्रदेशों में चकोरांगनाएँ काली रातों में अन्धकार का पान करके खुली चोंचों को ऊपर की ओर किए हुए मोती सी शुभ्र चाँदनी को गट-गट करके पीती हैं।

यहाँ पर्वत को शृंगार-रस के विभाव-रूप में वर्णित करके कवि ने सरसता उत्पन्न कर दी है।

समुद्र-वर्णन की सरसता—

मदिरा, जो अभिलषित प्रियतम के सम्मिलन से होने वाले हर्ष के कारण मृग-लोचनाओं को विविध हाव, भाव, क्रीडा आदि सिखाती है, चन्द्रिका से आर्द्र आकाश, जो दम्पतियों के प्रणय-कलह को दूर करने में समर्थ होता है, जो देवताओं की यौवनावस्था सदा एक-सी बनी रहती है और जो लक्ष्मी समस्त भूमि आदि सम्पत्तियों में प्रधान मानी जाती है—यह सब समुद्र की सुन्दर चेष्टा का फल है।

तात्पर्य यह है कि मदिरा, चन्द्रमा, अमृत और लक्ष्मी-ये चारों पदार्थ समुद्र की देन हैं। यहाँ कवि ने समुद्र की महिमा का वर्णन करते हुए काव्यार्थ को सम्भोग-शृंगार रस से सरस कर दिया है।

इसी प्रकार नगर, तुरग (घोड़ा) आदि के वर्णन में भी सरसता के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें कवि की प्रकृष्ट-प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है।

विप्रलम्भ (वियोग) शृंगार में भी अत्यन्त सरसता का उदाहरण—

नायिका के प्रति सम्पूर्ण चित्त-वृत्ति को लगाए हुए विरही युवक के लिए प्रेमिका के विरोधी पदार्थों में हृदय को लगाना अधीरता उत्पन्न करता है और उसके अनुरोधी (सहयोगी) पदार्थों की ओर हृदय को लगाने पर उत्कण्ठा की वृद्धि होती है। अतः वे विरस प्रतीत होते हैं। इस स्थिति में उसके विरोधी भावों से स्वतः विरोध रखने वाला और उसके प्रिय पदार्थों से अधिक कष्ट होने के कारण दूर रहने वाला प्रिया-विरहित विरही का हृदय, कहाँ विश्राम या सुख प्राप्त कर सकता है? अर्थात् कहीं नहीं।

यहाँ कवि ने अपने प्रतिभा-कौशल से विप्रलम्भ शृंगार का अत्यन्त हृदय-ग्राही और सरस वर्णन किया है।

विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन में सरसता अत्यावश्यक है, किन्तु कुकवि उसे भी नीरस बना देता है। तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु में रस हो या न हो, कवि की वाणी में रस होना चाहिए—यह निर्विवाद सिद्धान्त है।

पाल्यकीर्ति नामक जैन आचार्य कहते हैं कि 'वस्तु का रूप चाहे कैसा भी हो, सरसता तो कवि की प्रकृति के आधार पर है। अर्थात् कवि की प्रकृति सरस है, तो उसे सरस बना देती है और यदि कवि की प्रकृति रूक्ष या नीरस हो तो सरस वस्तु भी नीरस है। अनुरक्त व्यक्ति जिस वस्तु की स्तुति करता है, विरक्त व्यक्ति उसी की निन्दा करता है और मध्यस्थ व्यक्ति उस सम्बन्ध में उदासीन रहता है।' जैसे—

किसी उदासीन की उक्ति—जिन पुरुषों की लम्बी रातें प्रियतमा के साथ क्षण के समान क्षीण हो जाती हैं, उनके लिए चन्द्रमा अत्यन्त शीतल वस्तु है और जो विरही हैं, उनके लिए वही चन्द्रमा जलते हुए अंगारों के समान सन्तापकारी है। मुझे न तो प्रियतमा ही है और न उसका वियोग ही है, अतः दोनों से रहित मेरे लिए यह चन्द्रमा शीशे (काच) के समान शोभित हो रहा है। न उष्ण है और न शीतल। न सुखद है और न दुःखद।

यायावरीय राजशेखर की गृहिणी अवन्तिसुन्दरीका मत है कि किसी वस्तु का स्वरूप नियत नहीं है, प्रत्येक वस्तु अनियत स्वभाव वाली है। अर्थात् न गुण वाली

है और न दोष युक्त। कुशल कवि की उक्ति-विशेष से वह सगुण या निर्गुण हो जाती है। जैसे—

काव्य-जगत में किसी भी वस्तु का स्वभाव नियत नहीं है। कवि की उक्ति के कारण उसमें गुण या दोष आ जाते हैं। जो चन्द्रमा की स्तुति करना चाहता है, वह उसे 'अमृतांशु' कहता है और जो धूर्त कवि उसकी निन्दा करना चाहता है, वह उसे 'दोषाकर' कहता है।

यायावरीय राजशेखर कहते हैं कि पाल्यकीर्ति और अवन्तिसुन्दरी दोनों के ही मत ठीक हैं। अर्थात् युक्ति-संगत होने से ग्राह्य हैं।

अब ग्रन्थकार राजशेखर इस विवाद को समाप्त कर पूर्व-वर्णित दिव्य आदि सात प्रकार के अर्थों को दो भागों में विभक्त करते हैं। एक तो मुक्तक-काव्य गत और दूसरा प्रबन्ध-काव्य-गत। मुक्तक का तात्पर्य स्वतन्त्र या स्फुट कविता से है और प्रबन्ध का अर्थ है—काव्य या महाकाव्य। मुक्तक पाँच प्रकार के और प्रबन्ध भी पाँच प्रकार के होते हैं। जैसे—१ शुद्ध, २ चित्र, ३ कथोत्थ, ४ संविधानक-भू और ५ आख्यानकवान्।

इतिवृत्त या इतिहास से रहित अर्थ शुद्ध है। उसे विस्तार के साथ विस्तृत करना चित्र है। प्राचीन कथा या इतिहास-युक्त अर्थ कथोत्थ है। जिसमें घटना सम्भावित हो, उसे संविधानक-भू कहते हैं और जिसमें इतिहास की कल्पना की जाय, उसे आख्यानकवान् कहते हैं (पृष्ठ १०८-११५)

× × × ×

कवि को चाहिए कि संस्कृत के समान प्राकृत आदि सभी भाषाओं में अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार या अपने मनोभाव के अनुकूल रचना करे। किन्तु शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचक-सम्बन्ध की प्रौढ़ता का सर्वत्र सावधानी से ध्यान रखे। जैसा कि कहा है—

एक ही अर्थ कहीं संस्कृत में सुकवि की सुन्दर-रचना का विषय बनता है, कहीं कोई अर्थ प्राकृत-भाषा में सुकवि-रचना का विषय होता है, कोई अर्थ अपभ्रंश भाषाओं में और कोई अर्थ-भूत-भाषा में कवि की सुन्दर रचना का विषय बनता है। कुछ कवि, दो-तीन भाषाओं में तो कुछ चार-पाँच भाषाओं में अर्थ-विवेचना-कुशल

होते हैं। इस प्रकार जिस कवि की प्रतिभा का अधिक प्रसार होता है, उसकी कीर्ति समस्त संसार को स्नान कराती है अर्थात् उसकी कीर्ति संसार में फैल जाती है।

जिस कवि का मन, इस प्रकार इन घने अर्थों के विवेक से व्युत्पन्न होता है, उसकी वाणी दुर्गम मार्ग में भी कुण्ठित नहीं होती।

(पृष्ठ ११९-१२०)

अनुवादक—पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत



राजशेखर

[काव्य-मीमांसा]*

१ काव्यस्य रचना स्वरूपञ्च

अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्टये शिष्येभ्यः। सोऽपि भगवान्स्वयम्भूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः। तेषु सारस्वतेयो वृन्दीयसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्। स च सर्वसमयविद् दिव्येन चक्षुषा भविष्यदर्थदर्शी भूर्भुवस्स्वस्त्रितयवर्तिनीषु प्रजासु हितकाम्यया प्रजापति काव्यविद्या प्रवर्तनार्थं प्रायुङ्क्त। सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः सप्रपञ्चं प्रोवाच।

तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमो यमकानि, चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमारः—इति। ततस्ते पृथक् पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयाञ्चक्रुः।

इत्थङ्कारञ्च प्रकीर्णत्वात् सा किञ्चिदुच्चिच्छिदे। इतीयं प्रयोजकाङ्गवती संक्षिप्य सर्वमर्थमल्पग्रन्थेन अष्टादशाधिकरणी प्रणीता।

(पृष्ठ १–४)

× × × ×

पुरा पुत्रीयन्ती सरस्वती तुषारगिरौ तपस्यामास। प्रीतेन मनसा तां विरिञ्चः प्रोवाच—पुत्रं ते सृजामि।

अथैषा काव्यपुरुषं सुषुवे। सोऽभ्युत्थाय सपादोपग्रहं छन्दस्वतीं वाचमुदचीचरत्।

"यदेतद्वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्तते।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ।"

---

* बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् पटना द्वारा सन् १९५४ में प्रकाशित संस्करण।

तामाम्नायदृष्टचरीमुपलभ्य भाषाविषमे छन्दोमुद्रां देवी सस्नेहमङ्कपर्यङ्कमादाय समुदलापयत्। "वत्स, सच्छन्दस्काया गिरः प्रणेतर्वाङ्मयमातरमपि मातरं मां विजयसे। प्रशस्यतमं चेदमुदाहरन्ति यदुत 'पुत्रात्पराजयो द्वितीयं पुत्रजन्म' इति। त्वत्तः पूर्वं हि विद्वांसो गद्यं ददृशुर्न पद्यम्। त्वदुपज्ञमथ छन्दस्वद्वचः प्रवर्त्स्यति। अहो श्लाघनीयोऽसि।

"शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति। भविष्यतोऽर्थस्याभिधात्री श्रुतिरपि भवन्तमभिस्तौति।

"चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यं (र्त्यां) आविवेश॥"

× × × (पृष्ठ १३-१४)

'श्रुतिः, स्मृतिः, इतिहासः, पुराणं, प्रमाणविद्या, समयविद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोको, विरचना, प्रकीर्णकं च काव्यार्थानां द्वादश योनयः" इति आचार्याः। "उचितसंयोगेन, योक्तृसंयोगेन, उत्पाद्यसंयोगेन, संयोगविकारेण च सह षोडश' इति यायावरीयः।

× × × (पृ० ८५)

गृहीतविद्योपविद्यः काव्यक्रियायै प्रयतेत। नामधातुपारायणे, अभिधानकोशः, छन्दोविचितिः अलङ्कारतन्त्रं च काव्यविद्याः। कलास्तु चतुःषष्टिरुपविद्याः। सुजनोपजीव्यकविसंनिधिः, देशवार्ता, विदग्धवादो, लोकयात्रा, विद्वद्गोष्ठ्यश्च काव्यमातरः पुरातनकविनिबन्धाश्च। किंच—

स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिदार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य॥ (पृष्ठ १२१)

× × × ×

व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दो निरुक्तनिघण्ट्वादिभिर्निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थस्तौ पदम्। (पृष्ठ ५३)

× × × ×

पदानामभिधित्सितार्थग्रन्थनाकरः सन्दर्भो वाक्यम् (पृष्ठ ५५)

गुणवदलङ्कृतञ्च वाक्यमेव काव्यम् ॥ "असत्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्' इत्येके ॥ यथा—

"स्तोकः स्तोकोऽपि नाङ्गे श्वसितमविकलं चक्षुषां सैव वृत्ति
र्मध्येक्षीराब्धि मग्नाः स्फुटमथ च वयं कोऽयमीदृक्प्रकारः ।
इत्थं दिग्भित्तिरोधक्षतविसरतया मांसलैस्त्वद्यशोभि
स्तोकावस्थानदुःस्थैस्त्रिजगति धवले विस्मयन्ते मृगाक्ष्य ॥"

यथा च—

"अजयद्भ्रुभुग्नभोगीश्वरफणपवनाध्मातपातालतालु
कुम्भस्थानागिरीन्द्रावलिशिखरखरास्फालनोलाम्बुराशि ।
उद्यन्नीरन्ध्रधूलीविधुरसुरवधूमुच्यमानोपशल्य
कल्पोद्योगस्य यस्य त्रिभुवनवमनं संभ्रमम्लहं प्रासीत् ॥"

आहुश्च—"इदं किञ्चिद्वृत्तमन्यदपरं बालाजनार्पितं
भूयस्तुच्छपुराणतः परिणतं किञ्चिच्च शास्त्रश्रुतं ।
दुष्प्रापं वस्तु यत्र चित्ररचनं तत्काव्यमभ्याहृतं ।
रत्नस्येव न तस्य जन्म जलधेर्नो रोहणाद्वा गिरेः ॥"

"न" इति यायावरीयः —

"नासत्यं नाम किञ्चन काव्ये यत्तु स्तुत्येष्वर्थवाद ।
स न परं कविकर्मणि श्रुतौ च शास्त्रे च लोके च ॥"

तत्र श्रौतः —

'पृथिव्यां भरतो जज्ञे भूम्नुरात्मा फलेग्रहिः ।
धारेऽस्य सर्वं वाम्मानं प्रमेण प्रथमे हुतः ॥"

शास्त्रीयः— "आपः पवित्रं प्रथमं पृथिव्या-
मपां पवित्रं परमं च मन्त्राः ।
तेषां च सामर्ग्यजुषां पवित्रं
महर्षयो व्याकरणं निराहुः ॥"

किञ्च— "यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावद्व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥"

"कः ? । वाग्योगविदेव । कुत एतत् ? यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति । यथैव हि शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः अथवा भूयानधर्मं प्राप्नोति ।

भूयांसो ह्यपशब्दा अल्पीयांसः शब्दा । एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा । तद्यथा । गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशा । अथ योऽवाग्योगवित् अज्ञानं तस्य शरणम् । नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति । यो ह्यजानन्वै ब्राह्मणं हन्यात्सुरां वा पिबेत्सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् । एवं तर्हि सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद्दुष्यति चापशब्दैः । कः ? अवाग्योगविदेव । अथ यो वाग्योगवित् विज्ञानं तस्य शरणम् । क्व पुनरिदं पठितम् ? । भ्राजा नाम श्लोकाः ।

किञ्च भो श्लोका अपि प्रमाणम् ? किञ्चातः ? यदि प्रमाणमयमपि श्लोकः प्रमाणं भवितुमर्हति ।

> यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत् ।
> पीतं न गमयेत्स्वर्गं किं तत्क्रतुगतं नयेत् ॥' इति

"प्रमत्तगीत एष तत्रभवतो यस्त्वप्रमत्तगीतस्तत्प्रमाणमेव" इति गोनर्दीयः ।

लौकिकः— 'गुणानुरागमिश्रेण यशसा तव सर्पता ।
　　दिग्वधूनां मुखे जातमकस्मादर्द्धकुङ्कुमम् ॥"

"असदुपदेशकत्वात्तर्हि नोपदेष्टव्यं काव्यम्" इत्यपरे । यथा एव—

> "वयं बाल्ये डिम्भांस्तरुणिमनि यूनि परिणता—
> वपीच्छामो वृद्धान्परिणयविधेस्तु स्थितिरियम् ।
> त्वयारब्धं जन्म क्षपयितुममार्गेण किमिदं
> न नो गोत्रे पुत्रि क्वचिदपि सतीलाञ्छनमभूत् ॥"

"असत्यमसदुपदेशः किन्तु निषेध्यत्वेन न विधेयत्वेन" इति यायावरीयः । य एवंविधा विषयः परस्त्रीषु पुंसां सम्भवति तानवबुध्येतेति कवीनां भावः । किं च कविवचनायत्ता लोकयात्रा । "सा च निःश्रेयसमूलम्" इति महर्षयः । यदाहु —

> "काव्यमयो गिरो यावच्चरन्ति विशदाः भुवि ।
> तावत्सारस्वतं स्थानं कविरासाद्य मोदते ॥

किञ्च—"श्रोमन्ति राज्ञां चरितानि यानि
　　प्रभुत्वलीलाश्च सुधाशिनां याः ।
　　ये च प्रभावास्तपसामृषीणां
　　ताः सत्कविभ्यः श्रुतयः प्रसूताः ॥

उक्तञ्च—"ख्याता नराधिपतयः कविसंश्रयेण
राजाश्रयेण च गताः कवयः प्रसिद्धिम् ।
राज्ञा समोऽस्ति न कवेः परमोपकारी
राज्ञो न चास्ति कविना सदृशः सहायः ॥

वल्मीकजन्मा स कविः पुराणः
कवीश्वरः सत्यवतीसुतश्च ।
यस्य प्रणेता तदिहानवद्यं
सारस्वतं वर्त्म न कस्य वन्द्यम् ? ॥"

"असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्" इति च केचित् ।

यथा— "प्रसर्पत्प्रग्रीवैर्भृतभुवनकुक्षिम्भरिलक्ष्मणा—
करालः प्रागल्भ्यं वहति तरुणीनां प्रणयिषु ।
विलासव्यायामाज्जघनफलकास्फालनघन—
स्फुटच्छेदोरिक्तः कलकलकलकाञ्चीकलकलः ॥"

अपि च— "नित्यं त्वयि प्रचुरचित्रकपत्रभङ्गी—
ताडङ्कताडनविपाण्डुरगण्डलेखाः ।
स्निह्यन्तु रसनारणनाभिराम—
कामार्तिनर्तितनितम्बतटास्तरुण्यः ॥"

"प्रक्रमापन्नो निबध्नीय एवायमर्थः" इति यायावरीयः । स च श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते । तत्र याजुषं—

"योनिरुलूखलं शिश्नं मुसलं मिथुनमेतत् प्रजननं क्रियते ॥

आथर्वं—"उपोप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः ।
सर्वाहमस्मि रोमशा गान्धारीणामिवाविका ॥"

शास्त्रीयं—यस्याः प्रसन्नचपलं चक्षुः पर्यन्तपक्ष्मलम् ।
नवनीतोपमं तस्या भवति स्मरमन्दिरम् ॥"
पदवाक्यविवेकोऽयमिति किञ्चित्प्रपञ्चितः ।
अथ वाक्यप्रकारांस्तु कांश्चिदत्र निबोधत ॥

(पृष्ठ ६१-६९)

२ कवि-प्रतिभा आलोचकश्च

त्रिधा च सा, स्मृतिर्मति प्रज्ञेति। अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृति। वर्तमानस्य मन्त्री मति। अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति। सा त्रिप्रकाराऽपि कवीनामुपकर्त्री।

× × × (पृष्ठ २४)

"काव्यकर्मणि कवे समाधि पर व्याप्रियते" इति श्यामदेव। मनस एकाग्रता समाधि। समाहित चित्तमर्थान्पश्यति। उक्तञ्च—

> "सारस्वत किमपि तत्सुमहारहस्य
> यद्गोचरे च विदुषां निपुणैकसेव्य।
> तत्सिद्धये परमय परमोऽभ्युपायो
> यच्चेतसो विदितवेद्यविधे समाधि॥"

"अभ्यास" इति मगल। अविच्छेदेन शीलनमभ्यास। स हि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशय कौशलमाधत्ते। समाधिरान्तर प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यास। तावुभावपि शक्तिमुद्भासयत। "सा केवल काव्ये हेतु" इति यायावरीय।

विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते। या शब्दग्राममर्थसार्थमलकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदय प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थ परोक्ष इव, प्रतिभावत पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। × × × (पृष्ठ २६-२७)

सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च। जन्मान्तरसस्कारापेक्षिणी सहजा। जन्मसस्कारयोनिराहार्या। मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी। ऐहिकेन कियतापि सस्कारेण प्रथमा सा सहजेति व्यपदिशन्ति। महता पुनराहार्या। औपदेशिकया पुनरैहिक एव उपदेशकाल, ऐहिक एव सस्कारकाल।

त इमे त्रयोऽपि कवय सारस्वत, आभ्यासिक, औपदेशिकश्च।

जन्मान्तरसस्कारप्रवृत्तसरस्वतीको बुद्धिमान्सारस्वत। इह जन्माभ्यासोद्भासितभारतीक आहार्यबुद्धिराभ्यासिक। उपदेशितदर्शितवाग्विभवो दुर्बुद्धिरौपदेशिक। तस्मान्नेतरौ तन्त्रशेषमनुतिष्ठताम्, "नहि प्रकृतिमधुरा द्राक्षा फाणितसस्कारमपेक्षते" इत्याचार्या। "न" इति यायावरीय। एकार्थं हि क्रियाद्वय द्वैगुण्याय सम्पद्यते। "तेषां पूर्व पूर्व श्रेयान्" इति श्यामदेव। यत —

'सारस्वतः स्वतन्त्रः स्याद् भवेदाभ्यासिको मितः ।
औपदेशकविस्त्वत्र वल्गु फल्गु च जल्पति ॥

"उत्कर्षः श्रेयान्' इति यायावरीयः। स चानेकगुणसन्निपाते भवति। किञ्च—

"बुद्धिमत्त्वं च काव्याङ्गविद्यास्वभ्यासकर्म च।
कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम् ॥
काव्यकाव्याङ्गविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमतः ।
मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता ॥"

कवीनां तारतम्यतश्चैवं प्रायो वादः ।

"एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्य—
मन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत् ।
न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शश्व—
त्कस्यापि संचरति विश्वकुतूहलीव ॥"

सेयं कारयित्री ।

भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री । सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति । तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुरन्यथा सोऽवकेशी स्यात् । "कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कविः" इत्याचार्याः । तदाहुः —

"प्रतिभातारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा ।
भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशाम् ॥"

"न" इति कालिदासः । पृथगेव हि कवित्वाद् भावकत्वं, भावकत्वाच्च कवित्वम् । स्वरूपभेदाद्विषयभेदाच्च । यदाहुः —

"कश्चिद्वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्तां
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति ।
न ह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणाना—
मेकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः ॥"

'ते च द्विधारोचकिनः, सतृणाभ्यवहारिणश्च" इति मङ्गलः । "कवयोऽपि भवन्ति" इति वामनीयाः । "चतुर्धा' इति यायावरीयः मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च । "तत्र विवेकिनः पूर्वे तद्विपरीतास्तु ततोऽन्तराः" इति वामनीयाः ।

"आरोचकिता हि तेषां नैसर्गिकी ज्ञानयोनिर्वा। नैसर्गिकी हि संस्कारशतेनापि रङ्गमिव कालिकां ते न जहति। ज्ञानयोनौ तु तस्यां विशिष्टज्ञेयवति वचसि रोचकितावृत्तिरेव" इति यायावरीयः।

किञ्च सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारणी। तथाहि व्युत्पित्सोः कौतुकिनः सर्वस्य सर्वत्र प्रथमं सा। प्रतिभाविवेकविकलता हि न गुणागुणयोर्विभागसूत्रं पातयति। ततो बहु त्यजति बहु च गृह्णाति। विवेकानुसारेण हि बुद्धयो मधु निष्यन्दन्ते। परिणामे तु यथार्थदर्शी स्यात्। विभ्रमभ्रंशाच्च निःश्रेयसं सम्पद्यते।

मत्सरिणस्तु प्रतिभातमपि न प्रतिभातं, परगुणेषु वाचंयमत्वात्। स पुनरमत्सरी ज्ञाता च विरलः। × × × (पृष्ठ २९-३१)

वाग्भावको भवेत्कश्चित्कश्चिद्धृदयभावकः।
सात्त्विकैराङ्गिकैः कश्चिदनुभावैश्च भावकः॥ (पृष्ठ ३५)

३. प्रतिभा व्युत्पत्तिश्च

"बहुज्ञता व्युत्पत्तिः" इत्याचार्याः। सर्वतोदिक्का हि कविवाचः। तदुक्तम्—

प्रसरति किमपि कथञ्चन नाभ्यस्ते गोचरे वचः कस्य।
इदमेव तत्कवित्वं यद्वाचः सर्वतोदिक्काः॥

"उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः" इति यायावरीयः। "प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी" इत्यानन्दः। सा हि कवेरव्युत्पत्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति। तदाह—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते॥
× × × (पृष्ठ ३७)

"व्युत्पत्तिः श्रेयसी" इति मंगलः। सा हि कवेरशक्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति। तथाहि—

कवेः संव्रियते शक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि।
वैदग्ध्योचितचित्तानां हेया शब्दार्थगुम्फना॥
× × × (पृष्ठ ३८)

"प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ" इति यायावरीयः। न खलु लावण्यलाभादृते रूपसम्पदृते रूपसम्पदो वा लावण्यलब्धिर्महते सौन्दर्याय।
× × × (पृष्ठ ३९)

प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते ।
स च त्रिधा । शास्त्रकविः काव्यकविरुभयकविश्च ।
"तेषामुत्तरोत्तरीयो गरीयान्" इति श्यामदेवः ।

"न" इति यायावरीयः । यथा स्वविषये सर्वो गरीयान् । नहि राजहंसश्चन्द्रिकापानाय प्रभवति, नापि चकोरोऽद्भ्यः क्षीरोद्धरणाय । यच्छास्त्रकविः काव्ये रससम्पदं विच्छिनत्ति । यत्काव्यकविः शास्त्रे तर्ककर्कशमप्यर्थमुक्तिवैचित्र्येण श्लथयति । उभयकविस्तूभयोरपि वरीयान्यद्युभयत्र परं प्रवीणः स्यात् । तस्मात्तुल्यप्रभावावेव शास्त्रकाव्यकवी ।

उपकार्योपकारकभावं तु मिथः शास्त्रकाव्यकव्योरनुमन्यामहे । यच्छास्त्रसंस्कारः काव्यमनुगृह्णाति शास्त्रैकप्रवणता तु निगृह्णाति । काव्यसंस्कारोऽपि शास्त्रवाक्यपाकमनुरुणद्धि काव्यैकप्रवणता तु विरुणद्धि ।

तत्र त्रिधा शास्त्रकविः । यः शास्त्रं विधत्ते, यश्च शास्त्रे काव्यं संविधत्ते, योऽपि काव्ये शास्त्रार्थं निधत्ते ।

काव्यकविः पुनरष्टधा । तद्यथा रचनाकविः, शब्दकविः, अर्थकविः, अलङ्कारकविः, उक्तिकविः, रसकविः, मार्गकविः, शास्त्रार्थकविरिति । तत्र रचनाकविः —

"लोलल्लाङ्गूलवल्लीवलयितबकुलानोकहस्कन्धगोलै-
र्गोलाङ्गूलैर्नदद्भिः प्रतिरसितजरत्कन्दरामन्दिरेषु ।
खण्डेषूद्दण्डपिण्डीतगरतरलिका प्रापिरे येन वेला-
मालम्बोत्तालतालस्फुटितपुटकिनीबन्धवो गन्धवाहाः ॥"

त्रिधा च शब्दकविर्नामाख्यातार्थभेदेन । तत्र नामकविः —

"विद्येव पुंसो महिमेव राज्ञः
प्रज्ञेव वैद्यस्य दयेव साधोः ।
लज्जेव शूरस्य मृजेव यूनो
विभूषणं तस्य नृपस्य सैव ॥"

आख्यातकविर्यथा— "उच्चैस्तरां जहसुराजहृषुर्जगर्जु-
राजघ्निरे भुजतटीनिकरं स्फुरद्भिः ।
सन्तुष्टुवुर्मुमुदिरे बहु मेनिरे च
वाचं गुरोरमृतसम्भवलाभगर्भाम् ॥"

नामाख्यातकविः— "हतत्विषोऽन्धाः शिथिलांसबाहवः
स्त्रियो विषादेन विचेतना इव ।
न चुक्रुशुर्नो रुरुदुर्न सस्वनु—
र्न चेलुरासुर्लिखिता इव क्षणम् ॥"

अर्थकविः— "देवी पुत्रमसूत नृत्यत गणाः किं तिष्ठतेत्युद्भुजे
हर्षाद् भृङ्गिरिटावुदाहृतगिरा चामुण्डयाऽऽलिङ्गिते ।
पायाद्वो जितदेवदुन्दुभिघनध्वानप्रवृत्तिस्तयो—
रन्योन्याङ्गनिपातजर्जरजरत्स्थूलास्थिजन्मा रवः ॥"

अलङ्कारकविः शब्दार्थभेदेन । तयोः शब्दालङ्कार:—

"न प्राप्तं विषम-रणं प्राप्तं पापेन कर्मणा विष-मरणं च ।
न मृतो भागीरथ्यां मृतोऽहमुपगृह्य मन्दभागो रथ्याम् ॥"

अर्थालङ्कारः— "आन्त्रजिह्वापताकस्य फणच्छत्रस्य वासुके ।
दंष्ट्राशलाकादारिद्य वक्तुं योग्योऽस्ति मे भुजः ॥"

उक्तिकविः— "उदरमिदमनिन्द्यं मानिनीश्वासलाव्यं
स्तनतटपरिणाहो दोर्लता लेह्यसीमा ।
स्फुरति च वदनेन्दुर्दृक्प्रणालीनिपेय—
स्तदिह सुदृशि कल्याः केलयो यौवनस्य ॥"

यथा वा— "प्रतीच्छत्याशोकीं किसलयपरावृत्तिमधरः
कपोलः पाण्डुत्वादवतरति ताडीपरिणतिम् ।
परिम्लानप्रायामनुवदति दृष्टिः कमलिनी—
मितीयं माधुर्यं स्पृशति च तनुत्वं च भजते ॥"

रसकविः— "युतां विलोक्य तनूदरि ताम्रपर्णी—
मम्भोनिधौ विवृतशुक्तिपुटोद्धृतानि ।
यस्याः पयांसि परिणाहिषु हारमूर्त्या
वामभ्रुवां परिणमन्ति पयोधरेषु ॥"

मार्गकविः— "मूलं बालकवीरुधां सुरभयो जातीतरूणां त्वचः
सारश्चन्दनशाखिनां किसलयान्यार्द्राण्यशोकस्य च ।
शैरीषी कुसुमोद्गतिः परिणमन्मोचं च सोऽयं गणः
ग्रीष्मेणोष्महरः पुरा किल दत्ते वधाय पञ्चेषवे ॥"

शास्त्रार्थकवि — "आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्ता-
त्तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम् ॥"

एषां द्वित्रैर्गुणैः कनीयान्, पञ्चकैर्मध्यमः, सर्वगुणयोगी महाकविः ।

दश च कवेरवस्था भवन्ति । तत्र च बुद्धिमदाहार्यबुद्ध्योः सप्त, तिस्रश्च औपदेशिकस्य । तद्यथा काव्यविद्यास्नातको, हृदयकविः, अन्यापदेशी, सेविता, घटमानो, महाकविः, कविराजः, आवेशिकः, अविच्छेदी, संक्रामयिता च ।

यः कवित्वकामः काव्यविद्योपविद्याग्रहणाय गुरुकुलान्युपास्ते स विद्यास्नातकः ।

यो हृदय एव कवते निह्नुते च स हृदयकविः ।

यः स्वमपि काव्यं दोषभयादन्यस्येत्यपदिश्य पठति सोऽन्यापदेशी ।

यः प्रवृत्तवचनः पौरस्त्यानामन्यतमच्छायामभ्यस्यति स सेविता ।

योऽनवद्यं कवते न तु प्रबध्नाति स घटमानः ।

योऽन्यतरप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः ।

यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः । ते यदि जगत्यपि कतिपये ।

यो मन्त्राद्युपदेशवशाल्लब्धसिद्धिरावेशसमकालं कवते स आवेशिकः ।

यो यदैवेच्छति तदैवाविच्छिन्नवचनः सोऽविच्छेदी ।

यः कन्याकुमारादिषु सिद्धमन्त्रः सरस्वतीं संक्रामयति स संक्रामयिता ।

काव्य-पाकः

सततमभ्यासवशात् सुकवेर्वाक्यं पाकमायाति । "कः पुनरयं पाकः ?" इत्याचार्याः । "परिणामः" इति मङ्गलः । "कः पुनरयं परिणामः ?" इत्याचार्याः । "सुपां तिङां च श्रव. (ति ?) या व्युत्पत्तिः" इति मङ्गलः । सौशब्द्यमेतत् । "पदनिवेशनिष्कम्पता पाकः" इत्याचार्याः । तदाहुः —

"आवापोद्धरणे तावद्यावद्दोलायते मनः ।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥"

"आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायस्तस्मात्पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाकः" इति वामनीयाः ॥ तदाहुः—

"यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम् ।
तं शब्दन्यायनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥'

'इयमशक्तिर्न पुनः पाकः" इत्यवन्तिसुन्दरी । यदेकस्मिन्वस्तुनि महाकवीनामनेकोऽपि पाठः परिपाकवान्भवति, तस्माद्रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धनः पाकः । यदाह—

"गुणालङ्काररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः ।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति ॥'

तदुक्तम्— 'सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥"

"कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिवेद्यः परं पाकोऽभिधाविषयस्ततः सहृदयप्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहाराङ्गमसौ" इति यायावरीयः ।

स च कविग्रामस्य काव्यमभ्यस्यतो नवधा भवति ।
तत्राद्यन्तयोरस्वादु पिचुमन्दपाकम्,
आदावस्वादु परिणामे मध्यमं बदरपाकम्,
आदावस्वादु परिणामे स्वादु मृद्वीकापाकम्,
आदौ मध्यममन्ते चास्वादु वार्ताकपाकम्,
आद्यन्तयोर्मध्यमं तिन्तिडीकपाकम्,
आदौ मध्यममन्ते स्वादु सहकारपाकम्,
आदावुत्तममन्ते चास्वादु क्रमुकपाकम्,
आदावुत्तममन्ते मध्यमं त्रपुसपाकम्,
आद्यन्तयोः स्वादु नालिकेरपाकमिति ।

तेषां त्रिष्वपि त्रिकेषु पाकाः प्रथमे त्याज्याः । वरमकविर्न पुनः कुकविः स्यात् । कुकविता हि सोच्छ्वासं मरणम् । मध्यमाः संस्कार्याः । संस्कारो हि सर्वस्य गुणमुत्कर्षयति । द्वादशवर्णमपि सुवर्णं पावकपाकेन हेमीभवति । शेषा ग्राह्याः ।

स्वभावशुद्धं हि न संस्कारमपेक्षते । न मुक्तामणेः शाणस्तारतायै प्रभवति ।

अनवस्थितपाकं पुनः कपित्थपाकमामनन्ति । तत्र पलालधूननेन अन्नकणलाभवत्सुभाषितलाभः ।

सम्यगभ्यस्यतः काव्यं नवधा परिपच्यते ।
हानोपादानसूत्रेण विभजेत्तद्धि बुद्धिमान् ॥

अयमत्रैव शिष्याणां दर्शितस्त्रिविधो विधिः ।
किन्तु त्रिविधमप्येतत्त्रिजगत्यस्य वर्तते ॥ (पृष्ठ ४०-५२)

४ काव्यार्थ

सोऽयमित्थंकारमुल्लिख्योपजीव्यमानो निःसीमार्थसार्थः सम्पद्यते । अस्तु नाम निःसीमार्थसार्थः । किन्तु द्विरूप एवासौ विचारितसुस्थोऽविचारितरमणीयश्च । तयोः पूर्वमाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तरं काव्यानि' इत्यौद्भटाः ।

यथा— 'अपां लङ्घयितुं राशिं यथा पिञ्जरयन्नभः ।
समुत्पपात हनुमान्नीलोत्पलदलद्युतिः ॥'

यथा वा— 'तं प्राकारामसिश्यामामुत्पत्य परमर्षयः ।
आसेदुरोषधिप्रस्थं मनसा समरंहसः ॥'

यथा च—

'तदेव वारि सिन्धूनां महत्स्वेमाचिचामिति' इत्यादि ॥

'न स्वरूपनिबन्धनमिदं रूपमाकाशस्य सरित्सलिलादेर्वा किन्तु प्रतिभासनिबन्धनम् । न च प्रतिभासस्तादात्म्येन वस्तुव्यवतिष्ठते यदि तथा स्यात्सूर्याचन्द्रमसोर्मण्डले दृष्ट्या परिच्छिद्यमानद्वादशाङ्गुलप्रमाणे पुराणागमनिवेदितपरावलयमात्रे न स्तः' इति यायावरीयः । एवं नक्षत्रादीनां सरित्सलिलादीनामन्येषां च । यथाप्रतिभासं च वस्तुनः स्वरूपं शास्त्रकाव्ययोर्निबन्धोपयोगि । शास्त्रे यथा—

"प्रशान्तजलभृत्पङ्के विमले वियदम्भसि ।
ताराकुमुदसम्बन्धे हंसायत इवोडुराट् ॥"

काव्यानि पुनरेतन्मयान्येव ।

"अस्तु नाम निःसीमार्थसार्थः । किन्तु रसवत एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य" इति आपराजितिः ।

यदाह— "मज्जनपुष्पावचयनसन्ध्याचन्द्रोदयादिवाक्यमिह ।
सरसमपि नातिबहुल प्रकृतरसानन्वित रचयेत् ॥"
"यस्तु सरिदद्रिसागरपुरतुरगरथादिवर्णने यत्न ।
कविशक्तिख्यातिफलो विततधियां नो मत स इह ॥"

'आम्' इति यायावरीय । अस्ति चानुभूयमानो रसस्यानुगुणो विगुणश्चार्थः, काव्ये तु कविवचनानि रसयन्ति विरसयन्ति च नार्थाः, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चेदमुपलभ्यते ।

तत्र सरिद्वर्णनरसवत्ता—"एतां विलोकय तलोदरि ! ताम्रपर्णी—
मम्भोनिधौ विवृतशुक्तिपुटोद्धृतानि ।
यस्याः पयांसि परिणाहिषु हारमूर्त्या
वामभ्रुवां परिणमन्ति पयोधरेषु ॥"

अद्रिवर्णनरसवत्ता—

"एतास्ता मलयोपकण्ठसरितामेणाक्षि ! रोधोभुव—
श्चापाभ्यासनिकेतन भगवतः प्रेयो मनोजन्मन ।
यासु श्यामनिशासु पीततमसो मुक्तामयीश्चन्द्रिका ।
पीयन्ते विवृतोर्ध्वचञ्चुविचलत्कण्ठं चकोराङ्गना ॥"

सागरवर्णनरसवत्ता—

"यत्ते सरिक्तकिञ्चिल्लोक्युक्तामेणीदृशां वारुणी
चैत्यं विदधाति दर्पतिरयो यच्चन्द्रिकाढ्ं नभः ।
यच्च स्वर्गसदां वयः स्मरसुहृत्सितय सदा सम्पदां
तल्लक्ष्मीरधिदैवत च जलधेस्तत्कान्तभावेप्सितम् ॥"

एव पुरतुरगादिवर्णनरसवत्तापि ।

विप्रलम्भेऽप्यतिरसवत्ता—

"विघटमाणो मायास्तदुपहितवृत्तेर्न धृतये
सङ्कल्पवादन्ये विहितविफलौत्सुक्यविरसा ।
ततः स्वेच्छ पूर्वव्यसजदितरेभ्यः प्रतिहत
क्व हीन प्रेयस्या हृदयमिवमन्यत्र रमताम् ॥"
कुकविर्विप्रलम्भेऽपि रसवत्तां निरस्यति ।
वस्तु वस्तुव मा वा सूक्तिविवाचि रसः स्थिता ॥

"यथा तथा वास्तु वस्तुनो रूपं, वक्तृप्रकृतिविशेषायत्ता तु रसवत्ता । तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते" इति पाल्यकीर्तिः ।

> 'येषां वल्लभया समं क्षणमिव स्फारा क्षपा क्षीयते
> तेषां शीततरः शशी विरहिणामुल्केव सन्तापकृत् ।
> अस्माकं न तु वल्लभा न विरहस्तेनोभयभ्रंशिना—
> मिन्दू राजति दर्पणाकृतिरयं नोष्णो न वा शीतलः ॥"

"विदग्धभणितिभङ्गिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं नियतस्वभावम्" इति अवन्तिसुन्दरी । तदाह—

> 'वस्तुस्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रो
> गुणागुणावुक्तिवशेन काव्ये ।
> स्तुवन्निबध्नात्यमृतांशुमिन्दुं
> निन्दंस्तु दोषाकरमाह धूर्तः ॥'

"उभयमुपपन्नम्" इति यायावरीयः ।

स पुनर्द्विधा । मुक्तकप्रबन्धविषयत्वेन । तावपि प्रत्येकं पञ्चधा । शुद्धः, चित्रः, कथोत्थः, संविधानकभूः, आख्यानकवांश्च । तत्र मुक्तेतिवृत्तः शुद्धः । स एव सप्रपञ्चश्चित्रः । वृत्तेतिवृत्तः कथोत्थः । सम्भावितेतिवृत्तः संविधानकभूः । परिकल्पितेतिवृत्त आख्यानकवान् । तत्र । × × × (पृष्ठ १०८-११४)

किञ्च । संस्कृतवत्सर्वास्वपि भाषासु यथासामर्थ्यं यथारुचि यथाकौतुकं चावहितः स्यात् । शब्दार्थयोश्चाभिधानाभिधेयव्यापारप्रगुणतामवबुध्येत ।
तदुक्तम्—

> एकोऽर्थः संस्कृतोक्त्या स सुकविरचनः प्राकृतेनापरोऽस्मिन्
> अन्योऽपभ्रंशगीर्भिः किमपरमपरो भूतभाषाक्रमेण ।
> द्वित्राभिः कोऽपि वाग्भिर्भवति चतसृभिः किञ्च कश्चिद्विवेक्तु
> यस्येत्थं धीः प्रगल्भा स्नपयति सुकवेस्तस्य कीर्तिर्जगन्ति ॥

> "इत्यद्वारं घनैरर्थैर्यं स्वप्रमनसः कवेः ।
> दुर्गमेऽपि भवेन्मार्गे कुण्ठिता न सरस्वती ॥ (पृष्ठ ११६ १२०)

धनंजय और धनिक

समय—१०वीं शती ई० का उत्तरार्द्ध

[ग्रन्थ—दशरूपक]

१. रूपक के भेद

(धनंजय के अनुसार) रूपक के दस भेद हैं —नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और ईहामृग ॥१।८॥

२. नृत्य और नृत्त

ताल और लय पर आश्रित नाच नृत्त कहलाता है और भाव अर्थात् अभिनय पर आश्रित नृत्य।

इनमें नाच, अर्थात् नृत्य, में पदों से व्यक्त अर्थ का अभिनय होता है जिसके दो प्रकार हैं—मार्ग और देशी ॥१।९॥

अन्य, अर्थात् नृत्य के दो भेद है—लास्य और ताण्डव, जो क्रमशः मधुरता और उद्धतता पर आधृत हैं। ये दोनों भेद नाटकादि रूपकों में सहयोगी होते हैं ॥१।१०॥

३. रूपक के तीन आधार

रूपकों का वर्गीकरण तीन तत्त्वों पर आधारित है—वस्तु, नेता और रस।

[क] वस्तु

वस्तु के दो प्रकार हैं।—आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक वस्तु मुख्य होती है और प्रासंगिक उसकी अंगभूत ॥१।११॥

रूपक के फल का 'स्वाम्य' अर्थात् भोक्ता होना 'अधिकार' कहलाता है और उसका प्रभु (स्वामी) अधिकारी। निर्वर्त्य अर्थात् अभिनेय अधिकार को अभिव्याप्त करने वाला वृत्त 'आधिकारिक' कहलाता है ॥१।१२॥

जिस परार्थ अर्थात् मूल कथा से भिन्न वृत्त का अर्थ प्रसंगवश मूल कथा से सम्बद्ध होता है वह प्रासंगिक कहलाता है।

जो प्रासंगिक वृत्त आधिकारिक के साथ सर्वत्र रहता है वह 'पताका' कहलाता है और जो केवल किसी भाग से सम्बद्ध होता है वह 'प्रकरी' ॥१।१३॥

आधिकारिक वृत्त के तीन और भेद हैं :—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र।

किसी इतिहास ग्रन्थ पर आश्रित वृत्त 'प्रख्यात' कहलाता है और कवि-कल्पित 'उत्पाद्य'। उन दोनों से मिश्रित वृत्त 'मिश्र' कहलाता है ॥१।१५-१६॥

नाटकादि में पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ होती हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य ॥१।१८॥

वस्तु की पाँच अवस्थाएँ होती हैं :—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम ॥१।१९॥

इसी प्रकार पाँच सन्धियाँ होती हैं :—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और उपसंहृति।१॥२४॥

[ख] नेता

वस्तु के अनन्तर रूप के तत्त्वों में नेता (नायक) का स्थान है। वह निम्नलिखित गुणों से सम्पन्न होना चाहिए —

विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियवद, रक्तलोक, शुचि, वाग्मी, रूढवंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, उत्साहवान्, स्मृतिवान् प्रज्ञावान्, कलासमन्वित, मान-समन्वित, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रचक्षु और धार्मिक ॥२।१-२॥

[ग] रस

(क) रस का लक्षण

जब स्थायी भाव विभावों अनुभावों, सात्त्विक भावों और व्यभिचारी भावों द्वारा स्वाद्य बना दिया जाता है तो रस कहलाता है ॥४।१॥

(ख) विभाव और उसके भेद

ज्ञायमान होने के कारण भाव की पुष्टि करने वाला तत्व विभाव कहलाता है। उसके दो भेद हैं—आलम्बन और उद्दीपन ।।४।२।।

विभाव का तात्पर्य है स्पष्ट रूप से ज्ञात अर्थ। इन विभावों की सत्ता वस्तु शून्य नहीं होती क्योंकि उन्हें अपनी व्यंजना के लिए किसी बाह्य सत्व की आवश्यकता नहीं तथा वे अपने शब्दों द्वारा ही अपना भाव पूर्ण कर देते हैं तथा सामान्यात्म होने के कारण अपने-अपने सम्बन्ध से (नायिकादि के प्रति) भावन के चित्त में विपरि-वर्तमान होते हैं। इसीलिए ये आलम्बनादि कह जाते हैं। भर्तृहरि ने भी इनको वस्तु शून्य न मान कर कहा है —शब्दों से उपहित रूप वाले और बुद्धि के विषय बने हुए कंसादिक विभाव साधन-रूप हैं। पट्साहस्रीकार ने भी कहा है, 'इन (विभावों) के सामान्य गुण योग से रस निष्पन्न होते हैं।" (पृष्ठ ७७)

अन्य चित्त-वृत्तियाँ इन्हीं अनुभावों और विभावों के अनुसार प्रविष्ट होती हैं अत उनके पृथक् विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

(ग) स्थायी भाव

जो विरुद्ध अथवा अविरुद्ध किसी भी प्रकार के भावों से विच्छिन्न नहीं होता और लवणाकर के समान उन अन्य भावों को आत्मभाव में परिणत कर लेता है वह 'स्थायी भाव' कहलाता है ।।४।३४।।

सजातीय अथवा विजातीय किसी भी प्रकार के भावान्तरों से तिरस्कृत न होकर उपनिबध्यमान रत्यादि भाव स्थायी कहलाते हैं। यथा—बृहत्कथा में मदनमञ्जूषा पर नरवाहन दत्त का अनुराग। वह बीच-बीच में अन्य अनेक नायिकाओं में अनुराग उत्पन्न होने पर भी तिरस्कृत नहीं होता अर्थात् अन्य नायिकाओं के प्रति अनुराग होने पर भी मदनमञ्जूषा के प्रति अनुराग यथावत् बना रहता है। अतः वह स्थायी' है।

इस प्रकार एक भाव के बीच में न तो अन्य अविरोधी भाव का समावेश विरोधी होता है और न विरोधी का। क्योंकि विरोधी का अर्थ है सहानवस्थान (*अर्थात् दोनों का एक साथ न अवस्थित रह सकना*) और बाध्य-बाधक भाव। इन दोनों स्थितियों में तादात्म्य सम्भव नहीं क्योंकि उसका आविर्भाव एक-रूपत्व से ही सम्भव है। स्थायी भाव का और विभावादि का विरोध होने पर भी चित्त के रसादिभावों में उपरक्त होने के कारण सहानवस्थान दोष नहीं आता और अविरोधी व्यभिचारी भावों का स्रक्सूत्रन्याय से उपनिबन्धन तो समस्त भावकों के लिए

स्वानुभूति-सिद्ध है। जिस प्रकार वह स्वसंवेदन सिद्ध है उसी प्रकार काव्य-व्यापार से उत्तेजित होकर अनुकार्य में आवेश्यमान होता हुआ चित्त के सम्पर्क में आकर वैसे ही आनन्दानुभव का उन्मीलन करने लगता है। इससे यह स्पष्ट है कि भावों का सहानवस्थान नहीं होता।

बाध्य-बाधक भाव का तात्पर्य है एक प्रकार के भावों का अन्य प्रकार के भावों से तिरस्कार। व्यभिचारी और स्थायी भाव का आनन्तर्य-विरोध भी सम्भव नहीं, क्योंकि अंग प्रधान से विरुद्ध नहीं हो सकता और व्यभिचारी भाव स्थायी का अंग होता है अतः व्यभिचारी (अंग) और स्थायी (अंगी) के विरोध की सम्भावना भी अपास्त हो गई।

मालती माधव में शृंगार के अनन्तर बीभत्स का उपनिबन्ध है फिर भी किसी प्रकार की विरसता नहीं आती। इससे स्पष्ट है कि विरुद्ध रस तभी विरोध का कारण बनता है जब सतत उसी का अवलम्बन किया जाये। किन्तु सत्त्व-विरुद्ध रसान्तर का व्यवधान होने पर विरुद्ध रस भी विरोधी नहीं होता। (पृष्ठ ६०-६१)

श्लेषादि वाक्यों में जहाँ अनेक तात्पर्य होते हैं वहाँ भी वाक्यार्थ की भिन्नता और स्वतन्त्र रूप से दो अर्थ होने के कारण दोष नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार रसादिभावों के उपनिबन्ध में कहीं भी दोष नहीं होता। इसी प्रकार रसादि पदों के प्रयोग से भी कोई दोष उत्पन्न नहीं होता क्योंकि वाच्य का तात्पर्य नहीं रहता है।

स्थायी भाव ये हैं:—रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, स्मय, भय और शोक। कुछ आचार्य शम को भी स्थायी भाव मानते [redacted] पर नाट्य में उसकी पुष्टि नहीं होती ॥४।३५॥

शान्तरस के विरुद्ध अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं। कुछ आचार्य कहते हैं, 'शान्त' नामक रस ही नहीं होता क्योंकि आचार्य (भरत) ने न तो उसका लक्षण दिया और न उसके विभावादि का प्रतिपादन किया। अन्यों के अनुसार शान्त का वस्तुतः ही अभाव है, क्योंकि अनादिकाल से चले आ रहे रागद्वेषादि का उच्छेद असम्भव है। कुछ आचार्य वीर, बीभत्स आदि में ही उसका अन्तर्भाव कर देते हैं। ऐसा कहने वाले तो 'शम' की भी सत्ता नहीं मानते। अस्तु जो भी हो, हम नाटकादि अभिनेय काव्यों में शम के स्थायित्व का निषेध करते हैं क्योंकि शम में समस्त व्यापारों का विलय हो जाता है। अतः वह अनभिनेय है। (पृष्ठ ६२)

अतः स्थायी भाव आठ ही हैं। "आचार्यों ने इनका रसत्व इसीलिए माना है कि ये मधुरादि के समान रसनशील अर्थात् स्वाद्य हैं। और स्वाद्यत्व निर्वेदादि (व्यभिचारियो) में भी पर्याप्त है अतः वे भी रस हैं। इस प्रकार उपर्युक्त (आठ भावों के अतिरिक्त) अन्य भावो से भी रस का अभ्युपगम हो सकता है। अतः अन्य स्थायी भी सम्भव है,"—*यह शंका भी उपस्थित हो सकती है, परन्तु यह धारणा तर्क-संगत* नहीं है। क्योंकि—

निर्वेदादि में तद्रूपता नहीं है अतः वे अस्थायी हैं और स्वाद्य नहीं हैं। इसलिए इनकी पुष्टि विरसता का ही कारण बन सकती है अतः आठ ही स्थायी भाव मान्य हैं॥४।३६॥

निर्वेद आदि (संचारी भाव) विरुद्ध अथवा अविरुद्ध किसी भी प्रकार के भावो के सम्पर्क में अविच्छिन्न नहीं रहते, अतः वे अस्थायी हैं। इसीलिए वे परस्पर चिन्ता आदि के अन्तर्गत आकर यदि परिपुष्ट भी हो तो विरसता का ही कारण बनते हैं। क्योंकि फिर तो हास्यादि में भी (कभी-कभी निष्फलता होने के कारण) अस्थायित्व मानना पड़ेगा। और परम्परा से निर्वेदादि भी फलवान् होते हैं (अतः उन्हें भी स्थायी मानना होगा)। अतः अस्थायित्व का प्रयोजक निष्फलत्व नहीं है किन्तु विरुद्ध अथवा अविरुद्ध भावों से तिरस्कृत न होना स्थायित्व का प्रयोजक है। निर्वेदादि में ये गुण नहीं है अतः वे स्थायी नहीं हैं। इसीलिए उनका रसत्व भी नहीं बताया गया। इस प्रकार अस्थायित्व के कारण इनकी अरसता है और इनका काव्य से सम्बन्ध भी क्या है ?

(४) रस और शब्द-शक्ति का सम्बन्ध

रसो का वाच्य-वाचक भाव मानना ठीक नहीं क्योंकि इनका आवेदन इनके वाचक शब्दो से नहीं होता। काव्य में शृंगार आदि रसो के प्रकरण में न तो शृंगारादि शब्द होते हैं और न रत्यादि, जिससे अभिधा शक्ति को उनके परिपोष का कारण माना जा सके। यदि वहाँ शृंगार, रति आदि शब्दों का प्रयोग होता है तो भी रस के निष्पादक उन के अभिधान मात्र नहीं होते किन्तु विभावादि ही होते हैं। इसी प्रकार लक्ष्य-लक्षक भाव भी रस का मूल नहीं है क्योंकि उसके सामान्य अभिधायक लक्षक पद का भी काव्यादि में प्रयोग नहीं होता। और लक्षित लक्षणा से रस की प्रतिपत्ति भी नहीं होती। जैसी कि 'गगायां घोष' आदि में (प्रतिपत्ति) होती है। इस उदाहरण में 'गगा' शब्द अपने निजी अर्थ से स्खलित हो गया है, क्योंकि उसका निजी अर्थ वहनशीलता का द्योतक है और उस स्थिति में उस पर 'घोष' की अवस्थिति

संभव नहीं है। अत 'गगा' शब्द अपना अर्थ छोड कर उससे भिन्न 'तट' शब्द का उपलक्षक बन गया है। किन्तु नाटकादि में यह सभव नही है क्योंकि नायकादि अपने अर्थ से स्खलित होकर किसी अर्थान्तर के उपलक्षक नही बन सकते। और कोई व्यक्ति मुख्य के होते हुए बिना किसी निमित्त और प्रयोजन के उपलक्षक का प्रयोग भी क्यो करेगा, जैसा कि वह 'सिंहो माणवक' आदि में करता है। क्योंकि इस वाक्य में तो 'सिंह' शब्द वीरता का सूचक है अत सप्रयोजन है। अत गौणी लक्षणा से भी प्रतीति नही होती। यदि वाच्यत्वमात्र से रस निष्पत्ति सम्भव हो तो अव्युत्पन्न चित्त वाले अरसिको को भी रसास्वाद प्राप्त हो जायेगा। परन्तु वस्तुत केवल सहृदयो को ही रसानुभूति होती है। इसलिए कुछ आचार्य वाच्य भिन्न, और अभिधा, शुद्धा लक्षणा और गौणी लक्षणा आदि से व्यतिरिक्त, व्यजकत्व लक्षण वाले शब्द-व्यापार की कामना करते हैं और उसी को रस तथा अलकार का मूल मानते हैं। अत विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावो से उत्पन्न होने वाली रसो की प्रतिपत्ति वाच्य कैसे हो सकती है। अन्य रसो में भी यही न्याय है। रसों में ही नहीं वस्तुमात्र और अलकारो में भी यही न्याय है। (पृष्ठ ९१ ९४)

ध्वनि के दो भेद हैं —विवक्षित वाच्य और अविवक्षित वाच्य। अविवक्षित वाच्य के पुन दो भेद है —अत्यन्त तिरस्कृत स्वार्थ और अर्थान्तरसक्रमित वाच्य। विवक्षित वाच्य के भी दो भेद हैं,—असलक्षित क्रम और क्रमद्योत्य। जहाँ असलक्ष्य-क्रम हो और व्यग्यार्थ की प्रधानता हो वहाँ रसादि होते हैं और जहाँ व्यनित्व अगभूत हो वहाँ रसवत् अलकार होता है।

जिस प्रकार वाच्य अथवा (शब्दो में व्यक्त) प्रकरणादि सेबुद्धिस्थ क्रिया कारकों से युक्त होकर वाक्यार्थ बन जाती है वैसे ही स्थायी भाव अन्य विभाव, अनुभाव, सचारी भावों से युक्त होकर वाक्यार्थ बन जाता है ॥४।३७॥

अर्थात् जिस प्रकार 'गामभ्याज' आदि श्रूयमाण क्रिया वाले लौकिक वाक्यों की क्रिया अथवा 'द्वारम् द्वारम्' आदि वाक्यों में अपने शब्दो के उपादान से प्रकरणानुसार बुद्धिस्थ क्रिया कारकों से युक्त होकर वाक्यार्थ बनती है उसी प्रकार 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' आदि काव्यो में अपने शब्दो के उपादान से अथवा कहीं-कहीं प्रकरणानुसार नियत किन्तु शब्दों द्वारा अव्यक्त विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावो से भी रति आदि स्थायी भाव भावक के चित्त में उत्पन्न हो कर सस्कार-परम्परा से प्रौढि को प्राप्त होता है और रत्यादि वाक्यार्थ व्यक्त करता है। यह कथन ठीक नहीं कि वाक्यों का अर्थ पदो का अर्थ नही होता (उससे भिन्न होता है), क्योंकि तात्पर्य शक्ति भी कार्य-पर्यवसायिनी होती है। पौरुषेय तथा अपौरुषेय सभी प्रकार के वाक्य कार्य परक होते

है। यदि कार्य-परक न हों तो उन्मत्त के वाक्य के समान निरर्थक होंगे और काव्य के शब्द तो अन्वय अथवा व्यतिरेक द्वारा निरतिशय सुख से ही हो जायेंगे, जिससे प्रतिपाद्य तथा प्रतिपादक किसी भी प्रवृत्ति विषय की प्रयोजन-सिद्धि न कर सकेंगे। अतः काव्य शब्दों का कार्यत्व उत्तम आनन्दानुभूति ही है, यह स्पष्ट हो जाता है।

विभावादि से संसृष्ट स्थायीभाव ही उसका निमित्त विदित होता है। अतः वाक्य की अभिधान-शक्ति सभी भाव्य-पर्यवसायिनी होती है, जब विभिन्न रसों से आकृष्ट होकर उन विशिष्ट रसों के लिए अपेक्षित अवान्तर विभावादि द्वारा प्रतिपादित होती है। विभावादिक पदों के अर्थ में विद्यमान रहते हैं और उनसे संसृष्ट रति आदि [स्थायी भाव] वाक्यार्थ होते हैं। इस प्रकार का वाक्य 'काव्य-वाक्य' कहलाता है जिसके पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों होते हैं। यदि ऐसा न हो तो काव्य के गीतादि के समान सुखजनक होने पर भी उसमें वाच्य-वाचक भाव व्यर्थ होगा। विशिष्ट विभावादि सामग्री भी उन्हीं विद्वानों को रस की उद्भूति करा सकती है जिनमें वह भावना पहले से हो अतः उसका अतिप्रसंग भी सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार वाक्यार्थ-निरूपण में परिकल्पित अभिधा शक्ति से समस्त वाक्यार्थ समक्ष में आने पर अन्य शक्ति की कल्पना प्रयास मात्र है।

×　　×　　×

अतः रसादि का काव्य के साथ व्यंग्य-व्यंजक-संबंध नहीं है। तो क्या भाव्य-भावक-सम्बन्ध है? काव्य भावक है और रसादि भाव्य। रसादि विशिष्ट विभावादि वाले काव्य द्वारा भावक शब्दों में स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं, न कि अन्य प्रकार के शब्दों में। वैसे ही भाव्यभावक-लक्षण-सम्बन्ध का अभाव होने पर काव्य शब्दों में भी रसादि का भावन नहीं होता। क्योंकि भावना-क्रिया-वादियों ने इसी मत को अंगीकार किया है। [भरत ने] कहा भी है:—

"क्योंकि ये [भाव] भावों के अभिनय से सम्बन्ध रसों को भावित करते हैं अतः इन्हें 'भाव' इस नाम से नाट्य-योजक जानते हैं।' अतः अगृहीत सम्बन्ध वाले पदों में स्थायी॰ आदि की प्रतीति कैसे हो सकती है। यदि हो जाये तो जिस प्रकार लोक में रत्यादि की चेष्टाओं से युक्त स्त्री पुरुषों से रत्यादि अविनाभूत है (अर्थात् नहीं किये जा सकते), उसी प्रकार यहाँ (काव्यादि में) रत्यादि से अविनाभूत चेष्टादि के प्रतिपादक शब्दों में अभिधेय अविनाभूत हैं और इसी से तात्कालिक रति आदि की प्रतीति होती है।

५ रसास्वाद और उस के भोक्ता

स्थायी भाव स्वाद्यत्व के कारण रस बनता है और वह रसिक में ही विद्यमान होता है अनुकार्य में नहीं क्योंकि रसिक ही विद्यमान है। अनुकार्य तो केवल वृत्त है अर्थात् पहले वर्त्तमान था, अब नहीं है ॥४।३८॥

काव्य भी अनुकार्य परक नहीं है, रसिक-परक है, क्योंकि रसिक ही वर्त्तमान है। रस की प्रतीति लौकिक दर्शक को ही हो सकती है जो स्वरमती समुक्त है और जो प्रसंगागत क्रीडा, ईर्ष्या, राग, द्वेष आदि (सचारियों) का दर्शन करता है। अतः रस दर्शकवर्त्ती है, अनुकार्यवर्त्ती नहीं ॥४।३९॥

काव्यर्थोपप्लावित रति आदि स्थायी भाव रसिक-वर्त्ती हैं—इसका पुनः स्पष्टीकरण किया जाता है। यह स्वाद्यता-अर्थात् निर्भर आनंद की संवित्ति के रूप-को प्राप्त होन वाला रस रसिक-वर्त्ती है क्योंकि रसिक ही वर्तमान है, अनुकार्यवर्त्ती नहीं है, क्योंकि रामादि अनुकार्य भूतकाल में विद्यमान थे अब नहीं हैं (अत उनमें कैसे हो सकता है ?) शब्दोपहित रूप से अवर्तमान का भी वर्तमान के समान अवभास अपेक्षित होता है। फिर भी उस अवभास का अनुभव हमें भी करना है अत: हमारे आस्वाद के विभाव के रूप में रामादि का वर्तमानवत् अवभास भी इष्ट ही है। क्योंकि कवि लोग काव्य का प्रवर्त्तन रामादि के रसोपजनन के लिए नहीं करते किन्तु सहृदयों के आनन्द के लिए करते हैं। अत रस समस्त-भावक स्वयवेद्य होता है। यदि शृंगार अनुकार्य रामादि में ही हो तो नाटकादि में उसे देखकर स्वकान्ता-संयुक्त नायक के दृश्यमान होने पर प्रेक्षकों को केवल यह प्रतीति होगी कि नायकादि शृंगारवान् हैं न कि रस का आस्वाद होगा, अपितु उससे लज्जा उत्पन्न होगी और असूया तथा अनुराग के अपहार की इच्छा उत्पन्न होगी। ऐसा होने से रसादि की व्यंग्यता अपास्त हो जायेगी। एक से सत्तावान् होने वाली वस्तु तदभिन्न अन्य से व्यक्त हो जाती है। जैसे प्रदीप से घटादि व्यक्त होते हैं। यह पहले ही निवेदन कर चुके हैं कि विभावादि के द्वारा प्रेक्षक में रसादि भावित होते हैं।

यदि रस सामाजिकों में आश्रित है तो विभाव कौन हैं ? सीतादि देवियाँ कैसे विभाव हो सकती हैं ? यहाँ विरोध क्यों नहीं अर्थात् सीतादि का विभाव बनना कैसे सभव है सो आगे बता रहे हैं।

धीरोदात्तादि अवस्थाओं के प्रतिपादक रामादि रत्यादि भावों को विभावित (विज्ञातार्थ) करते हैं और तब रसिक उनका आस्वादन करते हैं ॥४।४०॥

कवि लोग योगियों के समान ध्यान चक्षु से देख कर रामादि की विशिष्ट अवस्थाओं का इतिहास के समान उपनिबन्धन नहीं करते, तो क्या सर्वलोक साधारण तथा माध्यममात्र में रहने वाली धीरोदात्तादि अवस्थाओं को अपनी उत्प्रेक्षा से प्राप्त कर उन्हें धारण करते हैं और वे अपने विशेषाश्रयत्व को छोड़कर रस का कारण बन जाती हैं। फिर सीतादि शब्द अपने जनकतनयादि विशिष्ट अर्थों को छोड़कर स्त्री-भाववाचक बन कर क्या अनिष्ट करेंगे ? तो फिर उनकी उपादेयता क्यों है ? इस विषय में कहते हैं —

'जिस प्रकार मिट्टी के बने हाथी आदि खिलौनों से खेलने वाले बालकों का उत्साह बढ़ता है वैसे ही अर्जुनादि (के अभिनेता नटों) से उत्साह का श्रोतागरण आस्वादन करते हैं ।।४।४१-४२।।

यह कहा जाता है। यहाँ स्त्री आदि विभावों का उपयोग वैसा नहीं होता जैसा लौकिक शृंगारादि में होता है तो क्या ऊपर प्रतिपादित रीति से नाट्य-रसों की लौकिक रसों से विलक्षणता है। क्योंकि कहा है—'नाट्य-रस आठ हैं।'

नर्तक में भी आस्वाद —

काव्य के अर्थ से भावित आस्वाद नर्तक में भी होता है उसे वारित नहीं किया जा सकता ।।४।४२।।

नर्तक भी लौकिक रस से रसवान् नहीं होता। क्योंकि वह भोग्य-रूप से अपनी महिलादि का ग्रहण तो करता नहीं, अतः वह केवल काव्यार्थ के भावन से हमारे समान काव्य रस का आस्वाद कर सकता है। वह उससे वंचित नहीं रह सकता।

६ काव्य से स्वादोद्भूति और रस संख्या

काव्य से स्वादोद्भूति कैसे होती है और उस स्वाद के क्या प्रकार होते हैं—इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

स्वाद काव्यार्थ के संभेद से आत्मानन्द रूप में उत्पन्न होता है और उसके मन की चार अवस्थाओं—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप के अनुसार चार भेद हैं—शृंगार, वीर, वीभत्स और रौद्र। उन्हीं चार से क्रमशः हास्य, अद्भुत, भय और करुण की उत्पत्ति है। इस प्रकार उनका पृथक्त्व है ।४।४३-४४।

विभावादि से संसृष्ट स्थाय्यात्मक काव्यार्थ के भावक के चित्त का संभेद-अन्योन्यसंवलित स्वपरविभाग की समाप्ति होने पर जिस प्रबलतर स्वानन्द की उद्-

भूति होती है वह 'स्वाद' कहलाता है। वह सामान्य स्वरूप वाला होने पर विभिन्न विभावादि से उत्पन्न होने के कारण चित्त की चार भूमियों में विभक्त होता है—जैसे शृंगार में विकास, वीर में विस्तार, बीभत्स में क्षोभ और रौद्र में विक्षेप। अपनी सामग्री से पुष्ट होने वाले अन्य चार—हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण-रसों की भी वे ही विकासादि चार-भूमियाँ होती हैं। इसलिए—

शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक उत्पन्न होते हैं। इनका सभेद की दृष्टि से ही हेतुहेतुमद् भाव दिखाया गया है, कार्य-कारण के अभिप्राय से नहीं, क्योंकि ये उत्पन्न तो अन्य कारणों से होते हैं।

'शृंगार की अनुकृति ही हास्य कहलाती है,' इत्यादि वचनों के अनुसार विकासादि के सभेद से ही स्पष्टीकरण और भेद-निश्चय होता है, अत. सभेद दृष्टि से रस आठ हैं। [अब प्रश्न यह है कि] शृंगार, वीर और हास्य में तो वाक्यार्थ के सभेद से आनन्दोद्भूति ठीक है, क्योंकि वे प्रमोदात्मक हैं, परन्तु करुणादि में यह कैसे संभव है, क्योंकि दुःखात्मक और करुणात्मक काव्य के श्रवण से रसिकों में तो दुःख का आविर्भाव और अश्रुपातादि उत्पन्न होते हैं, और यदि रस आनन्दात्मक हो तो इनका होना ठीक नहीं। यह ठीक है। परन्तु शृंगारादि का आनंद तो वैसा ही सुख-दुःखात्मक होता है जैसा लौकिक रूप से संभोगादि के समय (पुरुषों को) प्रहरणादि और [स्त्रियों को] कुट्टमितादि में होता है, जबकि काव्य-करुण लौकिक करुण से भिन्न होता है, क्योंकि करुण में रसिकों की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती दिखाई देती है और यदि वह लौकिक करुण के समान दुःखात्मक हो तो कोई प्रवृत्त न हो। एक मात्र करुण रस वाले रामायणादि महाप्रबन्धों का उच्छेद ही हो जाये। अश्रुपातादि तो वृत्त-वर्णन के सुनने से होते हैं, इसलिए लौकिक वैक्लव्य-दर्शन के समान प्रेक्षकों में उत्पन्न होते हैं, अत उनका आनंद विरोध नहीं। इस प्रकार अन्य रसों के समान करुण भी आनन्दात्मक ही है।

शान्त रस

शान्त रस अभिनेय नहीं है अत उसका नाटक में तो अनुप्रवेश नहीं, पर उसके काव्य-विषयत्व का निवारण नहीं किया जा सकता, क्योंकि सभी सूक्ष्मातीत-वस्तुऐं शब्दों से प्रतिपादित हो सकती हैं। अत उसकी सत्ता भी है ही। अतः शान्त का लक्षण देते हैं जो इस प्रकार है—

> शान्त रस अनिर्वाच्य और शम का प्रकर्ष है तथा मोद उसका स्वरूप है।४।४५
>
> अत उसकी विशेषतायें ये हैं —

'मुनिराजों ने उस रस को शान्त कहा, जिसमें सुख, दुःख, चिन्ता, द्वेष, राग, इच्छा आदि कुछ नहीं रहते और जिसमें सब भावों में शम प्रधान रहता है।'

इन लक्षणों वाले शान्त की निष्पत्ति आत्म-स्वरूप प्राप्त होने की मोक्षावस्था में ही होने के कारण उसकी अनिर्वचनीयता कही गई है। श्रुति ने भी उसका वर्णन 'नेति-नेति' कह कर अपोह रूप से किया है। उस शान्त रस का स्वाद लेने वाले सहृदय भी नहीं मिलते।

इसलिए शान्त रस का आस्वाद-निरूपण किया है। अब काव्य के अवान्तर व्यापार विभावादि का वर्णन कर के उपसंहार का प्रतिपादन करते हैं—

७ रस-स्वरूप का उपसंहार

चन्द्रादि विभावों, निर्वेदादि संचारियों और रोमांचादि अनुभावों से भावित हुआ स्थायी भाव ही रस कहा जाता है।४।४६, ४७।

अतिशयोक्ति रूप काव्य-व्यापार में आहित चन्द्रादि उद्दीपन विभावों, प्रमदादि आलम्बन विभावों, निर्वेदादि संचारियों और रोमांच, अश्रुक्षेप, कटाक्षादि अनुभावों से—जो अवान्तर व्यापार के रूप में पदों के अर्थ हैं—विभावित अर्थात् भाव-रूपता को प्राप्त 'स्थायी-भाव' जब स्वाद्य होता है। तब वह रस कहा जाता है।

आचार्य [भरत] ने रत्यादि स्थायी भावों और शृंगारादि रसों के विभावादि प्रतिपादन द्वारा पृथक् लक्षण बताये हैं। किन्तु इनके विभाव एक होने से इन दोनों—रस और भाव—के लक्षण एक ही हैं।४।४७।

८ शृङ्गार के विभाग—

शृंगार रस के ये तीन विभाग हैं—

अयोग, विप्रयोग और संभोग।

हमने विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग इसलिए नहीं किया कि वह सामान्य अभिधान है और अयोग तथा विप्रयोग विशिष्ट शब्द हैं। इनके प्रयोग से विप्रलम्भ का अर्थ उपचरित होने की शंका नहीं रहेगी। विप्रलम्भ में दोष यह भी है कि उसका प्रयोग मुख्यतः 'वंचना' के अर्थ में होता है जैसे यदि कोई नायक संकेत स्थल पर न आकर अन्य नायिका के पास चला जाये और संकेतित नायिका की संकेतित अवधि व्यतीत हो जाये तो 'विप्रलब्ध' कहलायेगा [और वह नायिका विप्रलब्धा]।

अयोग—जब परतंत्रता से अथवा दैवयोग से नये एक चित्त हुए नायक-नायिका का अनुराग होने पर सगम न हो सके वहाँ 'अयोग' शृंगार होता है ।५।५०-५१

योग का अर्थ है अन्योन्य स्वीकार और उसका अभाव है अयोग । परतन्त्रता से अथवा दैव, पिता आदि के अधीन होने से विप्रकर्ष होना 'अयोग' होता है—जैसे सागरिका का वत्सराज से, मालती का माधव से और गौरी का शिव से । उसकी (अयोग की) दस अवस्थायें हैं—

अभिलाषा, चिंतन, स्मृति, गुणकथा, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, सज्वर, जड़ता और मरण । ये उत्तरोत्तर दुरवस्थायें हैं । ४।५।५२ ।

अनुवादक—
पं० काशीराम शर्मा एम० ए०

धनञ्जयो धनिकश्च

[दशरूपकम्]*

१ रूपक-भेदाः

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥१।८॥

२ नृत्तं नृत्यञ्च

अन्यद्भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताललयाश्रयम् ।
आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ॥१।९॥

मधुरोद्धतभेदेन तद्द्वयं द्विविधं पुनः ।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥१।१०॥

३ रूपाणां भेदकनिरूपणम्

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः

(क) वस्तु

वस्तु च द्विधा ।
तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः ॥१।११॥
अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।

तन्निर्वर्त्यमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥१।१२॥
प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः ।

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥१।१३॥
प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् त्रेधापि तत् त्रिधा ।

प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ॥१।१५॥
मिश्रं च सङ्करात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः ॥१।१६॥

---

* निर्णयसागर प्रेस, बम्बई द्वारा सन् १९४१ में प्रकाशित पंचम संस्करण

बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः ।१।१८॥

आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ॥१।१९॥
मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ॥१।२४॥

(ख) नेता

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥२।१॥

बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥२।२॥

(ग) रस

(क) रसलक्षणम्

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥४।१॥

(ख) विभावः, तद्भेदौ च

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् ।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ॥४।२॥

यदुक्तं विभाव इति विज्ञातार्थ इति । × × × अमीषां चानपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दोपधानादेवासादिततद्भावानां सामान्यात्मनां स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता । तदुक्तं भर्तृहरिणा—‘शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान् । प्रत्यक्षमिव कंसादीन्साधनत्वेन मन्यते ॥” इति । षट्सहस्रीकृताप्युक्तम्—‘एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते” इति । (पृष्ठ ७७)

अन्ये च चित्तवृत्तिविशेषा एतेषामेव विभावानुभावस्वरूपानुप्रवेशान्न पृथग्वाच्याः ।

(ग) स्थायिभावः

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥४।३४॥

सजातीयविजातीयभावान्तरैरतिरस्कृतत्वेनोपनिबध्यमानो रत्यादिः स्थायी । यथा बृहत्कथायां नरवाहनदत्तस्य मदनमञ्जूषायामनुरागः । तत्तदवान्तरानेकनायिका-

नुरागैरतिरस्कृतः स्थायी । × × × तदनेन प्रकारेण विरोधिनामविरोधिनां च समावेशो न विरोधी । तथाहि—विरोधः सहानवस्थानं बाध्यबाधकभावो वा । उभयरूपेणापि न तावत्तादात्म्यमस्यैकरूपत्वेनैवाविर्भावात् । स्थायिनां च विभावादीनां यदि विरोधस्तत्रापि न तावत् सहानवस्थानं रत्याद्युपरक्ते चेतसि स्रक्सूत्रन्यायेनाविरोधिनां व्यभिचारिणां चोपनिबन्धः समस्तभावकस्वसंवेदनसिद्धः । यथैव स्वसंवेदनसिद्धस्तथैव काव्यव्यापारसंरम्भेणानुकार्येऽप्याधीयमानः स्वचेतःसंभेदेन तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुः संपद्यते । तस्मान्न तावद्भावानां सहानवस्थानम् । बाध्यबाधकभावस्तु भावान्तरैर्भावान्तरतिरस्कारः । स च व्यभिचारिणां स्थायिनामविरुद्धव्यभिचारिभिः स्थायिनोऽविरुद्धास्तेषामङ्गत्वात्प्रधान-विरुद्धस्य चाङ्गस्यायोगादानन्तर्यविरोधित्वमप्यनेन प्रकारेणापास्तं भवति । तथा च मालतीमाधवे शृङ्गारानन्तरं बीभत्सोपनिबन्धेऽपि न किंचिद्वैरस्यं तदेवमेव स्थिते विरुद्ध-रसैकालम्बनत्वमेव विरोधे हेतुः । तत्त्वविरुद्धरसान्तरव्यवधानेनोपनिबध्यमानो न विरोधी । (पृष्ठ ९०-९१)

यत्र तु श्लेषादिवाक्येष्वनेकतात्पर्यमपि तत्र वाक्यार्थभेदेन स्वतन्त्रतया चार्थ-द्वयपरतेत्यदोषः । (पृष्ठ ९२)

तदेवमुक्तप्रकारेण रत्याद्युपनिबन्धे सर्वत्राविरोधः । यथा वा अप्रमाणरत्यादि-ष्वपि वाक्येषु तथैव तात्पर्यम् । ते च

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः ।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥४।३५॥

इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः । तत्र केचिदाहुः—नास्त्येव शान्तो रसः । तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात् । अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति । अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात् । अन्ये तु वीर-बीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति । एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति । यथा तथास्तु । सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते । तस्य समस्तव्यापार-प्रविलयरूपस्याभिनयायोगात् ।

अतोऽष्टावेव स्थायिनः । ननु च 'रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः । निर्वेदादिष्वपि तत्प्रकाममस्तीति तेऽपि रसाः ॥' इत्यादिना रसान्तराणामप्यन्यैरभ्युप-गतत्वात्स्थायिनोऽप्यन्ये कल्पिता इत्यवधारणानुपपत्तिः ।

अत्रोच्यते—

> निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
> वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मता ॥४।३६॥

विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम् । अत एव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति । न च निष्फलावसानत्वमेतेषामस्थायित्वनिबन्धनहास्यादीनामप्यस्थायित्वप्रसङ्गात् । पारम्पर्येण तु निर्वेदादीनामपि फलवत्त्वात् । अतो निष्फलत्वमस्थायित्वे प्रयोजकं न भवति । किन्तु विरुद्धैरविरुद्धैर्भावैरतिरस्कृतत्वम् । न च निर्वेदादीनामिति न ते स्थायिनः । अतो रसत्वमपि न तेषामुच्यते । अतोऽस्थायित्वादेवैतेषामरसता । कः पुनरेतेषां काव्येनापि सम्बन्ध ?

४ रस—शब्दशक्त्यो

न तावद्वाच्यवाचकभावः स्वशब्दैरनावेदितत्वात् । न हि शृङ्गारादिरसेषु काव्येषु शृङ्गारादिशब्दा रत्यादिशब्दा वा श्रूयन्ते । येन तेषां तत्परिपोषस्य वाभिधेयत्वं स्यात् । यत्रापि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वमात्रेण । नापि लक्ष्यलक्षकभावस्तत्सामान्याभिधायिनस्तु लक्षकस्य पदस्याप्रयोगात् । नापि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः । यथा 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ । तत्र हि स्वार्थे स्रोतोलक्षणे घोषस्यावस्थानासम्भवात्स्वार्थं स्खलद्गतिर्गङ्गाशब्दः स्वार्थं विना भूतार्थोपलक्षितं तटमुपलक्षयति । अत्र तु नायकादिशब्दाः स्वार्थेऽस्खलद्गतयः कथमिवार्थान्तरमुपलक्षयेयुः ? को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुञ्जीत ? 'सिंहो माणवक' इत्यादिवत् । अतएव गुणवृत्त्यापि नेयं प्रतीतिः । यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्तिः स्यात्तदा केवलवाच्यवाचकभावमात्रव्युत्पन्नचेतसामप्यरसिकानां रसास्वादो भवेत् । न च काल्पनिकत्वमविगानेन सर्वसहृदयानां रसास्वादोद्भूतेः । अत केचिदभिधालक्षणागौणीभ्यो वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं व्यञ्जकत्वलक्षणं शब्दव्यापारं रसालङ्कारवस्तुविषयमिच्छन्ति । तथा हि—विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन रसादिप्रतिपत्तिरुपजायमाना कथमिव वाच्या स्यात् ? (पृष्ठ ६३)

रसान्तरेष्वप्ययमेव न्यायः । न केवलं रसेष्वेव यावद्वस्तुमात्रेऽपि ।

तथालङ्कारेष्वपि । (पृष्ठ ६४)

तस्य च ध्वनेर्विवक्षितवाच्याविवक्षितवाच्यत्वेन द्वैविध्यम् । अविवक्षितवाच्योऽप्यन्ततिरस्कृतस्वार्थोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्चेति द्विधा । विवक्षितवाच्यश्च असंलक्षित-

क्रमः क्रमद्योत्यश्चेति द्विविध । तत्र रसादीनामसंलक्ष्यक्रमे ध्वनित्वं प्राधान्यप्रतीतौ सत्यामङ्गत्वेन प्रतीतौ रसवदलंकार इति ।

अत्रोच्यते—

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया ।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः ॥४।३७॥

यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु 'गामभ्याज'—इत्यादिष्वश्रूयमाणक्रियेषु च 'द्वार द्वारम्' इत्यादिषु स्वशब्दोपादानात्प्रकरणादिवशाद् बुद्धिसंनिवेशिनी क्रियैव कारकोपचिता वाक्यार्थस्तथा काव्येष्वपि स्वशब्दोपादानात् क्वचित् 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्येवमादौ, क्वचिच्च प्रकरणादिवशान्नियताविहितविभावाद्यविनाभावाद्वा साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादिः स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारिभिस्तत्तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परया परं प्रौढिमानीयमानो रत्यादिर्वाक्यार्थः । न चापदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम् । कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्तेः । तथाहि पौरुषेयमपौरुषेयं वा वाक्यं सर्वं कार्यपरम् । अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तादिवाक्यवत्काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते । तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते । अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते । तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः । तदेतत्काव्यवाक्यम् । यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ । न चैवं सति गीतादिवत्सुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोगः । विशिष्टविभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वादोद्भूतेस्तदनेनातिप्रसङ्गोऽपि निरस्तः । ईदृशि च वाक्यार्थनिरूपणे परिकल्पिताभिधादिशक्तिवशेनैव समस्तवाक्यार्थावगतेः शक्त्यन्तरपरिकल्पनं प्रयासः । × × अतो [illegible] रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः । किं तर्हि भाव्यभावकसम्बन्धः ? काव्यं हि भावकम् । भाव्या रसादयः । ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते । न चान्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसंबन्धाभावात्काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम् । भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वात् । किंच मा चान्यत्र तथास्त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथावगमात् । तदुक्तम्—

"भावाभिनयसम्बन्धान्भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥'

इति । कथं पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्यः पदेभ्यः स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेल्लोके तथाविधचेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविना-

भूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाविनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः।

५ रसास्वाद तद्भोक्तारश्च

रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः ॥४।३८॥

द्रष्टुः प्रतीतिर्व्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसङ्गतः।
लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येव दर्शनात् ॥४।३९॥

काव्यार्थोपप्लावितो रसिकवर्ती रत्यादिः स्थायीभावः स इति प्रतिनिर्दिश्यते। स च स्वाद्यतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामापाद्यमानो रसो रसिकवर्तीति वर्तमानत्वान्नानुकार्यरामादिवर्ती वृत्तत्वात्तस्य। अथ शब्दोपहितरूपत्वेनावर्तमानस्यापि वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव। तथापि तदवभासस्यास्मदादिभिरनुभूयमानत्वादसत्समं तत्कास्वादं प्रति विभावत्वेन तु रामादेर्वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव। किञ्च न काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभिः प्रवर्त्यते। अपि तु सहृदयानानन्दयितुम्। स च समस्तभावकस्वसंवेद्य एव। यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृङ्गारः स्यात्ततो नाटकादौ तद्दर्शने लौकिक इव नायके शृङ्गारिणि स्वकान्तासंयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेन्न रसानां स्वादः सत्पुरुषाणां च लज्जेतरेषां स्वस्त्र्यानुरागापहारेच्छादयः प्रसज्येरन्। एवं च सति रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमपास्तम्। अन्यतो लब्धसत्ताकं वस्त्वन्येनापि व्यज्यते। प्रदीपेनेव घटादि। न तु तदानीमेवाभिव्यञ्जकत्वाभिमतैरापाद्य स्वभावम्। भाव्यन्ते च विभावादिभिः प्रेक्षकेषु रसा इत्यावेदितमेव।

ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः। कथं च सीतादीनां च देवीनां विभावत्वेनाविरोधः? उच्यते।

धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः।
विभावयति रत्यादीन्स्वदन्ते रसिकस्य ते ॥४।४०॥

न हि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिबध्नन्ति। किं तर्हि सर्वलोकसाधारणाः स्वोत्प्रेक्षाकृतसंनिधयो धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिन्यो दधाति।

ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः।

तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवाऽनिष्टं कुर्युः। किमर्थं तर्ह्युपादीयन्त इति चेदुच्यते—

क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद् बालानां द्विरदादिभिः ॥४।४१॥
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः।

एतदुक्तं भवति। नात्र लौकिकशृङ्गारादिवत्स्त्र्यादिविभावादीनामुपयोगः। किं तर्हि प्रतिपादितप्रकारेण लौकिकरसविलक्षणत्वं नाट्यरसानाम्। यदाह—'अष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः' इति।

काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥४।४२॥

नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान्भवति। तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत्काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते।

६. काव्याद् रसोद्भूतिः रससङ्ख्या च

कथं च काव्यात्स्वादोद्भूतिः किमात्मा चासाविति व्युत्पाद्यते—

स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ॥४।४३॥

शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥४।४४॥

अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।

काव्यार्थेन विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः संभेदेऽन्योन्यसंवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः = स्वादः। तस्य च सामान्यात्मकत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्यत्वेन संभेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति। तद्यथा-शृङ्गारे विकासः, वीरे विस्तरः, बीभत्से क्षोभः, रौद्रे विक्षेप इति। तदन्येषां चतुर्णां हास्याद्भुतभयानककरुणानां स्वसामग्रीलब्धपरिपोषाणां त एव चत्वारो विकासाद्याश्चेतसः संभेदाः। अत एव—

'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥'

इति। हेतुहेतुमद्भाव एव संभेदापेक्षया दर्शितो न कार्यकारणभावाभिप्रायेण तेषां कारणान्तरजन्यत्वात्।

'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्तितः ।'

इत्यादिना विकासादिसंभेदैकत्वस्यैव स्फुटीकरणादवधारणमन्यत एवाष्टाविति संभेदानां भावात् । ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसंभेदादानन्दोद्भव इति । करुणादौ तु दुःखात्मकत्वे कथमिवासौ प्रादुष्यात् । तथाहि—तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति । न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते । सत्यमेतत् । किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु संभोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणामन्यश्च लौकिकात् करुणात् काव्यकरुणः । तथाहि—यत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तय । यदि वा लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चित्तत्र प्रवर्तेत । तत कारुण्यैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेदश्रुपातादयश्चेति वृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते । तस्मात्रसान्तरवत् करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव ।

शान्तरसविषये विचारः

ननु शान्तरसस्याऽनभिधेयत्वाद्यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते । अतस्तदुच्यते—

शमप्रकर्षो निर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ॥४।४५॥

शान्तो हि यदि तावत्—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥

इत्येवंलक्षण, तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्तस्य च स्वरूपेणानिर्वचनीयता । तथाहि—श्रुतिरपि 'स एष नेति नेति' इत्यन्यापोहरूपेणाह । न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्त्यथ तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारक्षोभविक्षेपरूपतैवेति । तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपितः ।

७. रसस्वरूपोपसंहारः

इदानीं विभावादिविषयावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकः प्रकरणेनोपसंहारः प्रतिपाद्यते—

पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः ।
काव्याद्विभावसंचार्यनुभावप्रख्यतां गतैः ॥४।४६॥

भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ।

अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्रादिभिरुद्दीपनविभावैः प्रमदाप्रभृतिभिरालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभावै रोमाञ्चाश्रुभ्रूक्षेपकटाक्षाद्यैरनुभावैरवान्तरव्यापारतया पदार्थीभूतैर्वाक्यार्थः स्थायीभावो विभावितो भावरूपतामानीतः स्वदते स रस इति प्रकृतप्रकरणे तात्पर्यम् ।

विशेषलक्षणान्युच्यन्ते—तत्राचार्येण स्थायिनां रत्यादीनां शृंगारादीनां च पृथग्लक्षणानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि । अत्र तु—

लक्षणैक्यं विभावैक्यादभेदाद्रसभावयोः ॥४।४७॥

८. शृंगाररसभेदा

विभागस्तु—

अयोगो विप्रयोगश्च संभोगश्चेति स त्रिधा ।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद्विप्रलम्भस्यैतत्सामान्याभिधायित्वेन विप्रलम्भशब्द उपचरितवृत्तिर्मा भूदिति न प्रयुक्तः । तथाहि—दत्त्वा संकेतमप्राप्तेऽवध्यतिक्रमे सान्येन नायिकान्तरानुसरणाच्च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगो वञ्चनार्थत्वात् ।

तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयोः ॥४।५०॥
पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसंगमः ।

योगः = अन्योन्यस्वीकारः, तदभावः = अयोगः । पारतन्त्र्येण विप्रकर्षात्-पित्राद्यायत्तत्वात् सागरिकामालत्योर्वत्सराजमाधवाभ्यामिव दैवाद्वा गौरीशिवयोरिवासमागमः = अयोगः ।

दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ॥४।५१॥

स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः ।
जडता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥४।५२॥

कुन्तक

समय—दशम शतक का अन्त—एकादश शतक का आरम्भ

[ग्रन्थ—वक्रोक्ति जीवित]*

१. काव्य प्रयोजन

काव्य बन्ध उच्च कुल में समुत्पन्न (परिश्रम-हीन और मन्द-बुद्धि राजकुमार आदि) के हृदयों को आह्लादित करने वाला और कोमल मृदु शैली से कहा हुआ धर्मादि की सिद्धि का मार्ग है। (इसलिए अत्यन्त उपादेय है) ॥३॥

हृदयाह्लादकार अर्थात् चित्त को आनन्द देने वाला। काव्य-बन्ध अर्थात् सर्गबन्ध (महाकाव्य, मुक्तक) आदि होता है यह (मुख्य वाक्य का 'भवति' इस क्रिया के साथ) सम्बन्ध है। किस का (हृदयाह्लादकारक होता है) इस की जिज्ञासा होने पर (समाधानार्थ) कहते हैं—अभिजातानाम् अर्थात् उच्चकुलोत्पन्नों के (हृदय का आह्लादकारक होता है)। उच्च कुल में उत्पन्न होने वाले राजपुत्र आदि धर्मादि (रूप) प्राप्य (पुरुषार्थ चतुष्टय) के इच्छुक, विजय की इच्छा रखने वाले (किन्तु क्लेश) परिश्रम से डरने वाले होते हैं। उनके सुकुमार स्वभाव होने से (उनका परिश्रम से डरना स्वाभाविक है)। इस प्रकार उन (राजपुत्रादि) के हृदय को प्रसन्न करने वाला होने पर काव्य-बन्ध को खिलौने की समानता प्राप्त होती है। इसलिए कहते हैं (कि काव्य केवल खिलौनों के समान मनोरंजक ही नहीं है अपितु) धर्मादि (पुरुषार्थ चतुष्टय) की प्राप्ति का उपाय भी है। प्राप्तव्य (उद्देश्यभूत) धर्मादि रूप चतुर्वर्ग के साधन अर्थात् सम्पादन में उसका उपदेश रूप (बतलाने वाला) होने [illegible] उपाय अर्थात् उसकी प्राप्ति का निमित्त होता है।

तो भी उस प्रकार के (प्राप्तव्य) पुरुषार्थ का उपदेश करने वाले अन्य शास्त्रों ने क्या अपराध किया है (कि आप उनको छोड़ कर काव्य के लिए यह प्रयत्न कर रहे हैं।) इस शंका के निवारण के लिए कहते हैं: सुकुमार क्रम से कहा हुआ (साधन) है। सुकुमार अर्थात् सुन्दर सहृदयों के हृदय को हरण करने वाला जो क्रम अर्थात् रचना शैली है उस सरस शैली से कहा हुआ (साधन) है। अभिजातों (उच्च-कुलोत्पन्न राजपुत्र आदि) के आह्लादक होने पर (सत्कार्यों में) प्रवर्तक होने से काव्य-बन्ध धर्मादि

* आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली द्वारा सन् १९५५ में प्रकाशित प्रथम संस्करण

की प्राप्ति का उपाय हो जाता है। और शास्त्र में कठिन शैली से कहा होने के कारण धर्मादि का उपदेश मुश्किल से समझ में आता है। इसलिए उस प्रकार के (सुकुमार मति और परिश्रम-हीन राजपुत्रादि) के विषय में (राजपुत्रादि के लिए) वह (धर्मादि का उपदेश) शास्त्रादि में विद्यमान होने पर (उनकी समझ में न आने से) व्यर्थ ही रहता है।

(काव्य के प्रयोजन के प्रतिपादन में आपने अभिजात राजपुत्रादि का ही ध्यान क्यों रखा है, सामान्य पाठक का निर्देश क्यों नहीं किया इसके लिए कहते हैं) राजपुत्र आदि (वयस्क होकर यथासमय पैतृक) वैभव को प्राप्त कर के समस्त (राज्य) पृथ्वी के व्यवस्थापक बन कर उत्तम उपदेश से शून्य होने के कारण स्वतन्त्र होकर समस्त उचित लोक-व्यवहार का नाश करने में समर्थ हो सकते हैं, इसलिए उनके (औचित्य या कर्तव्याकर्तव्य के) परिज्ञान के लिए कवि अतीत सच्चरित्र (रामचन्द्र आदि) राजाओं के चरित्र को (काव्य-रूप में) लिखते हैं। इसलिए शास्त्र से अतिरिक्त काव्य का (और भी अधिक) महत्वपूर्ण प्रयोजन है ही। (जिसके कारण काव्य विशेष रूप से उपादेय है) ॥३॥

इस पुरुषार्थ-सिद्धि (अर्थात् चतुर्वर्गफल-प्राप्ति और राजपुत्रादि की उपदेश-सिद्धि) रूप (प्रयोजन) को रहने भी दें (छोड़ दें, किन्तु) लोक-यात्रा (लोक-व्यवहार) के संचालन के लिए भृत्य, मित्र, स्वामी आदि का आकर्षण आदि अन्य (कार्य) भी इस (काव्य) के बिना भली प्रकार सम्भव नहीं हो सकते हैं। यह (बात अगली कारिका में) कहते हैं।

व्यवहार करने वाले (लौकिक) पुरुषों को अनुदिन के नूतन औचित्य से युक्त व्यवहार चेष्टा आदि का सौन्दर्य सत्काव्य के परिज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है। (इसलिए भी काव्य उपादेय है)।

व्यवहार अर्थात् लोकाचार, उसका परिस्पन्द अर्थात् क्रियाओं के क्रम-रूप में व्यापार उसका सौन्दर्य अर्थात् रमणीयता। वह (लोकाचार के अनुष्ठान का सौन्दर्य) व्यवहार करने वाले (सामान्य लौकिक) जनों को उत्तम काव्यों के परिज्ञान से ही होता है। अन्य (किसी साधन) से प्राप्त नहीं हो सकता है। यह अभिप्राय है। वह सौन्दर्य कैसा है कि नूतन औचित्य-युक्त। नूतन अर्थात् अपूर्व अलौकिक औचित्य अर्थात् उचितत्व जिसका है। (ऐसा लोक-व्यवहार का सौन्दर्य काव्य से ही प्राप्त हो सकता है अन्य प्रकार से नहीं) इसका यह अभिप्राय हुआ कि (उत्तम काव्यों में) राजा आदि के व्यवहार का वर्णन करने पर उनके अंगभूत प्रधान मंत्री आदि सब

हो के अपने अपने (प्रातिस्विक) उचित कर्तव्य और व्यवहार में निपुण रूप में ही (काव्य में) वर्णित होने से (उसके पढ़ने वाले) व्यवहार करने वाले समस्त जनों को (उनके उचित) व्यवहार की शिक्षा देने वाले होते हैं। इसलिए सुन्दर काव्यों में परिश्रम करने वाला (सर्वः कश्चित्—सब कोई) प्रत्येक व्यक्ति लोक-व्यवहार की क्रियाओं में सौन्दर्य को प्राप्त कर श्लाघनीय फल का पात्र होता है ॥४॥

और (तीसरी कारिका में) जो इस चतुर्वर्ग-रूप पुरुषार्थ (धर्मादि) को उस (धर्मादि) के उपार्जन के विषय में व्युत्पत्ति कराने वाला होने से, काव्य का परम्परा से प्रयोजन बतलाया है, वह (धर्मादि का फल काव्य के अध्ययन काल में नहीं अपितु समयान्तर में होता है इसलिए) भी उसके फल-भोग के कालान्तरभावी होने से, उसके फलभूत आह्लाद के जनक होने से उस (समयान्तर रूप) काल में ही परिणत होता है। (अध्ययन काल में उसमें कोई लाभ नहीं है) इसलिए उससे भिन्न सहृदयों के हृदय के अनुरूप सुन्दर और उसी (अध्ययन समय में ही) काल में रमणीय दूसरा प्रयोजन बतलाने के लिए (अगली कारिका) कहते हैं।

काव्यामृत का रस उस (काव्य) को समझने वाले (सहृदयों) के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार को उत्पन्न करता है।

'चमत्कारो वितन्यते' का अर्थ अलौकिक आनन्द (चमत्कृति) का सचार किया जाता है, यह है। बार-बार आनन्द की अनुभूति कराता है। यह अभिप्राय है किस से (यह आनन्दानुभूति होती है) ?—काव्यामृत रस से। काव्य ही (मानों अमृत है, उसका रस अर्थात् उसका आस्वाद, उसका अनुभव, उससे। कहाँ (वह अनुभूति होती है) यह कहते हैं। अन्तः अर्थात् चित्त में, जिसके (चित्त में) ? उस (काव्य) को समझने वालों के, उस (काव्य) को जो जानते हैं वह तद्विद् (काव्यज्ञ) हुए उनके (हृदय में चमत्कार उत्पन्न करता है)। कैसे—कि चतुर्वर्ग-रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर। चतुर्वर्ग धर्मादि का फल अर्थात् उसका उपभोग उसका आस्वाद अर्थात् उसका अनुभव, प्रसिद्ध महत्त्व वाले उस (चतुर्वर्ग रूप फल) को भी अतिक्रमण करके, जीत करके भूमिका (सदा) बना कर (अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करता है)।

(पृष्ठ ६-११)

२. काव्य में अलकार और अलकार्य

अलङ्कृति का अर्थ अलकार है। जिसके द्वारा अलङ्कृत किया जाय (उसको अलकार कहते हैं)। इस प्रकार का विग्रह करने से (अलङ्कृति शब्द अलकार के लिए

प्रयुक्त होता है) उसका (काव्यालंकार ग्रन्थों में) विवेचन अर्थात् विचार किया जाता है। और जो (उस अलकृति का) अलकरणीय अर्थात् वाचक (शब्द) रूप तथा वाच्य (अर्थ) रूप है उसका भी विवेचन (विचार) किया जाता है। (अर्थात्) सामान्य तथा विशेष लक्षण द्वारा उसका स्वरूप-निरूपण किया जाता है। किस प्रकार? अपोद्धृत्य अर्थात् अलग करके, निकाल कर, पृथक् पृथक् करके। जिस समुदाय (रूप वाक्य) में उन दोनों (अलकार्य शब्द-अर्थ तथा अलकृति) का अन्तर्भाव है उससे विभक्त करके (उनका विवेचन काव्यालकार ग्रन्थों में किया जाता है)। किस कारण से (विवेचन किया जाता है)—उस (काव्य के समझने) का उपाय होने से। 'तत्' पद काव्य का ग्राहक है। उसका उपाय तदुपाय हुआ। उसका भाव तदुपायता, हुई। उसके कारण से (विवेचन किया जाता है) इसलिए इस प्रकार का विवेचन काव्य-व्युत्पत्ति का उपाय हो जाता है। (केवल इसीलिए शब्द और अर्थ रूप अलकार्य तथा उनके अलकारों का अलग-अलग विवेचन काव्यालकार ग्रन्थों में किया जाता है। वास्तव में तो काव्य की दृष्टि से उन तीनों की अलग-अलग सत्ता नहीं है। अपितु उनकी समष्टि का ही नाम काव्य है। व्यष्टि का कोई महत्त्व नहीं है) परन्तु समुदाय के अन्तःपाती असत्य पदार्थों का भी (कभी-कभी) व्युत्पत्ति के लिए (शास्त्रों में) विवेचन पाया जाता है। जैसे (वैयाकरणों के मत में वाक्य के अन्तर्गत पदों का और पदों के अन्तर्गत वर्णों का अलग-अलग कोई अस्तित्व नहीं है। फिर भी) पदों के अन्तर्गत प्रकृति प्रत्यय का, और वाक्य के अन्तर्गत पदों का (अलग-अलग विवेचन व्याकरण ग्रन्थों में किया जाता है। इसी प्रकार काव्य में शब्द तथा अर्थ रूप अलकार्य और अलकारों की अलग-अलग स्थिति न रहते हुए भी उनको अलग-अलग कर के विवेचन किया जाता है।　　　(पृष्ठ १५-१६)

२ इसका अभिप्राय यह हुआ कि अलकार सहित अर्थात् अलंकार सहित सम्पूर्ण अर्थात् अवयव-रहित समस्त समुदाय की काव्यता अर्थात् कवि-कर्मत्व है। इसलिए अलकृत (वाक्य) का ही काव्यत्व है (अर्थात् अलकार काव्य का स्वरूपाधायक धर्म है) न कि काव्य में अलकार का योग होता है।　　　(पृष्ठ १७)

३. यह दोनों (शब्द और अर्थ) अलकार्य होते हैं। और चतुरतापूर्ण शैली के कथन (वैदग्ध्यभंगीभणिति) रूप वक्रोक्ति ही उन दोनों (शब्द तथा अर्थ) का अलकार होती है।

यह शब्द और अर्थ दोनों ही अलकार्य अर्थात् (अलकार द्वारा) अलंकरणीय अर्थात् शोभातिशयकारी किसी न किसी अलकार से युक्त करने योग्य होते हैं। उनका वह अलकार कौन-सा है यह, और उन दोनों का अलकार (इत्यादि पदों से) कहते

हैं। उन द्वित्व संख्या से युक्त (शब्द तथा अर्थ) का अलकार केवल एक (वक्रोक्ति) ही है जिससे (शब्द और अर्थ) दोनों ही अलङ्कृत होते हैं। (पृष्ठ ५१)

६ काव्य और साहित्य

(उपमादि) अलकार और (उसके) अलकार्य (शब्द तथा अर्थ) को अलग-अलग करके उनकी विवेचना उस (काव्य की व्युत्पत्ति) का उपाय होने से (ही) की जाती है। (वास्तव में तो) अलकार-सहित (शब्द और अर्थ, अर्थात् तीनो की समष्टि) काव्य है। (अतः तीनों का अलग-अलग विवेचन उचित नहीं है। फिर भी उस अलग-अलग विवेचन से काव्य-सौन्दर्य को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होती है इसलिए उनको अलग-अलग करके विवेचन करने की शैली अलकार ग्रन्थो में पाई जाती है।)

× × × × (पृष्ठ १५)

यदि इस प्रकार काव्य-व्युत्पत्ति का उपाय होने से असत्यभूत (अलकार) तथा अलकार्य अथवा शब्द तथा अर्थ) उन दोनों का पार्थक्य (मान कर अलग-अलग निरूपण) किया जाता है तो फिर (वस्तुत) सत्य क्या है, इसको कहते हैं 'तत्त्व सालंकारस्य काव्यता'—सालकार (शब्दार्थ) की काव्यता है, यह यथार्थ (तत्त्व) है।

× × × × (पृष्ठ १७)

सालकार की काव्यता होती है यह अस्पष्ट-सा काव्य का स्वरूप निरूपण किया है परन्तु स्पष्ट रूप से नहीं कहा है कि किस प्रकार की वस्तु काव्य नाम (व्यवहार) के योग्य होती है। इसलिए (उसको स्पष्ट रूप से निरूपण करने अर्थात् स्पष्ट रूप से काव्य का लक्षण करने के लिए कहते हैं ·

काव्य-मर्मज्ञो के आह्लादकारक सुन्दर (वक्र) कवि व्यापार से युक्त रचना (बन्ध) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिल कर काव्य (कहलाते) हैं ॥७॥

'शब्दार्थौ काव्य' अर्थात् वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) दोनो मिल कर काव्य है। (अलग-अलग नहीं) दो (शब्द और अर्थ मिल कर) एक (काव्य कहलाते) हैं यह विचित्र ही (सी) उक्ति है। (अर्थात् हम वक्रोक्ति को काव्य का जीवित निर्धारण करने जा रहे हैं। वह बात काव्य के लक्षण से भी स्पष्ट होती है। शब्द और अर्थ यह दोनो मिल कर एक काव्य नाम को प्राप्त करते हैं यह कथन स्वय एक प्रकार की वक्रता से पूर्ण होने से वक्रोक्ति है।) इसलिए यह जो किन्हीं का मत है कि कवि कौशल से कल्पित किया गया है सौन्दर्यातिशय जिसका ऐसा केवल शब्द ही काव्य है,

और किन्हीं का रचना के वैचित्र्य से चमत्कारकारी अर्थ ही काव्य है (यह जो मत है) यह दोनों पक्ष खण्डित हो जाते हैं। (अर्थात् न केवल शब्द को और न केवल अर्थ को काव्य कहा जा सकता है अपितु शब्द और अर्थ दोनों मिल कर काव्य कहलाते हैं) इसलिए जैसे प्रत्येक तिल में तेल रहता है इसी प्रकार (शब्द तथा अर्थ) दोनों में ही तद्विदाह्लादकारित्व (काव्यत्व) होता है। किसी एक में नहीं। जैसे—

आनन्दस्यन्दी सुन्दर (शरत्पूर्णिमा के) चन्द्रमा के समान (सुन्दर या प्रकाशमान) मुख वाली, सुन्दर हाव-भावों के साथ बात करने वाली (सलीलं लीलाभिः सहित उल्लपितु वक्तु शील यस्यास्तयामूते) रुरुचरण वाली इन दोनों श्लोकों का अर्थ एक साथ होता है इसलिए अगले श्लोक के चरण चरणे पद का यहाँ अन्वय हो रहा है) हे सुन्दरी (तरुणि) अमल्य रूप से मणि मेखला का शब्द करती हुई और निरन्तर नूपुर की मनोरम ध्वनि करती हुई तुम यदि अपने पति (या प्रिय) के घर को जाती हो तो तुम्हारा वह जाना (त्वदीय तत् परिसरण) मुझे व्यर्थ ही क्यों सता रहा है? (दुःख दे रहा है।) ॥६-१०॥

(यहाँ) प्रतिभा के दारिद्र्य और दैन्य के कारण अत्यन्त स्वल्प सुभाषित (वक्तव्य) वाले (अर्थात् जिसके पास कहने योग्य, वर्णन करने योग्य कोई सुन्दर पदार्थ नहीं है, ऐसे) कवि ने (अनुप्रास के प्रलोभन में) वर्णों की समानता की रम्यता मात्र का कथन किया है। परन्तु अर्थ चमत्कार का लेश भी उसमें नहीं है। और जो नव यौवन से तरंगित लावण्य तथा सुन्दर (स्वच्छ) कान्ति वाले (किसी युवक) की कान्ता को चाहने वाला कोई (उपनायक) (इस श्लोक में जो यह) कह रहा है कि तुम यदि पति-गृह को जाती हो तो तुम्हारा वह (गमन, परिसरण) मुझे बिना कारण के कष्ट देता है। यह (वक्ता, सौन्दर्ययुक्त न होकर अत्यन्त ग्राम्य उक्ति है। और (कि मे रणरणकमकारण कुरुते' यह 'रणरणक' अर्थात् दुःख) अकारण नहीं है। क्योंकि उस (कामुक) का अनादर करके उस (सुन्दरी) के (चले) जाने से उसके प्रति अनुरक्त मनःकरण वाले उस (उपनायक) की विरह विधुरता की शंका ही उसके दुःख का कारण है। अथवा यदि (तुम्हारे परिसरण, गमन) का मैंने क्या बिगाड़ा (अपराध किया) है इस प्रकार (परिसरण गमन में) कारणता के अभाव का कथन करना हो तो यह भी अत्यन्त ग्राम्य कथन होगा। और (एक साथ ही दिए हुए) बहुत से सम्बोधन मुनिप्रणीत स्तोत्र-पाठ के समान (उपहासजनक से) प्रतीत होते हैं। और काव्य-मर्मज्ञों की आह्लादकारिता का तनिक भी पोषण नहीं करते हैं। इसलिए यह (उदाहरण) ऐसा ही (रद्दी-सा, व्यर्थ) है। (उसे काव्य नहीं कहना चाहिए) शोभातिशय से रहित वस्तुमात्र को काव्य नाम से नहीं कहा जा सकता है। जैसे—(निम्न उदाहरण भी चमत्कारहीन होने से काव्य नहीं कहा जा सकता है)—

(घट पट आदि) पदार्थ (स्वयं) प्रकाश-स्वरूप नहीं होते हैं। क्योंकि वे अन्धकार में वैसे (प्रकाश-स्वरूप) नही दीखते। यदि वे वैसे (प्रकाश स्वरूप) हैं तो अन्धकार में वैसे (प्रकाश स्वभाव) क्यों नहीं हैं? (नील पीत रूप आदि) गुणों का (पदार्थों में) अध्यास (मिथ्या प्रतीति) करने के अभ्यास और व्यसन दृढ दीक्षा के कारण प्रबल गुण वाला यह सूर्य का व्यापार है (जो सब पदार्थों को प्रकाशित करता है। उस (सूर्य) के तेज के समान और क्या है? (कुछ भी नहीं) ॥११॥

यहाँ शुष्क तर्क वाक्य (अनुमान वाक्य) की वासना से अधिवासित चित्त वाले कवि ने अभ्यासवश (व्यसनितया) केवल प्रतिभा से कल्पित वस्तुमात्र को (श्लोक में) उपनिबद्ध कर दिया है। परन्तु (उसमें) शब्द-सौन्दर्य का लवलेश भी दिखलाई नहीं देता है। क्योंकि तर्क इस श्लोक का स्वरूप (शरीर) अनुमान वाक्य (तर्क वाक्य) पर ही आश्रित है। जैसे कि अन्धकार से अतिरिक्त पदार्थ-रूप धर्मी (स्वयं) प्रकाश स्वभाव वाले नही होते हैं यह (इस अनुमान वाक्य-रूप श्लोक में प्रतिज्ञा या) साध्य है। अन्धकार में उस प्रकार के (स्वयं प्रकाश स्वभाव) न होने से यह (उक्त साध्य की सिद्धि के लिए) हेतु है [अतः यह किसी नैयायिक का अनुमान वाक्यमात्र प्रतीत होता है, काव्य नही।]

(प्रश्न) यदि इस श्लोक में अनुमान वाक्य ही प्रस्तुत किया गया है तो (अनुमान वाक्य में अपेक्षित) दृष्टान्त क्यों नहीं दिखलाया है?

(उत्तर) तर्क की नीति के ही चित्त में प्रतिभासमान होने से। (दृष्टान्त इस अनुमान वाक्य में नहीं दिया है। अर्थात् बौद्ध आदि के न्याय के सिद्धान्त के अनुसार विशिष्ट विद्वानों के लिए अनुमान वाक्य में दृष्टान्त का होना आवश्यक नही है) जैसा कि (निम्नलिखित श्लोक में) कहा है—

उस (हेतु और साध्य के साध्य-साधन भाव) को न समझ सकने वाले (अल्पज्ञ पुरुष) के लिए (ही) दृष्टान्त में साध्य साधन भाव (तद्भाव हेतुभावो) दिखाए (स्थापित किए) जाते हैं। (विद्वानों के लिए उनकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि विद्वान् उस साध्य-साधन भाव को स्वयं समझ सकते हैं। इसलिए) विद्वानों के लिए केवल हेतु कहना चाहिए ॥१२॥

(ऊपर उदाहरण-रूप में उद्धृत 'प्रकाशस्वाभाव्य' वाले श्लोक में) विदधति इस (प्रयोग) में वि (उपसर्ग) पूर्वक धा (दधाति) धातु कृ (डुकृञ् करणे) धातु (करोति) के अर्थ में (प्रयुक्त) है। और वह करोति (कृञ् धातु) का अर्थ (यहाँ) स्पष्ट रूप से समन्वित नहीं होता है। प्रकाश-स्वाभाव्य नहीं करते हैं। (यह अर्थ

स्पष्ट रूप से संगत नहीं प्रतीत होता है। अतः उसका प्रयोग अनुचित है) और 'प्रकाश-स्वामाव्य' शब्द (का प्रयोग) भी चिन्त्य (अशुद्ध) है। (क्योंकि) प्रकाश जिसका स्वभाव है वह प्रकाश-स्वभाव (हुआ) उसका भाव इस (अर्थ) में (प्रकाश-स्वभाव शब्द से फिर एक और भावप्रत्यय (ष्यञ्) करने पर पूर्व पद की वृद्धि प्राप्त होती है। (पूर्वपद की वृद्धि होकर प्राकाशस्वाभाव्य प्रयोग बनेगा, प्रकाशस्वाभाव्य प्रयोग नहीं बनेगा) और यदि (पहिले) स्वाभाव्य (ऐसा प्रयोग बना कर फिर उसका प्रकाश के साथ समास करके प्रकाशस्वाभाव्य पद को बनाने का प्रयत्न करें तो भी ठीक नहीं होगा। क्योंकि इस (स्वाभाव्य प्रयोग) में भी भाव प्रत्यान्त (भाव शब्दान्त स्वभाव शब्द) से (फिर) भाव प्रत्यय का विशेष प्रयोग नहीं होता है। इसलिए (पहिले स्वाभाव्य पद बना कर उसका प्रकाश शब्द के साथ) 'प्रकाशश्चासौ स्वाभाव्य च' यह विशेषण (कर्मधारय) समास भी उचित नहीं है (अतः यह प्रयोग ठीक नहीं है)।

और (उक्त प्रकाशस्वाभाव्य वाले श्लोक के) तृतीय पाद में अत्यन्त (अर्थ के) असमर्पक (अर्थ बोध के बाधक) समासों का बाहुल्य-रूप अत्याचार (सहृदय) काव्य-मर्मज्ञों के लिए आह्लादकारक नहीं होता है। (चतुर्थ चरण में) रवि-व्यापार इस (समस्त पद) में प्राधान्येन अभिमत रवि शब्द को समास में गुणीभाव से नहीं बचाया गया है (जो कि बचाया जा सकता था) 'रवि व्यापारोऽस्य' के स्थान पर समास को तोड़ कर) 'से' (व्यापारोऽस्य) यह पाठान्तर भी सम्भव होने से। (रवि-व्यापार। इस समस्त पद का प्रयोग उचित नहीं हुआ है। क्योंकि उससे रवि का अभिमत प्राधान्य नहीं रहता है। इस लिए शोभातिशय से शून्य और अनेक दोष-ग्रस्त यह प्रकाशस्वाभाव्य वाला श्लोक काव्य कहलाने योग्य नहीं है।)

(प्रश्न, यदि शोभातिशय-शून्य वस्तुमात्र को काव्य नहीं कहा जा सकता है तो, अप्रस्तुत प्रशंसा जैसे किन्हीं स्थलों में) अलंकार-शून्य होने से वस्तुमात्र का सहृदय-हृदयाह्लादकारित्व कैसे होता है?'

उत्तर—यह शंका हो तो वह ठीक नहीं है क्योंकि (ऐसे उदाहरणों में) अन्योक्ति (अन्यापदेश) के रूप में अप्रस्तुत प्रशंसा रूप अलङ्कार कवि (तथा पाठक) के चित्त में स्फुरित हो ही जाता है। और पहिले बिना गढ़े हुए पत्थर के टुकड़े की (लगने वाली) मणि के समान प्रतिभा से प्रतिभासमान वस्तु विदग्ध कवि-रचित वाक्य (काव्य) में उपारूढ हो कर (बाद को) सान पर घिसे हुए मणि के समान मनोहर होकर काव्य-मर्मज्ञ (सहृदयों) के आह्लादकारित्व को प्राप्त करती है। इसीलिए एक ही विषय (वस्तुनि) में सावधान और असावधान कवि द्वारा रचित (निम्नांकित) दो वाक्य (श्लोक) प्रचुर भेद को प्रदर्शित करते हैं।

गरम-गरम आँसुओं से कलुषित मानिनी जनों के दृष्टिपातों (कटाक्षों) को ग्रहण करता हुआ, डरता-डरता सा धीरे-धीरे उदय होता हुआ चन्द्रमा आकाश (में माया) को चला ॥१३॥

नवीन कमलकन्द के समान कान्ति वाली कलाओं को एक-दो-तीन की परिपाटी से धीरे-धीरे प्रकट करते हुए प्रियों के विरहाग्नि से दीप्त नेत्र वाली (कुछ) स्त्रियों के कटाक्षों से डरता हुआ मानों छिपा हुआ सा चन्द्रमा उदय हो रहा है ॥१४॥

इन दोनों का अन्तर सहृदय-संवेद्य है। यह (अन्तर) वही समझ (विचार) सकते हैं। इसलिए यह बात निश्चित हुई कि न केवल रमणीयता-विशिष्ट शब्द काव्य है और न (केवल) अर्थ। (अपितु शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि में 'व्याप्यवृत्ति' काव्यत्व है)। यह बात (भामह ने अपने काव्यालंकार १, १५-१७ में) कही (भी) है—

अन्यों (अनेक आलंकारिकों ने) ने रूपकादि (अर्थालंकार) अलंकार-वर्ग का अनेक प्रकार से निरूपण किया है। (क्योंकि अलंकारों के बिना गुणादि-युक्त काव्य भी इस प्रकार शोभित नहीं होता है जिस प्रकार कि) सुन्दर होने पर भी अलंकारों के बिना स्त्री का मुख (पूर्ण रूप से) शोभित नहीं होता है ॥१५॥

दूसरे लोग (जो शब्दालंकार को प्रधान मानते हैं) रूपकादि (अर्थालंकारों) अलंकारों को (शब्द-सौन्दर्य तथा अर्थ के अनुभव के बाद प्रतीत होने से) बाह्य (अप्रधान) कहते हैं और सुबन्त तिङन्त पदों के सौन्दर्य (अलंकृति) को ही वाणी का (प्रधान) अलंकार मानते हैं ॥१६॥

इसी (सुबन्त तिङन्त पदों के सौन्दर्य) को (शब्दालंकार प्रधानतावादी) 'सौशब्द्य' कहते हैं। (वही काव्य में अधिक चमत्कार-जनक होने से प्रधान है) अर्थ (अलंकारों) की व्युत्पत्ति इतनी चमत्कार-जनक नहीं होती है। (इसलिए शब्दालंकार ही प्रधान और रूपकादि अर्थालंकार बाह्य अथवा अप्रधान हैं। यह दूसरे लोगों का मत है) परन्तु हम (भामह) को शब्दालंकार तथा अर्थालंकार भेद से दोनों ही इष्ट हैं ॥१७॥

इसलिए शब्द और अर्थ दोनों सम्मिलित रूप से काव्य हैं—यह स्थिर हुआ। इस प्रकार (शब्द तथा अर्थ) दोनों के काव्यत्व के निर्धारित हो जाने पर कभी (उन दोनों में से) किसी एक की कुछ न्यूनता हो जाने पर भी काव्य व्यवहार होने लगे (जो कि इष्ट नहीं [redacted]) इसलिए (उस एक में काव्य-व्यवहार के निवारण के लिए)

कहते हैं, 'सहितौ'। सहितौ अर्थात् सहभाव से, 'साहित्य' से अवस्थित (शब्द और अर्थ दोनों मिल कर काव्य कहलाते हैं।)

(प्रश्न) वाच्य और वाचक के सम्बन्ध के (नित्य) विद्यमान होने से इन दोनों (शब्द और अर्थ) के साहित्य (सहभाव) का अभाव कभी नहीं होता है। (तब शब्दार्थौ सहितौ काव्य यह कहने का क्या प्रयोजन है) ?

(उत्तर) सत्य है। (सभी वाक्यों में शब्द और अर्थ का सहभाव या साहित्य रहता है) किन्तु यहाँ विशिष्ट (प्रकार का) साहित्य अभिप्रेत है। कैसा (विशिष्ट सहभाव अभिप्रेत है ? इसका उत्तर देते हैं) वक्रता (सौन्दर्य) से विचित्र गुणों तथा अलंकारों की सम्पत्ति सौन्दर्य का परस्पर स्पर्धा पर आ जाना (रूप विशिष्ट प्रकार का साहित्य काव्यत्व का प्रयोजक है) इसलिए—

मेरे मत में सर्वगुण-युक्त और मित्रों के समान परस्पर सगत शब्द और अर्थ दोनों एक दूसरे के लिए शोभा-जनक होते हैं (वही काव्य पद वाच्य होते हैं) जैसे ॥१८॥

उसके बाद (प्रातःकाल के समय) अरुण के आगमन से कान्ति-रहित हुआ चन्द्रमा काम (सम्भोग) से दुर्बल कामिनी के कपोल के समान पीला पड गया (पाडुता को प्राप्त हो गया) ॥१९॥

इस (उदाहरण) में अरुणोदय के कारण कान्ति-रहित चन्द्रमा के सम्भोग (काम) से क्षीण हुई कामिनी के कपोलतल के साथ पाडुत्व की समानता के समर्थन से अर्थालंकार का परिपोष, (उसको) शोभातिशय प्रदान करता है। और आगे कहा जाने वाला वर्ण-विन्यास वक्रता (अनुप्रास) रूप शब्दालंकार भी अत्यन्त रमणीय है। (इसलिए) वर्ण-विन्यास के सौन्दर्य से उत्पन्न (अर्थगत) लावण्य गुण की सम्पत्ति (भी इस उदाहरण में) है ही। (अत शब्द और अर्थ का विशिष्ट साहित्य होने से यह पद्य काव्य कहलाने योग्य है।　　×　　×　　× (पृष्ठ १७-२६)

वास्तव में तो उन दोनों में से किसी एक के साहित्य का अभाव होने पर दूसरे का साहित्य-विरह स्वयं ही आ जाता है। इसलिए (अर्थ को भली प्रकार प्रकाशित करने में) समर्थ शब्द के अभाव में (उत्तम चमत्कारी) अर्थ स्वरूपतः स्फुरित होने पर भी निर्जीव-सा ही रहता है। (इसी प्रकार) शब्द भी वाक्योपयोगी (चमत्कारी) अर्थ के अभाव में (किसी साधारण) अन्य अर्थ का वाचक होकर वाक्य का भारभूत (व्याधिभूत)-सा प्रतीत होने लगता है।

इसलिए (इस प्रसक्तानुप्रसक्त विषय के) अधिक (करने) विस्तार की आवश्यकता नहीं है। प्रकृत (कारिका की व्याख्या) तो (इस प्रकार है कि)—किस प्रकार के बन्ध में (शब्द और अर्थ का साहित्य होना चाहिए) 'मनोहर कवि-व्यापार से युक्त' (बन्ध) में। वक्र अर्थात् शास्त्रादि में प्रसिद्ध शब्द और अर्थ के उपनिबन्धन से भिन्न, (आगे कही जाने वाली) छह प्रकार की वक्रता से युक्त, जो कवि व्यापार अर्थात् कवि की रचना (क्रिया) का क्रम, उस से जो (बन्ध) शोभित अथवा प्रशसित होता है उस (बन्ध) में (साहित्य से अवस्थित शब्द तथा अर्थ काव्य कहलाते हैं)। इस प्रकार (लक्षण करने पर) भी कष्ट कल्पना से उपहृत (बन्ध) में भी प्रसिद्धभिन्नत्व हो सकता है (वह भी काव्य कहलाने लगेगा) इसलिए (उसके निवारणार्थ) कहते हैं—'तद्विदाह्लादकारिणि'। तत् इस (पद) से काव्य का ग्रहण होता है। उस (काव्य) को जानते हैं वह तद्विद् अर्थात् काव्य-मर्मज्ञ (हुए) उनको आह्लाद अर्थात् आनन्ददायक जो (बन्ध) उस तद्विदाह्लादकारी बन्ध में व्यवस्थित (शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं।) वक्रता, वक्रता के भेद और तद्विदाह्लादकारित्व को अलग अलग यथास्थान (आगे उदाहरणों द्वारा) दिखलावेंगे ॥७॥

इस प्रकार काव्य का सामान्य लक्षण कर चुकने के बाद, (काव्य के) विशेष लक्षण का (निरूपण) प्रारम्भ करते हैं। उनमें से पहिले (काव्य के अगभूत) शब्द तथा अर्थ के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

यद्यपि (साधारणत) वाच्य अर्थ और वाचक शब्द (होता है यह बात) प्रसिद्ध ही है, फिर भी इस काव्य मार्ग में (केवल वाच्य को अर्थ और केवल वाचक को शब्द नहीं कहते हैं।)[1] अपितु उन (शब्द तथा अर्थ) का वास्तविक अर्थ यह (अगली कारिका में दिखलाया हुआ) है ॥८॥

इति अर्थात् इस प्रकार की बात प्रसिद्ध है कि जो वाचक होता है वह शब्द होता है और जो वाच्य होता है वह अर्थ होता है। (प्रश्न) द्योतक और व्यंजक भी शब्द हो सकते हैं (आपने केवल वाचक को शब्द कहा है। उस वाचक पद से द्योतक तथा व्यंजक शब्दों का) उनका संग्रह न होने से अव्याप्ति होगी। (उत्तर) यह नहीं कहना चाहिए। क्योंकि (वाचक शब्दों के समान व्यंजक तथा द्योतक शब्दों में भी) अर्थ प्रतीतिकारित्व की समानता होने से उपचार (गौणी वृत्ति) से वह (द्योतक तथा व्यंजक) दोनों भी वाचक ही (कहे जा सकते) हैं। इसी प्रकार द्योत्य और व्यंग्य दोनों अर्थों में भी बोध्यत्व (प्रत्येयत्व) की समानता (होने) से वाच्यत्व ही रहता है। इसलिए वाचकत्व और वाच्यत्व लोक में (क्रमशः) शब्द तथा अर्थ का प्रसिद्ध लक्षण है, फिर भी इस लौकिक काव्य-मार्ग में अर्थात् कवियों की पद्धति में

(केवल वाचकत्व या वाच्यत्व शब्द तथा अर्थ का यथार्थ लक्षण नहीं है अपितु) यह आगे (अगली नवम कारिका में) कहे जाने वाला इन दोनों (शब्दों) का वास्तविक 'धर्म' अर्थात् कुछ अपूर्व रहस्य है ॥८॥

(वह अपूर्व रहस्य-तत्त्व) कैसा है यह (अगली कारिका में) कहते हैं—

(पर्यायवाची) अन्य (शब्दों) के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक (शब्द ही वस्तुतः) शब्द (कहलाता) है अर्थात् अनेक पर्यायवाचक शब्दों के होते हुए भी उन सब की अपेक्षा विलक्षण रूप से जो अर्थ को प्रकाशित कर सके केवल वही शब्द काव्य-मार्ग में शब्द कहा जाता है। इसी प्रकार सहृदयों को आनन्दित करने वाला अपने (स्पन्द) स्वभाव से सुन्दर (पदार्थ ही काव्य-मार्ग में वस्तुतः) अर्थ (शब्द से व्यवहार किए जाने योग्य होता) है ॥९॥

काव्य में (वस्तुतः) शब्द वह है जो उस (काव्य) के योग्य समस्त सामग्री से युक्त है। कैसा, कि, विवक्षित अर्थ का जो अकेला वाचक हो (अन्य कोई शब्द जिस अर्थ को प्रकट न कर सके उस अर्थ को प्रकाशित करने वाला) विवक्षित अर्थात् (कवि) जिसको कहना चाहता है उसका अद्वितीय वाचक, उसका केवल अकेला (एकमात्र) वाचक (पद ही काव्य में 'शब्द' कहा जा सकता है।) कैसे, अन्य (अनेक समानार्थक) शब्दों के रहते हुए भी। उस अर्थ के वाचक अन्य बहुत से (शब्दों) के विद्यमान होने पर भी। (जो कवि के विवक्षित अर्थ को पूर्ण रूप से कह सके वही 'शब्द' कहलाता है) इसलिए सामान्य रूप से जो अर्थ विवक्षित है उसके लिए विशेष (अर्थ) का कथन करने वाला शब्द भली प्रकार से वाचक (रूप से प्रयुक्त) नहीं हो सकता है।

× × × (पृष्ठ ३५-३८)

और वाच्य-रूप अर्थ कैसा (काव्य में अभिप्रेत है)। काव्य में जो सहृदयों के हृदयों [redacted] आह्लादकारी अपने स्वभाव से सुन्दर हो। सहृदय अर्थात् काव्य के मर्मज्ञ 'उनके आह्लाद अर्थात् आनन्द को करने वाला जो स्वस्पन्द अर्थात् अपना स्वभाव उस से सुन्दर' अर्थात् सुकुमार। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यद्यपि पदार्थ नानाविध धर्म से युक्त हो सकता है फिर भी उस प्रकार के धर्म से (उसका) सम्बन्ध (काव्य में) वर्णन किया जाता है जो (धर्म विशेष) सहृदयों के हृदय में आनन्द को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकता है। और उस (धर्म) में ऐसी सामर्थ्य सम्भव होती है जिससे कोई अपूर्व स्वभाव की महत्ता अथवा रस को परिपुष्ट करने की क्षमता (अगता) अभिव्यक्ति को प्राप्त करती है। (पृष्ठ ४४)

× × ×

इसलिए (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् इस काव्य-लक्षण में) इस प्रकार का शब्द और अर्थ का विशिष्ट ही लक्षण लेना चाहिए। (सामान्य शब्द और अर्थ के लिए ही काव्य शब्द का प्रयोग होने) से 'नेयार्थ' और 'अपार्थ' (नामक काव्य दोष) आदि एकदम निकल जाते हैं (उनकी कोई सम्भावना ही काव्य में नहीं रहती है। क्योंकि उस प्रकार के शब्द या अर्थ काव्य ही नहीं कहलाते हैं) इसलिए उन दोषों का अलग वर्णन करने की आवश्यकता नहीं रहती है॥६॥ (पृष्ठ५०)

४. साहित्य का स्वरूप

(काव्य की) शोभाशालिता (सौन्दर्याधायकता) के प्रति इन दोनों (शब्द तथा अर्थ) की न्यून और आधिक्य से रहित (परस्परस्पर्द्धि समभाव से) कुछ अनिर्वचनीय (लोकोत्तर) मनोहर स्थिति (ही) 'साहित्य' (शब्द का यथार्थ अर्थ) है ॥१७॥

सहित (शब्द तथा अर्थ) का 'साहित्य' है। इन (सहित) शब्द और अर्थ की सहृदय-आह्लादकारिता की कारणभूत जो कोई अलौकिक अवस्थिति अर्थात् विचित्र रचना-शैली (है वही साहित्य है) कैसी कि—न्यूनता और अधिकता से रहित होने से मनोहारिणी, अर्थात् परस्परस्पर्धित्व से रमणीय। जिसमें (शब्द अर्थ) दोनों में से किसी भी एक का न्यूनत्व अर्थात् अपकर्ष नहीं है और न अतिरिक्तत्व अर्थात् उत्कर्ष ही है। ऐसी अन्यूनातिरिक्तत्व-विशिष्ट स्थिति को 'साहित्य' कहते हैं) यह अभिप्राय है॥१७॥

(प्रश्न) इस प्रकार का साम्य दोनों दूषित (शब्दार्थ) में भी हो सकता है। (तो क्या उसको भी 'साहित्य' कहा जा सकेगा ?)

(उत्तर) इस (शंका के निवारण के) लिए कहते हैं 'शोभाशालितां प्रति।' शोभा सौन्दर्य को कहते हैं उससे जो शोभित प्रकाशित होता है वह शोभाशाली हुआ। उसका भाव शोभाशालिता, उसके प्रति अर्थात् सौन्दर्यशालिता के प्रति यह अर्थ हुआ। और यही सहृदय आह्लादकारिता है। उस (सौन्दर्यशालिता अथवा सहृदयाह्लादकारिता) के लिए ('चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' के समान 'तस्यां' यहाँ निमित्त में सप्तमी है) स्पर्धत्वेन (अन्यूनानतिरिक्तत्वेन) जो स्थिति अर्थात् परस्पर समानता के सुन्दर रूप में जो (शब्द और अर्थ) की स्थिति है वह 'साहित्य' कहलाती है। उस (साहित्य) में (काव्य के शब्दों में से एक) शब्द का दूसरे शब्द के साथ और एक अर्थ का दूसरे अर्थ के साथ 'साहित्य' अभिप्रेत है। (अनेक शब्द तथा अनेक अर्थ रूप) वाक्य में काव्य के लक्षण की परिसमाप्ति होती है यह (१, ७ सातवीं कारिका में) प्रतिपादन ही कर चुके हैं।

(प्रश्न) एक शब्द का दूसरे अर्थ के साथ और एक अर्थ का दूसरे शब्द के साथ 'साहित्य' क्यों नहीं मानते हो ? यह प्रश्न करो तो—

(उत्तर) वह ठीक नहीं। (एक शब्द का दूसरे शब्द के साथ और एक अर्थ का दूसरे अर्थ के साथ 'साहित्य' होना चाहिए। इस) क्रम के परिवर्तन में कोई प्रयोजन न होने से और (परिवर्तित रूप का) समन्वय न हो सकने से। (इस क्रम का परिवर्तन करना उचित नहीं है)। इसलिए जिस रचना में इन शब्द तथा अर्थों का यथायोग्य अपनी (अन्यूनानतिरिक्त रूप) सम्पत्सामग्री का समुदय सहृदयाह्लादकारी परस्पर स्पर्धा से स्फुरित होता है वह कोई (विशिष्ट) ही वाक्य-रचना 'साहित्य' नाम की अधिकारिणी होती है।

(यही बात निम्नलिखित अन्तरश्लोकों में कही गई है।)

मार्गों (रीतियों) की अनुकूलता से सुन्दर, माधुर्यादि गुणों से युक्त, वक्रता (बाँकपन) के अतिशय से युक्त अलंकार का विन्यास (जिसमें विद्यमान है वह।) ॥३४॥

वृत्तियों के औचित्य से मनोहारी रसों का परिपोषण उचित रूप से (शब्द और अर्थ) दोनों में स्पर्धा से जहाँ रहता है)। ॥३५॥

काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द प्रदान करने वाले व्यापार से सुन्दर (शब्द और अर्थ की) वह कुछ अनिर्वचनीय (अतिसुन्दर) स्थिति पद (व्याकरण) आदि (वाक्य मीमांसा तथा प्रमाण-न्याय शास्त्र) वाङ्मय का सार (सर्वोत्तम भाग) 'साहित्य' (शब्द से) कहा जाता है ॥३६॥

इन व्याकरण, मीमांसा, न्याय तथा साहित्य चारों का ही प्रत्येक वाक्य में (अर्थात् बहुत अधिक) प्रयोग होता है। १ जैसे गकार, औकार विसर्जनीयात्मक यह (गौ) इस प्रकार का पद, इस प्रातिपदिकार्थ पंचक (१. प्रातिपदिकार्थ, २. लिंग, ३ परिमाण, ४ वचन, ५ कारक) अथवा आख्यातार्थ षट्क (१. व्यापाराश्रय कर्त्ता, २. फलाश्रय कर्म, ३ काल, ४. पुरुष, ५. वचन, ६ भाव रूप इस (अमुक) अर्थ का वाचक है। यह 'पद-संस्कार-शास्त्र' (व्याकरण-शास्त्र) का काम (व्यापार) है। २ पदों के परस्परान्वय-रूप सम्बन्ध-मूलक (पदों के परस्पर अन्वय के उपस्थित होने वाला) यह वाक्यार्थ का तात्पर्य है, यह 'वाक्य-विचार शास्त्र' (मीमांसा) का उपयोग है। ३. प्रत्यक्षादि प्रमाणों से यह उपपन्न है। इस प्रकार युक्तियुक्तत्व (का प्रतिपादन) प्रमाण-शास्त्र (न्याय) का प्रयोजन है। (इन सब स्थलों में 'लक्षण' शब्द का अर्थ 'शास्त्र' है) ४. यह (वाक्य विशेष) ही स्वभावगत सौन्दर्य से सहृदयों के हृदय-

हारिता को प्राप्त हो जाता है। यह 'साहित्य' (शास्त्र) की उपयोगिता है। इन (व्याकरण आदि शास्त्रों) में से यद्यपि प्रत्येक का अपने-अपने विषय (क्षेत्र) में प्राधान्य और अन्यों का (उस क्षेत्र में) गुणीभाव है, किन्तु फिर भी सारे वाङ्मय के प्राणभूत 'साहित्य' रूप (यहाँ लक्षण शब्द का अर्थ स्वरूप है) कवि व्यापार का ही वस्तुत सबसे अधिक महत्व है। क्योंकि यह (साहित्य का भाव) जहाँ प्रमुख्य रूप से भी जिस ग्रन्थ (व्याकरण प्रधान भट्टिकाव्य जैसे) वाक्य समूह (रचना) में अपनी परिमल मात्र (गन्धमात्र, 'नाममात्र') से ही संस्कार करता है (जहाँ साहित्य का अश गौण हो जाता है) इस (साहित्य) के अधिवास (प्राधान्येन) से रहित होने मात्र से ही उस (वाक्य-सन्दर्भ) की रमणीयता का अभाव हो जाता है। और उस (रमणीयता-भाव) के कारण (उस वाक्य-सन्दर्भ या काव्य) की उपादेयता की हानि हो जाती है। इसलिए (उस गुणीभूत काव्य की) अपनी रचना (प्रवृत्ति) व्यर्थ हो जाती है। (व्याकरण, मीमासा, न्याय आदि) शास्त्रों से (साहित्य-शास्त्र का) भिन्न प्रयोजनत्व और शास्त्रों के प्रतिपाद्य चतुर्वर्ग (रूप फल) से अधिक फलत्व इस (साहित्य) का पहिले (१,३,५ कारिकाओं में) ही प्रतिपादन कर चुके हैं।

(यही बात निम्नलिखित सग्रह श्लोकों में भी कही है)—

अर्थ का विचार किए बिना भी (अपनी) रचना के सौन्दर्य से (ही) सगीत (के शब्दों) के समान जो काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द प्रदान करता है ॥३७॥

अर्थ की प्रतीति हो जाने के बाद पद और वाक्य के अर्थ से भिन्न (व्यग्य-स्वरूप) जो ठडाई आदि (पानक) के आस्वाद के समान अन्तःकरण में कुछ अपूर्व आस्वाद (आनन्द) प्रदान करता है ॥३८॥

प्राणों के बिना शरीर और स्फूर्ति के बिना जीवन (जैसे व्यर्थ और निर्जीव है उस) के समान जिस (साहित्य तत्व) के बिना विद्वानों वाक्य निर्जीव (आकर्षण-विहीन, चमत्कार-रहित) हो जाते हैं ॥३९॥ (पृष्ठ ६०-६३)

५. वक्रोक्ति

(अ) स्वरूप—

(प्रश्न) वह (शब्द, अर्थ दोनों का एक ही अलकार) कौन-सा है? (उत्तर कहते हैं) वक्रोक्ति ही शब्द तथा अर्थ दोनों का एकमात्र अलकार है)। प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की विचित्र वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है)। वैदग्ध्य अर्थात् चतुरतापूर्ण

कवि-कर्म (काव्य-निर्माण) का कौशल, उसकी भंगी शैली या शोभा उससे भणिति अर्थात् (वर्णन) कथन करना। विचित्र (असाधारण) प्रकार की वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति कहलाती है।   (पृष्ठ ४१)

(ब) कवि-व्यापार.—

कवियों के व्यापार की वक्रता के (मुख्यतः) छः प्रकार हो सकते हैं। उन (छः भेदों) में से प्रत्येक (भेद) के वैचित्र्य से शोभित होने वाले अनेक भेद हो सकते हैं ॥१८॥

१. वर्ण-विन्यास वक्रता—

वर्णों का विन्यास वर्ण-विन्यास है। (अर्थात्) अक्षरों का विशेष प्रकार से (रचना में) रखना वर्ण-विन्यास कहलाता है) उसका वक्रत्व (बांकपन) प्रसिद्ध (साधारण) शैली से (भिन्न प्रकार से) (वैचित्र्य से) रचना। सन्निवेश-विशेष से विहित सहृदयाह्लादकारी शोभातिशय ('वर्ण विन्यास वक्रता' कहलाती है)।

२. पद-पूर्वार्द्ध वक्रता—

सुबन्त या तिङन्त रूप पद (सुप्तिङन्तं पदम् अष्टा० १, ४, १४) का जो पूर्वार्द्ध (सुबन्त पद का पूर्वार्द्ध) प्रातिपदिक अथवा (तिङन्त पद का पूर्वार्द्ध) धातु-रूप, उसकी वक्रता बांकपन, अर्थात् विन्यास का वैचित्र्य (उसी को 'पद-पूर्वार्द्ध वक्रता' कहते हैं)। उस (पद पूर्वार्द्ध वक्रता) के बहुत से प्रकार हो सकते हैं।

(क) जहाँ रूढ़ि शब्द का ही प्रकरण के अनुरूप, वाच्य-रूप से प्रसिद्ध धर्म के अध्यारोप को लेकर प्रयोग किया जाय वह 'पद-पूर्वार्द्ध वक्रता' का प्रथम प्रकार है।

(ख) दूसरा (पद-पूर्वार्द्ध वक्रता का प्रकार वह होता है) जहाँ (रूढ़ि) संज्ञा शब्द वाच्य-रूप से प्रसिद्ध धर्म में लोकोत्तर अतिशय का अध्यारोप गर्भ में रख कर प्रयुक्त किया जाता है। (इसका अभिप्राय यह हुआ कि पहिला भेद धर्मीगत अतिशय का और दूसरा भेद धर्मगत अतिशय का बोधक होता है। व्यंजनावाद में भी फल के धर्मीगत तथा धर्मगत रूप से दो भेद किये गये हैं)।

(ग) पद पूर्वार्द्ध (प्रातिपदिक) वक्रता का (तीसरा) अन्य प्रकार 'पर्याय वक्रता' है। जिसमें वस्तु का अनेक शब्दों से कथन सम्भव होने पर (भी) प्रकरण के अनुरूप होने से कोई (सर्वातिशायी) विशेष पद (ही) प्रयुक्त किया जाता है।'

(घ) पद-पूर्वार्द्ध वक्रता का 'उपचारवक्रता' नामक (चौथा) अन्य प्रकार है। जहाँ अमूर्त, वस्तु का मूर्त वस्तु का वाचक शब्द द्वारा सादृश्य लक्षणामूलक) उपचार से कथन किया जाय।

(ङ) 'विशेषण-वक्रता' (भी) पद-पूर्वार्द्ध वक्रता का (पाँचवाँ) प्रकार है। जहाँ विशेषण के माहात्म्य से ही सहृदयह्लादकारित्व रूप वक्रत्व अभिव्यक्त होता है।

(च) 'यह जो संवृत्ति-वक्रता' है वह 'पद-पूर्वार्द्ध वक्रता' का (छठा) और प्रकार है। जहाँ प्रकरण के अनुरूप किसी अपकर्ष अथवा उत्कर्ष (विशेष) के कारण पदार्थ का स्वरूप व्यक्त रूप से साक्षात् नहीं कहा जा सकता है और (अर्थ) छिपाने की सामर्थ्य से युक्त किसी शब्द से (अस्पष्ट रूप) कहा जाता है। (वहाँ 'संवृत्ति-वक्रता' होती है)।

(छ) यह 'वृत्ति-वैचित्र्य वक्रत्व' भी 'पद-पूर्वार्द्ध वक्रता' का सातवाँ (भेद) अन्य प्रकार हो सकता है। (वृत्ति-शब्द का अर्थ यहाँ सम्बन्ध है। सम्बन्ध के वैचित्र्य से जहाँ वक्रता हो उसे 'वृत्ति-वैचित्र्य वक्रता' कहते हैं। समासादितवृत्तीना अर्थात्) जहाँ प्राप्त (अनुभूत अर्थात् अनुभव-सिद्ध) सम्बन्धों में से कवि, किसी विशेष (सम्बन्ध) का ही ग्रहण करते हैं। (वहाँ वृत्ति-वैचित्र्य वक्रता' होती है)।

(ज) पद-पूर्वार्द्ध वक्रता का (आठवाँ) अन्य प्रकार लिंग-वैचित्र्य' पाया जाता है। जहाँ वैचित्र्य-सम्पादन के लिए भिन्न लिंग के शब्दों का भी समानाधिकरण रूप से प्रयोग होता है। (वहाँ 'लिंग-वक्रता' नामक पद-पूर्वार्द्ध वक्रता का भेद होता है)।

(झ) (तिङन्त) पद के पूर्वार्द्ध धातु का 'क्रिया-वैचित्र्य वक्रता' नामक वक्रता का और (नवाँ) भेद है। जहाँ क्रिया वैचित्र्य के प्रतिपादन पर रूप से वैदग्ध्य भंगी भणिति से रमणीय (क्रिया पदों के) प्रयोगो को कविगण प्रयुक्त करते हैं (वहाँ 'क्रिया वक्रता' होती है)।

वक्रता का एक और (मुख्य भेदों में तीसरा) प्रकार 'प्रत्ययाश्रित' (प्रत्यय-वक्रता) भी है। (वक्रताया परोऽप्यस्ति प्रकार प्रत्ययाश्रयः। यह इस १६ वीं कारिका का उत्तरार्द्ध भाग है। उसको प्रतीक रूप से उद्धृत कर उसकी व्याख्या करते हैं) वक्रता का अन्य भेद भी है। जैसा कि प्रत्यय के आश्रित रहने वाला (प्रत्यय) अर्थात् सुप् या तिङ् (प्रत्यय) वह आश्रय अर्थात् स्थान है जिसका वह उस प्रकार का प्रत्ययाश्रय प्रभेद) है। उस (प्रत्यय-वक्रता) के भी बहुत-से भेद हो सकते हैं। (जैसे) १. 'संख्या-वैचित्र्य कृत', २ 'कारक-वैचित्र्यकृत' ३. 'पुरुष-वैचित्र्यकृत' (आदि)। उनमें से

संख्या वैचित्र्यकृत (प्रत्यय-वक्रता उसको कहते हैं। जिसमें काव्य की शोभा के लिए वचन-वैचित्र्य की रचना की जाती है।

('प्रत्यय-वक्रता' का दूसरा भेद) कारक-वैचित्र्यकृत (होता है)—जहाँ अचेतन पदार्थ में भी चेतनत्व का अध्यारोप करके रसादि के परिपोषण के लिए (उनमें) चेतन की ही क्रिया का समावेश-रूप कर्तृत्वादि कारक (के रूप में उस अचेतन पदार्थ) का वर्णन किया जाता है (वहाँ कारक-वैचित्र्यकृत प्रत्यय वक्रता होती है)।

(प्रत्यय-वक्रता का तीसरा भेद) 'पुरुष-वैचित्र्य-वक्रत्व' (वहाँ होता) है, जहाँ प्रथम पुरुष का (मध्यम अथवा उत्तम पुरुष रूप) अन्य के साथ विपर्यास का कवि लोग प्रयोग करते हैं। (अर्थात्) काव्य के वैचित्र्य के लिए (मध्यमपुरुष बोधक) युष्मद् (शब्द) अथवा (उत्तम पुरुष बोधक) अस्मद् (शब्द) के प्रयोग करने के स्थान पर प्रातिपदिकमात्र (प्रथमपुरुष) का प्रयोग करते हैं।

वाक्य का वक्रभाव (पद-वक्रता से भिन्न) अन्य ही है। जिसके सहस्रों भेद हो सकते हैं। और जिसमें यह (उपमादि-रूप प्रसिद्ध) समस्त अलङ्कार वर्ग का अन्तर्भाव हो जायगा ॥२०॥

वाक्य की वक्रता (पद-वक्रता से) अन्य है। वाक्य की, अर्थात् पदसमुदाय-रूप (वाक्य) की। 'अव्यय, कारक विशेषण (आदि) से युक्त क्रिया (आख्यात) वाक्य (कहलाती) है' इस प्रकार (के लक्षण द्वारा) जिसकी प्रतीति होती है उस (वाक्य) श्लोकादि (रूप वाक्य) का वक्र-भाव अर्थात् वर्णन-शैली का वैचित्र्य अन्य अर्थात् पूर्वोक्त (१. वर्ण-विन्यास वक्रता, २. पद पूर्वार्द्ध वक्रता तथा ३. प्रत्ययाश्रित-वक्रता) वक्रता से भिन्न, समुदाय (रूप-वाक्य) वैचित्र्य-मूलक (वाक्य का) कुछ अपूर्व वक्रभाव हो सकता है।

('वाक्य समुदायात्मक) 'प्रकरण' अथवा प्रकरण समुदायात्मक) 'प्रबन्ध' में सहज (स्वाभाविक) और आहार्य (व्युत्पत्ति द्वारा उपार्जित) सौकुमार्य से मनोहर जिस प्रकार का वक्रभाव है उसको (भी इस २१ कारिका में) कहते हैं ॥२१॥

वक्र-भाव अर्थात् रचना-वैचित्र्य, प्रबन्ध (काव्य,नाटक आदि) के एकदेश (अवयव-भूत) 'प्रकरण' में जैसा है, अथवा (प्रकरण समुदायात्मक) 'प्रबन्ध' अर्थात् नाटकादि में जैसा (वक्र-भाव) है वह भी (इस कारिका में) कहा जाता है। कैसा कि सहज और आहार्य सौकुमार्य से मनोहर। सहज माने स्वाभाविक और आहार्य माने व्युत्पत्ति से उपार्जित जो सौकुमार्य अर्थात सौन्दर्य उस से मनोहर हृदयहारी जो वह उस प्रकार का 'सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहर' हुआ।

प्रबन्ध (रामायण महाभारत आदि महाकाव्य या नाटक आदि) में वक्र-भाव (का उदाहरण) जैसे—किसी महाकवि के बनाए हुए रामकथा-मूलक नाटक आदि में (१ वर्ण विन्यास वक्रता, २. पद-पूर्वार्द्ध वक्रता, ३. प्रत्ययाश्रित-वक्रता, ४ वाक्य वक्रता और ५ प्रकरण-वक्रता) वक्रता से सुन्दर सहृदयहृदयाह्लादकारी (नायक रूप) महापुरुष का वर्णन ऊपर से (मोटे रूप से) किया गया प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में (कवि का प्रयोजन केवल उस महापुरुष के चरित्र का वर्णन करना मात्र नहीं होता है अपितु) 'राम के समान आचरण करना चाहिए रावण के समान नहीं' इस प्रकार का विधि और निषेधात्मक धर्म का उपदेश (उस काव्य या नाटक का) फलितार्थ होता है। (यही उस प्रबन्ध काव्य आदि की वक्रता या सौन्दर्य है)।

(पृष्ठ ६४-९३)

६ स्वभावोक्ति निराकरण

जिन (बड़ी सहृय) आलङ्कारिक आचार्यों के मत में स्वभावोक्ति (भी) अलंकार है उनके मत में और अलंकार्य क्या रह जाता है? (अर्थात् स्वभाव ही अलंकार्य है। उसको अलंकार मान लेने पर फिर 'अलंकार्य' किस को कहा जायगा ? अतः अलंकार्य-भूत स्वभावोक्ति को अलंकार मानना उचित नहीं है) ॥११॥

जिन आलंकारिकों अर्थात् अलंकार (शास्त्र) के रचने वाले आचार्यों के मत में स्वभावोक्ति अलंकार है, अर्थात् जो पदार्थ के (स्वरूपाधायक) धर्मभूत स्वभाव की उक्ति अर्थात् कथन वही (जिनको) अलंकृति अर्थात् अलंकार प्रतीत होता है वह विवेचन-शक्ति से रहित सुकुमारबुद्धि) होने से (अलंकार्य और अलंकार के) विवेक (भेद, 'विचिर पृथग्भावे') का कष्ट नहीं उठाना चाहते हैं। (यदि उसके विवेचन का कष्ट करें तो उन्हें विदित हो जाय कि स्वभावोक्ति अलंकार नहीं अलंकार्य है क्योंकि) स्वभावोक्ति इस (शब्द) का क्या अर्थ है? स्वभाव ही का वर्णन (होने पर) स्वभावोक्ति कही जा सकती है। यही स्वभावोक्ति शब्द का अर्थ हुआ। वह (स्वभाव-वर्णन) ही यदि अलंकार है तो फिर उस (स्वभाव-वर्णन) से भिन्न काव्य के शरीर-स्थानीय कौन-सी वस्तु है जो उनके मत में अलंकार्यतया अर्थात् विभूष्यत्वेन स्थित हो? (स्वभावोक्ति से) पृथक् (अपनी) सत्ता को प्राप्त करे। अर्थात् और कुछ नहीं है (जिसे 'अलंकार्य' कहा जा सके। स्वभाव-वर्णन ही 'अलंकार्य' है। अतः उसको 'अलंकार' कहना उचित नहीं है।)॥११॥

(पूर्वपक्ष) इस पर स्वभावोक्ति-वादी प्रश्न करता है कि आपने अर्थात् वक्रोक्तिवादी ने ही ग्रन्थ की १, ६ कारिका में) पहले यह (सिद्धान्त) स्थापित किया

है कि (अलंकार्य और अलंकार के) विभाग से रहित सालंकार (शब्दार्थ रूप) वाक्य का ही काव्यत्व है। तो (जब आप स्वयं अलंकार्य और अलंकार का विभाग नहीं मानते हैं तब हमसे) यह क्यों कहते हैं (कि स्वभावोक्ति को अलंकार मानने पर अलंकार्य क्या होगा ? हम भी अलंकार और अलंकार्य का विभाग नहीं मानते हैं आप ऐसा समझ सकते हैं।)

(उत्तरपक्ष) ठीक है। (हम अलंकार्य और अलंकार का वास्तविक विभाग नहीं मानते हैं) किन्तु (हमारे मत में) यहाँ भेद-विवक्षा (अपोद्धार बुद्धि) से पूर्वोक्त (पृ० १६ पर दिखाए हुए) वर्णपद न्याय से अथवा 'वाक्यपद न्याय' से (जिस प्रकार वैयाकरण सिद्धान्त में पद से भिन्न उसके अवयव रूप 'वर्ण' नहीं होते हैं और वाक्य से भिन्न उसके अवयवभूत 'पदों' की स्वतन्त्र वास्तविक स्थिति नहीं है फिर भी प्रकृति-प्रत्यय क्रिया कारक आदि व्यवहार किया जाता है, इसी प्रकार काव्य में भी अलंकार तथा अलंकार्य की अलग पारमार्थिक स्थिति न होने पर भी भेद-विवक्षा में अलंकार्य अलंकार) विभाग किया जा सकता है। यह कह ही चुके हैं। (इसलिए यहाँ भी अलंकार्य तथा अलंकार का भेद होना आवश्यक है। भले ही वह पारमार्थिक न हो। 'स्वभावोक्तिवाद' में अलंकार्य भूत पदार्थ-स्वरूप को ही अलंकार मान लेने पर वह भेद नहीं बनता है। अतः यह स्वभावोक्ति की अलंकारता का पक्ष ठीक नहीं है।) इसी बात को प्रकारान्तर से प्रतिपादन करने के लिए (विवक्षितु) कहते हैं—

(स्वभावोक्ति को जब अलंकार मानोगे तब उससे भिन्न कुछ अन्य अलंकार्य होगा। परन्तु उस) स्वभाव के (स्वरूप के कथन के) बिना वस्तु का वर्णन (कथन) ही सम्भव नहीं हो सकता है। क्योंकि उस (स्वभाव) से रहित वस्तु (शश-विषाण, वन्ध्या-पुत्र आदि के समान) तुच्छ असत्कल्प (निरुपाख्य) हो जाती है ॥१२॥

स्वभाव व्यतिरेकेण अर्थात् स्व स्वरूप (स्वपरिस्पन्द) के बिना निःस्वभाव, स्वरूप रहित (वस्तु) का वर्णन ही नहीं किया जा सकता है। वस्तु अर्थात् वाच्य भूत (का वर्णन) क्यों (नहीं हो सकता है) ? तद्रहित अर्थात् उस स्वभाव से रहित अर्थात् वर्जित (वस्तु) क्योंकि 'निरुपाख्य' हो जाती है। उपाख्या से निष्क्रान्त (इस अर्थ विग्रह में 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इस वार्तिक से समास होकर) निरुपाख्य (पद बनता है और उसका अर्थ अवर्णनीय या तुच्छ असत्कल्प आदि होता है। क्योंकि) उपाख्या (शब्द का अर्थ) 'शब्द' है। (उससे निष्क्रान्त अर्थात्) उसका अगोचर (अविषय) भूत (वस्तु) वर्णन के अयोग्य ही हो जाता है। क्योंकि स्वभाव शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है। जिस से (अर्थ का) कथन (अभिधान) और ज्ञान (प्रत्यय) होवे हैं वह 'भाव' है। और 'स्व' का अर्थात् अपना 'भाव' (अर्थात् स्वरूप

जिससे पदार्थ का कथन और ज्ञान-रूप व्यवहार होता है वह) 'स्वभाव' (स्वरूप) है। इसलिए वह (स्वभाव या स्वरूप) ही सब पदार्थों (यस्य कस्यचित् पदार्थस्य) का ज्ञान और कथन (प्रख्या ज्ञान और उपाख्या माने कथन) रूप व्यवहार का कारण होता है। उस (स्वभाव अर्थात् स्वरूप) से रहित वस्तु शश विषाण सदृश शब्द और ज्ञान (व्यवहार) के अगोचर हो जाती है। (उसका शब्द से कथन या ज्ञान नही हो सकता है) क्योंकि स्वभाव (स्वरूप)-युक्त वस्तु ही सर्वथा कथन करने योग्य होती है। इसलिए (स्वभाव-कथन, स्वरूप-कथन स्वभावोक्ति, अलकार्य ही हो सकता अलकार नहीं और यदि स्वभाव वर्णन को आप अलकार मानने का आग्रह ही करते हैं तो आपके मत में) स्वभावोक्ति से युक्त होने से (प्रयत्न अशिक्षित और मूर्ख) गाडी हाँकने वालों के वाक्यों में भी सालकारता (अतएव काव्यत्व) प्राप्त होने लगेगी। (जो कि अभीष्ट नही है। अत स्वभावोक्ति अलकार नही है) ॥१२॥

इस बात को दूसरी युक्ति से फिर कहते हैं

(स्वभाव अर्थात् स्वरूप तो काव्य का शरीर-स्थानीय है) वह शरीर ही यदि (स्वभावोक्ति नामक) अलकार हो जाय तो वह (स्वभावोक्ति अलकार) दूसरे किस (अलकार्य) को अलकृत करेगा। (वह स्वभाव या स्वरूप ही अलकार्य हो और स्वभावोक्ति ही अलकार हो यह नही कहा जा सकता है क्योंकि ससार में) कहीं कोई स्वय अपने कन्धे पर नही चढ़ सकता है ॥१३॥

किसी भी वर्ण्यमान वस्तु का स्वभाव (स्वरूप) ही वर्णनीय होने से वर्ण्य शरीर के रूप होता है। वह (वर्ण्य शरीर रूप स्वभाव) ही यदि अलकार अर्थात् विभूषण हो जाय तो उससे भिन्न और (अलकार्य) क्या है जिसको (वह स्वभावोक्ति अलकार) अलकृत अर्थात् विभूषित करता है। यदि यह कहो कि (स्वभावोक्ति अलकार) स्वय अपने स्वरूप को ही अलकृत करता है तो वह अनुपपन्न (युक्ति विरुद्ध) होने से अनुचित है। क्योंकि (ससार में) कहीं भी (कोई) अपने आप अपने कन्धे पर नही चढ़ता है। शरीर ही शरीर के कन्धे पर नहीं नही चढता है, यह अभिप्राय हुआ। स्वय अपने में (अधिरोहणादि रूप स्वाश्रित) क्रिया का विरोध होने से। (इसलिए भी स्वभावोक्ति को अलकार मानना उचित नहीं है) ॥१३॥

और दुर्जनतोष (न्याय से यदि थोडी देर के लिए स्वाभावोक्ति को अलकार मान भी लिया जाय तो) उसको मान कर भी हम कहते हैं (कि इष्ट सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि)—

स्वभाव (स्वभावोक्ति) को अलंकार मानने पर (काव्य में उसके अतिरिक्त उपमा आदि) अन्य अलंकारों की रचना होने पर उन दोनों (अर्थात् स्वभावोक्ति तथा उपमादि अन्य अलंकारों के भेद का ज्ञान स्पष्ट होता है अथवा अस्पष्ट। (यह बतलाओ) ॥१४॥

(स्वभावोक्ति अलंकार का अन्य उपमादि अलंकारों से भेद-ज्ञान) स्पष्ट होने पर (उन दोनों अलंकारों की निरपेक्ष स्थिति होने से 'मिथोऽनपेक्षतयैषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' इस लक्षण के अनुसार) सर्वत्र संसृष्टि (अलंकार) होगा। और (उपमादि के साथ स्वभावोक्ति के भेद ज्ञान के) स्पष्ट न हो पर (अंगांगिभाव-रूप से, अथवा एकाश्रयानुप्रवेश अथवा सन्देह रूप तीन प्रकार के संकरों में से किसी प्रकार का) संकर ही सर्वत्र होने लगेगा इसलिए (शुद्ध रूप से उपमादि अन्य अलंकारों का विषय (उदाहरण) ही नहीं बचेगा। अर्थात् शुद्ध उपमादि अलंकार जहां रह सकें ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलेगा ॥१५॥

स्वभाव के भूषण होने पर अर्थात् स्वरूप (स्वपरिस्पन्द) के अलंकार मानने पर, जब (उपमादि) अन्य अलंकार बनाए (रचे) जाते हैं तब उनके रचे जाने पर दो प्रकार की स्थिति हो सकती है। वह (दो प्रकार की गति) कौन-सी (है) ? उन दोनों अर्थात् स्वभावोक्ति (अलंकार) और अन्य (उपमादि) अलंकारों का भेदावबोध अर्थात् भेद का ज्ञान प्रकट अर्थात् स्पष्ट (रूप से हो) अथवा कभी अप्रकट अर्थात् अस्पष्ट रूप से हो। तब (उन दोनों में से प्रथम पक्ष में) उस (स्वभावोक्ति अलंकार के उपमा आदि अन्य अलंकारों के साथ भेद के ज्ञान के) स्पष्ट होने पर सर्वत्र अर्थात् समस्त कवि-वाक्यों (काव्यों) में (स्वभावोक्ति तथा उपमादि अन्य अलंकारों की अनपेक्षतया स्थिति होने से 'मिथोऽनपेक्षतयैषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' इस लक्षण के अनुसार) केवल संसृष्टि ही एक अलंकार होगा। और उस (भेद-ज्ञान) के अस्पष्ट होने पर (अंगांगिभाव अथवा एकाश्रयानुप्रवेश अथवा सन्देह संकर इन तीन प्रकार के संकरों में से किसी न किसी प्रकार का) एक संकरालंकार ही सर्वत्र होने लगेगा। उससे क्या हानि होगी यह कहते हैं। और (शुद्ध या केवल उपमादि अलंकार जहाँ हो ऐसा) अन्य अलंकारों का विषय (उदाहरण) ही शेष नहीं रह जायेगा। अन्य उपमादि अलंकारों का विषय अर्थात् क्षेत्र कहीं भी नहीं रहेगा। अर्थात् (वह उपमादि अन्य अलंकार) निर्विषय हो जाता है। अतः उनके लक्षणों का करना व्यर्थ हो जाता है।

अथवा (इस वैयर्थ्य को बचाने के लिए) यदि वह संसृष्टि और संकर ही उन (उपमादि अलंकारों) के विषय मान लिए जायें तो भी वह युक्त बनता नहीं है।

उन्हीं (स्वभावोक्ति को स्वतन्त्र अलंकार प्रतिपादन करने वाले) आलंकारिकों के द्वारा (अर्थात् उपमादि अलंकार केवल संसृष्टि या संकर रूप में ही उपलब्ध हो सकते हैं। स्वतन्त्र रूप से उनकी सत्ता सम्भव नहीं है) इस बात के स्वीकृत न होने से। (यह कहना भी उचित नहीं है)। इसलिए आकाश-चर्वण के समान (असम्भव और) मिथ्या (पदार्थ अर्थात् स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का) लिखना व्यर्थ है।

(पृष्ठ ५२-५७)

अनुवादक —आचार्य विश्वेश्वर

कुन्तक

[वक्रोक्ति-जीवितम्]*

१ काव्यप्रयोजनम्

धर्मादिसाधनोपाय· सुकुमारक्रमोदित ।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारक ॥१।३॥

हृदयाह्लादकारकश्चित्तानन्दजनक· काव्यबन्ध , सर्गबन्धादिर्भवतीति सम्बन्ध। । कस्येत्याकाङ्क्षायामाह, अभिजातानाम् । अभिजाता खलु राजपुत्रादयो धर्माद्युपेयार्थिनो विजिगीषव· क्लेशभीरवश्च, सुकुमाराशयत्वात्तेषाम् । तथा सत्यपि तदाह्लादकत्वे काव्यबन्धस्य, क्रीडनकादिप्रख्यता प्राप्नोतीत्याह, धर्मादिसाधनोपाय । धर्मादिरुपेयभूतस्य साधने सम्पादने तदुपदेशरूपत्वादुपायस्तत्प्राप्तिनिमित्तम् ।

तथापि तथाविधपुरुषार्थोपदेशपरैरपरैरपि शास्त्रैं किमपराद्धमित्यभिधीयते, सुकुमारक्रमोदित । सुकुमार· सुन्दर· सहृदयहृदयहारी क्रम· परिपाटीविन्यासस्तेनोदित। कथित सन् । अभिजातानामाह्लादकत्वे सति प्रवर्तकत्वात् काव्यबन्धो धर्मादिप्राप्त्यु-पायतां प्रतिपद्यते । शास्त्रेषु पुन कठोरक्रमाभिहितत्वाद् धर्माद्युपदेशो दुरवगाह । तथाविधे विषये विद्यमानोऽप्यकिञ्चित्कर एव ।

राजपुत्रा खलु समासादितविभवा समस्तजगतीव्यवस्थाकारितां प्रतिपद्यमाना· श्लाघ्योपायोपदेशशून्यतया स्वतन्त्रा सन्त समुचितसकलव्यवहारोच्छेदं प्रवर्तयितुं प्रभवन्तीत्येतदयमेतद्व्युत्पत्तये व्यतीतसच्चरितराजचरितं तन्निदर्शनाय निबध्नन्ति कवय । तदेव शास्त्रातिरिक्त प्रगुणमस्त्येव प्रयोजन काव्यबन्धस्य ॥३॥

मुख्य पुरुषार्थसिद्धिलक्षण प्रयोजनमास्तां तावत्, अन्यदपि लोकयात्राप्रवर्तन निमित्त भृत्यसुहृत्स्वाम्यादिसमावर्जनमनेन विना न सम्भवतीत्याह—

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभि ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥१।४॥

* आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली द्वारा सन् १९५५ में प्रकाशित प्रथम संस्करण

व्यवहारो लोकवृत्त, तस्य परिस्पन्दो व्यापार क्रियाक्रमलक्षणस्तस्य सौन्दर्यं रामणीयक तत्, व्यवहारिभिर्व्यवहर्तुमि , सत्काव्याधिगमादेव कमनीयकाव्यपरिज्ञानादेव नान्यस्मात्, प्राप्यत लभ्यते, इत्यर्थ । कीदृश तत्सौन्दर्यं नूतनौचित्यम् । नूतनमभिनव-लौकिकमौचित्यमुचितभावो यस्य । तदिदमुक्त भवति, महता हि राजादीना व्यवहारे वर्ण्यमाने तदङ्गभूता सर्वे मुख्यामात्यप्रभृतय समुचितप्रातिस्विककर्तव्यव्यवहारनिपुणतया निबध्यमाना सकलव्यवहारिवृत्तोपदेशतामापद्यन्ते तत सर्वं कश्चित् कमनीयकाव्ये कृतश्रम समासादितव्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यातिशय श्लाघनीयफलभाग् भवतीति ॥४॥

योऽसौ चतुर्वर्गलक्षण पुरुषार्थस्तदुपार्जनविषयव्युत्पत्तिकारणतया काव्यस्य पारम्पर्येण प्रयोजनमित्याम्नात, सोऽपि समयान्तरभावितया तदुपभोगस्य तत्फलभूता-ह्लादकारित्वेन तत्कालमेव पर्यवस्यति । अतस्तदतिरिक्त किमपि सहृदयहृदयसंवादसुभग तदात्वरमणीय प्रयोजनान्तरमभिधातुमाह—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥१।५॥

चमत्कारो वितन्यते चमत्कृतिर्विस्तार्यते, ह्लाद पुन पुन क्रियत इत्यर्थ । केन, काव्यामृतरसेन । काव्यमेवामृत तस्य रसस्तदास्वादस्तदनुभवस्तेन । क्वेत्यभिदधाति, अन्तश्चेतसि । कस्य, तद्विदाम् । त विदन्ति जानन्तीति तद्विदस्तज्ज्ञास्तेषाम् । कथम्, चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य । चतुर्वर्गस्य धर्मादे फल तदुपभोगस्तस्यास्वादस्तदनु-भवस्तमपि प्रसिद्धातिशयमतिक्रम्य विजित्य पस्पशप्राय सम्पाद्य । (पृष्ठ ६-१२)

२ काव्येऽलङ्कारालङ्कार्यौ

अलङ्कृतिरलङ्करणम् । अलङ्क्रियते ययेति विग्रह । सा विवेच्यते विचार्यते । यच्चालङ्कार्यमलङ्करणीय वाचकरूप वाच्यरूपञ्च तदपि विवेच्यते । तयो सामान्यविशेष-लक्षणद्वारेण स्वरूपनिरूपण क्रियते कथम्, अपोद्धृत्य । निष्कृष्य, पृथक् पृथगवस्थाप्य, यत्र समुदायरूपे तयोरन्तर्भावस्तस्माद्विभज्य । केन हेतुना, तदुपायतया । तदिति काव्य परामृश्यते । तस्योपायस्तदुपायस्तस्य भावस्तदुपायता तया हेतुभूतया । तस्मादेवविधो विवेक काव्यव्युत्पत्त्युपायतां प्रतिपद्यते दृश्यते च समुदायान्त पातिनामसत्यभूतानामपि व्युत्पत्तिनिमित्तमपोद्धृत्य विवेचनम् । यथा पदान्तर्भूतयो प्रकृतिप्रत्ययो, वाक्यान्त-र्भूतानां पदानाञ्चेति । (पृष्ठ १५-१६)

× × ×

अयमत्र परमार्थः । सालंकारस्यालंकरणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः काव्यता कविकर्मत्वम् । तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः न पुनः काव्यस्यालङ्कारयोग इति ॥६॥ (पृष्ठ १७)

× × ×

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते ॥१।१०॥

उभौ द्वावप्येतौ शब्दार्थावलंकार्यावलंकरणीयौ, केनापि शोभातिशयकारिणाऽलंकरणेन योजनीयौ । किं तत् तयोरलंकरणमित्यभिधीयते, 'तयोः पुनरलंकृतिः ।' तयोर्द्वित्वसंख्याविशिष्टयोरप्यलंकृतिः पुनरेकैव, यया 'द्वावप्यलक्रियेते । (पृष्ठ ५१)

३ काव्यं साहित्यञ्च

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ॥१।६॥

× × ×

यद्येवमसत्यभूतोऽप्यपोद्धारस्तदुपायतया क्रियते तत् किं पुनः सत्यमित्याह—'तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ।' × × ×

सालंकारस्य काव्यतेति सम्मुग्धतया किंचित् काव्यस्वरूपमासूत्रितम् निपुणं पुनर्न निश्चितम् । किं लक्षणं वस्तु काव्यव्यपदेशभाग् भवतीत्याह—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥१।७॥

शब्दार्थौ काव्यम्, वाचको वाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम् । द्वावेकमिति विचित्रैवोक्तिः । तेन यत्केषाञ्चिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति, केषाञ्चिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यमिति, पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति । तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते, न पुनरेकस्मिन् । यथा—

भण तरुणि रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि ।
यदि सल्लीलोल्लापिनि गच्छसि तत्किं त्वदीयं मे ॥
अनणुरणन्मणिमेखलमविरतशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम् ।
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥

प्रतिभावारिद्र्यदैन्यादतिस्वल्पसुभाषितेन कविना वर्णसावर्ण्यरम्यतामात्रमत्रोदितम्। न पुनर्वाच्यवैचित्र्यकणिका काचिदस्तीति।

यत्किल नूतनतारुण्यतरङ्गितलावण्यलम्भकान्ते कान्ताया कामयमानेन केनचिदेतदुच्यते। यदि त्व तरुणि रमणमन्दिर व्रजसि तत्किं त्वदीय रणरणकमकारण मम करोतीत्यतिग्राम्येयमुक्ति। किञ्च, न प्रकारणम्। यतस्तस्यास्तदनादरेण गमनेन तदनुरक्तान्त करणस्य विरहविधुरताशङ्काकातरता कारण रणरणकस्य। यदि वा परिसरणस्य मया किमपराद्धमित्यकारणतासमर्पकम्, एतदप्यतिग्राम्यतरम्। सम्बोधनानि च बहूनि मुनिप्रणीतस्तोत्रामन्त्रप्रकल्पानि न कांञ्चिदपि तद्विदामाह्लादकारितां पुष्णन्तीति यत्किञ्चदेतत्।

वस्तुमात्रञ्च शोभातिशयशून्य न काव्यव्यपदेशमर्हति। यथा—

प्रकाशस्वाभाव्य विदधति न भावास्तमसि यत्
तथा नैते ते स्युर्यदि किल तथा तत्र न कथम्।
गुणाध्यासाभ्यासव्यसनदृढदीक्षागुरुगुणो
रविव्यापारोऽत्र किमथ सदृशं तस्य महस ॥

अत्र हि शुष्कतर्कवाक्यवासनाधिवासितचेतसा प्रतिभाप्रतिभातमात्रमेव वस्तु व्यसनितया कविना केवलमुपनिबद्धम्। न पुनर्वाचकवक्रताविच्छित्तिलवोऽपि लक्ष्यते। यस्मात्तर्कवाक्यशय्यैव शरीरमस्य श्लोकस्य। तथा च, तमोव्यतिरिक्ता पदार्था धर्मिण प्रकाशस्वभावा न भवन्ति, इति साध्यम्। तमस्यतथाभूतत्वादिति हेतु।

दृष्टान्तस्तर्हि कथ न दर्शित ? तर्कन्यायस्यैव चेतसि प्रतिभासमानत्वात्। तदोच्यते—

तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिन।
ख्याप्येते, विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवल ॥

इति। विदधतीति विपूर्वो दधाति करोत्यर्थे वर्तते। स च करोत्यर्थोऽत्र न सुस्पष्टसमन्वय प्रकाशस्वाभाव्य न कुर्वन्तीति। प्रकाशस्वाभाव्यशब्दोऽपि चिन्त्य एव। प्रकाश स्वभावो यस्यासौ प्रकाशस्वभाव। तस्य भाव इति भावप्रत्यये विहिते पूर्वपदस्य वृद्धि प्राप्नोति। अथ स्वभावस्य भाव स्वाभाव्यमित्यत्रापि भावप्रत्ययान्ताद्भावप्रत्ययो न प्रचुरप्रयोगार्ह। तथा प्रकाशश्चासौ स्वाभाव्यञ्चेति विशेषणसमासोऽपि न समीचीन।

तृतीये च पादेऽत्यन्तासमर्पकसमासभूयस्त्ववैरस्य न तद्विदाह्लादकारितामावहति 'रविव्यापार' इति रविशब्दस्य प्राधान्येनाभिमतस्य समासे गुणीभावो न विवक्षित पाठान्तरस्य 'रवे' इति सम्भवात् ।

ननु वस्तुमात्रस्यालङ्कारशून्यतया कथं तद्विदाह्लादकारित्वमिति चेत्,

तन्न । यस्मादलङ्कारेणाप्रस्तुतप्रशंसालक्षणेनान्यापदेशतया स्फुरितमेव कवि चेतसि । प्रथमं च प्रतिभाप्रतिभासमानमघटितपाषाणशकलकल्पमणि प्रख्यमेव वस्तु विदग्धकविविरचितवक्रवाक्योपारूढं शाणोल्लीढमणिमनोहरतया तद्विदाह्लादकारिकाव्य त्वमधिरोहति । तथा चैकस्मिन्नेव वस्तुनि, अवहितानवहितकविद्वितयविरचित वाक्य द्वयमिद महदन्तरमावेदयति—

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णबाष्पकलुषानभिगृह्णन् ।
मन्दमन्दमुदित प्रययौ खं भीतभीत इव शीतमयूख ॥

क्रमादेकद्वित्रिप्रभृति परिपाटी प्रकटयन्
कला स्वैरं स्वैरं नवकमलकन्दांकुररुच ।
पुरन्ध्रीणां प्रेयो विरहदहनोद्दीपितदृशा
कटाक्षेभ्यो बिभ्यन्निभृत इव चन्द्रोऽभ्युदयते ॥

एतयोरन्तर सहृदयहृदयसंवेद्यमिति तैरेव विचारणीयम् । तस्मात् स्थितमेतत न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्व, नाप्यर्थस्येति । तदिदमुक्तम्—

रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदित ।
न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनितामुखम् ॥

रूपकादिमलङ्कार बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङाञ्च व्युत्पत्ति वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥

तदेतदाहु सौशब्द्य नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्ट द्वयन्तु न ॥

तेन शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम् । एवमवस्थापिते द्वयो काव्यत्वे कदाचिदेकस्य मनाङ्मात्रन्यूनतायां सत्यां काव्यव्यवहार प्रवर्ततेत्याह,— सहिताविति । सहितौ सहितभावेन साहित्येनावस्थितौ ।

ननु च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वादेतयोर्न कथञ्चिदपि साहित्यविरह । सत्यमेतत्, किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम् । कीदृशम्, वक्रताविचित्रगुणालङ्कार-सम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोह तेन—

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ॥

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपु शशी ।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥

अत्रारुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुष शशिन कामपरिक्षामवृत्ते कामिनीकपोलफलकस्य च पाण्डुत्वसाम्यसमर्पणादर्थालङ्कारपरिपोष शोभातिशयमावहति । वक्ष्यमाणवर्णविन्यासवक्रतालक्षण शब्दालङ्कारोऽप्यतितरां रमणीय । वर्णविन्यासविच्छित्तिविहिता लावण्यगुणसम्पदस्त्येव । (पृष्ठ १५-२६)

× × × ×

द्वयोरप्येतयोरुदाहरणयो प्राधान्येन प्रत्येकमेकतरस्य साहित्यविरहो व्याख्यात परमार्थत पुनरुभयोरेकतरस्य साहित्यविरहोऽन्यतरस्यापि पर्यवस्यति । तथा चार्थं समर्थवाचकाऽसद्भावे स्वात्मना स्फुरन्नपि मृतकल्प एवावतिष्ठते शब्दोऽपि वाक्योपयोगिवाच्यासम्भवे वाच्यान्तरवाचक सन् वाक्यस्य व्याधिभूत प्रतिभातीत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

प्रकृतं तु । कीदृशे, बन्धे, वक्रकविव्यापारशालिनि । वक्रो योऽसौ शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकी षट्प्रकारवक्रताविशिष्ट कवि-व्यापारस्तत्क्रियाक्रमस्तेन शालते श्लाघते यस्तस्मिन् । एवमपि कष्टकल्पनोपहतेऽपि प्रसिद्धव्यतिरेकित्वमस्तीत्याह—'तद्विदाह्लादकारिणि' । तदिति काव्यपरामर्श । तद्विदन्तीति तद्विदस्तज्ज्ञा, तेषामाह्लादं करोति यस्तस्मिन्, तद्विदाह्लादकारिणि बन्धे व्यवस्थितौ । वक्रता वक्रताप्रकारास्तद्विदाह्लादकारित्वञ्च प्रत्येकं यथावसरमेवोदाहरिष्यते ॥७॥

एवं काव्यस्य सामान्यलक्षणे विहिते विशेषमुपक्रमते । तत्र शब्दार्थयोस्तावत्स्वरूपं निरूपयति—

वाच्योऽर्थो वाचक शब्द प्रसिद्धमिति यद्यपि ।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयो ॥१।८॥

इति एवंविधं वस्तु प्रसिद्धं प्रतीतम् । यो वाचक स शब्द, यो वाच्यश्चाभिधेय सोऽर्थ. इति । ननु च द्योतकव्यञ्जकावपि शब्दौ सम्भवत । तदसङ्ग्रहान्नाव्याप्तिः ।

यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव । एवं द्योत्यव्यङ्ग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचाराद् वाच्यत्वमेव । तस्माद् वाचकत्वं वाच्यत्वं च शब्दार्थयोर्लोके सुप्रसिद्धं यद्यपि लक्षणं, तथाप्यस्मिन् अलौकिके काव्यमार्गे काव्यवर्त्मनि, अयमेतयोर्वक्ष्यमाणलक्षणः परमार्थः, किमप्यपूर्वं तत्त्वमित्यर्थः ।।८।।

कीदृशमित्याह—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ।।१।९।।

स शब्दः काव्ये यस्तत्समुचितसमस्तसामग्रीकः । कीदृक्, 'विवक्षितार्थैकवाचकः' । विवक्षितो योऽसौ वक्तुमिष्टोऽर्थस्तस्यैकवाचकः, तस्य एकः केवल एव वाचकः । कथम्, अन्येषु सत्स्वपि । अपरेषु तद्वाचकेषु बहुष्वपि विद्यमानेषु । तथा च, सामान्यात्मना वक्तुमभिप्रेतो योऽर्थस्तस्य विशेषाभिधायी शब्दः सम्यग् वाचकतां न प्रतिपद्यते ।
(पृष्ठ ३५-३८)

× × ×

अर्थश्च वाच्यलक्षणः कीदृशः ? काव्ये यः 'सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः' । सहृदयाः काव्यार्थविदस्तेषामाह्लादमानन्दं करोति यस्तेन स्वस्पन्देन आत्मीयेन स्वभावेन सुन्दरः सुकुमारः । तदेतदुक्तं भवति—यद्यपि पदार्थस्य नानाविधधर्मखचितत्वं सम्भवति तथापि तथाविधेन धर्मेण सम्बन्धः समाख्यायते यः सहृदयहृदयाह्लादमाधातुं क्षमते । तस्य च तदाह्लादसामर्थ्यं सम्भाव्यते येन काचिदेव स्वभावमहत्ता रसपरिपोषाङ्गत्वं वा व्यक्तिमासादयति । (पृष्ठ ४१-४४)

× × ×

तदेवंविधं विशिष्टमेव शब्दार्थयोर्लक्षणमुपादेयम् । तेन नेयार्थापार्थादयो दूरोत्सारितत्वात् पृथक् न वक्तव्याः ।।९।। (पृष्ठ ५०)

४. साहित्यस्य स्वरूपम्

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रतिकाप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ।।१।१७।।

सहितयोर्भावः साहित्यम् । अनयोः शब्दार्थयोर्या काव्यलौकिकी चेतनचमत्कारकारितायाः कारणं, अवस्थितिर्विचित्रैव विन्यासभङ्गी । कीदृशी, अन्यूनानतिरिक्तत्व-

मनोहारिणी, परस्परस्पर्धित्वरमणीया । यस्यां द्वयोरेकतरस्यापि न्यूनत्वं निकर्षो न विद्यते नाप्यतिरिक्तत्वमुत्कर्षो वास्तीत्यर्थः ।

ननु च तथाविधं साम्यं द्वयोरुपहतयोरपि सम्भवतीत्याह, 'शोभाशालितां प्रति'। शोभा सौन्दर्यमुच्यते । तया शालते श्लाघते यः स शोभाशाली, तस्य भावः शोभाशालिता, तां प्रति सौन्दर्यश्लाघितां प्रतीत्यर्थः । सैव च सहृदयाह्लादकारिता । तस्यां स्पर्धित्वेन याऽसाववस्थितिः परस्परसाम्यसुभगमवस्थानं सा साहित्यमुच्यते । तत्र वाचकस्य वाचकान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण साहित्यमभिप्रेतम् । वाक्ये काव्यलक्षणस्य परिसमाप्तत्वादिति प्रतिपादितमेव (१,७)।

ननु च वाचकस्य वाच्यान्तरेण, वाच्यस्य वाचकान्तरेण कथं न साहित्यमिति चेत् ।

तन्न, क्रमव्युत्क्रमे प्रयोजनाभावादसमन्वयाच्च । तस्मादेतयोः शब्दार्थयोर्यथास्वं यस्यां स्वसम्पत्सामग्रीसमुदायः सहृदयाह्लादकारी परस्परस्पर्धया परिस्फुरति, सा काचिदेव वाक्यविन्याससम्पत् साहित्यव्यपदेशभाक् भवति।

मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः ।
अलङ्करणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः ॥
वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम् ।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि ॥३४॥

सा काप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा ।
पदादिवाक्परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते ॥

एतेषाञ्च पद-वाक्य-प्रमाण-साहित्यानां चतुर्णामपि प्रतिवाक्यमुपयोगः । १ तथा चैतत्पदमेव स्वरूपं गकारौकारविसर्जनीयात्मकं, एतस्य चार्थस्य प्रातिपदिकार्थपञ्चकलक्षणस्य आख्यातपदार्थषट्कलक्षणस्य वाचकमिति पदसंस्कारलक्षणस्य व्यापारः । २ पदानाञ्च परस्परान्वयलक्षणसम्बन्धनिबन्धनमेतद्वाक्यार्थतात्पर्यमिति वाक्यविचारलक्षणस्योपयोगः । ३. प्रमाणेन प्रत्यक्षादिनैतदुपपन्नमिति युक्तियुक्तत्वं नाम प्रमाणलक्षणस्य प्रयोजनम् । ४ इदमेव परिस्पन्दमाहात्म्यात् सहृदयहृदयहारितां प्रतिपन्नमिति साहित्यस्योपयुज्यमानता ।

एतेषां यद्यपि प्रत्येकं स्वविषये प्राधान्यमन्येषां गुणीभावस्तथापि सकलवाक्परिस्पन्दजीवितायमानस्यास्य साहित्यलक्षणस्यैव कविव्यापारस्य वस्तुतः सर्वातिशायित्वम् । यस्मादेतदमुख्यतयापि यत्र वाक्यसन्दर्भान्तरे स्वपरिमलमात्रेणैव संस्कारमारभते

तस्यैतदर्थवासमून्यतामात्रेणैव रामणीयकविरह पर्यवस्यति । तस्मादुपादेयतायाः परिहाणिरुत्पद्यते । तया च स्वप्रवृत्तिवैयर्थ्यप्रसङ्गः । शास्त्रातिरिक्तप्रयोजनत्व शास्त्रा [निर्णयसतुर्वर्गफलाधिकत्वञ्चास्य पूर्वमेव प्रतिपादितम् (१, ३, ५) ।

तत्पर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा ।
गीतवद् हृदयाह्लाद तद्विदा विदधाति यत् ॥

वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम् ।
यत्किमप्यर्पयत्यन्त पानकास्वादवत् सताम् ॥

शरीर जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम् ।
विना निर्जीवता येन वाक्य याति विपश्चिताम् ॥

(पृष्ठ ६०-६१)

५ वक्रोक्ति

(अ) स्वरूपम् —

वक्रोक्तिः, प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । कीदृशी, वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः । वैदग्ध्य विदग्धभावः, कविकर्म कौशल, तस्य भङ्गीविच्छित्ति, तया भणितिः । विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते । (पृष्ठ ५१)

(ब) कवि-व्यापार —

कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट् ।
प्रत्येक बहवो भेदास्तेषा विच्छित्तिशोभिनः ॥१।१८॥

× × × ×

१. वर्ण विन्यासवक्रता—

वर्णानां विन्यासो वर्णविन्यासः । अक्षराणां विशिष्टन्यसन, तस्य वक्रत्व वक्रभाव प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणा वैचित्र्येणोपनिबन्धः । सन्निवेशविशेषविहितत्तद्विदाह्लादकारी शब्दशोभातिशयः । × × ×

२ पदपूर्वार्द्धवक्रता—

पदस्य सुबन्तस्य तिङन्तस्य वा यत्पूर्वार्द्ध प्रातिपदिकलक्षण धातुलक्षण वा तस्य वक्रता वक्रभावो विन्यासवैचित्र्यम् । तत्र च बहवः प्रकाराः सम्भवन्ति ।

(क) यत्र रूढिशब्दस्यैव प्रस्तावसमुचितत्वेन वाच्यप्रसिद्धधर्मान्तराध्यारोपगर्भत्वेन निबन्धः स पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः प्रथमः प्रकारः । × × ×

(ख) द्वितीय । यत्र संज्ञाशब्दस्य वाच्यप्रसिद्धधर्मस्य लोकोत्तरातिशयाध्यारोपगर्भीकृत्योपनिबन्धः । × × ×

(ग) 'पर्यायवक्रत्व' नाम प्रकारान्तरं पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः । यत्रानेकशब्दाऽभिधेयत्वे वस्तुनः किमपि पर्यायपदं प्रस्तुतानुगुणत्वेन प्रयुज्यते । × × ×

(घ) पदपूर्वार्द्धवक्रताया 'उपचारवक्रत्व' नाम प्रकारान्तरं विद्यते । यत्रामूर्तस्य वस्तुनो मूर्तद्रव्याभिधायिना शब्देनाभिधानमुपचारात् । × × ×

(ङ) 'विशेषणवक्रत्व' नाम पदपूर्वार्धवक्रताया प्रकारो विद्यते । यत्र विशेषणमाहात्म्यादेव तद्विदाह्लादकारित्वलक्षणं वक्रत्वमभिव्यज्यते । × × ×

(च) अयमपरः पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः प्रकारो यदिदं 'संवृतिवक्रत्व' नाम । यत्र पदार्थस्वरूपं प्रस्तावानुगुण्येन केनापि निकर्षेणोत्कर्षेण वा युक्तं व्यक्ततया साक्षादभिधातुमशक्यं संवृतिसामर्थ्योपयोगिना शब्देनाभिधीयते । × × ×

(छ) इदमपरं पदपूर्वार्द्धवक्रताया प्रकारान्तरं सम्भवति 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रत्व' नाम । यत्र समासादिवृत्तीनां कासाञ्चिद्विचित्राणामेव कविभिः परिग्रहः क्रियते । × ×

(ज) अपरं 'लिङ्गवैचित्र्य' नाम 'पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः' प्रकारान्तरं दृश्यते । यत्र भिन्नलिङ्गानामपि शब्दानां वैचित्र्याय सामानाधिकरण्योपनिबन्धः । × ×

(झ) पदपूर्वार्द्धस्य धातोः 'क्रियावैचित्र्यवक्रत्व' नाम वक्रत्वप्रकारान्तरं विद्यते । यत्र क्रियावैचित्र्यप्रतिपादनपरत्वेन वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरमणीयान् प्रयोगान् निबध्नन्ति कवयः । तत्र क्रियावैचित्र्यं बहुविधं विच्छित्तिविततव्यवहारं दृश्यते । × ×

'वक्रताया परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः' इति । वक्रभावस्यान्योऽपि प्रभेदो विद्यते । कीदृशः, 'प्रत्ययाश्रयः' : प्रत्ययः सुप् तिङ् च यस्याश्रयः स्थानं स तथोक्तः । तस्यापि बहवः प्रकाराः सम्भवन्ति, संख्यावैचित्र्यविहितं, कारकवैचित्र्यविहितं, पुरुषवैचित्र्यविहितश्च । तत्र संख्यावैचित्र्यविहितं—यस्मिन् वचनवैचित्र्यं काव्यबन्धशोभायै निबध्यते । × × ×

कारकवैचित्र्यविहितं—यत्राचेतनस्यापि पदार्थस्य चेतनत्वाध्यारोपेण चेतनस्यैव क्रियासमावेशलक्षणं रसादिपरिपोषणार्थं कर्तृत्वादिकारकं निबध्यते । × × ×

पुरुषवैचित्र्यविहितं वक्रत्वं विद्यते—यत्र प्रत्यक्तापरभावविपर्यासं प्रयुञ्जते कवयः काव्यवैचित्र्यार्थं युष्मदि अस्मदि वा प्रयोक्तव्ये प्रातिपदिकमात्रं निबध्नन्ति । × ×

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा ।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥१।२०॥

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्य । वाक्यस्य पदसमुदायभतस्य । 'आख्यात साव्ययकारक-विशेषण वाक्यम् ।' इति यस्य प्रतीतिस्तस्य श्लोकादेर्वक्रभावो भङ्गीभणितिवैचित्र्य, अन्य पूर्वोक्तवक्रताव्यतिरेकी समुदायवैचित्र्यनिबन्धन कोऽपि सम्भवति । × ×

वक्रभाव प्रकरणे प्रबन्धे वास्ति यादृश ।
उच्यते सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहर ॥१।२१॥

वक्रभावो विन्यासवैचित्र्य, प्रबन्धैकदेशभूते प्रकरणे यादृशोऽस्ति यादृग् विद्यते, प्रबन्धे वा नाटकादौ सोऽप्युच्यते कथ्यते । कीदृश, 'सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहर ।' सहज स्वाभाविक, आहार्य व्युत्पत्त्युपार्जित, यत्सौकुमार्य रामणीयक तेन मनोहरो हृदय-हारी य स तथोक्त । × × ×

प्रबन्धे वक्रभावो यथा—कुत्रचिन्महाकविविरचिते रामकथोपनिबन्धे नाटकादौ पञ्चविधवक्रतासामग्रीसमुदायसुन्दर सहृदयहृदयहारि महापुरुषवर्णनमुपक्रमे प्रतिभासते । परमार्थतस्तु विधिनिषेधात्मकधर्मोपदेश पर्यवस्यति, रामवद्वर्तितव्य न रावणवदिति ।
(पृष्ठ ६४-६३)

६ स्वभावोक्तेर्निराकरणम्

अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृति ।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥१।११॥

येषामलङ्कारकृतामलङ्कारकाराणां स्वभावोक्तिरलङ्कृति, या स्वभावस्य पदार्थ-धर्मलक्षणस्य परिस्पन्दस्य उक्तिरभिधा, सैवालङ्कृतिरलङ्करण प्रतिभाति, ते सुकुमार-मानसत्वाद् विवेकक्लेशद्वेषिण । यस्मात् स्वभावोक्तिरिति कोऽर्थ । स्वभाव एवोच्यमान । स एव यद्यलकारस्तत्किमन्यत् तद्व्यतिरिक्त काव्यशरीरकल्प वस्तु विद्यते यत्तेषाम-लङ्कार्यतया विभूष्यत्वेनावतिष्ठते पृथगवस्थितिमासादयति । न किञ्चिदित्यर्थ ॥११॥

ननु च पूर्वमेवालङ्कार्यालङ्करणयोः सालङ्कारस्य काव्यत्व मिति (१,६) तत्किमयमेतदभिधीयते ? सत्यम् । किन्तु तत्रासत्यभूतोऽपि, अपोद्धार-बुद्धिविहितो विभाग कर्तुं शक्यते वर्णपदन्यायेन वाक्यपदन्यायेन चेत्युक्तमेव । एतदेव प्रकारान्तरेण विकल्पयितुमाह—

स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते ।
वस्तु तद्रहित यस्मान्निरुपाख्य प्रसज्यते ॥१।१२॥

स्वभावव्यतिरेकेण स्वपरिस्पन्द विना नि स्वभाव वस्तुमभिधातुमेव न युज्यते, न शक्यते । वस्तु वाच्यलक्षणम् । कुत , तद्रहित तेन स्वभावेन रहित वर्जित यस्मान्निरुपाख्य प्रसज्यते । उपाख्यया निष्क्रान्त निरुपाख्यम । उपाख्या, शब्द , तस्यागोचरभूतमभिधानायोग्यमेव सम्पद्यते । यस्मात् स्वभावशब्दस्यैवंरूपा व्युत्पत्ति , भवतोऽस्माद भिधानप्रत्ययौ इति भाव , स्वस्यात्मनो भाव स्वभाव । तेन स एव यस्य कस्यचित् पदार्थस्य प्रख्योपाख्यावतारनिबन्धनम् । तेन वर्जित असत्कल्प वस्तु शशविषाणप्राय शब्दज्ञानगोचरतां प्रतिपद्यते । स्वभावयुक्तमेव सर्वथाभिधेयपदवीमवतरतीति तार्किकवाक्यानामपि सालकारता प्राप्नोति, स्वभावोक्तियुक्तत्वेन ॥१२॥

एतदेव युक्त्यन्तरेण विकल्पयति—

शरीर चेदलकार किमलकुरुते परम् ।
आत्मैव नात्मन स्कन्ध क्वचिदप्यधिरोहति ॥१।१३॥

यस्य कस्यचित् वर्ण्यमानस्य वस्तुनो वर्णनीयत्वेन स्वभाव एव वर्ण्यशरीरम् । स एव चेदलकारो, यदि विभूषण, तत्किमपरं तद्व्यतिरिक्त विद्यते यदलकुरुते विभूषयति । स्वात्मानमेवालकरोतीति चेत, तदयुक्तम्, अनुपपत्ते । यस्मादात्मैव नात्मन स्कन्ध क्वचिदप्यधिरोहति । शरीरमेव शरीरस्य न कुत्रचिदप्यमर्मधिरोहतीत्यर्थ । स्वात्मनि क्रियाविरोधात् ॥१३॥

अभ्यपगम्यापि ब्रूम—

भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे ।
भेदावबोध प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा ॥१।१४॥

स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे सकरस्तत ।
अलकारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते ॥१।१५॥

भूषणत्वे स्वभावस्य अलंकारत्वे स्वपरिस्पन्दस्य यदा भूषणान्तरमलंकारान्तरं विधीयते तदा विहिते कृते तस्मिन् सति, द्वयी गति सम्भवति । काऽसौ ? तयो स्वभावोक्त्यलकारान्तरयो भेदावबोधो भिन्नत्वप्रतिभास प्रकट सुस्पष्ट कदाचिदप्रकटस्वपरिस्फुटो वेति । तदा स्पष्ट प्रकटे तस्मिन् सवत्र सर्वस्मिन् कविविषये ससृष्टिरेवैकालकृति प्राप्नोति । अस्पष्टे तस्मिन्नप्रकटे सर्वत्रैकैव सकरोऽलकार प्राप्नोति । तत, को दोष स्यादित्याह—'अलकारान्तराणाञ्च विषयो नावशिष्यते' । अन्येषामलकाराणामुपमादीनां विषयो

महिम भट्ट

समय—ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य-काल

[ग्रन्थ—व्यक्ति विवेक]

१. वाक्य का स्वरूप

वाक्य एक ही प्रकार का होता है क्योंकि उस में क्रिया की प्रधानता है और क्रिया एक ही होती है। कहा है—'वाक्य उसे कहते हैं जिसमें केवल एक अर्थ होता है, क्रिया की प्रधानता होती है, गुणवत्ता होती है और जिसके अवयव (पद) साकांक्ष होते हैं पर जहाँ भेद दिखाना इष्ट हो वहाँ अन्य शब्दों की आकांक्षा नहीं होती।'

२. अर्थ के दो प्रकार

अर्थ दो प्रकार का होता है—वाच्य और अनुमेय। शब्द-व्यापार-विषयक अर्थ वाच्य कहलाता है। उसे मुख्य भी कहते हैं। कहा है—

'सुनने मात्र से जिसकी तदर्थता पूर्ण हो जाती है। उसे 'मुख्य अर्थ' कहते हैं और जिस अर्थ का उपपादन यत्नों द्वारा होता है उसे 'गौण अर्थ' कहते हैं।'

३. अनुमेयार्थ का स्वरूप और उसके भेद

उस मुख्य (वाच्य) अर्थ से अथवा उसे लिंगभूत मानकर अनुमान द्वारा जो अर्थ अनुमित होता है वह 'अनुमेय' कहलाता है। उस (अनुमेय) अर्थ के तीन भेद हैं—वस्तुमात्र, अलंकार और रस। इनमें प्रथम दो—वस्तुमात्र और अलंकार—तो वाच्य में भी संभव हैं पर अन्य—रस—केवल अनुमेय है। पद का अर्थ तो केवल वाच्य ही हो सकता है अनुमेय नहीं, क्योंकि पद के निरंश अर्थात् स्वतःपूर्ण होने से उसमें साध्य-साधन-भाव का अभाव होता है (जिसकी अनुमान में अनिवार्यता है)

४. वाक्यार्थ के भेद

वाक्यार्थ की अंश परिकल्पना अंशों के विधि और अनुवाद रूप से अवस्थित होने के कारण तथा विधेयांश के सिद्धासिद्धरूप से उपपादन-सापेक्ष और उपपादन-अनपेक्ष होने के कारण वाक्यार्थ के दो भेद हैं।

५ अनुमेय-विषयता

जैसे वाक्यार्थ विषय के साध्य-साधन रूप में स्थित होने पर साध्य और साधन की प्रतीति का क्रम सुलक्ष होता है वैसे ही—वस्तुमात्र और अलकार—इन दोनो अनुमेय विषयो में भी सुलक्ष होता है। केवल अनुमेय रसादि में असलक्ष्यक्रम वाला गम्य-गमक भाव होता है जिसे सहभाव भ्रांति से कुछ लोगो ने व्यग्य-व्यञ्जक भाव माना है और उससे सम्बद्ध 'ध्वनि' की कल्पना की है। गम्य गमक भाव केवल औपचारिक रूप से प्रयुक्त किया गया है मुख्य रूप से नही अन्यथा आगे बताई हुई रीति से उसमें बाधा (विरोध) उपस्थित होती है। उपचार का प्रयोजन है सचेतन के समान चमत्कारी बना देना जो चित्र, पुस्तकादि व्यक्ति विषयो में देखने को मिलता है। अर्थों का ऐसा स्वभाव ही है कि वाच्यार्थ वैसा चमत्कार-जनक नही होता जैसा वह विधि निषेधादि से काकु-रूपी होने पर अथवा अनुमेयता को प्राप्त होने पर होता है।

६ वस्तु और अलकार में औपचारिक व्यग्यत्व की भी असम्भावना

आद्यो—वस्तुमात्र और अलकार—में सुलक्ष-क्रम होने से भ्रान्ति की सभावना ही नही अत उसमें व्यग्य-व्यपदेश सर्वथा असम्बद्ध है। अतएव ध्वनिपदेश्य श्रूयमाण शब्दों का और उनके अत सनिवेशी स्फोट अभिमतार्थ का व्यग्य-व्यजक-भाव सभव नही और व्यजकत्व के साम्य से शब्दार्थात्मक काव्य में जो ध्वनि-व्यपदेश किया गया वह भी उपपन्न नहीं होता क्योंकि उसमें कार्यकारण-मूलक गम्य गमक भाव का उपगम होता।

७ रत्यादिभावो की प्रतीति के विषय में शका और उसका परिहार

विभावादि वाक्यार्थो के साथ ही उत्पन्न होने वाले रत्यादि भावों की प्रतीति सबको होती है। और अन्तरासबध-स्मरणादि विघ्नों और व्यवधानों का अनुभव किसी को नही होता है।

रत्यादि की प्रतीति ही रसादि की प्रतीति है। इस प्रकार मुख्य वृत्ति से ही 'व्यग्य-व्यजक-भाव' अभ्युपगत हो सकता है। किन्तु वहाँ वस्तुत तो प्रदीप-घट न्याय से उपपन्न गम्य-गमक भाव ही होता है। क्योंकि उसी (ध्वनिकार) ने कहा है कि व्यजकत्व के मार्ग में जो अर्थ अर्थान्तर को द्योतित करता है वह अपने स्वरूप को प्रकाशित करके ही गम्य का प्रकाशक होता है।

वाच्य और प्रतीयमान अर्थों की जैसे क्रमशः प्रतीति होती है, एक साथ नहीं होती, और जैसा उनका गम्य-गमक सबंध है उसे व्यक्तिवादी ने भी उनके स्वरूप का निरूपण करते हुए मान लिया है अत. समाधान करने की इच्छा से हम उसे यहाँ उद्धृत करते हैं। "ऐसा किसी को अनुभव नहीं होता कि विभावानुभाव और व्यभिचारी ही रस हैं। अत विभावादि की प्रतीति से अविनाभूत रसादि की प्रतीति होती है और उन दोनों प्रतीतियों की कार्य-कारण भाव से अवस्थिति होने के कारण उनमें क्रम अर्थात् पूर्वापरता-अवश्यभावी है। परन्तु वह लाघव के कारण लक्षित नहीं होता। अत व्यंग्य-रसादि अलक्ष्य-क्रम माने गये हैं।"

पुनश्च "अत• वाच्य-व्यंग्य की प्रतीति में भी अभिधानाभिधेय की प्रतीति के समान निमित्त-निमित्ती भाव होने से क्रम 'नियम-भावी' है। वह उक्त युक्ति में कहीं लक्ष्य होता है और कहीं नहीं।"

८ ध्वनि का परार्थानुमान में अन्तर्भाव

इस प्रकार वक्ष्यमाणक्रम से वाच्य और प्रतीयमान के लिंग-लिंगी भाव का ही समर्थन होता है जिससे सपूर्ण ध्वनि का अनुमान में ही अतर्भाव हो जाता है क्योंकि ध्वनि की अपेक्षा अनुमान महाविषय है। महाविषय इसलिए कि उसमें ध्वनि के अतिरिक्त पर्यायोक्ति, गुणीभूत व्यंग्य आदि सभी का समावेश हो जाता है। वचन-व्यापार-पूर्वक होने के कारण वह अनुमान परार्थानुमान है। परार्थ अनुमान त्रिरूप-लिंगाख्यानक होता है—यह बात उक्त मार्ग से अनभिज्ञ अविवक्षण (मत) लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होती।

९. वाक्यार्थ की साध्य-साधन-भाव-गर्भता

प्रश्न है कि यदि सभी वाक्यार्थ साध्य-साधन-भाव-गर्भित कहे जायें तो जिस प्रकार साध्य और साधन का नियमपूर्वक उपादान होता है वैसे ही क्या दृष्टान्त का भी होगा क्योंकि वह व्याप्ति-साधन-प्रमाण विषय होने के कारण अवश्य अपेक्षित होता है। नहीं, (दृष्टान्त का उपादान आवश्यक नहीं) क्योंकि प्रसिद्ध सामर्थ्य वाले साधन के उपादान से दृष्टान्त की अपेक्षा का निराकरण (प्रतिक्षेप) हो जाता है। कहा है :—'जो व्यक्ति साधन से, अपरिचित हो उसे दृष्टान्त (उदाहरण) से साधन और हेतु का ज्ञान करा देना चाहिए पर विद्वानों को केवल हेतु बताने की आवश्यकता है दृष्टान्त की नहीं।'

१०. रत्यादि के सुख-हेतुत्व पर आक्षेप

रत्यादि सुखादि अवस्थाओं का काव्यादि में सचेतन-चमत्कारकारी सुखास्वाद समव कहाँ है जो व्यग्यत्व के उपचार के लिए अनुमेय रसादि की किसी भी प्रयोजन से कल्पना की जाये। लोक में ऐसा कहीं देखने को नहीं मिलता कि लिंग द्वारा यदि शोकादि का अनुमान किया जाये तो अनुमाता को सुखास्वाद का लवमात्र भी अनुभव होता है। प्रत्युत साधुओं तथा उदासीनों तक के हृदयों में भय, शोक, दौर्मनस्य आदि दुःख ही उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं—और न लोक की अपेक्षा काव्यादि में कोई ऐसी विशिष्टता होती है कि उन्हीं में इसका उपगम हो, लोक में नहीं। वे ही लौकिक विभावादि हेतुकार्य-सहकारी रूप से गमक हैं और वे ही रत्यादि अवस्था-विशेष रूप वाले भावगम्य हैं। फिर काव्यादि में ऐसी क्या विशेषता है जो उन्हीं में रसास्वाद हो, लोक में नहीं। इसका किंचित् भी प्रयोजन सभव न होने से रत्यादि में व्यग्यत्व का उपचार उपपन्न नहीं होता।

बात यह है जहाँ विभावादि के मुख से भावों का अवगम होता है वहीं सहृदयैकसवेद्य रसास्वाद का उदय होता है। वस्तुओं का स्वभाव ही ऐसा है अत. प्रामाणिक लोग इसमें पर्यनुयोग (सत्य में सदेह) की आवश्यकता नहीं समझते।

क्योंकि भरत के अनुसार 'विभाव अनुभाव और सचार के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है।' कहा भी है—

भावों के सयोजन से व्यक्त होकर सवित्तिगोचर होने वाला और आस्वादन के रूप में आत्मानुभूत होने वाला काव्यार्थ रस कहलाता है।

११. विभावादि और हेत्वादि की अभेद-शका

लोक में तो हेत्वादिक ही समव हैं विभाव और भाव आदि नहीं। और यह मानना भी ठीक नहीं कि विभावादि का तथा हेत्वादि का एक ही अर्थ है—विभावादि और हेत्वादि भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं क्योंकि उनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं जो रामादिगत रत्यादि लोक में स्थायी अवस्था विशेष वे ही कवि आदि द्वारा वर्णित होने से अर्थ-गर्भित होकर उन रस-विशेषों को भावित करती हैं और इसीलिए भाव कहलाती हैं। जैसा कि भरत ने कहा है :—

'क्योंकि ये (भाव) नानाभिनयों के सम्बन्ध[1] से (द्वारा) रसों को भावित करते हैं, इसीलिए नाट्य-योजक इन्हें 'भाव' कहते हैं।'

उनके हेतु जो सीतादि हैं, वे काव्यादि में समर्पित होकर विभाव कहलाते हैं क्योंकि जिनसे भाव विभावित होते हैं, वे विभाव कहलाते हैं जैसा कि भरत ने कहा है—'क्योंकि इन (विभावों) के द्वारा वागाभिनय और अंगाभिनय पर आश्रित अनेक अर्थ विभावित होते हैं अतः ये 'विभाव' कहे जाते हैं।'

और इन कारणों (विभावों) से उत्पन्न कार्य-रूप मुख-प्रसाद आदि ही काव्य में उपदर्शित होकर उन भावों का अनुभव कराते हैं अतः वे अनुभाव कहलाते हैं। भरत ने कहा है—

'वाक्, अंग और सत्त्व—तीनों—के अभिनय द्वारा वाक्, अंग और उपांगों से संयुक्त अर्थ जिनसे अनुभूत होता है वे अनुभाव कहलाते हैं।'

अन्तरान्तर-अवस्थित और अवान्तर हेतुओं से जनित जो विशेष अवस्थायें उत्कलिका[2] (चिन्ता, तरंग) के समान उत्पन्न होती हैं वे ही अपने वर्ग के विभाव और अनुभाव से उपदर्शित होकर विशेष रूप से अभिमुख (सहायक) होती हैं अत. व्यभिचारी कहलाती हैं। जैसा कि भरत ने कहा है—

जो विविध भाव अभिमुख (सहायक, पूरक) रूप से रसों में विद्यमान रहते हैं वे 'व्यभिचारी' कहलाते हैं।

ये जो स्थायी, व्यभिचारी और सात्त्विक भेदों वाले उनचास भाव बताये गये हैं वे सभी व्यभिचारी हैं। केवल प्रत्येक की नियतरूपता होने के कारण उनके ये भिन्न नाम (व्यपदेश) रखे गए हैं। जैसे स्थायित्व केवल स्थायी भावों में ही प्रतिनियत है, व्यभिचारी और सात्त्विक भावों में नहीं, व्यभिचारित्व केवल व्यभिचारियों में है, स्थायी और सात्त्विक भावों में नहीं, सात्त्विकत्व केवल सात्त्विक भावों में है, अन्य दो में नहीं। परन्तु इनमें से स्थायी भावों की उभयगति है, अर्थात् वे स्थायी भी होते हैं

१. नाट्य-शास्त्र [redacted] (भरत) तथा दशरूपक में उद्धृत श्लोक में 'नानाभिनयसंबंधान्' पाठ है जिसमें यह पद 'रस' का विशेषण है पर व्यक्ति-विवेक [redacted] 'नानाभिनय-संबंधात्' पाठ स्वीकार किया है जिसका अर्थ है विभिन्न अभिनयों द्वारा।

२. उत्कलिका शब्द [redacted] दो अर्थ हैं—चिंता और तरंग। चिंतादि संचारी तरंगवत् हैं अतः दोनों के व्यंजक एक शब्द का लेखक ने बहुत ही उचित प्रयोग किया है।

और व्यभिचारी रूप में भी आ सकते हैं, जबकि व्यभिचारी और सात्त्विक उभयगति नहीं हैं अर्थात् वे कभी स्थायी नहीं हो सकते केवल व्यभिचारी ही रह सकते हैं।

भावाध्याय में स्थायी का जो लक्षण बताया गया है वह केवल अव्यभिचारी-दशापन्न (व्यभिचारी रूप में न प्रयुक्त) स्थायी का ही मानना चाहिए अन्य—कभी कभी व्यभिचारी-रूप से प्रयुक्त—का नहीं अन्यथा लक्षण-वाक्य व्यर्थ (निरर्थक) हो जायेगा। इस स्थायी का अनुकरण करने वाले ही होते हैं और वे (रस) ही प्रधान होते हैं। यह बात उनके लक्षण से विदित स्वरूप से ही स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि स्थायी-भावों और रसों की अवस्थिति बिंब-प्रतिबिंब रूप से है। इस प्रसंग में स्थायी भावों में निर्वेदादि के समान व्यभिचारी भावों का उपादान नहीं किया जा सकता क्योंकि यदि उनका उपादान करने पर निर्वेदादि समान केवल स्थायी रह जायेंगे, व्यभिचारित्व खो बैठेंगे। अत यह वर्गत्रय विभाग केवल योग्यता मात्र प्रवर्तित है। व्यभिचारी भी कभी-कभी स्थायी हो जाते हैं केवल इसी तथ्य से भ्रम में पड़ कर कुछ लोगों को स्थायी के लक्षण में भ्रम हो जाता है। इतना स्पष्ट करके यहीं इस अप्रस्तुत वस्तु के विस्तार को समाप्त करते हैं।

१२ कृत्रिम विभावादि के द्वारा रसास्वाद

इस प्रकार विभावादि का और हेत्वादि का कृत्रिम और अकृत्रिम के भेद से तथा काव्य और लोक—दो पृथक्—विषयों में होने से स्वरूप-भेद और विषय-भेद हैं। अत उनकी एकरूपसिद्धि नहीं होती अर्थात् वे पृथक् हैं। इसलिए जब अविद्यमान रत्यादि भावों में विभावादि प्रतीति होती है तो वह उतने ही सार वाली होती अतः वह प्रतीति 'गम्या' कहलाती है और यह नाम मुख्य वृत्ति से ही उपपन्न है। यह प्रतीति-परामर्श ही स्वाभाविक रसास्वाद है।

यदि रत्यादि सदा परोक्ष रहते हैं तो कोई बाधा की बात नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष अर्थ साक्षात् संवेद्यमान होने पर भी सहृदयों को वैसा चमत्कृत नहीं करता जैसा सत्कवि द्वारा वचन-गोचरता को प्राप्त किया हुआ होने पर करता है। कहा है—

'भाव कवि की शक्ति से अर्पित भाव-युक्तियों से जैसा स्फुरित होता है वैसा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।'

भाव सामान्यत उतना स्वाद्य नहीं होता जितना भाव-युक्तियों से अनुमेयता होने पर होता है और वाच्यार्थ वैसा सुखकारी नहीं होता जैसा प्रतीयमान अर्थ होता है।'

ध्वनिकार ने भी कहा है—सार-रूप अर्थ अपने शब्दों के अनभिधेयत्व से प्रकाशित होकर अत्यन्त शोभित होता है। 'और काव्यादि का अर्थ केवल प्रतीतिमात्र-परक होता है क्योंकि तभी विधेयार्थ के विधि-निषेध की व्युत्पत्ति सम्भव है। कहा है :—'सम्बन्ध से भ्रान्ति भी प्रमाण होती है।'

अतः सचेतनों (सहृदयों) में गम्य-गमक भाव की स्थिति के सत्यासत्य पर विचार करना निरर्थक है। इसी तरह काव्य-विषय में वाच्य-व्यंग्य की प्रतीति के सत्यासत्य पर विचार करना भी निरर्थक है। और इस विषय में अन्य प्रमाणों की परीक्षा तो सर्वथा उपहास-जनक है।

अकृत्रिम हेत्वादि से अकृत्रिम (अर्थों) की ही प्रतीति होती है। अतः उनमें केवल अनुमेयत्व ही हो सकता है व्यंग्यत्व की तो गन्ध भी नहीं हो सकती क्योंकि उनमें सुखास्वाद का तो मात्रमात्र भी कहाँ मिलेगा। इसी दृष्टि से लोक की अपेक्षा काव्यादि में विशेषता है। गम्य रत्यादि में ही सुखास्वाद प्रयोजक व्यंग्यत्व का उपचार हो सकता है।

इस प्रकार मुख्य वृत्ति से तो अर्थ के दो ही भेद हैं—वाच्यार्थ और गम्यार्थ। पर उपचार (गौण) रूप से तीसरा व्यंग्यार्थ भी कहा जा सकता है।

'वाणी का गुणीकृत (गौण) अर्थ कहीं सम्भव नहीं क्योंकि अपने उपादान से किसी वस्तु का अर्थ बोध नहीं हो सकता जैसे दृष्टि (चर्मजल पात्र) से जल का बोध नहीं हो सकता।'

वाच्य और प्रतीयमान का मुख्य वृत्ति से व्यंग्यव्यंजक भाव भी सम्भव नहीं क्योंकि व्यक्ति-लक्षण (व्यंजना का लक्षण) ही उपपन्न नहीं है। क्योंकि व्यक्ति का लक्षण यह बताया है।

१३. व्यक्ति का लक्षण और उसके तीन भेद :

'सत् अथवा असत् प्रकाशमान अर्थ की सम्बन्ध-स्मरणानपेक्षी प्रकाश के साथ ही प्रकाश विषय में परिणति (प्रापत्ति) 'अभिव्यक्ति' कहलाती है। इनमें सत् की अभिव्यक्ति तीन प्रकार की है क्योंकि सत् स्वयं तीन प्रकार का है।

कारणात्मा में तिरोभूत कार्य की शक्ति-रूप से अवस्थिति होने के कारण उस (कार्य) की इन्द्रिय-गोचरता की प्राप्ति प्रथम प्रकार की अभिव्यक्ति है जिसे 'आवि-

भावाभिव्यक्ति' कहते हैं। जैसे क्षीरादि (कारणों) में अवस्थित दध्यादि (कार्यों) की उन अवस्थाओं का उपगम होने पर उसे कुछ लोग 'उत्पत्ति' नाम देते हैं। उक्त प्रादुर्भूत (कार्य) के किसी प्रतिबन्ध के कारण अप्रकाशमान हो जाने पर किसी उपसर्जनीकृतात्म प्रकाशक के द्वारा उसका प्रकाशित होना द्वितीय प्रकार की अभिव्यक्ति है। जैसे प्रदीपादि से घटादि की अभिव्यक्ति।

सिद्ध अर्थ में अपने ज्ञान से अन्य का ज्ञान कराने वाला व्यंजक कहलाता है जैसे 'दीपक' जो अपने प्रकाश से अन्य को व्यक्त करता है। ऐसी अवस्था में व्यंजक और कारक में क्या भेद है।

ध्वनिकार ने भी कहा है—'अपने रूप को प्रकाशित करते हुए अन्य अर्थ का अवभास करानेवाला 'व्यंजक' कहलाता है। जैसे प्रदीप घटादि का व्यंजक है।

उसी अनुभूत-पूर्व और संस्कार-रूप से अतविपरि-वर्तमान तथा कहीं व्यभिचरित न होने वाले व्यंजक का अर्थान्तर से अथवा अर्थान्तर के प्रतिपादक से संस्कार-प्रबोध मात्र हो जाना तृतीय प्रकार की अभिव्यक्ति है। जैसे धूम से अग्नि की अभिव्यक्ति। अथवा जैसे आलेख्य, पुस्तक, प्रतिबिम्ब, अनुकरण या शब्द से गौ आदि की अभिव्यक्ति।

असत् की अभिव्यक्ति केवल एक प्रकार की हो सकती है क्योंकि असत् के भेद असम्भव हैं। इस अभिव्यक्ति का उदाहरण है—अर्कालोक (सूर्यप्रकाश) से इन्द्र-धनुषादि की अभिव्यक्ति।

१४. वाच्य में व्यक्ति-लक्षण की असंगति

असत् अभिव्यक्ति के इस लक्षण की वाच्य के साथ संगति नहीं। सत् अभिव्यक्ति में भी प्रथम दो प्रकार तो संगत नहीं क्योंकि उन दोनों के ही लक्षण इनके प्रतीयमान का संस्पर्श नहीं करते। प्रथम प्रकार की सत् अभिव्यक्ति में तो दध्यादि इन्द्रियों के विषय नहीं रहते, द्वितीय में घटादि की वाच्यार्थ के सद्भाव से उसी रूप में प्रतीति असम्भव है। इस प्रकार दोनों ही स्वरूप संस्पर्श नहीं करते और स्वरूप-संस्पर्श के बिना लक्षण ही ठीक नहीं होता।

तृतीय प्रकार की सत् अभिव्यक्ति की संगति अनुमान के साथ है। व्यंजना के साथ नहीं। क्योंकि अनुमान का लक्षण इस प्रकार है—त्रिरूप लिंग से अनुमेय में जो ज्ञान होता है वह 'अनुमान' है। इसलिए यह अभिव्यक्ति भी अनुमान है क्योंकि

एक अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति नहीं हो सकती, अनुमान हो सकता है और उस अनुमान से अर्थान्तर का उपपादन हो जाता है। उपमादि का भी अनुमान में ही अन्तर्भाव है।

अन्य को देखकर अन्य की कल्पना भी युक्त नहीं क्योंकि ऐसा करने में, अतिप्रसंग दोष आ जाता है।

वाच्यार्थ से अर्थान्तर की प्रतीति अविनाभाव-सम्बन्ध के कारण के अनन्तर ही हो यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि उसकी प्रतीति सभी में होती है। सहभाव से प्रतीति मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार धूमाग्नि की प्रतीति में क्रम-भाव है—सहभाव नहीं—वैसे ही वाच्य में अर्थ की प्रतीति का भी क्रम-भाव ज्ञात है। अत इसमें असम्भव नामक लक्षण-दोष है। यदि यह कहें कि रसादि की अपेक्षा से इनका सहभाव से प्रकाश वाञ्छनीय है तो अव्याप्ति नामक लक्षण-दोष आ जाता है क्योंकि वस्तुमात्र और अलंकार-रूपी प्रकाश का और प्रकाशक का सहभाव नहीं है। यदि रसादि के प्रकाश का विभावादि के प्रकाशन के साथ सहभाव बतायें तो भी उपपन्न नहीं। क्योंकि कवि लोग विभाव नामक कृत्रिम कारणों से प्रतिबिम्ब-तुल्य असत् रत्यादि स्थायी नामक भावों को प्रतिपत्ता के प्रतीति पथ में लाकर हृदय-संवाद से आस्वाद्य बना देते हैं जिससे वे रस कहलाने लगते हैं। किन्तु (विभावेतर) कारणादि से कार्यादि प्रतिबिम्ब के समान साथ ही प्रकाशित नहीं हो जाते, क्योंकि अवसाय (प्रतिपाद्य) कार्य-कारण भाव का ही अवसाद हो जाता है। जहाँ उक्त लक्षण वाला अर्थ मुख्य रूप से हो वहाँ काव्य ही नहीं होता ध्वनि-रूपता की तो बात ही क्या !

प्रकाशक अर्थ दो प्रकार का होता है उपाधि-रूप और स्वतन्त्र। इनमें ज्ञान शब्द प्रदीपादि तो उपाधि-रूप है, जैसा कि कहा है—प्रकाश तीन प्रकार के हैं, स्वप्रकाश, परप्रकाश और (केवल) प्रकाश। स्वतन्त्र के उदाहरण धूमादि हैं। इनमें आद्य को यहाँ समझने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष और अभिधेय अर्थों में ही काव्यता आ जाती है। अन्य अर्थात् स्वतन्त्र में व्यक्ति की उपपत्ति न होने से केवल लिंगत्व की ही उपपत्ति होती है। प्रकाशक के सहभाव से तो दोनों ही प्रकार के व्यंग्याभिमत अर्थों का प्रकाश ध्वनिकार को भी अभिमत नहीं। जैसा कि उसने स्वयं कहा है—"ऐसा किसी को अनुभव नहीं होता कि विभावानुभाव और व्यभिचारी ही रस हैं। अत विभावादि की प्रतीति से अविनाभूत रसादि की प्रतीति होती है और उन दोनों प्रतीतियों की कार्य-कारण भाव से अवस्थिति होने के कारण उनमें

क्रम अर्थात् पूर्वापरता—अवश्यम्भावी है। परन्तु वह लाघव के कारण लक्षित नहीं होता। अत व्यंग्य-रसादि अलक्ष्यक्रम माने गये हैं।"

१५ काव्य का स्वरूप

विभावादि के संयोजन वाला (तथा) रस की अव्यभिचारी रूप से सर्वत्र अभिव्यक्ति करने वाला कवि व्यापार काव्य कहलाता है। उसके दो भेद हैं—अभिनेय (दृश्य) और अनभिनेय (श्रव्य)। इन दोनो ही का फल शास्त्र के समान विधि-निषेध विषय की व्युत्पत्ति कराना है। केवल व्युत्पाद्य लोगो में जाड्य अथवा अजाड्य का जो भेद है उसी के अनुसार काव्य-नाट्य और शास्त्र में दोनो ही उपाय मात्र में भिन्न हैं, फल में नही। (अर्थात् विधि निषध का ज्ञान कराने के ये दो उपाय हैं। फल दोनों का एक ही है—'विधि निषेध का ज्ञान'। काव्य नाटच ऐसे उपाय है जो जडो को भी समझ में आ सकते है, जब कि शास्त्र केवल विद्वानो को।

(पृष्ठ ९५-९६)

'वाच्यार्थ अथवा अनुमितार्थ जहाँ किसी सम्बन्ध से अर्थान्तर को प्रकाशित करते हैं उसे काव्यानुमिति कहते हैं।'

यह अनुमान का ही लक्षण है अन्य किसी का नही। क्योकि परार्थ अनुमान त्रिरूप लिंगाख्यानक होता है—ऐसा कहा गया है।

काव्य की आत्मा रसादिरूप वाली मानने में किसी को विरोध नहीं है।

(पृष्ठ १०५)

१६ अभिधा-स्थापना

शब्द की एक ही शक्ति है—अभिधा और अर्थ की एक ही लिंगता है। इसमें व्यंजकत्व नामक कोई वस्तु नही होती यह सिद्ध हो गया है। शब्द के लक्षण में ध्वनि का उपादान वृथा ही किया गया क्योंकि उस शक्ति से अर्थान्तर में कोई दृष्ट गति नही आती। उन (शब्दार्थ) को उपसर्जन (गुणीकरण) विशेषित करना भी युक्त नही क्योंकि गुणीभूत व्यंग्य काव्य में भी चारुता दृष्ट होती है। अत विशेष का उपादान अर्थवान् नही होगा (निरर्थक होगा) क्योंकि वह केवल सज्ञा-सबंध मात्र फल देने वाला होता है। और उस स्थिति में वाक्यवर्त्ती से भिन्न किसी भी विशेष की सज्ञा में प्राप्ति अतिप्रसग-दोष युक्त होगी। अत प्रधान अथवा अन्य (गौण) रूप से जहाँ स्पष्ट रूप से वाच्य-शक्ति द्वारा अनुमेय अर्थ का भान होता है वह काव्य कहलाता

है। वाच्य और प्रत्येय (प्रतीयमान) अर्थों की व्यंग्य-व्यंजकता मानना ठीक नहीं क्योंकि वे प्रदीप-घट के समान एक साथ प्रकाशित नहीं होते। उनमें तो पक्षधर्मत्व सबंध व्याप्ति की सिद्धि से वैसा ही अनुमान है जैसा वृक्षत्व शाखत्व में और अनल-धूम में क्योंकि अनुमान के ही लक्षण का यहाँ अन्वय होता है। इन्द्रचापादि की जो असत् अभिव्यक्ति है उसे व्यक्ति कैसे कहा जा सकता है। वह तो केवल स्मृति है। असत् का कार्यत्व हो सकता है पर हेतुत्व नहीं हो सकता—जैसे ही जैसे सामर्थ्य के विगम (अभाव, से गगनेन्दीवर (आकाश) कुसुम नहीं हो सकता। शब्द का प्रयोग प्रायः अन्य के लिए होता है। उस अन्य के बिना व्यवहार ही शक्य नहीं। इसलिए युक्ति की बाधा न होने के कारण कोई व्यक्ति 'असत्' में प्रवृत्त नहीं होगा अथवा यदि (भूल से) हो जायेगा तो (बाद में) निवृत्त हो जायेगा अतः साध्यसाधन-गर्भता परम इष्ट है। शब्द और अर्थ के आधार पर साध्य-साधन-गर्भता दो प्रकार की है। उनके पदार्थ और वाक्यार्थ के आधार पर पुन दो-दो भेद हैं। साध्य के तीन भेद हैं—वस्तुमात्र, अलंकार और रसादि। इनमें पहले दो— वस्तुमात्र, अलंकार तो शब्दानुभाव के अन्तर्गत हैं पर अंतिम—रस—भक्ति (लक्षण) के कारण व्यंग्यत्व वाला बन जाता है। भक्ति का एक प्रयोजन है चमत्कारित्व। वह उस (रस) में होता है और उसके हेतु केवल विभावादि होते हैं। क्योंकि लोक में हेत्वादि होते हैं विभावादि नहीं। अतः लोक में वह चमत्कार नहीं होता जो काव्य में।

भिन्न-भिन्न लक्षण होने के कारण हेतु और विभाव को एक मानने की भूल न करनी चाहिए। और यह अर्थों का स्वभाव ही है कि वे सत्कवि गिरागोचर होकर जैसे स्वाद्य बन जाते हैं वैसे (लोक) साक्षात् रूप में नहीं।

१७ काव्य में गम्य-गमक भाव

ऐक्य के स्वरूप की व्युत्पत्ति चाहने वाले बुद्धिमान को उसका निम्नलिखित सामान्य लक्षण बताना चाहिए—जहाँ वाच्य और प्रतीयमान अर्थों का गम्य-गमक भाव से सम्पर्क हो वह काव्य होता है। इसी लक्षण से व्युत्पत्ति सिद्ध होती है।

अनुवादक
पं० काशीराम शर्मा एम. ए.

महिमभट्टः

[व्यक्ति-विवेक]*

१ वाक्यस्वरूपम्

वाक्यमेकप्रकारं, क्रियाप्राधान्यात्, तस्याश्चैकत्वात्। यदाहु —

"साकाङ्क्षावयवं भेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम्।
क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते॥" (पृष्ठ १८)

२. अर्थद्वैविध्यम्

अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च। तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः। स एव मुख्य उच्यते। यदाहुः—

"श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते।
[redacted] मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम्॥" (पृष्ठ ३९)

३ अनुमेयार्थ-स्वरूपम्, तद्भेदाश्च

तत एव तदनुमिताद्वा लिङ्गभूताद्यदर्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेयः। स च त्रिविधः वस्तुमात्रमलङ्काराः रसादयश्चेति। तत्राद्यौ वाच्यावपि सम्भवतः। अन्यस्त्वनुमेय एवेति। तत्र पदस्यार्थो वाच्य एव नानुमेयः, तस्य निरंशत्वात् साध्यसाधनभावाभावतः।

(पृष्ठ ४०)

४ वाक्यार्थस्य भेदा

वाक्यार्थस्तु वाच्यस्यार्थस्यांशपरिकल्पनायामंशानां विध्यनुवादभावेनावस्थिते- विधेयांशस्य सिद्धासिद्धतयोपपादनानपेक्षसापेक्षत्वेन द्विविधा बोद्धव्यः। (पृष्ठ ४०)

यथा च वाक्यार्थविषये साध्यसाधनभावे साध्यसाधनप्रतीत्योः सुलक्षः क्रमभावः तथा वस्तुमात्रालङ्कारयोरनुमेयविषयेऽप्यवगन्तव्यः। केवलं रसादिष्वनुमेयेष्वप्यसंलक्ष्यक्रमो गम्यगमकभावः इति सहभावभ्रान्तिमात्रकृतस्तत्रान्येषां व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाभ्युपगमः,

---

* चौखम्बा संस्कृत-सीरिज, बनारस, द्वारा सन् १९३६ में प्रकाशित संस्करण

तन्निबन्धनश्च ध्वनिव्यपदेशः। स तु तत्रौपचारिक एव प्रयुक्तो न मुख्य तस्य वक्ष्यमाण-नयेन बाधितत्वात्। उपचारस्य च प्रयोजनं सचेतनचमत्कारकारित्वं नाम। तद्धि मुख्ये चित्रपुस्तकादौ व्यक्तिविषये परिदृष्टमेव।

वाच्यो ह्यर्थो न तथा चमत्कारमातनोति यथा स एव विधिनिषेधादिः काक्व-भिधेयतामनुमेयतां वावतीर्ण इति स्वभाव एवायमर्थानाम्। (पृष्ठ ५३ ५४)

६ वस्त्वलङ्कारयोरौपचारिकव्यङ्ग्यत्वस्याप्यसम्भव

वाच्ययोस्तु क्रमस्य सुलक्षत्वाद् भ्रान्तिरपि नास्तीति निर्निबन्धन एव तत्र व्यङ्ग्य-व्यपदेशग्रह। अत एव मुख्यमार्गाणां शब्दानां ध्वनिव्यपदेशमात्रमन्त्यसन्निवेशिनश्च स्फोटाभिमतस्यार्थस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो न सम्भवतीति व्यञ्जकत्वसाम्यात् शब्दार्थात्मनि काव्ये ध्वनिव्यपदेशः सोऽप्यनुपपन्न, तत्रापि कार्यकारणमूलस्य गम्यगमकभावस्योपगमात्। (पृष्ठ ५७)

७ रत्यादिप्रतीतेर्विभावादिसमकालत्वशङ्का तत्परिहारौ

ननु विभावादिवाक्यार्थसमकालमेव रत्यादीनां भावानां प्रतीतिरुपजायमाना सर्वैरेवावधार्यते। न तु तदनन्तरा तत्सम्बन्धस्मरणादिविघ्नव्यवधानसंवित्ति काचित्।

रत्यादिप्रतीतिरेव रसादिप्रतीतिरिति मुख्यवृत्त्यैव व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाभ्युपगमः। तत्र प्रदीपघटादिवदुपपन्नो गम्यगमकभावः। यत् स एवाह—व्यञ्जकत्वमार्गे तु यदार्थो-र्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवत्।

× × ×

वाच्यप्रतीयमानयोरर्थयोर्यथा क्रमेणैव प्रतीतिर्न समकालं यथा चानयोर्गम्य-गमकभावः यथा तत्रैव व्याप्तिं विना तयोः स्वरूपं निरूपयितुकामैराम्युक्त, तदेवा-स्माभिः तमाधित्सुभिरिह लिख्यते परम्।

तद्यथा—'न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। अत एव विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनो रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारण-भावेनावस्थानात् क्रमोऽवश्यम्भावी। स तु लाघवान्न लक्ष्यत इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो-व्यङ्ग्या रसादयः इत्युक्तम्' इति।

पुनश्च "तस्मादभिधानाभिधेयप्रतीत्योरिव वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योर्निमित्तनिमित्ति-भावाद् नियमभावी क्रमः। स तूक्तयुक्त्या क्वचिल्लक्ष्यते क्वचित्तु न लक्ष्यत" इति। (पृष्ठ ५८-६१)

८ ध्वने परार्थानुमानरूपता

तदेव वाच्यप्रतीयमानयोर्वक्ष्यमाणक्रमेण लिङ्गलिङ्गिभावस्य समर्थनात सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भाव समन्वितो भवति तस्य च तदपेक्षया महाविषयत्वात् । महाविषयत्व चास्य ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये पर्यायोक्तादौ गुणीभूतव्यङ्ग्यादौ च सर्वत्र सम्भवात् । तच्च वचनव्यापारपूर्वकत्वात् परार्थमित्यवगन्तव्यम । त्रिरूपलिङ्गाख्यान परार्थमनुमानमिति केवलमुक्तनयानभिज्ञतया तत्र लक्षयत्यविचक्षणो लोक । (पृष्ठ ६३-६४)

९ वाक्यार्थस्य साध्यसाधनभावगर्भता

अथ यदि सर्व एव वाक्यार्थं साध्यसाधनभावगर्भ इत्युच्यते । तद्यथा साध्यसाधनयोस्तत्र नियमेनोपादान तथा दृष्टान्तस्यापि स्यात तस्यापि व्याप्तिसाधनप्रमाणविषयतयावश्यापेक्षणीयत्वात् । न । प्रसिद्धसामर्थ्यस्य साधनस्योपादानादेव तदपेक्षया प्रतिक्षेपात् । तदुक्तम्—

"तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिन ।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवल ॥" (पृष्ठ ६४-६५)

१० रत्यादीनामनुमेयाना सुखहेतुत्वाक्षेप

ननु कुतोऽय रत्यादीनां सुखाद्यवस्थाविशेषाणां काव्यादौ सचेतनचमत्कारी सुखास्वादसम्भव, यो रसादीनामनुमेयानां व्यंग्यत्वोपचारस्य प्रयोजनांशतया कल्प्यते । न हि लोके लिंगत शोकादिष्वनुमीयमानेष्वनुमातु सुखास्वादलवोऽपि लक्ष्यते । प्रत्युत प्रत्युत साधूनामुदासीनानामपि वा भयशोकदौर्मनस्यादिषु समसममुपजायमानमवधार्यते । न च लोकत काव्यादौ कश्चिदतिशय येनासौ तत्रैवोपलभ्येत, न लोके । त एव हि लौकिका विभावादयो हेतुकार्यसहकारिरूपा गमका । त एव च रत्यादयोऽवस्थाविशेषरूपा भावा गम्या । तत् कोऽतिशय काव्यादौ, यत् तत्रैव रसास्वादो न लोक इति प्रयोजनांशासम्भवाद् रत्यादिषु व्यंग्यत्वोपचारोऽनुपपन्न एव ।

उच्यते । यत्र विभावादिमुखेन भावानामवगमस्तत्रैव सहृदयैकसवेद्यो रसास्वादोदय इति वस्तुस्वभाव एवाऽय न पर्यनुयोगपदवीमवतरति प्रामाणिकानाम् । यदाह भरत —"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति " इति । यदोक्तम्—

"भावसयोजनाव्यग्यपरसवित्तिगोचर ।
आस्वादनात्मानुभवो रस काव्यार्थ उच्यते ॥" (पृष्ठ ६५-६७)

११. विभावादिहेत्वादीनामभेदशङ्का

न च लोके विभावादयो भावा वा सम्भवन्ति हेत्वादीनामेव तत्र सम्भवात्। न च विभावादयो हेत्वादयश्चेत्येक एवार्थ इति मन्तव्यम्। अन्ये हेत्वादयोऽन्य एव विभावादयः। तेषां भिन्नलक्षणत्वात्। तथा हि ये लोके रत्यादयो रामादिगताः स्थैर्यभाजो-ऽवस्थाविशेषाः केचित् त एव काव्यादौ कविप्रभृतिभिर्वर्णनाद्यर्पमाणमन्यनुसंहिताः सन्तो भावयन्ति तांस्तान् रसानिति भावा इत्युच्यन्ते। यदाह भरतः—

"नानाभिनयसम्बन्धाद् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्, तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥"

ये च तेषां हेतवः सीतादयः केचित्, त एव काव्यादिसमर्पिताः सन्तो विभाव्यन्ते भावा एभिरिति विभावा इत्युच्यन्ते। यदाह भरत :—

"बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्, तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥"

ये च तेषां केचित् कार्यरूपा मुखप्रसादादयोऽर्थास्त एव काव्यादुपदर्श्यमानाः सन्तोऽनुभावयन्ति तांस्तान् भावानित्यनुभावा इत्युच्यन्ते।

यदाह भरत :—

"वागङ्गसत्त्वाभिनयैर्यस्मादर्थोऽनुभाव्यते।
वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तः सोऽनुभाव इति स्मृतः॥"

ये च तेषामन्तरान्तरानवस्थायिनोऽवस्थाविशेषास्तदवान्तरहेतुजनिता उत्कलिकाकाराः केचिदुत्पद्यन्ते, त एव निजनिजविभावानुभावदर्पमुखेनोपदर्श्यमानाः सन्तो विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति तेषु तेषु भावेष्विति व्यभिचारिण इत्युच्यन्ते। यदाह भरत :—विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः' इति।

ये चैते स्थायिव्यभिचारिसात्त्विकभेदादेकोनपञ्चाशद्भावा उक्तास्ते सर्वे व्यभिचारिण एव। केवलमेषां प्रतिनियतरूपापेक्षो व्यपदेशभेदः। तथा हि स्थायित्वं स्थायिष्वेव प्रतिनियतं, न व्यभिचारिसात्त्विकेषु। व्यभिचारित्वं व्यभिचारिष्वेव, नेतरयोः। सात्त्विकत्वमपि सात्त्विकेष्वेव, नेतरयोरिति। तत्र स्थायिभावानामुभयी गतिः। न व्यभिचारिसात्त्विकानाम्। ते हि नित्यं व्यभिचारिण एव न जातुचित् स्थायिनः प्रकल्प्यन्ते।

यत्तु भावाध्याये स्थायिनां लक्षणमुक्तं तद्व्यभिचारिदशापन्नानामेव तेषामवगन्तव्यं नान्येषां, लक्षणवचनस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। स्थाय्यनुकरणात्मानो हि रसा इष्यन्ते, ते च प्रधानमिति तल्लक्षणमुखेनैव तेषां स्वरूपावगमसिद्धेः, तेषां बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेनावस्थानात्, स्थायिभावेषु च निर्वेदादिष्विव व्यभिचारिणामनुपादानात्। तदुपादाने हि तेषां स्थायित्वमेव स्यान्न व्यभिचारित्वं निर्वेदादिवत्। तस्माद्योग्यतामात्रप्रवर्तितोऽस्य वर्गत्रयविभागोपदर्शनाय व्यभिचारिष्वपि स्थायिव्यपदेशस्तन्मात्रविप्रलम्भकृतोऽन्येषां स्थायिभावलक्षणभ्रम इत्यलमप्रस्तुतवस्तुविस्तरेण। (पृष्ठ ६७-७३)

१२ कृत्रिमैर्विभावादिभिरसत्यरत्यादिप्रतीतिपरामर्श एव रसास्वाद

तदेवं विभावादीनां हेत्वादीनां च कृत्रिमाकृत्रिमतया काव्यलोकविषयतया च स्वरूपभेदे विषयभेदे चावस्थिते सत्येकस्यासिद्धेर्यदा विभावादिभिर्भावेषु रत्यादिष्वसत्येष्वेव प्रतीतिरुपजन्यते तदा तेषां तन्मात्रसारत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति च व्यपदेशा मुख्यवृत्त्योपपद्यन्त एव। तत्प्रतीतिपरामर्श एव च रसास्वाद स्वाभाविक इत्युक्तम्।

आस्तां वा रत्यादिर्नित्यपरोक्षः। प्रत्यक्षोऽपि ह्यर्थः साक्षात् संवेद्यमानः सचेतसां न तथा चमत्कारमातनोति यथा स एव सत्कविना वचनगोचरतां गमितः। यदुक्तम्—

"कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभावयुक्तितः।
तथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाध्यक्षतः किल॥" इति।

सोऽपि च तेषां न तथा स्वदते, यथा तैरेवानुमेयतां नीत इति स्वभाव एवायं न पर्यनुयोगमर्हति। तदुक्तम्—

"नानुमितो हेत्वाद्यैः स्वदतेऽनुमितो यथा विभावाद्यैः।
न च सुखयति वाच्योऽर्थः प्रतीयमानः स एव यथा॥"

इति। ध्वनिकृताप्युक्तम्—'सारूपो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरां शोभामावहति' इति। प्रतीतिमात्रपरमार्थे च काव्यादि तावतैव विनेयेषु विधिनिषेधव्युत्पत्तिसिद्धेः।

तदुक्तम्—"भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा' इति।

"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥" इति च।

तेनात्र गम्यगमकयोः सचेतसां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एव। काव्यविषये च वाच्यव्यंग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एवेति तत्र प्रमाणान्तरपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यत इति।

तत्र हेत्वादिभिरकृत्रिमैरकृत्रिमा एव प्रत्याय्यन्ते। तत्रैषामनुमेयत्वमेव न व्यंग्यत्वगन्धोऽपीति, कुतस्तत्र सुखास्वादलवोऽपि सम्भवति। एष एव लोकतः काव्यादावतिशय इत्युपपद्यत एव रत्यादौ गम्ये सुखास्वादप्रयोजनो व्यंग्यत्वोपचार इति।

मुख्यवृत्त्या द्विविध एवार्थो वाच्यो गम्यश्चेति। उपचारतस्तु व्यंग्यस्तृतीयोऽपि समस्तीति सिद्धम्।

वाच्यो गुणीकृतार्थत्वं न सम्भवति जातुचित्।
तदर्थं तदुपादानादुक्तार्थं धृतेरिव ॥ इति संग्रहश्लोकः।

नापि वाच्यप्रतीयमानयोर्मुख्यवृत्त्या व्यंग्यव्यंजकभावः सम्भवति व्यक्तिलक्षणानुपपत्तेः। (पृष्ठ ७३-७६)

१३. व्यक्तिलक्षणम्, तत्त्रैविध्यञ्च

सतोऽसत एव वार्थस्य प्रकाशमानस्य सम्बन्धस्मरणानपेक्षिणा प्रकाशकेन सहैव प्रकाशविषयतापत्तिरभिव्यक्तिरिति तल्लक्षणमाचक्षते। तत्र सतोऽभिव्यक्तिस्त्रिविधा, तस्य त्रैविध्यात्।

तत्र कारणात्मनि कार्यस्य शक्त्यात्मनावस्थानात् तिरोभूतस्येन्द्रियगोचरत्वापत्तिलक्षण आविर्भाव एका, यथा क्षीराद्यवस्थायां दध्यादेः। तथावस्थानानुपगमे तु सैवोत्पत्तिरित्युच्यते कैश्चित्। तस्यैवाविर्भूतस्य कुतश्चित् प्रतिबन्धादप्रकाशमानस्य प्रकाशकेनोपसर्जनीकृतात्मना सहैव प्रकाशो द्वितीया, यथा प्रदीपादिना घटादेः। तदुक्तम्

"स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः।
यथा दीपोऽन्यथाभावे को विशेषोऽस्य कारकात् ॥"

इति। ध्वनिकारेणाप्युक्तं—'स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परार्थावभासनो व्यंजक इत्युच्यते यथा प्रदीपो घटादेः।' इति।

तस्यैवानुभूतपूर्वस्य संस्कारात्मनान्तर्विपरिवर्तिनः कुतश्चिदव्यभिचारिणोऽर्थान्तरात् तत्प्रतिपादकाद्वा संस्कारप्रबोधमात्रं तृतीया, यथा धूमादग्नेः, यथा चालेख्य-

पुस्तकप्रतिबिम्बानुकरणादिभ्य, शब्दाच्च गवादे। प्रसतस्त्वेकप्रकारैव, तस्य प्रकारान्तरासम्भवात्, यथार्कालोकादि द्रव्यादे। इति। (पृष्ठ ७६-७८)

१४ वाच्ये व्यक्तिलक्षणस्यासम्भवः

न चैतल्लक्षणं वाच्ये सङ्गच्छते। तथा हि—सतोऽभिव्यक्तिराद्ययोरर्थयोर्लक्षणं न तत्प्रतीयमानेऽर्थे कथमपि सम्प्रष्टुं क्षमते तस्य वह्न्यादेरिवेन्द्रियविषयभावापत्तिप्रसङ्गात् घटादेरिव वाच्यार्थसहभावेनैवास्य प्रतीतेरसम्भवात्। न च स्वरूपासंस्पर्शि लक्षणं भवति।

तृतीयस्यास्तु यल्लक्षणं तदनुमानस्यैव सङ्गच्छते, न व्यक्तेः। यदुक्तं 'त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमान'मिति। तच्चानुमानमेव। न ह्यर्थादर्थान्तरप्रतीतिरनुमानमन्तरेणार्थान्तरमुपपद्यते। उपमानादीनां च तत्रैवान्तर्भावात्।

यदाहु —'न चान्यदर्शनेऽप्यकल्पना युक्तातिप्रसङ्गात्। तस्य नान्तरीयकतायां स्यात्। न हि यथाविधसिद्धं तथाविधान्निर्यान सूचयति। सामान्येन च सम्बन्धिनार्थप्रतिपत्तिरनुमानमिति द्वे एव प्रमाणे' इति।

न च वाच्यादर्थादर्थान्तरप्रतीतिरविनाभावसम्बन्धस्मरणमन्तरेणैव सम्भवति, सर्वस्यापि तत्प्रतीतिप्रसङ्गात्। नापि सहभावेन, धूमाग्निप्रतीत्योरिव तत्प्रतीत्योरपि क्रमभावस्यैव संवेदनाद् इत्यसम्भवो लक्षणदोषः।

अथ रसाद्यपेक्षया तयोः सहभावेन प्रकाशोऽभिमत इत्युच्यते, अव्याप्तिस्तर्हि लक्षणदोषः। वस्तुमात्रालङ्कारप्रकाशस्य प्रकाशकासहभावेनाव्याप्तेः।

न च रसादिष्वपि विभावादिप्रकाशनसहभावेन प्रकाशनमुपपद्यते। यतस्तैरेव कारणादिभिः कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानैरसन्त एव रत्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः स्थायिभावव्यपदेशभाजः कविभिः प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदयसंवादादास्वाद्यत्वमुपयन्तः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते। न च कारणादिभिः कार्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः सहैव प्रकाशितुमुत्सहन्ते कार्यकारणभावाद्यवसायस्यैवावसादप्रसङ्गात्। यत्र तु तल्लक्षणं मुख्यतया सम्भवति तत् काव्यमेव न भवतीति युक्त एव तद्विशेषव्यञ्जनरूपता स्यात्।

द्विविधो हि प्रकाशकोऽयं उपाधिरूपः स्वतन्त्रश्चेति। तत्र ज्ञानशब्दप्रदीपादिरुपाधिरूपः। तदुक्तम्—'त्रयः प्रकाशाः स्वपरप्रकाशाः' इति। अन्यः स्वतन्त्रो धूमादिः। तत्राद्यस्तावद् भवद्भिर्नाभ्युपगन्तव्य एव प्रत्यक्षाभिधेययोरेवार्थयोः काव्यतापत्ति-

प्रसंगात् । अन्यस्य तु लिङ्गत्वमेवोपपद्यते न व्यञ्जकत्वं व्यक्तेरनुपपत्तेः । न च त्रिविध-स्यापि व्यङ्ग्याभिमतस्यार्थस्य प्रकाशकसहभावेन प्रकाशस्तस्यापि ध्वनिकारस्याभिमतः ।

यदयमाह—'न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः । तत एव च तत्प्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारण-भावेनावस्थानात् क्रमोऽवश्यम्भावी । स तु लाघवान्न प्रकाशते इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यङ्ग्या रसादय' इति । (पृष्ठ ७८-८०)

कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यमुच्यते । तच्चाभिनेयानभिनेयार्थत्वेन द्विविधम् । सामान्येनोभयमपि च तच्छास्त्रवद्विधिनिषेध-विषयव्युत्पत्तिफलम् । केवलं व्युत्पाद्यजनआढ्यमाढ्यपतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्र-रूपोऽयमुपायमात्रभेदो न फलभेदः । (पृष्ठ ९५-९६)

१५ काव्यस्य स्वरूपम्

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ॥२५॥ इति ।

एतच्चानुमानस्यैव लक्षणं नान्यस्य । यदुक्तं "त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमान-मि" ति । केवलं संज्ञाभेदः ।

काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः । (पृष्ठ १०५)

१६ अभिधा-स्थापना

शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता ।
न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम् ॥२७॥

उक्तं वृथैव शब्दस्योपादानं लक्षणे ध्वनेः ।
न हि तच्छक्तिमूलेष्टा काचिदर्थान्तरे गतिः ॥२८॥

न चोपसर्जनत्वेन तयोर्युक्तं विशेषणम् ।
अतः काव्ये गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपीष्टैव चारुता ॥२९॥

अत एव विशेषस्योपादानमपि नार्थवत् ।
संज्ञासम्बन्धमात्रैकफलं तदिति मन्यते ॥३०॥

तदा चातिप्रसङ्ग स्यात्तद्भाव्यार्थस्य कस्यचित ।
यद्वाप्रवर्तिनोऽन्यस्य विशेषस्य तदाश्रित ॥३१॥

तस्मात स्फुटतया यत्र प्राधान्येनान्यथापि वा ।
वाच्यशक्त्यानुमेयोऽर्थो भाति तत काव्यमुच्यते ॥३२॥

वाच्यप्रत्येययोर्नास्ति व्यङ्ग्यव्यञ्जकतार्थयो ।
तयोः प्रदीपघटवत् साहित्येनाप्रकाशनात् ॥३३॥

पक्षधर्मत्वसम्बन्धव्याप्तिसिद्ध्यपेक्षणात ।
धूमस्याप्रत्ययोपायवद् महत्त्वानलधूमयो ॥३४॥

अनुमानत्वमेवात्र युक्त तल्लक्षणान्वयात् ।
असतश्चेत्प्रकाशत्वे का व्यक्ति कृतिरेव सा ॥३५॥

कार्यत्व ह्यसतोऽपीष्ट हेतुत्व तु विरुध्यते ।
सर्वसामर्थ्यविगमाद् गगनेन्दीवरादिवत् ॥३६॥

शब्दप्रयोग प्रायेण परार्थमुपयुज्यते ।
नहि तेन विना शक्यो व्यवहारयितु पर॰ ॥३७॥

न च युक्तिनिराशसात तत्र कश्चित् प्रवर्तते ।
निवर्तते वेत्यस्येष्टा साध्यसाधनगर्भता ॥३८॥

ते प्रत्येक द्विधा ज्ञेये शाब्दत्वार्थत्वभेदत ।
पदार्थवाक्यार्थतया ते अपि द्विविधे मते ॥३९॥

तत्र साध्यो वस्तुमात्रमलकारा रसादय ।
इति त्रिधैव, तत्राद्यौ पद शब्दानुमानयो ॥४०॥

अन्त्योऽनुमेयो भक्त्या तु तस्य व्यङ्ग्यत्वमुच्यते ।
भक्तेः प्रयोजनांशो यश्चमत्कारित्वलक्षण ॥४१॥

स रसस्येति, सोऽप्यस्य विभावाद्यैकहेतुक ।
अत एव न लोकेऽपि चमत्कार॰ प्रसज्यते ॥४२॥

तत्र हेत्वादय॰ सन्ति न विभावादयो यत ।
न धैकार्यत्वमाशयभेदो लक्षणभेदत ॥४३॥

स्वभावस्त्वायमर्थानां यत्र साक्षात्कमो तथा ।
स्वदन्ते सत्कविगिरां गता गोचरतां यथा ॥४४॥

(पृष्ठ १०५-१०८)

१७. काव्ये गम्यगमकभावः

किंच काव्यस्य स्वरूपं व्युत्पादयितुकामेन मतिमता तल्लक्षणमेव सामान्येनाख्यातव्यम्, यत्र वाच्यप्रतीयमानयोर्गम्यगमकभाव संस्पर्शस्तत् काव्यमिति, तावतैव व्युत्पत्तिसिद्धेः । (पृष्ठ १३६)

भोज

समय—ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध

ग्रन्थ—[सरस्वतीकण्ठाभरण]

१. वाङ्मय के भेद.

जिससे विधि (करणीय) और निषेध (अकरणीय) का ज्ञान तथा लोक-यात्रा का प्रवर्तन होता है वह (वाङ्मय) 'अध्येय' कहा गया है। उसके छह प्रकार हैं—काव्य, शास्त्र, इतिहास, काव्य-शास्त्र, काव्येतिहास और शास्त्रेतिहास।

। २।१३८-३९ ।

× × ×

श्रव्य काव्य—

वह काव्य जो दृश्य नहीं होता, जो (अभिनेताओं द्वारा) बोला नहीं जाता, केवल कानों को ही सुख देता है, 'श्रव्य' है। वह छः प्रकार का है—आशी', नान्दी, नमस्कार, वस्तु-निर्देश, आक्षिप्त और ध्रुवा।'''''''' ''''

२।१४०-१४१

प्रबन्ध काव्य :—

कवि अनौचित्य का त्याग करके 'वाक्यों' की भाँति 'प्रबन्धों' में भी रस, अलंकार और उनके मिश्रण की निबन्धना करते हैं। ५।१२६

चारों वृत्तियों के अंगों से युक्त, चतुर उदात्त नायक वाले, चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के फलदायक प्रबन्ध को कौन अपना बन्धु नहीं बनाता? ५।१२७

विद्वानों ने प्रबन्ध में पाँच सन्धियाँ बतलाई हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण।

जगत उस काव्य का अभिनन्दन करता है जो विस्तृत नहीं है; जो संक्षिप्त नहीं है, जो श्रव्य वृत्त वाला, और गुण-युक्त है तथा जिसके सर्ग के अन्त में वृत्त बदल जाता है। ५।१२९

स्थानों का चित्रांकन—पुर, उपवन, राष्ट्र आदि, समुद्र और आश्रम का वर्णन प्रबंध के रस का उत्कर्ष करता है। ५।१३०

काव्य में ऋतु, रात, दिन, सूर्य और चन्द्रमा के उदय और अस्त के वर्णनों द्वारा काल का चित्रण रस-पोषक होता है। ५।१३१

राजकुमारी, राजकुमार, स्त्री, सेना के अंगों के दक्षतापूर्ण संचालन (से युक्त) पात्रों का वर्णन काव्य में रस का प्रवाह ला देता है। ५।१३२

उद्यान-क्रीडा, जल-क्रीडा, मधुपान, रतोत्सव, विप्रलम्भ, विवाह और (शृंगारिक) चेष्टाएं काव्य को विशेष सरस बनाती हैं। ५।१३३

मन्त्र, दूत-गमन, युद्ध, नायक के अभ्युदय आदि से पुरुषार्थ की पुष्टि काव्य में रस बरसाती है। ५।१३४

यदि (कवि) पर्वत, ऋतु, रात्रि आदि के वर्णन से ही संतुष्ट हो जाता है तो नगरी आदि का वर्णन न करना दोष नहीं है—ऐसा विद्वानों का मत है। ५।१३५

आरम्भ में गुण से नायक की प्रतिष्ठा करके फिर उसके द्वारा विरोधियों का निराकरण (होना चाहिए। यही) प्रकृति-सुन्दर मार्ग है। ५।१३६

शत्रु के भी वंश, पराक्रम, विद्या आदि का वर्णन करके उसकी विजय में नायक के उत्कर्ष का कथन आनन्द-दायक होता है। ५।१३७

× × ×

दृश्य काव्य :—

दृश्य काव्य वह है जो अभिनेताओं द्वारा कथित, वाचिक आदि (अभिनयों) द्वारा निःसृत और आंगिक अभिनय से सम्पन्न होता है।··········उसके छह भेद हैं—लास्य, ताण्डव, छलिक, सम्पा, हल्लीसक और रासक। २।१४२-१४३

× × ×

२. वाङ्मय के अन्य तीन प्रकार :—

वाङ्मय के तीन प्रकार हैं—वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति। इनमें से रसोक्ति सर्वाधिक हृदयग्राहिणी है। ।५।८

रसोक्ति —

रस योजना की चौबीस विभूतियाँ कही गई हैं—भाव, जन्म, अनुबन्ध, निष्पत्ति, पुष्टि, संकर, ह्रास, आभास, शम, शेष, विशेष, परिशेष, विप्रलम्भ, संभोग, उनकी चेष्टाएँ, उसकी (प्रेमकी) परीष्टियाँ, (विप्रलंभ आदि की) निरुक्ति, प्रकीर्ण, प्रेम, प्रेम-पुष्टियाँ नायिका नायक-गुण, पाकादि, प्रेम भक्ति और नानालंकार-संसृष्टि प्रकार। ये रसोक्तियाँ हैं। इनके स्वरूप ज्ञान से कवि काव्य-रचना में समर्थ होता है।

५।९-१२

अपने अपने आलम्बन विभावों से व्यक्त होता हुआ रस रति आदि (पूर्वकल्पित) रूप में भाव कहाता है। ५।१३

× × ×

स्थायी (भाव) वे हैं जो चिरकाल तक चित्त में ठहरते हैं, (अनुभावादि) अनुबन्धियों से सम्बद्ध होने पर प्रबुद्ध होकर रसदशा को प्राप्त होते हैं। ५।१९

× × ×

रजस् और तमस् से मुक्त मन सत्त्व कहाता है। सत्त्व के योग से उत्पन्न (भाव) सात्त्विक कहाते हैं। ये रस-रूप आनन्द के साधक हैं। ५।२०

व्यभिचारी भाव वे कहाते हैं जो विशेष रूप से हृदयस्थ स्थायी भावों को सारे शरीर में चलायमान कर देते हैं और अनुभाव आदि के हेतु होते हैं। ये व्यभिचारी भाव उत्पन्न होकर पुन उत्पन्न नहीं होते। स्मृति आदि (संचारी भाव) प्रेम आदि (स्थायी भावों) में रहते भी हैं और नहीं भी रहते। ५।२१-२२

× × ×

प्रेम की बारह महा-ऋद्धियाँ ·

प्रेम की महा-ऋद्धियाँ बारह हैं—नित्य, नैमित्तिक, सामान्य, विशेष, प्रच्छन्न, प्रकाश, कृत्रिम, अकृत्रिम, सहज, आहार्य, यौवनज और विस्रम्भज। ५।९७-९८

प्रेम-पुष्टियाँ क्रम से ये हैं—चक्षु प्रीति, मन सङ्ग, बारबार संकल्प, प्रलाप, जागरण, कृशता, अन्य विषयों में अरति, लज्जा, विसर्जन, व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा और मरण। ५।९९-१००

व्याज के तीन भेद—

व्याज (कलापूर्ण अभिव्यक्ति) के तीन प्रकार हैं—अन्तर्व्याज, बहिर्व्याज,

निर्व्याज। प्रेम-संबंधी उदर्क (परिपाक) तीन प्रकार का है—धर्मोदर्क, अर्थोदर्क और कामोदर्क। ५।१२५

× × ×

रस के बारह भेद —

[रस (बारह) हैं—शृंगार, वीर, करुण, रौद्र, अद्भुत, भयानक, बीभत्स, हास्य, प्रेयान्, शान्त, दान्त [उदात्त], और उद्धत।] ५।१६४

शृंगार-रस

अभिमान और अहंकार (को व्यक्त करने) वाला अर्थ शृंगार रस कहलाता है। इस रस के योग से काव्य कमनीय बन जाता है। ५।१

प्राणियों की अन्तरात्मा में इस रस की उत्पत्ति विशेष अदृष्ट रूप से होती है। यह रस आत्मा के सम्यक् गुणों की उद्भूति का कारण है। ५।२

यदि कोई कवि शृंगारी है तो उसके काव्य में जगत रसमय बन जाता है और यदि वह अशृंगारी है तो (उसके लिए) सभी कुछ नीरस है। ५।३

रति —

मन के अनुकूल विषयों में सुख की अनुभूति का नाम रति है। विषयों में असम्प्रयुक्त होने पर वही रति प्रीति कहाती है। ५।१३८

रति रूप से रस के [स्थायि-] भाव का उदाहरण—

चन्द्रोदय के आरम्भ में समुद्र के समान महादेव ने, किञ्चित् अधीर होकर बिम्बाफल के समान [अरुण] अधर वाले पार्वती मुख पर दृष्टि डाल दी।१।

इस पद्य में शिव की विशिष्ट अभिलाषा बिम्बोष्ठ आदि के द्वारा मनोनुकूल समर मुख पर नेत्र-व्यापार के कारण अनुमित है। वह (अभिलाषा) सात्विक आदि भावों के वर्णन न होने पर भी सुखानुभूति की उत्पत्ति का अनुमान करा देती है।

रति रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

उस [शिव जी] को देखकर कांपती हुई कृशाङ्गी पार्वती आगे रखने के लिए उठाए गए पद को धारण करती हुई उस सरिता की भाँति न आगे बढ़ सकीं और

न स्थिर रह सकी, जो मार्ग में पर्वत की बाधा के कारण आकुलित [अवरुद्ध] हो जाती है।७।

इस पद्य में पूर्व जन्म के अनुभव के संस्कार के कारण शिव के प्रतिकूल होने पर भी उन में पार्वती की सर्वदा निरन्तर रति, चिरकाल से वियुक्त, कठिन तपस्या के द्वारा प्रार्थनीय मिलन वाले शिव के आकस्मिक दर्शन से उद्दीप्त होती हुई, तत्काल उत्पन्न स्वेद, स्तम्भ, वेपथु सात्त्विक भावों से उपलक्षित, हर्ष, स्मृति, आवेग, साध्वस आदि व्यभिचारी भावों से तथा पद निक्षेप-रूपी शरीरानुभाव से अभिव्यक्त हो रही इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी-भावों के संयोग से रति स्थायी-भाव निष्पन्न हो रहा है।

रति निसर्ग, संसर्ग, औपम्य, अध्यात्म, अभियोग, सम्प्रयोग, अभिमान और विषय से उत्पन्न होती है। ५।१६५

प्रीति भी ऐसी ही होती है, किन्तु सम्प्रयोग के बदले यह अभ्यास से उत्पन्न होती है। इन के उदाहरण ये हैं ५।१६६

× × ×

[प्रेयान् रस का उदाहरण—]

जो मुझे अच्छा लगता है, प्रिया वही करती है—बस इतना ही वह जानती है, परन्तु जो कुछ भी प्रिय वह [मेरे लिए] करती है, इसे वह नहीं जानती।

५।१६६।७४

इस पद्य में वत्सल प्रकृति वाले धीरललित नायक का प्रिया-रूप आलम्बन विभाव से उत्पन्न स्नेह नायक स्थायी भाव विषय की सुकुमारता-रूपी प्रकृति आदि उद्दीपन विभावों द्वारा उद्दीप्त, उत्पन्न मोह, धृति, स्मृति आदि व्यभिचारी भावों, तथा अनुभावों से संसृष्ट होकर प्रेयान् रस के रूप में निष्पन्न हो रहा है।

× × ×

[उदात्त रस का उदाहरण—]

जब साधारण भी पुरुष आतंक-रहित होकर कन्या की याचना करता है, तो फिर ब्रह्मा के प्रपौत्र तथा लोकों के विजेता [रावण] का क्या कहना! ५।१६६।७७

इस पद्य में उदात्त-प्रकृति राम की स्वभाव से ही तत्त्वान्वेषिणी मति न तो आकृति के अयोग्य (अनुचित) विषय में प्रवृत्त होती है, और न (उचित विषय) में

प्रवृत्त होकर शान्त होती है। 'सीता मेरे द्वारा स्वीकार करने योग्य है'—इस रूप से प्रवृत्त (राम की मति) रावण की प्रार्थना और लक्ष्मण के प्रोत्साहन से उद्दीप्त होकर, समुत्पन्न चिन्ता, वितर्क, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति आदि और समयानुसार आगे चल कर अनुमीयमान विवेक, चातुर्य, औदार्य, धैर्य आदि के द्वारा संपुष्ट होकर उदात्त नामक रस के रूप में निष्पन्न हो रही है।

[उद्धत रस का उदाहरण—]

'मैं अपकार करने वाला हूँ' ऐसा समझ कर हृदय में [मेरी ओर से] भय करो। विमुख हो जाने वालों पर मेरा खड्ग प्रहार की कामना कभी नहीं करता। ५।१६६।७८

इस पद्य में 'मेरे द्वारा इस का अपकार हुआ है', यह जो भय है, वह न रहे। 'पराङ्मुख लोगों में मेरा खड्ग कभी भी प्रहार के लिए नहीं उठता, यह अहंकार सदा से ही रूढ (स्थायी) प्रतीत होता है। इस प्रकार यह उद्धत नामक रस गर्व-प्रकृति वाला है।

३ रीति

वैदर्भ (विदर्भ देश में उत्पन्न) आदि (कवियों) की रचना-पद्धति काव्य में 'मार्ग' कही गई है। 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति 'रीङ' धातु से है जिसका अर्थ है 'जाना'। २।२७

वह रीति छह प्रकार की होती है—वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडीया, आवन्तिका, लाटीया और मागधी। २।२८

'वैदर्भी' रीति वह है जो समास-रहित, श्लेष आदि सकल गुणों से युक्त तथा वीणा के स्वर-सौन्दर्य से शोभित हो। २।२९

पाँच-छह पदों के समास वाली, ओज और कान्ति गुणों से रहित, मधुर और सुकुमार रीति को विद्वानों ने 'पाञ्चाली' कहा है। २।३०

अति उद्भट पदों के समास वाली, ओज और कान्ति गुणों से युक्त रीति को रीति-मर्मज्ञ 'गौडीया' बतलाते हैं। २।३१

दो, तीन या चार पदों के समास वाली, पाञ्चाली और वैदर्भी की मध्यवर्तिनी रीति 'आवन्तिका' है। २।३२

समस्त रीतियों से मिश्रित रचना 'लाटीया' कहलाती है। पूर्वोक्त रीतियों का निर्वाह न होने पर खण्ड-रीति (का नाम) 'मागधी' है। . २।३३

४. अरीतिमत् दोष

जहाँ श्लेष आदि गुणों का विपर्यय होता है उसे 'अरीतिमत्' (दोष) कहते हैं। उसके तीन भेद कहे गए हैं—शब्द-प्रधान, अर्थ-प्रधान और उभय-प्रधान। और ये तीनों श्लेष आदि के सम्बन्ध से तीन-तीन प्रकार के हैं। १।२८-३०

'शब्द-प्रधान' (अरीतिमत्) उसे कहा गया है जहाँ श्लेष, समता और सौकुमार्य का विपर्यय हो। श्लेष के विपर्यय से सन्दर्भ 'शिथिल' (नामक दोष से युक्त) होता है, समता के विपर्यय से 'विषम' और सौकुमार्य के विपर्यय से 'कठोर'। २।३०-३२

वाक्य में (लक्षित) वह गुण-विपर्यय 'अर्थ-प्रधान' (नामक अरीतिमत् दोष) कहा गया है जिसमें कान्ति, प्रसाद अथवा अर्थ-व्यक्ति का विपर्यय हो। प्रसाद के विपर्यय से वाक्य 'अप्रसन्न' होता है; अर्थ-व्यक्ति के विपर्यय से 'नेयार्थ' और कान्ति के विपर्यय से 'ग्राम्य'। २।३२-३५

जहाँ ओज, माधुर्य और औदार्य गुणों का प्रकर्ष नहीं होता वहाँ, उनके विपर्यय के कारण, 'उभय-प्रधान' (नामक अरीतिमत् दोष) होता है। वाक्य में ओज के रीति-विरोधी विपर्यय को विद्वानों ने 'असमस्त' (दोष) कहा है। रीति के नाश के कारण, माधुर्य-विपर्यय को काव्य-सर्वज्ञों ने 'अनिर्व्यूढ' कहा। जिसमें रीति का निर्वाह न होने के कारण, औदार्य का विपर्यय होता है उस वाक्य को अलंकार-शास्त्रियों ने 'अनलंकार' (दोषयुक्त) बतलाया। २।३५-४१

अनुवाद : डॉ० उदयभानुसिंह, एम.ए.पी.-एच.डी.
प्रो० सत्यदेव चौधरी, एम.ए.

भोजदेवः

[सरस्वतीकण्ठाभरणम्]*

१ वाङ्मयस्य भेदाः

प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च व्युत्पत्तेरेव कारणम् ।
तदन्येषु विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥२।१३८॥

काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च ।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम् ॥२।१३९॥

श्रव्यकाव्यम्—

श्रव्यं तत्काव्यमाहुर्यन्नेक्ष्यते नाभिधीयते ।
श्रोत्रयोरेव सुखदं भवेत्तदपि षड्विधम् ॥२।१४०॥

आशीर्नान्दी नमस्कारो वस्तुनिर्देश इत्यपि ।
आक्षिप्तिका ध्रुवा चेति शेषो ग्रन्थे भविष्यति ॥२।१४१॥

प्रबन्धकाव्यम्—

वाक्यवक्त्र प्रबन्धेषु रसालङ्कारसङ्करात् ।
निवेशयन्त्यनौचित्यपरीहारेण सूरयः ॥५।१२६॥

चतुर्वर्गसमापन्नं चतुरोदात्तनायकम् ।
चतुर्वर्गफलं को न प्रबन्धं बान्धवीयति ॥५।१२७॥

मुखं प्रतिमुखं गर्भोऽवमर्शश्च मनीषिभिः ।
स्मृता निर्वहणं चेति प्रबन्धे पञ्च सन्धयः ॥५।१२८॥

अविस्तृतमसंक्षिप्तं श्रव्यवृत्तं सुसन्धि च ।
भिन्नसर्गान्तवृत्तं च काव्यं लोकोऽभिनन्दति ॥५।१२९॥

पुरोपवनराष्ट्रादिसमुद्राश्रमवर्णनैः ।
देशसम्पत्प्रबन्धस्य रसोत्कर्षाय कल्पते ॥५।१३०॥

---

* निर्णय सागर प्रेस, बम्बई द्वारा, सन् १९३४ में प्रकाशित संस्करण ।

ऋतुरात्रिदिवार्केन्दूदयास्तमयकीर्तनं ।
कालः काव्येषु सपद्मो रसपुष्टिं नियच्छति ॥५।१३१॥

राजकन्याकुमारस्त्रीसेनासेनांगभूमिभिः ।
पात्राणां वर्णनं काव्ये रसस्रोतोऽधितिष्ठति ॥५।१३२॥

उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवा ।
विप्रलम्भा विवाहाश्च चेष्टा काव्ये रसावहा ॥५।१३३॥

मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयादिभिः ।
पुष्टिः पुरुषकारस्य रस काव्येषु वर्धते ॥५।१३४॥

तावर्णनं नगर्यादेर्दोषाय विदुषां मतम् ।
यदि शैलर्तुराज्यादेर्वर्णनेनैव तुष्यति ॥५।१३५॥

गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम् ।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः ॥५।१३६॥

वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः ॥५।१३७॥

दृश्यकाव्यम्—

पदार्थाभिनयैर्वाक्यार्थाभिनयविभूषितम् वाचिकादिभिः ।
सालंकारमभिप्रेत प्रेक्षणार्थमेडकादि तत् ॥२।१४२॥

सल्लास्य ताण्डवं चैव छलिकं सम्पया सह ।
हल्लीसकं च रासं च षट्प्रकारं प्रचक्षते ॥२।१४३॥

२ वाङ्मयस्यऽन्ये त्रयो भेदा

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ॥५।८॥

रसोक्ति —

भावो जन्मानुबन्धोऽथ निष्पत्तिः पुष्टिसङ्करौ ।
ह्रासाभासौ शमः शेषो विशेषः परिशेषवान् ॥५।९॥

विप्रलम्भोऽथ सम्भोगस्तच्चेष्टास्तत्परीष्टयः ।
निरुक्त्य प्रकीर्णानि प्रेमाणः प्रेमपुष्टयः ॥५।१०॥

नायिकानायकगुणाः पाकाद्याः प्रेमभक्तयः ।
नानालङ्कारसंसृष्टेः प्रकाराश्च रसोक्तयः ॥५।११॥

चतुर्विंशतिरित्युक्ता रसान्वयविभूतयः ।
स्वरूपमासां यो वेद स काव्यं कर्तुमर्हति ॥५।१२॥

आलम्बनविभावेभ्यः स्वेभ्यः स्वेभ्यः समुन्मिषन् ।
रसो रत्यादिरूपेण भाव इत्यभिधीयते ॥५।१३॥

× × ×

चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते संबध्यन्तेऽनुबन्धिभिः ।
रसत्वं प्रतिपद्यन्ते प्रबुद्धाः स्थायिनोऽत्र ते ॥५।१९॥

रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते ।
निर्वृत्तयेऽस्य तद्योगात्प्रभवन्तीति सात्त्विकाः ॥५।२०॥

विशेषणाभितः काये स्थायिनं चारयन्ति ये ।
अनुभावविहेतूंस्तान्वदन्ति व्यभिचारिणः ॥५।२१॥

जनित्वा ये न जायन्ते तेऽयथा व्यभिचारिणः ।
स्तम्भादयो हि प्रेमाद्या भवन्ति न भवन्ति च ॥५।२२॥

प्रेमाणो द्वादश महर्द्धयः—

नित्यो नैमित्तिकश्चान्यः सामान्योऽन्यो विशेषवान् ।
प्रच्छन्नोऽन्यः प्रकाशोऽन्यः कृत्रिमाकृत्रिमावुभौ ॥५।९७॥

सहजाहार्यनामानौ परौ यौवनजोऽपरः ।
विस्रम्भजश्च प्रेमाणो द्वादशैते महर्द्धयः ॥५।९८॥

चक्षुःप्रीतिर्मनःसंगः संकल्पोत्पत्तिसंततिः ।
प्रलापो जागरः कार्श्यमरतिर्विषयान्तरे ॥५।९९॥

लज्जाविसर्जनं व्याधिरुन्मादो मूर्च्छनं मुहुः ।
मरणं चेति विज्ञेया क्रमेण प्रेमपुष्टयः ॥५।१००॥

व्याजस्य त्रयो भेदा—

अन्तर्व्याजबहिर्व्याजनिर्व्याजा व्याजभक्तयः ।
धर्मार्थकामोदर्काश्च प्रेमपूर्वकभक्तयः ॥५।१२५॥

रसस्य द्वादश भेदाः—

शृङ्गारवीरकरुणरौद्राद्भुतभयानकाः ।
बीभत्सहास्यप्रेयांसः शान्तोदात्तोद्धताः रसाः ॥५।१६४॥

शृङ्गार रस—

रसोऽभिमानोऽहङ्कारः शृङ्गार इति गीयते ।
योऽर्थस्तस्यान्वयात्काव्यं कमनीयत्वमश्नुते ॥५।१॥

विशिष्टादृष्टजन्मायं जन्मिनामन्तरात्मसु ।
आत्मसम्यग्गुणोद्भूतेरेको हेतुः प्रकाशते ॥५।२॥

शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव चेदशृङ्गारी नीरसं सर्वमेव तत् ॥५।३॥

३. रति—

मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं रतिः ।
असम्प्रयोगविषया सैव प्रीतिर्निगद्यते ॥५।१३८॥

तद्रूपेण रसस्य भावो यथा—

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥१॥

अत्र बिम्बोष्ठत्वादिभिर्मनोनुकूले पार्वतीमुखे विलोचनव्यापारानुमितो महेश्वरस्याभिलाषविशेषः सात्त्विकादेरनुत्पादात्सुखानुभवस्योत्पत्तिमात्रमनुमापयति ।

× × ×

रतिरूपेणैव रसनिष्पत्तिर्यथा—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि—
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥७॥

अत्र जन्मान्तरानुभवसंस्कारात्प्रतिकूलेऽपि शूलिनि शैलात्मजायाः सर्वकालमेवा-
विच्छिन्ना रतिश्चिरवियुक्तस्य दुश्चरेणापि तपसा प्रार्थनीयसङ्गमस्य तस्याकस्मिकदर्शने-

नोद्दीप्यमाना सद्यःसमुपजायमानसात्त्विकस्वेदस्तम्भवेपथूपलक्षितैर्हर्षस्मृत्यावेगसाध्वसादि-भिर्व्यभिचारिभावैः पदनिक्षेपलक्षणेन च शरीरानुभावेन संसृज्यते । सोऽयं विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगे रतिरूपेण रसो निष्पद्यते ।

× × ×

रतिर्निसर्गसंसर्गौपम्याध्यात्माभियोगजा ।
सम्प्रयोगाभिमानोत्था विषयोत्था च कथ्यते ॥५।१६५॥

प्रीतिरप्येवमेव स्यान्न स्वस्यां साम्प्रयोगिकी ।
आभ्यासिकी तु तत्स्थाने तदुदाहृतयो यथा ॥५।१६६॥

× × ×

प्रेयोरसस्योदाहरणम्—

'यदेव रोचते मह्यं तदेव कुरुते प्रिया ।
इति वेत्ति न जानाति तत्प्रियं यत्करोति सा ॥५।१६६।७४॥

अत्र वत्सलप्रकृतेर्धीरतया ललितनायकस्य प्रियालम्बनविभावादुत्पन्नः स्नेहरूपो भावो विषयसौकुमार्यादिप्रकृत्यादिभिरुद्दीपनविभावैरुद्दीप्यमानः समुपजायमानैर्मोहधृतिस्मृत्यादिभिर्व्यभिचारिभावैरनुभावैश्च संसृज्यमानो निष्पन्नः प्रेयानिति प्रतीयते ।

उदात्तरसस्योदाहरणम्—

साधारण्यान्निरातङ्कं कन्यामन्योऽपि याचते ।
किं पुनर्जगतां जेता प्रपौत्रः परमेष्ठिनः ॥ ५।१६६।७७॥

अत्र रामस्योदात्तप्रकृतेर्निसर्गत एव तत्त्वाभिनिवेशिनो मतिर्नाकृत्यविषये प्रवर्तते, न च प्रवृत्तोपारमति, सा च सीतेयं मम स्वीकारयोग्येत्येवंरूपेण प्रवृत्ता रावणप्रार्थनालक्षणप्रोत्साहनाभ्यामुद्दीप्यमाना समुपजायमानचिन्तावितर्कक्रोधावहित्थस्मृत्यादिभिः कालोचितोत्तरानुमीयमानैश्च विवेकचातुर्योदार्यधैर्यादिभिः संसृज्यमानोदात्तरसरूपेण निष्पद्यते ॥

उद्धतरसस्योदाहरणम्—

अपकर्ताहमस्मीति मा ते मनसि भूद्भयम् ।
विमुखेषु न मे खड्गः प्रहर्तुं जातु वाञ्छति ॥ २।१६६।७८

अत्र मयास्यापकारः कृत इति यच्चेतसि भयं स माभूत् पराङ्मुखेषु मे खड्गः कदाचिदपि न प्रहर्तुमुत्सहते इति सर्वदैव रूढोऽहङ्कारः प्रतीयते । सोऽयं गर्वप्रकृतिरुद्धतो नाम रसः । × × ×

३ रीति

वैदर्भादिकृतः पन्था काव्ये मार्ग इति स्मृतः ।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥२।२७॥

वैदर्भी साथ पांचाली गौडीयावन्तिका तथा ।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते ॥२।२८॥

तत्रासमासा निःशेषश्लेषादिगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥२।२९॥

समस्तपञ्चषपदामोजःकान्तिविवर्जिताम् ।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः ॥२।३०॥

समस्तात्युद्भटपदामोजःकान्तिगुणान्विताम् ।
गौडीयेति विजानन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ॥२।३१॥

अन्तराले तु पाञ्चालीवैदर्भ्योर्यावतिष्ठते ।
सावन्तिका समस्तैः स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः ॥२।३२॥

समस्तरीतिव्यामिश्रा लाटीया रीतिरुच्यते ।
पूर्वरीतेरनिर्वाहे खण्डरीतिस्तु मागधी ॥२।३३॥

४ अरीतिमद्दोषा —

गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः ॥१।२८॥

अरीतिमदिति प्राहुस्तत् त्रिधैव प्रचक्षते ।
शब्दार्थोभययोगस्य प्राधान्यात्प्रथमं त्रिधा ॥१-२९॥

भूत्वा श्लेषादियोगेन पुनस्त्रेधोपजायते ।
अत्र यः श्लेषसमता सौकुमार्यविपर्ययः ॥१।३०॥

शब्दप्रधानमाहुस्तमरीतिमतिदूषणम् ।

तत्र—

विपर्ययेण श्लेषस्य संदर्भः शिथिलो भवेत् ॥१।३१॥

समेरस एव विषमः समताया विपर्ययात् ।
सौकुमार्यविपर्यासात्कठोर उपजायते ॥१।३२॥

या तु कान्तिप्रसादार्थव्यक्तीनामन्यथा गतिः ।
अर्थप्रधानः प्रोक्तः स वाक्ये गुणविपर्ययः ॥१।३३॥

अप्रसन्नं भवेद्वाक्यं प्रसादस्य विपर्ययात् ।
वाक्यं भवति नेयार्थमर्थव्यक्तेर्विपर्ययात् ॥१।३४॥

कान्तेर्विपर्ययाद्वाक्यं ग्राम्यमित्यपदिश्यते ।
ओजोमाधुर्यमौदार्यं न प्रवर्धाय जायते ॥१।३५॥

यस्मिंस्तमाहुरुभयप्रधानं तद्विपर्ययात् ।
वाक्ये यः शब्दपरीति भवत्योजोविपर्ययः ।

असमस्तमिति प्राहुर्दोषं तमिह तद्विदः ।१।३६॥
माधुर्यव्यत्ययो यस्तु जायते रीतिखण्डनात् ।

तदनिर्व्यूढमित्युक्तं काव्यसर्वस्ववेदिभिः ॥१।१८॥

यस्तु रीतेरनिर्वाहादौदार्यस्य विपर्ययः ।
वाक्यं तमनलंकारमलंकारविदो विदुः ॥१।४१॥

क्षेमेन्द्र

समय—ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध

[ग्रन्थ—औचित्य-विचार-चर्चा]

१ औचित्य-निरूपण

काव्य के लिए अलङ्कार अथवा व्यर्थ गणना किए हुए गुणों से क्या लाभ, जब तक काव्य का जीवन औचित्य सम्यक् परिशीलन से भी नहीं प्राप्त होता है ॥४॥

अलङ्कार काव्य के भूषण होने से केवल अलङ्कारों के समान ही हैं एवं गुण भी गुण ही हैं। शृंगारादि द्वारा सिद्ध काव्य का स्थिर तो जीवन-औचित्य ही है। ॥५॥

परस्पर-उपकारक सुन्दर शब्दार्थ-रूप काव्य के जो उपमा, उत्प्रेक्षादिक प्रचुर अलङ्कार दर्शाए गए हैं, वे बाहर की शोभा के कारण होने से कटक, कुण्डल, केयूर और हारादि के समान अलङ्कार ही होते हैं। कुछ काव्य-लक्षण-निपुण विद्वानों ने जो काव्य के गुण कहे हैं वे भी प्रसिद्ध सत्य, शील आदि के समान, आहरण-धील होने से गुण ही हैं। आगे वर्णन किया जाने वाला औचित्य ही काव्य का दृढ़, अविनाशी जीवन है। उस औचित्य के न रहने पर गुण एवं अलङ्कार से युक्त काव्य भी निर्जीव के समान होता है। शृंगारादि रसों से प्रसिद्ध काव्य का धातुवाद रस की सिद्धि के तुल्य औचित्य ही स्थिर जीवन है।

अलङ्कार उचित स्थान पर धारण करने पर ही अलङ्कार होते हैं। औचित्य से युक्त गुण ही सर्वदा गुण कहलाते हैं ॥६॥

औचित्य का स्वरूप—

जो पदार्थ जिसके सदृश (अनुरूप) होता है उसे प्रवीन आचार्यों ने उचित कहा है। उचित के भाव को औचित्य कहते ॥७॥

सम्प्रति सम्पूर्ण काव्य-रूपी शरीर के प्राणभूत औचित्य की प्रधान-रूप से उपलब्ध स्थिति को दर्शाते हैं—

पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलङ्कार, रस, क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार-संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, आशीर्वाद इन स्थानों में मर्म-स्थानों के समान काव्य-रूपी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त प्राणभूत औचित्य स्पष्ट प्रतीत होता है ॥८-९-१०॥

२· पद-औचित्य—

एक ही उचित पद को तिलक के समान धारण करती हुई सूक्ति, कस्तूरी-धारण की हुई चन्द्रानना तथा चन्दन-चर्चित श्यामा (षोडश-वर्षिणी नायिका) के समान सुशोभित होती है ॥११॥

एक ही उचित पद को तिलक के समान धारण करने वाली सूक्ति अन्य भागों की अतिशय शोभा को प्रदर्शित करती हुई सौन्दर्य-बोध कराती है।

जैसा कि परिमल कवि (पद्मगुप्त) ने साहसाङ्क-चरित में अवन्तिराज का वर्णन किया है—

हे देव ! नाथ ! पहले भाटों के वर्णन से अनेक बार यह सुनकर कि संग्राम में तुम्हारी प्रचण्ड धारा में नृप-कुल डूब गए हैं, गुर्जराधिप की मुग्धा रानी जल की आशा से अरण्य में चकित हुई बार-बार पति की तलवार पर दृष्टि डालती है।

यहाँ पर अर्थौचित्य से चमत्कार-जनक मुग्धा पद से सूक्ति, चन्द्र मुख वाली शरद् ऋतु के समान, कृष्ण-वर्ण तिलक से सुशोभित षोडश-वर्षिणी नायिका के समान, शुभ्रालङ्कार से अलङ्कृत सम्पूर्ण कवि-कुल में श्रेष्ठ शोभा का प्रसार करती है।

धर्मकीर्ति के निम्नाङ्कित पद में औचित्य नहीं है—

लावण्य रूपी धन का व्यय नहीं गिना, महान् क्लेश स्वीकार किया; स्वच्छन्द *सुख-पूर्वक निवास करने वाले पुरुष के लिए चिन्ता-रूप ज्वर का निर्माण कर दिया।* यह बेचारी [न पिता] सदृश पति के अभाव से स्वयं ही विनष्ट हो रही है। इस तन्वी के शरीर की रचना करते हुए विधाता ने अपने मन में न मालूम क्या विचारा था।

इस श्लोक में 'तन्वी' पद केवल शब्दानुप्रास की छटा दिखलाने के लिए रखा गया है। किसी अर्थौचित्य की चमत्कार-कणिका को प्रकट नहीं करता है। यहाँ पर 'सुन्दर' पद देना उचित होता। अथवा अन्य अत्यधिक रूप, लावण्य के

प्रकट करने वाले पद उचित होते । विरह से व्याकुल वनिता के लिए तन्वी पद प्रयुक्त होकर अर्थौचित्य की शोभा का उत्पादक होता है ।

३ वाक्य-औचित्य

औचित्य से निर्मित वाक्य, त्याग से उन्नत ऐश्वर्य के समान, शील से उज्ज्वल प्रसिद्धि के समान, विद्वानों से निरन्तर प्रशंसनीय होता है । १२॥

जैसे कि राजशेखर के निम्नांकित पद में वर्णित है—

हे सुन्दरी ! पुरराज का सम्बन्धी, कामदेव के व्यापार का दीक्षा-गुरु, शुभ्र रमणियों के मुख के सादृश्य से परिचित, तारा वधुओं का पति, शीघ्र ही स्वच्छ किए गए दाक्षिणात्य सुन्दरियों की श्वेत दन्त पंक्ति की कान्तिवाले, महादेव की मुकुटमणि, चन्द्रमा को देखो ।

इसमें चन्द्रमा के, शृङ्गार के सहायक, काम के उद्दीपक पदों से निष्पन्न वाक्यार्थ, सदर्थौचित्य के सामर्थ्य से अत्यधिक अर्थ की शोभा का जनक हो गया है ।

इसी के दूसरे पद में वाक्य-औचित्य नहीं है—

शौर्य-रूप महान् नील-कमल के दण्ड के समान, संग्राम-सागर के महान् पुल के तुल्य, निरन्तर खड्ग-रूपी भुजङ्ग को धारण किए हुए चन्दन वृक्ष के सदृश, लक्ष्मी के क्रीडाभूत तकिए के समान, जय-कुञ्जर की बन्धन-शृङ्खला के तुल्य, सुन्दरियों के कामदेव के दर्प के सदृश, श्री दुर्योधन की भुजाओं के पराक्रम करने पर सम्पूर्ण संसार आनन्दित हो ।

यहाँ पर अत्यधिक कठोर, उत्कृष्ट, योद्धा के बाहुओं का असमुचित नील-कमल-दण्ड-तुला से सन्तुलित वाक्यार्थ हास्य से युक्त प्रतीत होता है ।

४. प्रबन्ध-औचित्य

प्रबन्धगत अर्थ उचित अर्थ वैशिष्ट्य से, गुण के प्रभाव से भव्य ऐश्वर्य से सज्जन के तुल्य, प्रकाशित होता है ॥१३॥

जिस प्रकार कालिदास ने कहा है—

संसार-प्रसिद्ध पुष्करावर्त्तकों के वंश में तुम्हारा जन्म हुआ है । इच्छानुसार रूप को धारण करने वाले इन्द्र के प्रकृति-पुरुष तुल्य मैं तुमको समझता हूँ । इसी

कारण मैं, जिसका प्रिय भाग्यवश दूर देश में है, तुम्हारे प्रति याचक हुआ हूँ क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष के प्रति की हुई निष्फल याचना भी नीच मनुष्य में प्राप्ति की सफल कामना वाली याचना से श्रेष्ठ है।

इसमें अचेतन में चेतन का अध्यारोप करते हुए मेघ में दूत-कर्म की योग्यता प्रदर्शित करने के लिए प्रसिद्ध पुष्करावर्तक मेघ वश में उत्पत्ति, मन्त्री-स्वरूप प्रकृति-पुरुषत्व जो दर्शाया है उससे समस्त प्रबन्ध के कथन के द्वारा उत्प्रेक्षा किए हुए सुन्दर इतिहास का अत्यधिक औचित्य प्रकट कर दिया है।

परन्तु कालिदास का निम्नपद प्रबन्धौचित्य-शून्य है—

महादेव ने, जिनके नेत्र उरमूल पर शोभित नखराजि के द्वारा उस समय आकृष्ट हो गए थे, शिथिल वस्त्र को बाँधती हुई प्रियतमा को रोका।

इस पद्य में अम्बिका के सम्भोग का वर्णन करते हुए, नीच जाति की स्त्री के योग्य निर्लज्जता से युक्त नख पंक्ति से सुशोभित उस मूल से अपहृत नेत्र का होना, त्रिजगद्गुरु भगवान् शङ्कर के लिये जो कहा है वह प्रबन्धार्थ अनौचित्य की पराकाष्ठा को प्रदर्शित करता है।

५　<u>गुणौचित्य—</u>

प्रस्तुत अर्थ के औचित्य से ओज, प्रसाद, माधुर्य एवं सौकुमार्यादि लक्षण-सम्पन्न गुण काव्य में कमनीय सौभाग्यवत्ता को प्राप्त हुआ, सम्भोग के समय उदय हुए चन्द्र के समान, सहृदयों के आनन्द का जनक होता है ॥१४॥

जैसा कि बाणभट्ट ने वर्णन किया है—

हार, जल से गीले वस्त्र, कमल के पत्ते, तुषारकण बरसाता हुआ चन्द्रमा एवं सरस चन्दन जिसके ईंधन हैं ऐसी कामाग्नि कैसे बुझेगी?

इसमें वियोग-व्यथा से छीने हुए धैर्य वाली कादम्बरी का विरह-व्यथा-वर्णन माधुर्य-सौकुमार्य आदि गुणों के योग से पूर्ण चन्द्र-मुखी के समान मिष्ट-भाषी होने, हृदय को आनन्द देने वाले प्रियतमता को फैलाता है।

जैसा चन्द्रक ने वर्णन किया है वह अनुचित है—

चञ्चल भाग्य वाले शत्रुओं के विषय में मेरी प्रतिज्ञा नहीं है क्योंकि जय और

पराजय भाग्याधीन है। युद्ध में आए हुए मेरी यही सदा प्रतिज्ञा है कि शत्रुगण (हमारे) अश्वों के पृष्ठ भाग को न देखें।

इस पद्य में क्षत्रियोचित व्यापार सदृश, ओज नामक काव्य गुण से शून्य योद्धा की उक्ति रुचितार्थ सम्पन्न होते हुए भी, तेज-रूपी जीवन से पृथक्, मलिन घर की दीपशिखा के समान मन्द होती हुई सुशोभित नहीं होती है।

६ अलङ्कार-औचित्य

अर्थोचित अलङ्कार से सूक्ति पीन पयोधर पर लहराते हुए हार से मृगाक्षी के समान सुशोभित होती है ॥१५॥

प्रस्तुत अर्थ के योग्य उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलङ्कारों के द्वारा सूक्ति, ऊँचे स्तनों को स्पर्श करने वाले सुन्दर मुक्ताहार धारण किए रमणी के समान आभा फैलाती है ॥१५॥

जैसा कि श्रीहर्ष ने वर्णन किया है—

जिसने युद्ध-वार्त्ता से विश्राम प्राप्त कर लिया है, जो प्रेमी है, जो लोगों के चित्त में निवास करता है, जिसे वसन्तक प्रिय है, वह वत्सराज उदयन साक्षात् कामदेव की भाँति अपने महोत्सव के देखने के लिए उत्कण्ठा-पूर्वक आ रहा है।

यहाँ पर वत्सेश्वर की कामदेव से उपमा, शृङ्गार-कालीन रस-पूर्ण सौन्दर्य के औचित्य से, अनिर्वचनीय-चित्त की चमत्कार-कारिता को प्रकट करती है।

चन्द्रक के निम्न वर्णन में यह अलङ्कार औचित्य नहीं है—

पक्षियों से डाली हुई आँतों से वृक्षों पर झूला-सा बना हुआ है। भोजन से तृप्त शृगाली, सम्भोग से परिश्रान्त रमणी के समान, सो रही है। प्यासा गीदड़, रुधिर से सनी हुई तलवार को बार-बार चाट रहा है। बिल को खोजता हुआ सर्प मरे हुए हाथी की सूँड में प्रविष्ट हो रहा है।

इसमें अयोग्य स्थल पर विद्यमान, मनुष्यों के मांस से तृप्त होकर सोई हुई गीदड़ी की, काम-क्रीड़ा से श्रान्त सुन्दरी से उपमा, कान्तिहीन हुई अत्यधिक विपरीतता को प्रकट करती है।

७. रसौचित्य

औचित्य से प्रदीप्त रस सम्पूर्ण सहृदयों के हृदय में व्याप्त होकर, जिस प्रकार वसन्त अशोक को अंकुरित करता है, उसी प्रकार मन को प्रफुल्लित करता है ॥१६॥

औचित्य से जगमगाता हुआ, शृङ्गार आदि भेद-युक्त रस सम्पूर्ण पुरुषों के हृदय में व्याप्त होकर, अशोक वृक्ष को विकसित करने वाले वसन्त के समान, मन को आनन्दित करता है।

जैसा कि कालिदास ने कहा है—

बालचन्द्र के तुल्य कुटिल, अतिरक्त वर्णवाली ढाक की कलियाँ, शीघ्र वसन्त के समागम से वनस्थली के नखक्षतों के समान सुशोभित हुईं।

इस पद्य में, महादेव और पार्वती की शृङ्गार की अभिलाषा का आगे वर्णन करना है, अतः इससे पूर्व उद्दीपन विभाव के रूप में वसन्त का वर्णन करते हुए, उसमें कामुक का अध्यारोप करके, वनस्थली-रूप वनिताओं के, कुटिल रक्तवर्ण की ढाक की कलियों के वर्णन के द्वारा, नवीन समागम के उचित नखक्षतों की उत्प्रेक्षा की [redacted] जो अतीव औचित्य के सौन्दर्य को प्रदर्शित करती है।

परन्तु कालिदास के निम्न पद में यह औचित्य नहीं है—

उत्कृष्ट सौन्दर्य के होते हुए भी, गन्धहीन होने के कारण कनेर को चित्त नहीं चाहता है। प्रायः समग्र गुणों के आधान में ब्रह्मा की प्रवृत्ति प्रतिकूल दिखाई देती है।

इसमें केवल कनेर के फूल का वर्णन करते हुए, विधाता की निन्दा का प्रदर्शन कर, शृङ्गार के अनुपयोगी प्रस्तुत कथन द्वारा उस उद्दीपन विभावोचित कुछ भी वर्णन नहीं किया।

८. तत्त्व-औचित्य

तत्त्व के उचित कथन से काव्य निश्चित विश्वास की दृढ़ता से, हृदय-सम्मत होकर उपादेयता को प्राप्त करता है ॥३०॥

तत्त्वोचित व्याख्यान [redacted] कवि का कथन, सत्य-ज्ञान की स्थिरता से, हृदय-सम्मत होकर उपादेय होता है ॥३०॥

जैसा कि मेरी बनाई 'बोद्धावदानलतिका' में वर्णन किया है—

शरीर-धारियो के, सर्वथा साथ जाने में समर्थ प्राचीन (पूर्वजन्म के) कर्मों का विनाश, द्युलोक, भूलोक, नागलोक, बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था, मृत्यु-काल एव गर्भावस्था इन सभी समयो में नही होता है।

इस पद्य में प्राचीन कर्मों का तीनों लोकों में, शैशव, यौवन तथा वृद्धावस्था में, शरीर-धारियों के साथ जाने की सामर्थ्य के कारण विनाश नही होता है, इस कथन में निश्चित सम्पूर्ण मनुष्यो के हृदय-सम्मत तत्त्व का प्रतिपादन, औचित्य को प्रकट करता है।

जैसा माघ ने कहा है वह औचित्य-सूचक नही है—

भूखा मनुष्य व्याकरण को नही खाता है, प्यासा आदमी काव्य-रस का पान नही करता है, विद्या से किसी वश का उद्धार नहीं होता है। अतः सब कलाओं के निष्फल होने से धन-सचय करना ही श्रेयस्कर है।

इस श्लोक में धन की इच्छा में तत्पर पुरुष को धनार्जन ही करना चाहिए क्योंकि भूखे आदमी का उदर व्याकरण-शास्त्र से नही भरता है और न प्यासा मनुष्य काव्य-रस के पान से तृप्त होता है, तथा विद्या से किसी ने कुल का उद्धार नही किया, इस कथन में यह सब बातें दरिद्रता एव दीनता के कारण धैर्य-हीन व्याकुलता से तत्त्वार्थ से पृथक् विपरीत प्रतिपादन करना अनौचित्य का सुस्पष्ट सूचक है क्योंकि सब सम्पदाओ की जननी विद्या ही कुलोद्धार करने में समर्थ, है अन्य कोई नहीं।

६ सत्त्व-औचित्य

कवि का सत्त्व-गुणोचित कथन, सुबुद्धि से विचार किए हुए श्रेष्ठ उदार-चरित्र के समान, चमत्कार-जनक होता है ॥३१॥

जैसा कि मेरे बनाए 'चित्रभारत' नाटक में वर्णन किया गया—[युधिष्ठिर के सत्त्वोत्कर्ष का वर्णन समुद्र के द्वारा कर रहे हैं]—

नदियों के समूह से प्रचण्ड वेग से बहने वाले जल से शरीर-वृद्धि होने पर, तथा प्रदीप्त एव प्रवृद्ध बड़वानल की ज्वाला-समूह से जल का विनाश होने पर, महा-गम्भीर समुद्र न तो गर्व का और न दीनता का ही अनुभव करता है। महान् पुरुषों में अवस्थाओं की विभिन्नता से विकार उत्पन्न नहीं होता है।

इस पद्य में समुद्र-वर्णन के व्याज से युधिष्ठिर के सत्त्वोत्कर्ष का प्रतिपादन किया गया है। नदियों के प्रवाह से शरीर वृद्धि होने पर एवं बड़वानल से शोषण किए जाने पर दोनों ही अवस्थाओं में महागम्भीर समुद्र न तो गौरव और न सकोच का ही अनुभव करता है। क्योंकि महापुरुषों में अवस्थाओं के भेद से कोई विकार नहीं होता है इस कथन में गम्भीर एवं धीर सत्त्व वृत्ति औचित्य की पुष्टि करती है।

भट्टेन्दुराज के निम्न पद में सत्त्वौचित्य नहीं है—

बड़वाग्नि और समुद्र दोनों ही आश्चर्य-जनक है जिनके महान् कर्मों को सोचकर चित्त में कम्पन होने लगता है। विपुल सत्त्व के न होने से एक बड़वानल की निरन्तर जल पीने पर भी तृप्ति न हुई और दूसरे महात्मा समुद्र के शरीर में थोड़ा भी खेद उत्पन्न नहीं हुआ।

इस श्लोक में बड़वाग्नि और समुद्र के सत्त्व और महत्त्व के कथन में, बड़-वाग्नि के विपुलाशय न होने से जल पीते हुए तृप्ति न हुई। दूसरे उपजीव्यमान समुद्र को ज़रा भी खेद नहीं हुआ। इन दोनों आश्चर्यों के वर्णन में निरन्तर सन्तोष-हीनता से बड़वाग्नि से किसको लज्जा नहीं होती। समुद्र के याचित की याचना-पूर्ति के असामर्थ्य से असत्त्व में सत्त्व-स्तुति होने से अनौचित्य प्रतिपादन होता है।

१० स्वभाव-औचित्य

स्वभाव-सम्बन्धी औचित्य, सुन्दरियों के स्वाभाविक और अद्वितीय सौन्दर्य के समान कवि की सूक्तियों का श्रेष्ठ अलङ्कार माना जाता है॥३३॥

स्वभावोचितत्व कवि की वाणी का उसी प्रकार शोभादायक होता है जिस प्रकार ललनाओं का स्वाभाविक और विशेष सौन्दर्य।

जैसा कि मेरी बनाई हुई 'मुनिमतमीमांसा' में वर्णित है—

कर्णमूल से लेकर केशान्त पर्यन्त गिरते हुए जलकणों के संसर्ग से चक्राकार स्तनों पर हार की शोभा को धारण करने वाली, शीत से रोमाञ्चित होकर सीत्कार करती हुई अंजन के घुलने से लाल नेत्र प्रान्त वाली, खुले केशों से जल बरसाती हुई रमणी स्नान की समाप्ति पर किसके मन को अभिलाषा से द्रवीभूत नहीं कर देती है।

इस पद्य में प्रगाढ वैराग्य से निर्लिप्त व्यास-पुत्र शुकदेव ने, आकाश-गङ्गा के किनारे स्नान से निकली हुई नग्न देवाङ्गनाओं के, निस्सङ्कोच दर्शन करने से, शान्त

निर्मल मन के कारण, कामदेव के शासन की निर्विकारता प्रकट होने पर, कर्णमूल से लेकर केश पर्यन्त गिरते हुए जलकणों के समूह से स्तनों पर क्षण भर हार की शोभा को धारण करने वाली, शीत के कारण रोमाञ्चित होने से सीत्कार करती हुई, अञ्जन के घुलने से रक्त नेत्र प्रान्त वाली, छिटके बाल जालों से धारा बहाती हुई, स्नान के अनन्तर सुन्दरी किसके मन को साभिलाष नहीं करती है?—इस कथन में स्वयमेव आर्द्र स्वभाव वाली दूसरे को भी आर्द्र करती है यह उचित ही है।

उसी ग्रन्थ में वर्णित मेरे निम्न श्लोक में वह स्वभाव-औचित्य नहीं है—

पिशुन स्वभाव वालों की वाणी सम्पूर्ण-रूप से दोषावह होती है। उसी को दर्शाते हैं। उनकी भक्ति कातरता को, क्षमा भयशीलता को, पूजनीयों की स्तुति दीनता को, धैर्य कठोरता को, बुद्धि कुटिलता को, विद्या-बल मुग्धता को, ध्यान दम्भकता को, तपस्या प्रच्छन्नता को, शील-स्वभाव नपुंसकता को प्राप्त होते हैं।

इस पद्य में पिशुनों के स्वभाव का वर्णन करते हुए, भक्ति आदि गुणों की विपरीतता प्रकट करने से पिशुनों की वाणी किस वस्तु को दोषयुक्त नहीं बना देती है, इस कथन में स्वयं शुष्क-स्वभाव वाली दूसरे को आर्द्र करती है यह अनुचित है।

११ प्रतिभा-औचित्य

प्रतिभा से अलङ्कृत कवि का काव्य, लक्ष्मी से सुशोभित गुणी पुरुष के निर्मल कुल के समान, शोभा पाता है ॥३५॥

प्रतिभा से सुभूषित कवि का काव्य गुणवान् पुरुष के लक्ष्मी से सुशोभित निर्मल कुल के समान प्रकाशित होता है—

हे निर्दयी! क्या तू बिम्ब के भ्रम से मेरे अधरोष्ठ को काट रहा है? ऐ चञ्चल! अब तू पके जामुन के फलों की आशा छोड़ दे। इस प्रकार, द्वार पर अपने प्रिय को जान कर, दूसरे प्रेमी से ओठ काटी गई हुई, तोतों को लक्ष्य कर उच्च स्वर से कोई कामिनी कह रही है।

इस पद्य में कोई नायिका द्वार पर आए प्रिय को जान कर, दूसरे प्रेमी के दाँतों से काटे गए ओठ वाली, सम्प्रति उसके आगमन से अनजान होती हुई, तोते को लक्ष्य कर कहती है कि ऐ निर्दयी! तू क्या बिम्ब-फल के लालच से मेरे ओठ को काट रहा है? ऐ चपल! पके हुए जामुन के फलों से अब तू निराश हो जा। क्रुद्ध हुई मैं

तुझे नहीं दूँगी। उसके द्वारा उच्च स्वर से विश्वास दिलाने के लिए छिपाने रूप नवीन बुद्धि-चातुर्य से युक्त सुन्दर वचन औचित्य के चमत्कार को प्रदर्शित करते हैं।

भट्टतोत ने कहा भी है—'नवीन नवीन बुद्धि चातुर्य को प्रदर्शित करने वाली प्रतिभा कहाती है।' उसी ग्रन्थ में वर्णित मेरे इस श्लोक में वह प्रतिभा-औचित्य नहीं है—

प्रिय के बाहर चले जाने पर, शय्या एवं सुगन्धित मालाओं से रहित घर कर देने पर, प्रातःकाल वेश्या की वञ्चना से क्रुद्ध प्रगाढ़ प्रेम के पूर्ण पूर्व प्रेमी के प्राप्त होने पर, तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा से द्वार पर टकटकी लगाकर देखती हुई अकेली सो गई, यह कहने पर नीवी के खोलने में तत्पर प्रेमी को चरणाघातों से शोकरहित कर दिया।

इस पद में वेश्या ने आसक्त प्रेमी के साथ बात बना कर, नवीन प्रेमी के साथ रात बिता कर प्रातःकाल उसके चले जाने पर, शय्या, पुष्प आदि सम्भोग के चिह्नों को दूर कर, वेश्या की वञ्चना से क्रुद्ध, प्रगाढ़ प्रेम-रूपी ग्रह से ग्रस्त पूर्व प्रेमी के आने पर; तुम्हारे दर्शन की इच्छा से व्याकुल, दरवाजे पर टकटकी लगा कर अकेली सो गई इन वचनों से विश्वस्त होकर क्रोध को छोड़ कर, शीघ्रता से प्रेमपूर्ण होकर नीवी के खोलने में तत्पर आकृति वाले प्रेमी को ईर्ष्या-पूर्वक क्रोध से चरण-कमल के प्रहारों द्वारा शोक रहित कर दिया। शङ्का-रूपी काँटे को निकाल कर शोक-रहित बना दिया। अथवा निरन्तर रोमाञ्चित करने से अशोक वृक्ष की समता को प्राप्त कर दिया, यह वाक्यार्थ है। केवल सचाई के छिपाने की धृष्टता ही वेश्या के गाढ़ानुराग के कारण को प्रतिपादित करती है। प्रतिभा से उत्पन्न औचित्य की कणिका को भी प्रकट नहीं करती है।

अनुवादक—श्री आर्येन्द्र शर्मा, एम्.ए. साहित्याचार्य

क्षेमेन्द्रः

[औचित्य-विचार-चर्चा]*

१. औचित्य-निरूपणम्

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥४॥

अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥५॥

परस्परोपकारकरुचिरशब्दार्थरूपस्य काव्यस्योपमोत्प्रेक्षादयो ये प्रचुरालङ्कारास्ते कटककुण्डलकेयूरहारादिवदलंकारा एव, बाह्यशोभाहेतुत्वात्। येऽपि काव्यगुणाः केवल तल्लक्षणविचक्षणैः समाम्नातास्तेऽपि श्रुतसत्यशीलादिवद्गुणा एव आहार्यत्वात्। औचित्यं स्वप्ने वक्ष्यमाणलक्षणं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य, तेन विनास्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात्। रसेन शृङ्गारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः।

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥६॥

किं तदौचित्यमित्याह—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥७॥

अधुना सकलकाव्यशरीरजीवितभूतस्यौचित्यस्य प्राधान्येनोपलभ्यां स्थिति दर्शयितुमाह—

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे ॥८॥

* चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज बनारस, द्वारा सन् १९३३ में प्रकाशित संस्करण

उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते ।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ॥९॥

प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि ।
काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ॥१०॥

२. पदौचित्यम्

तिलकं बिभ्रती सूक्तिर्भात्येकमुचितं पदम् ।
चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं श्यामेव चान्दनम् ॥११॥

एकमेवोचितं पदं तिलकायमानं बिभ्राणा सूक्तिः समुचितपरभागशोभातिशयेन रुचिरतामावहति ।

यथा परिमलस्य—

"लग्नानि द्विषतां कुलानि समरे त्वत्खड्गधाराकुले
नाथास्मिन्निति बन्दिवाचि बहुशो देव ! श्रुतायां पुरा ।
मुग्धा गुर्जरभूमिपालमहिषी प्रत्याशया पाथसः
कान्तारे चकिता विमुञ्चति मुहुः पत्युः कृपाणे दृशौ ॥"

अत्र मुग्धापदेनामो चित्तचमत्कारकारिणा सूक्तिः शारदि कुवलयेनेव श्यामतिलकेन श्यामेव शुभ्रविशेषकेण विभूषिता सकलकविकुलललामभूतां विच्छित्तिमातनोति ।
न तु यथा धर्मकीर्तेः—

'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान्स्वीकृतः
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्ताज्वरो निर्मितः ।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता ॥'

अत्र 'तन्व्या' इति पदं केवलशब्दानुप्रासव्यसनितया निबद्धं न काञ्चिदर्थौचित्यचमत्कारकणिकामाविष्करोति । 'सुन्दर्या' इत्यत्र पदमनुरूपं स्यात् । अन्यानि वा निरतिशयरूपलावण्यव्यञ्जकानि । तन्वीपदं तु विरहविधुररमणीजने प्रयुक्तमर्थौचित्यशोभां जनयति ।

३ वाक्यौचित्यम्

औचित्यरचितं वाक्यं सततं संमतं सताम् ।
त्यागोदग्रमिवैश्वर्यं शीलोज्ज्वलमिव श्रुतम् ॥१२॥

यथा राजशेखरस्य—

'सम्बन्धी पुरुभूभुजां मनसिजव्यापारदीक्षागुरु-
गौराङ्गीवदनोपमापरिचितस्तारावधूवल्लभः ।
सद्योमार्जितदाक्षिणात्यतरुणीदन्तावदातद्युति-
श्चन्द्रः सुन्दरि ! दृश्यतामयमितश्चण्डीशचूडामणिः ॥'

अत्रापि चन्द्रमसः शृंगारान्तरंगरंगोद्दीपनैः पदैर्निर्वर्तितो वाक्यार्थः सहृदयौचित्य-सामर्थ्यमाधुर्यमधुमयतां प्राप्तः ।

न तु यथास्यैव—

'काले शौर्यमहोत्सवस्य विपुले सेतौ समिद्वारिधेः
शश्वत्खड्गभुजंगचन्दनतरौ क्रीडोपधाने श्रियः ।
आलाने जयकुञ्जरस्य सुहृदां कन्दर्पदर्पे परं
श्रीदुर्योधनदोष्णि विभ्रमपरे लीनं जगत्स्वपतु ॥'

अत्रातिशयपरकर्कशोत्कर्षसुभटभुजस्तम्भस्यासमुचितेन कुवलयनालमृदुत्वाधिरोपणेन वाक्यार्थः सोपहासतयेव निबद्धः परिज्ञायते ।

४. प्रबन्धौचित्यम्

उचितार्थविशेषेण प्रबन्धार्थः प्रकाशते ।
गुणप्रभावभव्येन विभवेनेव सज्जनः ॥१३॥

यथा कालिदासस्य—

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥

अत्राचेतनस्य चेतनाध्यारोपेण मेघस्य दौत्ययोग्यताधानाय प्रथितपुष्करावर्तकपर्जन्यवंश्यत्वममात्यप्रकृतिपुरुषत्वं च यदुपन्यस्तं तेन समस्तप्रबन्धस्याभिमानतोत्प्रेक्षितेतिवृत्तरचितरसस्य निरतिशयमौचित्यमुद्द्योतितम् ।

यथा वा कालिदासस्य—

ऊरुमूलनखमार्गपंक्तिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः ।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वती प्रियतमामवारयत् ॥

अत्राम्बिकासंभोगवर्णने पामरनारीसमुचितनिर्लज्जसज्जनखराजिविराजितोरुमूलहृतविलोचनत्वं त्रिलोचनस्य भगवतस्त्रिजगद्गुरोर्यदुक्तं तेनानौचित्यमेव परं प्रबन्धार्थः पुष्णाति ।

५, गुणौचित्यम्

प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये भव्यः सौभाग्यवान्गुणः ।
स्पन्दतीन्दुरिवानन्दं संभोगावसरोदितः ॥१४॥

यथा भट्टबाणस्य—

हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि
प्रालेयशीकरमुचस्तुहिनांशुभासः ।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि
निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः ॥

अत्र विप्रलम्भसंभ्रमवर्णनायां कादम्बर्या विरहव्यथावर्णना माधुर्यसौकुमार्यादिगुणयोगेन पूर्णेन्दुवदनेव प्रियंवदत्वेन हृदयानन्ददायिनी उचिततमतामातनोति ।

न तु यथा चक्रकस्य—

युद्धेषु भाग्यचपलेषु न मे प्रतिज्ञा
दैवं नियच्छति जयं च पराजयं च ।
एषैव मे रणगतस्य सदा प्रतिज्ञा
पश्यन्ति यन्न रिपवो जघनं हयानाम् ॥[1]

अत्र क्षत्रवृत्तिरिवोजसा काव्यगुणेनास्पृष्टा सुभटोक्तिरुचितापि तेजोजीवितविरहिता दुर्गतगृहदीपशिखेव मन्दायमाना न विद्योतते ।

६, अलङ्कारौचित्यम्

अर्थौचित्यवता सूक्तिरलङ्कारेण शोभते ।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ॥१५॥

प्रस्तुतार्थस्यौचित्येनोपमोत्प्रेक्षारूपकादिनालंकारेण सूक्तिश्चकास्ति कामिनीवोच्चकुचचुम्बिना रुचिरमुक्ताकलापेन।

यथा श्रीहर्षस्य—

> विश्रान्तविग्रहकथो रतिमाञ्जनस्य
> चित्ते वसन्प्रियवसन्तक एव साक्षात्।
> पर्युत्सुको निजमहोत्सवदर्शनाय
> वत्सेश्वरः कुसुमचाप इवाभ्युपैति॥

अत्र वत्सेश्वरस्य कुसुमचापेनोपमा शृङ्गारावसरसरसचारुतरतामौचित्येन कामपि चेतश्चमत्कारिणीमाविष्करोति।

न तु यथा चन्द्रकस्य—

> खगौरक्षिप्तैरन्त्रैर्स्तरशिरसि दोलेव रचिता
> शिवा सुप्ताहारा स्वपिति रतिखिन्नेव वनिता।
> तृषार्तो गोमायुः सरुधिरमसिं लेढि बहुशो
> बिलान्वेषी सर्पो हतगजकराग्रं प्रविशति॥

अत्रानुचितस्थानस्थिताया पुरुषपिशितसुप्तसुप्ताया शिवायाः सुरतकेलिखिन्नकान्तया विरुद्धार्थैवोपमा परं वैपरीत्यं प्रकाशयति।

७ रसौचित्यम्

> कुर्वन्सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः।
> मधुमास इवाशोकं करोत्यङ्कुरितं मनः॥१६॥

औचित्येन भ्राजिष्णुः शृङ्गारादिलक्षणो रसः सकलजनहृदयव्यापी वसन्त इवाशोकतरुमङ्कुरितं मनः करोति।

यथा वा कालिदासस्य—

> बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
> सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥

अत्र पार्वत्याः परमेश्वरस्याभिलाषशृङ्गारे वक्ष्यमाणे प्रथममुद्दीपनविभावभूतस्य वसन्तस्य वर्णनायां कामुकाध्यारोपेण वनस्थलीललनानां कुटिललोहितपलाशकलिकाभिर्नवसङ्गमयोग्यनखक्षतान्युत्प्रेक्षितानि परमामौचित्यचारुतां प्रतिपादयन्ति।

न तु यथास्यैव—

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं धुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः ।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥

अत्र केवलकर्णिकारकुसुमवर्णनमात्रेण वियातृवाच्यतागर्भेणैव प्रस्तुतशृङ्गारानुपयोगिना तदुद्दीपनविभावोचितं न किंचिदभिहितम् ।

८ तत्त्वौचित्यम्

काव्यं हृदयसंवादि सत्यप्रत्ययनिश्चयात् ।
तत्त्वोचिताभिधानेन यात्युपादेयतां कवेः ॥३०॥

तत्त्वोचिताख्यानेन कवेः सूक्तं सत्यप्रत्ययस्थैर्यात्संवादि गृह्यतां याति ॥
यथा मम बौद्धावदानलतिकायाम्—

दिवि भुवि फणिलोके शैशवे यौवने वा
जरसि निधनकाले गर्भशय्याश्रये वा ।
सहगमनसहिष्णोः सर्वथा देहभाजां
नहि भवति विनाशः कर्मणः प्राक्तनस्य ॥

अत्र प्राक्तनस्य कर्मणस्त्रैलोक्ये शैशवयौवनवृद्धत्वावस्थासु देहिनां सह गमने समर्थत्वान्न विनाशोऽस्तीत्युक्ते निःसंशयसकलजनहृदयसंवादितत्त्वाख्यानमौचित्यं स्थापयति ।

न तु यथा मायस्य—

बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते न पीयते काव्यरसः पिपासितैः ।
न विद्यया केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कलाः ॥

अत्रार्थार्थोचितपरत्वेन धनमेवार्जय, क्षुधितैर्व्याकरणं न भुज्यते, न च काव्यरसः पिपासितैः पीयते, न च विद्यया कुलं केनचिदुद्धृतमित्युक्तं सर्वमेतद्दारिद्र्यदैन्याविष्कृतवैकातरतया तत्त्वविरहितं विपरीतमुपन्यस्तमनौचित्यं सुव्यक्तमेव । विद्यानामेव सर्वसम्पत्प्रसविनीनां कुलोद्धारक्षमत्वं नान्यस्य ।

९ सत्त्वौचित्यम्

सत्त्वौचित्यं दर्शयितुमाह—

चमत्कारं करोत्येव वचः सत्त्वोचितं कवेः ।
विचारगर्विरोदारचरितं सुमतेरिव ॥३१॥

सत्त्वोचित कवेर्वचश्चमत्कार करोति । सुमतेरिव विचार्यमाणं रुचिरमुदारचरितम् ।

यथा मम चित्रभारते नाटके—

'नदीवृन्दोद्दामप्रसरसलिलापूरिततनु
स्फुरत्स्फीतज्वालानिबिडवडवाग्निक्षतजल ।
न दर्पं नो दैन्य स्पृशति बहुसत्त्व पतिरपा-
मवस्थानां भेदाद्भवति विकृतिर्नैव महताम् ॥'

अत्र पयोधिव्यपदेशेन युधिष्ठिरस्य सत्त्वोत्कर्षेऽभिधीयमाने सरित्पूरप्रवर्धित तनुर्वडवाग्निनिष्पीतश्च मोत्सेकं न सकोचमब्धिर्विपुलसत्त्व स्पृशति । न ह्यवस्थानां भेदान्महाशयानां विकारो भवतीत्युक्ते गम्भीरधीरा सत्त्ववृत्तिरौचित्यमातनोति ।
न तु यथा भट्टेन्दुराजस्य—

आश्चर्यं वडवानल स भगवानाश्चर्यमम्भोनिधि-
र्यत्कर्मातिशय विचिन्त्य मनस कम्प समुत्पद्यते ।
एकस्याश्रयघस्मरस्य पिबतस्तृप्तिर्न जाता जलै-
रन्यस्यापि महात्मनो न वपुषि स्वल्पोऽपि जात श्रम ॥

अत्र वडवानलसमुद्रयो सत्त्वमहत्त्वे वक्ष्यमाणे नातिविपुलाशयत्वादेकस्य पिबतः पयोभिस्तृप्तिर्न जाता, द्वितीयस्य तदुपजीव्यमानस्य न मनागपि खेद, तदेतदुभयमाश्चर्यमित्युक्ते निःसत्त्वतया च कस्य न वडवाग्नेर्लघुता, न च जलनिधेर्वाञ्छितकार्यपूरणसामर्थ्यमित्यसत्त्वे सत्त्वस्तुतिरनौचित्यमावहति ।

१० स्वभावौचित्यम्

स्वभावौचित्य दर्शयितुमाह—

स्वभावौचित्यमाभाति सूक्तीनां चारुभूषणम् ।
अकृत्रिममसामान्यं लावण्यमिव योषिताम् ॥३३॥

स्वभावौचित्यं कविवाचामाभरणमाभाति, अकृत्रिममनन्यसामान्यं लावण्यमिव ललनानाम् ।

यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

'कर्णोत्तालितकुन्तलान्तनिपतत्तोयच्छटासंगिना
हारेणेव धृतस्तनी पुलकिता शीतेन सीत्कारिणी ।
निर्धौताञ्जनशोणकोणनयना स्नानावसानेऽङ्गना
प्रस्यन्दत्कबरीभरा न कुरुते कस्य स्पृहार्द्रं मनः ॥'

अत्र 'व्याससूनोः शुकस्य गाढवैराग्यनिःसंगस्य गगनगंगातीरे स्नातोत्तीर्णास्त्रिदशयोषितो विवसनास्तद्दर्शनवि-संकोचाः पश्यतः प्रशमविमलमनसः स्वच्छमतिकरनिर्विकारतया प्रतिपाद्यमानायां कर्णमूलोत्क्षिप्तालकपर्यन्तनिपतत्तोयकणसन्तानेन स्तनयोः कृतमुहुर्हारविभ्रमा, शीतेन रोमाञ्चसीत्कारिणी, धौताञ्जनारुणनयनान्ता, प्रस्रवन्मुक्तकेशहस्ता, स्नानोत्तीर्णा तरुणी कस्य स्पृहार्द्रं न मनः करोती'त्युक्ते स्वयमार्द्रस्वभाव परमप्यार्द्रीकरोतीत्युचितमेतत् ।

न तु यथा मम तत्रैव—

भक्तिः कातरता क्षमा समयता पूज्यस्तुतिर्दीनता
धैर्यं दारुणता मतिः कुटिलता विद्याबलं क्षोभताम् ।
ध्यानं वञ्चकता तपः कुहकता शीलव्रतं षण्ढता
पैशुन्यव्रतिनां गिरां किमिव वा नायाति दोषार्हताम् ॥

अत्र 'पिशुनस्वभावे वर्ण्यमाने भक्त्यादीनां गुणानां वैपरीत्ये प्रतिपादिते पिशुनानां वचसां किं वा दोषार्हतां नायाती'त्यभिहिते स्वयमनार्द्रस्वभावस्य परार्द्रीकरणमनुचितमेव ।

११ प्रतिभौचित्यम्

प्रतिभाभरणं काव्यमुचितं शोभते कवेः ।
निर्मलं सुगुणस्येव कुलं भूतिविभूषितम् ॥३५॥

प्रतिभालंकृतं कवेः काव्यमुचितं गुणवतः कुलमिव विमलं लक्ष्म्या प्रकाशितं शोभते ।

यथा मम लावण्यवत्याम्—

मदय ! ददासि किं त्वं बिम्बपक्वाधरं मे
भव चपल निराशः पक्वजम्बूफलानाम् ।
इति दयितमवेत्य द्वारदेशान्तमन्या
निगदति शुकमुच्चैः कान्तदन्तक्षतोष्ठी ॥

अत्र 'कदापि द्वारदेशाप्तं प्रियं ज्ञात्वा अन्यकामुकदशनखण्डितोष्ठ्या सम्प्रति तदागमनानभिज्ञयेव शुकमुद्दिश्य यदुक्तं—निर्दय किं त्वं बिम्बफललोभादधरं मम विदारयसि । पक्वानां जम्बूफलानामिदानीं चपल निराशो भव कुपिता तुभ्यं नो दास्यामीति तेनोच्चैः प्रत्यायनापह्नवनवोन्मेषप्रज्ञाचातुर्यचारुवचनमौचित्यचमत्कारं करोति ।

यदाह भट्टतौत—'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' इति ।

न तु यथा मम तत्रैव—

निर्याते दयिते गृहे विशयने निर्माल्यमाल्ये हृते
प्राप्ते प्रातरसह्यरागिणि परे वारावहारेऽन्यया ।
हारालीनविलोचना व्यसनिनी सुप्ताहमेकाकिनी-
त्युक्त्वा नीविविकर्षणे स चरणाघातैरशोकीकृतः ॥

अत्र वेश्यया व्यालग्नकामुकस्य वारावहारं विधाय नवकामुकेन सह क्षपायां नीतायां प्रभाते तस्मिन्निर्याते शय्याकुसुमादिसंभोगलक्षणे निवारिते वारवरक्षणकुपिते गाढानुरागग्रहपरवशतो पूर्वकामुके प्राप्ते स्वदालोकनकांक्षिणी व्यसनिनी हारन्यस्तनयनाऽहमेकाकिनी सुप्तेति प्रत्यायनाय वचनविलीनमन्युभरभसतरसनीविकर्षणोद्यताकृतेर्ष्याकोपया चरणमलिनप्रहारैरशोकीकृत । अशोकशल्यो मूलनाशि शोकः सम्पादित. । सन्ततपुलकाङ्कुरत्वादशोकतरुतुल्यतां नीत इति वा वाक्यार्थं केवलसत्यविप्रलम्भप्रागल्भ्यमात्रमेव गणिकाया गाढरागमूलतां च प्रतिपादयति । न तु प्रतिभोद्भूतामौचित्यकणिकां सूचयति ।

मम्मट

समय—ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध

[ग्रन्थ—काव्य-प्रकाश]*

१ काव्य-प्रकरण

(क) काव्य प्रयोजन —

यश की प्राप्ति, सम्पत्ति-लाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोगादि विपत्तियों का विनाश, तुरन्त ही उच्च कोटि के आनन्द का अनुभव, और प्यारी स्त्री के समान मनभावन उपदेश देने के लिये काव्य-ग्रन्थ उपादेय (प्रयोजनीय) है ।।१।२।।

मूल कारिका का अर्थ विशद करने के लिये ग्रन्थकार लिखते हैं—काव्य-रचना द्वारा कालिदास आदि कवियों को यश धीहर्ष आदि कवियों को सम्पत्ति, राजा आदि के साथ कैसा आचरण करना उचित है इसका ज्ञान, सूर्य आदि देवताओं द्वारा मयूर आदि कवियों को विपत्ति का विनाश प्राप्त हुआ है। जो संसार के सभी प्रयोजनों में मुख्य है, जो प्राप्त होते ही तुरन्त अपने रस का स्वाद चखा कर ऐसे अपूर्व आनन्द का अनुभव कराता है कि शेष ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञान उसके आगे तिरोहित हो जाते हैं, जो प्रभु अर्थात् स्वामी के द्वारा प्रकट किये गये शब्द-प्रधान वेदादि शास्त्रों से विलक्षण तथा मित्रों द्वारा कहे गये अर्थ-तात्पर्यादि प्रधान पुराण-इतिहास आदि ग्रन्थों से भी भिन्न है, प्रत्युत शब्दों और अर्थों...को गौण (अप्रधान) बनाकर रसादि के प्रकट करने वाले उपायों की ओर प्रवण कराने के कारण जो उक्त प्रभु सम्मित और सुहृत्सम्मित वाक्यावलियों से भिन्न है ऐसी रचना-विशेष को काव्य कहते हैं। अर्थात् यह चतुर कवि की विचित्र वर्णनात्मक रचना है। ऐसा काव्य प्यारी स्त्री की भाँति अपनी उक्ति में अनुराग उत्पन्न करकर लोगों को अपनी ओर इस प्रकार खींचता है कि श्री रामचन्द्रादि के सदृश व्यवहार कीजिये, रावण आदि की भाँति नहीं, ऐसे उपदेश भी पात्रानुसार कवि तथा समझने वाले व्यक्ति को यह देता है। निदान लोगों को सभी प्रकार से इस काव्य ज्ञान प्राप्ति के लिये यत्नशील होना चाहिये। (पृष्ठ २-३)

* हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा सम्वत् २००० में प्रकाशित द्वितीय संस्करण

(ख) काव्य-रचना के कारण —

एक तो कविता रचने की शक्ति, दूसरे लोक और शास्त्र आदि के अवलोकन की चतुराई, तीसरे काव्य जानने वालों द्वारा शिक्षा पाकर उसका अभ्यास, ये तीनों बातें काव्य (ज्ञान) की उत्पत्ति में हेतु (कारण) हैं ॥१।३॥

मूल कारिका रचने का अर्थ विशद करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं कि शक्ति से तात्पर्य किसी विशेष संस्कार (प्रतिभा) से है, जो कवित्व का बीज रूप (मूल कारण) है, जिसके बिना काव्य बन ही नहीं सकता, अथवा यदि बनाया भी जावे तो हँसी के योग्य हो, यह एक हेतु है। लोक शब्द से तात्पर्य उन सभी व्यापारों से है जो स्थावर और जंगम अर्थात् चराचर पदार्थों से सम्बन्ध रखते हैं। शास्त्रों से तात्पर्य उन ग्रन्थों से जो छन्द, व्याकरण, अभिधान, कोष, कला, चतुर्वर्ग (चारों पुरुषार्थ), हाथी, घोड़े, खग आदि के लक्षण बताने वाले और महाकवि विरचित काव्यादि हैं। आदि शब्द के कथन का यह भाव है कि इतिहासादि ग्रन्थों की गणना भी शास्त्रों में की जावे। इन ग्रन्थों के भली भाँति अध्ययन करने से काव्य विषयक व्युत्पत्ति प्राप्त होती है, यह एक अन्य हेतु है जो लोग काव्यों की रचना और आलोचना करना जानते हैं उनके बनाने और उचित रीति से शब्द-योजना करने में बारबार की प्रवृत्ति, यह एक तीसरा हेतु है। इन तीनों हेतु-रूप गुण अर्थात् शक्ति, चातुर्य और अभ्यास के सम्मिलित होने पर—न कि विलग विलग किसी एक के रहने पर—काव्य-रचना का उत्कर्ष प्रकट होता है। अतएव ये तीनों मिलकर काव्योत्कर्ष के साधक हेतु हैं, न कि इनमें से प्रत्येक पृथक्-पृथक् भी कारण होते हैं। (पृष्ठ ३-४)

(ग) काव्य का स्वरूप —

काव्य का स्वरूप यह है कि उसके शब्दों और अर्थों में दोष तो नहीं ही हो, किन्तु गुण अवश्य हो, चाहे अलंकार कहीं-कहीं पर न भी हों।

काव्य-सम्बन्धी दोषों, गुणों और अलंकारों का निरूपण आगे किया जावेगा। कहीं-कहीं कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य प्राय सर्वत्र अलंकार विशिष्ट ही होता है, परन्तु किसी स्थान पर यदि स्फुट (प्रकट) अलंकार न भी हो तो काव्यत्व की हानि नहीं मानी जाती है। (पृष्ठ ४-५)

(घ) काव्य के भेद—

जब वाच्यार्थ (मुख्य अर्थ) की अपेक्षा व्यंग्य (प्रतीयमान) अर्थ अधिक चमत्कारक हो तो इस प्रकार के काव्य को पण्डितों ने उत्तम काव्य (ध्वनि) कहा है ॥१।४॥

मूल कारिका में 'इद' (यह) शब्द काव्य के लिये प्रयुक्त हुआ है। बुधो (पंडितो) से तात्पर्य व्याकरण-शास्त्र के जानने वालो से है। उन वैयाकरणो ने ध्वनि उस शब्द का नाम रखा है जो प्रधानभूत स्फोट रूप व्यंग्य का व्यंजक (अर्थ-बोधक) है। उन वैयाकरणो के ही मत के अनुसार और लोगो ने भी वाच्यार्थ को गौण बना व्यंग्य अर्थ को प्रकट करने वाले शब्द तथा अर्थ इन दोनो को उत्तम काव्य माना है।

× × × × (पृष्ठ ६)

जब कि व्यंग्य अर्थ वैसा न हो अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार-कारी न हो, किन्तु गुणीभूत अर्थात् अप्रधान रूप से प्रतीयमान हो तो उस काव्य की मध्यम संज्ञा होगी। (पृष्ठ ७)

× × ×

जिस काव्य में शब्द-चित्र और वाच्य चित्र हो और व्यंग्य अर्थ न हो तो उसको अधम काव्य कहते हैं ॥१।५॥ (पृष्ठ ८)

२ रस-निष्पत्ति

स्थायी (अविच्छिन्न प्रवाह वाले) रत्यादिक (ललनादि-विषयक प्रीतिरूप कोई विशेष मानसिक व्यापार) के जो आलम्बन (प्रीति की उत्पादिका ललना आदि) और उद्दीपन (प्रीति के पोषक चन्द्रोदयादि) ये दो कारण हैं तथा कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि जो कायिक, वाचिक एवं मानसिक कार्य हैं, तथा शीघ्रता से उनकी प्रतीति कराने वाले जो निर्वेदादि सहकारी भाव हैं, वे यदि श्रव्य काव्य (रघुवंश आदि) और नाट्य (अभिज्ञान शाकुन्तल, उत्तर रामचरितादि) ग्रन्थो में उपयोग में लाये जायें तो उन्हीं को विभाव (स्वाद लेने योग्य) अनुभाव (अनुभव में लाने योग्य) और व्यभिचारी भाव (विशेष रूप से हृदय में संचार कराने योग्य) इन नामों से पुकारते हैं। इन्ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो से व्यंजना वृत्ति द्वारा जो स्थायी भाव प्रतिपादित (सिद्ध) किया जाता है उसी (स्थायी भाव) का नाम (ध्वनिकार आदि आचार्यों ने) रस रखा है ॥४।२७-२८॥ (पृष्ठ ५४-५५)

× × ×

यह रस कार्य-रूप तो है नहीं, क्योंकि विभावादि कारणों के नष्ट हो जाने पर भी उसकी उत्पत्ति हो सकती है, और न वह रस ज्ञाप्य है क्योंकि ज्ञाप्य पदार्थ तो सिद्ध होता है और यह रस तो सिद्ध नही, किन्तु विभावादि द्वारा व्यक्त किया गया आस्वादन योग्य है। यदि कोई यह आशंका उठाये कि कारक और ज्ञापक से भिन्न और कोई पदार्थ भला कहीं देखा भी गया है तो उसका यह उत्तर है कि ऐसे पदार्थ का न देखा

जाना ही उसकी अलौकिकता का साधक है। यह एक प्रकार का भूषण है न कि दूषण। आस्वादन की सिद्धि के साथ उसकी भी सिद्धि कही गई है अतएव स्वादोत्पत्ति के सम्बन्ध से रस की उत्पत्ति का कथन भी ठीक है। इस दृष्टि से उसे कार्य कह भी सकते हैं। लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जो ज्ञान होता है, लौकिक प्रमाणों के ज्ञान से निरपेक्ष रखने वाले जो मित अर्थात् युंजान योगी लोग हैं उनका जो ज्ञान होता है, तथा भिन्न पदार्थ (द्वैत) ज्ञान के सम्पर्क से शून्य केवल आत्म-ज्ञान स्वरूप में परिणत निरवधि ज्ञान वाले जो युक्त योगी लोग हैं, उनके जो ज्ञान हैं—इन तीनों प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण अत्यन्त अद्भुत स्वज्ञान-मात्र विषयी-भूत यह रस ज्ञाप्य भी कहा जा सकता है।

इस रस नामक पदार्थ का ग्रहण करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक नहीं है, क्योंकि इसमें विभाव आदि के सम्बन्ध का प्राधान्य है। और वह सविकल्पक भी नहीं है, क्योंकि जब उसका आस्वादन किया जाता है तब उसका प्रचुर अलौकिक आनन्दयुक्त होना अपने अनुभव ही से सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानान्तर के न होने से रसास्वादन की अवस्था में नाम रूप आदि का उल्लेख न हो सकने से सविकल्पक ज्ञान की सम्भावना ही नहीं हो सकती। सविकल्पक और निर्विकल्पक इन दोनों ज्ञानों से भिन्न होकर भी एक साथ दोनों के गुणों को रखने वाले इस रस का ज्ञान पूर्व की भाँति उसकी अलौकिकता ही को प्रकट करता है, न कि विरोध को। रस सिद्धि के विषय में उक्त रीति से श्रीमदाचार्य अभिनवगुप्त जी का मत उल्लिखित किया गया। यही अन्तिम मत वाग्देवतावतार विद्वद्वर श्री मम्मट भट्ट जी ने भी स्वीकार करके काव्य-प्रकाश में इसका विस्तार किया है। (पृष्ठ ९२-९३)

३. काव्य-दोष का स्वरूप

मुख्य अर्थ के ज्ञान के विघातक कारणों को दोष कहते हैं, काव्य में रस तो मुख्य होता ही है, परन्तु उसी रस के आश्रित (उपकारक होने के कारण अपेक्षित) वाच्य अर्थ भी मुख्य होता है। और रस तथा वाच्य अर्थ इन दोनों के उपयोग में आने वाले शब्दादिक भी हैं, अतएव उन शब्दों और अर्थों में भी दोष होता है ॥७।४९॥

(पृष्ठ १९८)

४. काव्य-गुण-निरूपण

(अ) गुण का स्वरूप—

मनुष्य के शरीर में प्रधान आत्मा के जैसे शूरता आदि गुण होते हैं वैसे ही काव्य में प्रधान रस के उत्कर्ष या बड़प्पन देने वाले जो धर्म हैं वे ही गुण कहलाते

है और इनकी स्थिति अचल वा नियत (अवश्य उपस्थित) रहती है ॥८।६६॥

× × × (पृष्ठ २८३)

जैसे शूरता आदि गुण आत्मा ही के होते हैं न कि शरीर के आकार (स्वरूप) के वैसे ही माधुर्य, ओज और प्रसाद ये गुण रस के ही होते हैं न कि वर्णों के। कहीं-कहीं शूरता आदि गुणों के योग्य शरीर के आकार आदि का आडम्बर देख 'इसका आकार ही शूर है' ऐसा कहकर केवल डील-डौल में बड़े किसी अशूर (कातर) मनुष्य को भी लोग शूर कह बैठते हैं। अथवा किसी शूर पुरुष को भी डीलडौल में छोटा देखकर 'यह शूर नहीं है' ऐसा भी कह देते हैं और निरन्तर उसी प्रतीति के अनुसार व्यवहार भी करते हैं, वैसे ही मधुर आदि गुणों का व्यवहार और रस के अंगीभूत अमधुरादि गुणों में केवल वर्णों की कोमलता से माधुर्यादि शब्दों का व्यवहार और मधुरादि रसों के प्रकाशक वर्णों के कोमल न होने से उनके मधुर न होने आदि का व्यवहार रस की मर्यादा को ग्रहण कराने वाले ज्ञान से शून्य रहकर उपयोग में लाते हैं। तात्पर्य यह है कि माधुर्य आदि धर्म रस ही के होते हैं और वे यथोचित वर्णों द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं न कि केवल वर्णों ही के आश्रित (वर्णों की कोमलता व कठोरता के अधीन) रहते हैं। (पृष्ठ २८४)

(ख) गुण और अलंकार का भेद—

जो धर्म अंगों (शब्द और अर्थ इन दोनों में से किसी एक या दोनों) के द्वारा कभी-कभी (न कि सर्वदा) उपस्थित रहने वाले (प्रधान) रस का उपकार करते हैं वे धर्म, हार आदि के समान (शरीर की शोभा बढ़ाने वाले) अलंकार कहलाते हैं तथा अनुप्रास, उपमा आदि उनके भेद होते हैं ॥८।६७॥

जो धर्म वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) रूप (रस के) अप्रधान भागों की अतिशयता (बढ़ती) द्वारा उपस्थित रहने वाले प्रधान रस का उपकार करते हैं वे कण्ठ आदि अंगों की शोभा बढ़ाकर जैसे आभूषण शरीरधारी का भी उपकार करते हैं, वैसे हार आदि की भाँति अलंकार कहे जाते हैं। ये अलंकार-रूप धर्म उस स्थान पर जहाँ कि रस नहीं होता केवल उक्ति का चमत्कार दिखला कर रह जाते हैं। कहीं-कहीं तो ये अलंकार-रूप धर्म उपस्थित रहते हुए भी रस का उपकार नहीं करते। (पृष्ठ २८४-८५)

× × ×

यह ऊपर कहा गया भेद ही गुणों और अलंकारों में भेद का प्रदर्शक है। (पृष्ठ २८४-८५)

(ज) मुख्य काव्य गुण—

माधुर्य उस गुण का नाम है, जो चित्त को प्रसन्न कर देता है और शृङ्गार रस में चित्त को पानी-पानी कर देने का कारण होता है ॥८६८॥

यहाँ पर शृङ्गार शब्द से तात्पर्य सम्भोग शृङ्गार से है। द्रुत (पानी-पानी होने) का अर्थ है गलित होना व पिघल जाना। सुनने योग्य तो ओजस् और प्रसाद नामक गुणों से विशिष्ट रचनाएँ भी (माधुर्य-गुण-विशिष्ट रचना के समान) होती है।

वह माधुर्य गुण करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्त-रस के प्रकरण में चित्त को अत्यन्त विगलित कर देने के कारण प्रकृष्ट उत्कर्षयुक्त होता है।

(हास्य आदि रसों के न रहने से) उक्त तीनों रसों में माधुर्य अत्यन्त द्रुति (विगलित होने) का कारण होने से विशेषोत्कर्षयुक्त हो जाता है।

(पृष्ठ २९०)

× × ×

चित्त को भड़का देने (उत्तेजित करने) वाले गुण का नाम ओजस् है और यह गुण वीर रस के वर्णन में रहता है ॥८६९॥

चित्त को फड़क उठने रूप भड़काने वाले गुण का नाम ओजस् है।

क्रमश: वीभत्स और रौद्र रस में उस ओजोगुण का उत्कर्ष बढ़ता चला जाता है। यह ओजस् नामक गुण वीर की अपेक्षा वीभत्स रस में और वीभत्स रस की अपेक्षा रौद्र रस में अधिक प्रखर हो जाता है। (पृष्ठ २९०-२९१)

× × ×

जो सूखे हुए ईंधन में आग की भाँति, स्वच्छ वस्त्रादि में जल की भाँति तुरन्त मन में व्याप्त हो जाता है (अर्थात् पढ़ने अथवा सुनने वाले के चित्त को शीघ्र व्याप्त कर लेता है) वह प्रसाद नामक गुण है, उसकी स्थिति सर्वत्र (सभी रसों और भावादिकों में) रहती है ॥८७०॥ (पृष्ठ २९१)

अनुवादक—
प० हरिमंगल मिश्र एम.ए

मम्मटः

[काव्यप्रकाश]*

१ काव्य-प्रकरणम्

(क) काव्य-प्रयोजनम्

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥१।२॥

कालिदासादीनामिव यशः श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्, राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्, आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्, सकलप्रयोजनमौलिभूत समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम् प्रभुसंमितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्संमितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम् ।

(पृष्ठ ६-१०)

(ख) काव्य-कारणम्

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥१।३॥

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः । यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् । लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य । शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानाम् । काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम् । आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः । काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिताः न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः ।

(पृष्ठ ११-१३)

---

* सन् १९२१ में प्रकाशित (चतुर्थ) झलकीकर संस्करण

(ग) काव्य-स्वरूपम्

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ।

दोषगुणालङ्कारा वक्ष्यन्ते । क्वापीत्यनेनैतदाह यत्सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः । (पृष्ठ १३ १७)

(घ) काव्य भेदाः

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥१।४॥

इदमिति काव्यम् । बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्य-व्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य । (पृष्ठ १९)

अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् । (पृष्ठ २१)
शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥१।५॥ (पृष्ठ २२)

२ रसनिष्पत्ति

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥४।२७॥

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥४।२८॥

(पृष्ठ २७)

× × ×

स च न कार्यः । विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात् । नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात् । अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः । कारकज्ञापकाभ्या-मन्यत् क्व दृष्टमिति चेत् । न क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिकसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम् । चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम् । लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाण-ताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतर-योगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम् । तद्ग्राहकं च प्रमाणं न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात् । नापि सविकल्पकं चर्व्यमाण-स्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः ।

(पृष्ठ [illegible] ४५)

३ काव्यदोष-स्वरूपम्

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥७।४९॥

(पृष्ठ २६३-२६४)

४ काव्यगुण-निरूपणम्

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥८।६६॥

(क) गुणस्वरूपम्

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाऽऽकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम् । क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याऽऽकारमहत्त्वादेर्दर्शनात् 'आकार एवास्य शूर' इत्यादेर्व्यवहारादन्यत्राशूरेऽपि वितताकृतित्वमात्रेण 'शूर' इति, क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूर' इति, अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्यवहरन्ति तद्वन्मधुरादिव्यञ्जकसुकुमारादिवर्णानां मधुरादिव्यवहारप्रवृत्तेरमधुरादिरसाङ्गानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादि, मधुरादिरसोपकरणानां तेषामसौकुमार्यादेरमाधुर्यादि, रसपर्यन्तविश्रान्तप्रतीतिवन्ध्या व्यवहरन्ति । अतएव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः ।

(पृष्ठ ४६९-४६५)

(ख) गुणालङ्कारयोर्भेदः

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥८।६७॥

ये वाचकवाच्यलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यं रसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालङ्काराः । यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः । क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति । × × × एष एव च गुणालङ्कारप्रविभागः ।

(पृष्ठ ४६५)

(ग) प्रमुख-काव्यगुणाः

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥८।६८॥

शृङ्गारे अर्थात् सम्भोगे । द्रुतिर्गलितत्वमिव । श्रव्यत्वं पुनरोजःप्रसादयोरपि ।

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।

अत्यन्तद्रुतिहेतुत्वात् ।

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥८।६९॥

चित्तस्य विस्ताररूपदीप्तत्वजनकमोजः ।

बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।

वीराद् बीभत्से ततो रौद्रे सातिशयमोजः ।

शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ॥८।७०॥
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।

(पृष्ठ ४७४-४७७)

रुय्यक

समय—बारहवीं शताब्दी का मध्य भाग

[ग्रन्थ—अलंकार-सर्वस्व]

१ रुय्यक से पूर्ववर्त्ती आचार्यों की काव्य-शासन-सम्बन्धी धारणाओं का पर्यवेक्षण

इस साहित्य-संसार में भामह, उद्भट आदि प्राचीन आलंकारिकों ने प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ को वाच्य अर्थ का उत्कर्ष करने वाला होने से उसे अलंकारों की ओर लगाया है। जैसे कि—पर्यायोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याज-स्तुति, उपमेयोपमा, अनन्वय आदि अलंकारों में से वस्तु-रूप व्यंग्य को उन्होंने 'स्वसिद्धये पराक्षेप' (अपने अर्थ को सिद्ध करने के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप) 'परार्थं स्वसमर्पण' (दूसरे अर्थ को संगत करने के लिए अपने अर्थ को सर्वथा छोड़ देना) इन दो प्रकार की शैली से बताया है।

रुद्रट ने तो भावालंकार को ही दो प्रकार का कहा है—रूपक, दीपक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता आदि अलंकारों में उपमा आदि अलंकार को अर्थ का उपस्कारक (उत्कर्ष) माना है। उत्प्रेक्षा को तो स्वयं ही प्रतीयमान (व्यंग्य) माना है। रसवत्, प्रेयः आदि अलंकारों में रस-भाव आदि को वाच्यार्थ की शोभा का हेतु कहा है। इस प्रकार तीनों ही प्रकार के व्यंग्य को अलंकार रूप से रखा है।

वामन ने तो सादृश्य-निबन्धन (गौणी) लक्षणा को वक्रोक्ति अलंकार कहते हुए कई ध्वनि भेदों को अलंकार-रूप से ही कहा है। केवल गुण-युक्त पद-रचनात्मिका रीति को काव्य का आत्मा माना है।

उद्भट आदियों ने तो गुण और अलंकारों की प्रायशः समता ही सूचित की है। विषय मात्र से ही केवल इनमें भेद माना है, और संघटना धर्मत्व से दृष्टि की है। इस प्रकार अलंकार ही प्रधान हैं—यह प्राच्य आलंकारिकों का मत है।

'वक्रोक्तिजीवित' प्रणेता [आचार्य कुन्तक] ने तो चतुरता के ढंग से उक्ति के स्वभाव वाली वक्रोक्ति को ही प्रधानता से काव्य का आत्मा माना है। काव्य को उसने

व्यापार-प्रधान माना है। एक विशेष प्रकार के कथन का नाम ही अलंकार हुआ करता है। यद्यपि प्रतीयमान (व्यंग्य) तीन प्रकार का होता है, पर व्यापार-रूप उक्ति ही कवि के संरम्भ का विषय होता है। उपचार और वक्रता आदि से समस्त ध्वनि-प्रपंच माना गया है। काव्य की आत्मा केवल उक्ति की विचित्रता ही होती है, व्यङ्ग्यार्थ काव्य का आत्मा नहीं होता। ऐसा [आचार्य कुन्तक का] दर्शन (मत) है।

भट्ट नायक ने तो प्रौढोक्ति से माने हुए व्यंग्य के व्यापार को ही काव्य का अंश मानते हुए शब्द और अर्थ के स्वरूप को तिरस्कृत करने वाले व्यापार (व्यंग्य) की ही प्रधानता मानी है। उसमें भी अभिधा-भावकत्व तथा लक्षणा-व्यापार इन दो को अतिक्रमण करने वाले रस-चर्वणात्मक व्यापार को—जिसका दूसरा नाम भोग है—प्रधानता से विश्रान्ति का स्थान (मुख्य) माना है।

ध्वनिकार [आनन्दवर्धनाचार्य] ने तो व्यञ्जना को अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा इन व्यापारों (वृत्तियों) के बाद का और अवश्य-स्वीकर्तव्य व्यापार माना है, उसी के ध्वनन, द्योतन आदि पर्याय-वाचक हैं। ध्वनिकार के मत में व्यापार (वृत्ति) तो वाक्यार्थ होती नहीं, और वाक्यार्थ ही व्यङ्ग्य होता है, गुण और अलंकार उसके उपस्कारक (अलंकृत करने वाले) हैं। वही व्यङ्ग्य ही प्रधान होने से विश्राम का स्थान है, ध्वनिकार ने उसे ही काव्य का आत्मा सिद्धान्तित किया है।

व्यापार विषय के द्वारा ही स्वरूप प्राप्त करता है, विषय की प्रधानता से ही व्यापार की प्रधानता होती है। व्यापार स्वरूप से विदित नहीं रहता, इस कारण विषय ही सारे भार को सहन या वहन करने वाला होता है। इसलिए व्यङ्ग्य नाम रखने वाले विषय को ही काव्य का आत्मा कहना चाहिये। उसी का गुण एवम् अलंकार से मनोहरता का साम्राज्य हुआ करता है। रस आदि काव्य का जीवन हैं—इन्हें अलङ्कार रूपता से नहीं कहना चाहिये क्योंकि—अलंकार तो उपस्कारकारक (शोभा करने वाले) होते हैं, और रस आदि प्रधान (आत्मा) होने से उपस्कार्य (शोभित होने वाले) होते हैं। अतः वाक्य का अर्थभूत व्यंग्य ही काव्य का जीवित (आत्मा) है, यही पक्ष वाक्यार्थ-कोविद सहृदय पुरुषों का आदर्श है। व्यञ्जना व्यापार किसी से भी छिपा हुआ नहीं होता। इसी के आश्रयण से अन्य कोई भी पक्ष प्रतिष्ठित (खड़ा) नहीं रह सकता।

जो कि 'व्यक्ति विवेक' प्रणेता (महिमभट्ट) ने वाच्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ का लिङ्गी मानकर व्यञ्जना का अनुमान में अन्तर्भाव माना है, पर वाच्य अर्थ का व्यङ्ग्य के साथ तादात्म्य (अभिन्नता) तथा उससे उत्पत्ति न होने से उक्त कथन अविचार-

पूर्वक है। यह बात कुशाग्र बुद्धियों से ज्ञेय है—और बहुत गहन है—अतः हम उसका यहाँ विस्तार नहीं करते।

व्यञ्जना का व्यापार व्यंग्य में रहता है। व्यङ्ग्य की प्रधानता से 'ध्वनि' और अप्रधानता से 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' होकर यह काव्य के भेद बन जाते हैं। व्यंग्य के अस्फुट होने पर अलंकार-युक्त चित्र नामक काव्य का तीसरा भेद भी होता है। उसमें ध्वनि उत्तम काव्य होता है। वह ध्वनि लक्षणा-मूल होने पर अविवक्षित वाच्य तथा अभिधा-मूलक होने पर विवक्षितान्यपर वाच्य-इस प्रकार दो भेदों वाला होता है। आदिम भेद अर्थान्तर संक्रमित वाच्य और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य भेद से दो प्रकार का होता है। दूसरा भेद विवक्षितान्यपर वाच्य दो प्रकार का होता है—१. असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य, २. संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य। शब्दशक्ति-मूलक वस्तु-ध्वनि (रस) असंलक्ष्य क्रम-व्यङ्ग्य होता है। अर्थ शक्तिमूल वस्तु ध्वनि संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य होता है। शब्द और अर्थ—दोनों की शक्ति के मूल वाली वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि होती है। इनमें रसादि-ध्वनि 'अलंकार-मञ्जरी' में दिखलाई गई है। क्योंकि काव्य शृंगारादि-रस प्रधान हुआ करता है। शेष का यहीं विभाग बता दिया गया। है। गुणीभूत-व्यङ्ग्य को वाच्याङ्गत्व आदि के भेदों से समासोक्ति आदि में यथा सम्भव दिखलाया गया है। चित्र-काव्य तो शब्दालङ्कार और अर्थालंकार के स्वभाव वाला होने से बहुत भेदों वाला होता है। (पृष्ठ ३-१९)

अनुवादक—पं० दीनानाथ शर्मा सारस्वत

रुय्यकः

[अलङ्कार-सर्वस्वम्]*

१ रुय्यकात् पूर्ववर्तिभिराचार्यैः प्रतिपादित-काव्यशास्त्रसम्बन्धिधारणानां पर्यवेक्षणम्

इह हि तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालङ्कारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयालङ्कारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते। तथाहि—पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसासमासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन 'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्' इति यथायोगं द्विविधया भङ्ग्या प्रतिपादितं तैः।

रुद्रटेन तु भावालङ्कारो द्विधैवोक्तः। रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादावुपमाद्यलङ्कारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः। उत्प्रेक्षा तु स्वयमेव प्रतीयमाना कथिता। रसवत्प्रेयःप्रभृतौ तु रसभावादिर्वाच्यशोभाहेतुत्वेनोक्तः। तदित्थं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलङ्कारतया ख्यापितमेव।

वामनेन तु सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलङ्कारत्वं ब्रुवता कश्चिद् ध्वनिभेदोऽलङ्कारतयैवोक्तः। केवलं गुणविशिष्टपदरचनात्मिका रीतिः काव्यात्मत्वेनोक्ता।

उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः। तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।

वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यभङ्गीभणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात्काव्यजीवितमुक्तवान्। व्यापारस्य प्राधान्यं च काव्यस्य प्रतिपेदे। अभिधानप्रकारविशेषा एव चालङ्काराः। सत्यपि त्रिभेदे प्रतीयमाने व्यापाररूपा भणितिरेव कविसंरम्भगोचरः। उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः। केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं, न व्यङ्ग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्।

भट्टनायकेन तु व्यङ्ग्यव्यापारस्य प्रौढोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम्। तत्राप्यभिधाभावकत्वलक्षण-

* निर्णय सागर प्रेस, बम्बई द्वारा सन् १९३९ में प्रकाशित द्वितीय संस्करण

व्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतयाङ्गीकृतः ।

ध्वनिकारः पुनरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यव्यापारत्रयोत्तीर्णस्य ध्वननद्योतनादिशब्दाभिधेयस्य व्यञ्जनव्यापारस्यावश्याभ्युपगम्यत्वाद् व्यापारस्य च वाक्यार्थत्वाभावाद् वाक्यार्थस्यैव च व्यंग्यरूपस्य गुणालंकारोपस्कर्तव्यत्वेन प्राधान्याद् विश्रान्तिधामत्वादात्मत्वं सिद्धान्तितवान् ।

व्यापारस्य विषयमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भात् तत्प्राधान्येन प्राधान्यात् स्वरूपेण विदितत्वाभावाद्विषयस्यैव समग्रभरसहिष्णुत्वम् । तस्माद्विषय एव व्यंग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्यः । यस्य गुणालंकारकृतचारुत्वपरिग्रहसाम्राज्यम् । रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः । अलंकाराणामुपस्कारकत्वाद्रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात् । तस्माद् व्यंग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमित्येष एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः । व्यंजनव्यापारस्य सर्वैरनपह्नुतत्वात्तदाश्रयेण च पक्षान्तरस्याप्रतिष्ठानात् ।

यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रति लिङ्गितया व्यञ्जनस्यानुमानान्तर्भावमाख्यत् तद्वाच्यस्य प्रतीयमानेन सह तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावादविचारिताभिधानम् । तदेतत्कुशाग्रधिषणैः क्षोदनीयमतिगहनगहनमिति नेह प्रतन्यते ।

अस्ति तावद् व्यंग्यनिष्ठो व्यञ्जनव्यापारः । तत्र व्यंग्यस्य प्राधान्याप्राधान्याभ्यां ध्वनिगुणीभूतव्यंग्याख्यौ द्वौ काव्यभेदौ । व्यंग्यस्यास्फुटत्वेऽलंकारवत्त्वेन चित्राख्यः काव्यभेदस्तृतीयः । तत्रोत्तमो ध्वनिः । तस्य लक्षणाभिधामूलत्वेनाविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यौ द्वौ भेदौ । आद्योऽप्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वेन द्विविधः । द्वितीयोऽप्यसंलक्ष्यक्रमसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यतया द्विविधः । लक्ष्यमूलशब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यः । अर्थशक्तिमूलो वस्तु (रसादि)-ध्वनिः संलक्ष्यक्रमव्यंग्यः । शब्दार्थोभयशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरलंकारध्वनिश्चेति । तत्र रसादिध्वनिरलंकारमध्ये वर्णितः । काव्यस्य शृङ्गारप्रधानत्वात् । शिष्टस्तु यथावसरं तत्रैव विभक्तः । गुणीभूतव्यंग्यो वाच्याङ्गत्वादिभेदैर्यथासंभवं समासोक्त्यादौ वर्णितः । चित्रं तु शब्दार्थालंकारस्वभावतया बहुतरप्रभेदम् । (पृष्ठ २-१६)

विश्वनाथ

समय—सन् १३००—१३५० ई०

ग्रन्थ—[साहित्यदर्पण]*

१ काव्य-फल

अल्पबुद्धि वालों को भी सुख से—बिना किसी विशेष परिश्रम के चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूप फल की प्राप्ति काव्य के ही द्वारा हो सकती है, अतः उसके स्वरूप (लक्षण) का निरूपण किया जाता है ॥१।२॥

काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति, रामादिकों की भाँति धर्म-कार्यों में प्रवृत्त होना चाहिये और रावणादिकों की भाँति अधर्म कार्यों में नहीं प्रवृत्त होना चाहिए इत्यादि रीति से कृत्य अर्थात् अनुष्ठेय (शास्त्र-विहित) कर्मों में प्रवृत्ति, अकृत्य अर्थात् अनाचरणीय (शास्त्र-निषिद्ध) कर्मों से निवृत्ति के उपदेश के द्वारा सुप्रसिद्ध

इसी बात का प्राचीनोक्ति द्वारा समर्थन करते हैं—अच्छे काव्यों के निषेवण अर्थात् अध्ययनादि से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधनों तथा नृत्य-गीतादि कलाओं में वैचक्षण्य प्राप्त होता है, संसार में कीर्ति होती है और हृदय में प्रसन्नता होती है।

काव्य से धर्म की प्राप्ति भगवान् नारायण के चरणारविन्द की स्तुति के द्वारा सुप्रसिद्ध ही है। इस प्रकार काव्य धर्म के प्रति साक्षात् कारण होगया। 'एक 'शब्द'...' इत्यादि वेद-वाक्यों से भी काव्य के द्वारा धर्म की प्राप्ति सुप्रसिद्ध है। इस वाक्य में 'शब्द' के एक वचन से भी एकत्व-रूप अर्थ की प्रतीति हो सकती थी फिर भी 'एकः' कहने से 'एकोऽपि' यह अर्थ लक्षित होता है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि एक भी शब्द यदि सुप्रयुक्त हो अर्थात् रस का व्यंजक बना के सुन्दर रीति से निवेशित किया गया हो अथवा सम्यक् रीति से ज्ञात हो अर्थात् काव्यानुशीलन के समय भावना के द्वारा यथावत् रस का व्यंजक समझा गया हो तो वह इस लोक में और परलोक

* नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा सम्वत् १९९१ में प्रकाशित द्वितीय संस्करण

में कामधेनु (मनोरथ पूर्ण करने वाला) होता है। इससे स्पष्ट है कि काव्यों की रचना और उनका अनुशीलन दोनों ही धर्मोत्पादक हैं, नामयुक्त हैं और वेदानुमोदित हैं।

काव्यों से उनके बनाने वालों को धन की प्राप्ति होती है यह बात तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। राजादिकों से कवियों का धनागम देखा ही जाता है। कामसुख की प्राप्ति धन के द्वारा प्रत्यक्ष है। काव्य से उत्पन्न धर्म के फल का परित्याग करने से मोक्ष की प्राप्ति भी काव्य के द्वारा हो सकती है। अथवा मोक्ष के उपयोगी उपनिषदादि वाक्यों में व्युत्पत्ति पैदा करने के कारण काव्य को मोक्ष का हेतु जानना।

नीरस होने के कारण वेद, शास्त्रादि से चतुर्वर्ग की प्राप्ति दुःख से ही होती है और वह भी परिपक्व-बुद्धि पुरुषों को ही होती है, सबको नहीं। किन्तु परम आनन्द समूह (रसास्वाद) का उत्पादक होने के कारण सुकुमार बुद्धि राजकुमारादिकों को भी सुखपूर्वक उसकी प्राप्ति यदि किसी से हो सकती है तो वह काव्य से ही। तात्पर्य यह है कि 'एव' शब्द से वेद-शास्त्रादि की व्यावृत्ति करना अभीष्ट है, क्योंकि उनसे सुख-पूर्वक धर्मादि की प्राप्ति नहीं होती और सुकुमार बुद्धि वालों को तो किसी प्रकार होती ही नहीं।

प्रश्न—अच्छा तो फिर परिपक्व-बुद्धि पुरुष वेद-शास्त्रादिकों के रहते हुए काव्यों में क्यों परिश्रम करें? वे सुकुमार-मति या मन्द-मति तो हैं नहीं जो काव्यों में लगें? उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि कड़वी कसैली औषध से शान्त होने योग्य कोई रोग यदि मीठी-मीठी सुन्दर सफेद खांड से दूर होने लग जाय तो ऐसा कौन अभागा रोगी होगा जो खांड खाना पसन्द न करे। इसलिये यह कोई बात नहीं कि परिपक्व-बुद्धि पुरुष काव्य नहीं पढ़ेंगे। (पृष्ठ १०-१६)

२ काव्य का स्वरूप

काव्य का स्वरूप कहेंगे। इस कारिका से अभिधेय अर्थात् विषय और 'च' शब्द से सम्बन्ध तथा प्रयोजन भी दिखाये गये हैं। अच्छा तो फिर काव्य का क्या लक्षण है? इस आकांक्षा में कोई (काव्य-प्रकाशकार) कहता है—दोषरहित, गुण-सहित और अलंकारों से विभूषित शब्द तथा अर्थ को काव्य कहते हैं, किन्तु यदि कहीं अलंकार स्फुट न हो तो भी कोई हानि नहीं। यह चिन्तनीय (दूषणीय) है। दोष दिखाते हैं। यदि दोषरहित को ही काव्य मानोगे तो 'न्यक्कार' इत्यादि पद्य काव्य नहीं ठहरेंगे।

पहले तो शत्रुओं का होना ही मेरा तिरस्कार है। उस पर भी यह (तपस्वी नहीं) मेरा शत्रु है—यह और भी अनुचित है। वह भी यहीं है। (यदि दूर कहीं

छिपा रहता तो भी खैर थी)। केवल है ही नहीं—राक्षसों के कुल का (एक दो का नहीं) संहार कर रहा है !! आश्चर्य तो यह है कि रावण जी रहा है। देवासुरादि समस्त त्रैलोक्य को रुलाने वाले, राक्षस-राज 'रावण' के जीते जी यह बात ! इन्द्रजित् = मेघनाद को धिक्कार है और जगाये हुए कुम्भकर्ण से भी क्या बना ? और स्वर्ग-रूप तुच्छ ग्राम को लूट लेने भर से व्यर्थ फूले हुए इन मेरे बाहुओं से भी क्या फल ?

इस पद्य में विधेयाविमर्श दोष है, अतः यदि निर्दोष को ही काव्य मानोगे तो यह काव्य न ठहरेगा।

'तददोषौ' इत्यादि पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार तो यह सदोष पद्य काव्य कहा नहीं जा सकता, किन्तु इसके विपरीत उन्हीं ने ध्वनि होने के कारण इसे उत्तम काव्य माना है, अतः अव्याप्ति नामक लक्षण-दोष हुआ।

इस पद्य में जहाँ विधेयाविमर्श दोष है—वही दूषित है, सब तो नहीं ? फिर जिस अंश में दोष है वह अकाव्यत्व का प्रयोजक होगा ? उत्तर—इस प्रकार इन दो विरुद्ध अंशों से इधर-उधर खींचा गया यह पद्य न तो काव्य ही रहेगा न अकाव्य ही।

इसके अतिरिक्त श्रुति-दुष्टत्व, विधेयाविमर्शत्वादिक दोष काव्य के किसी एक अंश को ही दूषित करते हो, सो बात भी नहीं है। तो फिर क्या है ? सम्पूर्ण काव्य को दूषित करते हैं।

काव्यों का आत्म-स्थानापन्न जो रस उसमें यदि अपकर्ष (हीनता) न पैदा करें तो श्रुति-दुष्टत्वादिकों को दोष नहीं माना जाता।

यदि यह बात न मानें तो नित्य दोष और अनित्य दोषों की व्यवस्था नहीं हो सकेगी।

जैसा ध्वनिकार ने कहा है—जिन श्रुति-दुष्टत्वादिकों को दोष कहा है और अनित्य बतलाया है, वे 'ध्वनि' अर्थात् उत्तम काव्य के आत्मभूत अर्थात् प्रधान व्यंग्य शृंगार में ही त्याज्य हैं। सर्वत्र शृंगार में भी नहीं।

सदोष को काव्य नहीं मानने से या तो काव्य के लक्षण का विषय (उदाहरण) अत्यन्त विरल हो जायगा या असम्भव ही हो जायगा, क्योंकि किसी वाक्य का सर्वथा निर्दोष होना एकदम असम्भव है। यदि सर्वथा निर्दोष वाक्य दुर्लभ है तो 'अदोषौ' पद में 'अ' को ईषदर्थक मानेंगे। यदि ऐसा करोगे तो 'ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' ...

लक्षण होगा। इसका अर्थ है कि थोड़े दोष से युक्त शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं। इसके अनुसार काव्यों में थोड़ा दोष रहना भी आवश्यक होगा और यदि किसी अति निपुण कवि के निर्दोष, शब्द और अर्थ हुए तो वे काव्य नहीं कहलायेंगे। यदि इस लक्षण में 'सतिसम्भवे' इतना और निवेश करके यह अर्थ करो कि दोषों की सम्भावना होने पर थोड़े दोष वाले शब्द और अर्थ काव्य होते हैं—अधिक दोष-युक्त नहीं, तो यह भी ठीक नहीं—जैसे रत्न के लक्षण में कीटानुवेध का परिहार नहीं किया जाता वैसे ही काव्य के लक्षण में दोष का परिहार अनावश्यक है। जैसे कीड़ा लग जाने से किसी रत्न का रत्नत्व नहीं दूर हो जाता—केवल उसकी उपादेयता में तारतम्य हो जाता है, इसी प्रकार श्रुति-दुष्टत्वादि दोष, काव्य के काव्यत्व को नहीं हटा सकते। केवल उसके उत्कर्ष में कुछ न्यूनता कर सकते हैं। इस बात में प्रमाण देते हैं—उन्नचेति-जहाँ रसादि का मान स्फुट होता हो वहाँ कीटानुविद्ध रत्नादि के समान दोष रहने पर भी काव्यत्व माना जाता है।

(शब्दार्थों' इतका 'सगुणौ' यह विशेषण भी युक्ति-युक्त नहीं है। क्योंकि गुण केवल रस में ही रहते हैं, शब्द और अर्थ में नहीं। यह बात अष्टम उल्लास में गुणों का वर्णन करते हुए उन्हीं काव्य प्रकाशकार ने स्वयं कही है—अर्थात् जैसे आत्मा का गुण शूरता आदि है इसी प्रकार माधुर्यादि गुण काव्य के आत्मभूत रस के ही धर्म हैं और अचल हैं। इससे स्पष्ट है कि गुण रसों में ही रहते हैं शब्द या अर्थ में नहीं।

यदि यह कहो कि शब्द और अर्थ रस के व्यंजक होते हैं, अतः उपचार (परम्परा सम्बन्ध) से इनमें भी गुण रह सकते हैं। यों भी ठीक नहीं। यह तो बतलाओ, तुम जिन शब्दों और अर्थों को काव्य समझते हो, उनमें रस रहता है या नहीं? यदि नहीं, तो गुण भी नहीं रह सकते, क्योंकि गुण तो रस के अन्वय-व्यतिरेक का अनुगमन करते हैं। यदि कहो कि उनमें रस है तो फिर 'रसवन्तौ' यही विशेषण क्यों न दिया? यदि कहो कि गुण बिना रस के रह ही नहीं सकते, अतः सगुण कहने से ही सरस होना अर्थ बल से सिद्ध हो जायगा, तो इस दशा में भी 'सरसौ' यही विशेषण देना चाहिये, 'सगुणौ' नहीं। क्योंकि 'प्राणिमान् देश है' इस वाक्य की जगह 'शौर्यवान् देश है' यह वाक्य कोई नहीं बोलता।

यदि कहो कि 'सगुणौ शब्दार्थौ' इसका यह अभिप्राय है कि गुणों के अभि-व्यंजक शब्दों और अर्थों का काव्य में प्रयोग करना चाहिए, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि गुणों के अभिव्यंजक शब्द और अर्थ काव्य में केवल उत्कर्ष पैदा करते हैं—वे स्वरूप के आधायक नहीं होते। इसीलिये कहा है—शब्द और अर्थ काव्य के शरीर

है और रसादिक आत्मा है । माधुर्यादि गुण शौर्यादि की भाँति, श्रुति-कटुत्वादि दोष काणत्वादि की तरह, वैदर्भी आदि रीतियाँ अंग-रचना के सदृश और उपमादिक अलंकार कटक, कुण्डलादि के तुल्य होते हैं । इस काव्य-पुरुष के रूपक से पूर्वलक्षण में कहा हुआ 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' यह अंश भी खण्डित हो गया। खण्डन-प्रकार दिखाते हैं—इस उक्त अंश का यही अर्थ है कि सब स्थानों पर अलंकार-युक्त शब्द-अर्थ होने चाहियें, किन्तु यदि कहीं अलंकार स्फुट न हो तो भी वहाँ काव्यत्व होता है । परन्तु उक्त रूपक में अलंकारों को कटक, कुण्डल के तुल्य कहने से यह स्पष्ट है कि वे उत्कर्ष करने वाले [illegible] होते हैं, स्वरूप के घटक नहीं होते । इसी से 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' यह वक्रोक्ति-जीवितकार का कथन भी खण्डित हो गया, क्योंकि वक्रोक्ति तो एक अलंकार है—और अलंकार, स्वरूप के अन्तर्गत नहीं होते ।

अस्फुटालंकार का जो निम्नलिखित उदाहरण काव्य-प्रकाशकार ने दिया है, वह भी ठीक नहीं है । जिसने बाल-भाव अथवा अनूढात्व को दूर किया है वही तो वर है और वे ही (पूर्वानुभूत) चैत्रमास की (वसन्त ऋतु की) रात्रियाँ हैं । खिली हुई मालती (वासन्तीलता) से सुगन्धित वही प्रौढ़ (अमन्द अर्थात् उद्दीपक) कदम्ब वन का समीर है और मैं भी वही हूँ । तात्पर्य यह कि सब वस्तुयें पूर्वानुभूत ही हैं, कोई नई चीज या नई बात नहीं, तो भी नर्मदा के किनारे उस बेंत की कुंज में विहार करने को जी उत्कण्ठित हो रहा है—यह उदाहरण चिन्त्य (दूष्य) है। दोष दिखाते हैं—यहाँ विभावना और विशेषोक्ति से उत्थापित सन्देह-संकरालंकार स्फुट है ।

इस पूर्वोक्त ग्रन्थ से 'दोष-रहित, गुण-सहित, अलंकारों से भूषित और रस से युक्त काव्य को बनाता हुआ कवि कीर्ति और प्रीति को पाता है', इत्यादि काव्य के लक्षण भी खण्डित हो गये ।

'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'—काव्य का आत्मा ध्वनि है, [illegible] जो ध्वनिकार ने कहा है—वहाँ प्रश्न यह है कि क्या वस्तु, अलंकार और रसादिक इन सब की ध्वनियों को काव्य की आत्मा मानते हो ? या केवल रसादि की ध्वनि को ही ? इनमें पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि पहेली आदि में—जहाँ वस्तु ध्वनित होती है—काव्य का लक्षण अतिव्याप्त हो जायगा । अलक्ष्य में लक्षण के जाने से अतिव्याप्ति नामक लक्षण का दोष होता [illegible] । यदि दूसरा पक्ष मानो तो हमें स्वीकार है । रसादि ध्वनि को हम भी काव्यात्मा मानते हैं ।

प्रश्न—यदि केवल रसादिध्वनि को काव्यात्मा मानते हो तो निम्न पद्य में काव्य का लक्षण नहीं घटेगा । इस स्थान पर मेरी सास नींद में निमग्न होती है—

अर्थात् बेखबर सोती है और यहाँ मैं सोती हूँ। दिन में ही देख लो। हे रात के अन्धे (रतौंध वाले) पथिक ! कहीं रात में मेरी खाट पर मत आ पड़ना। यह स्वयं दूती की उक्ति है। इत्यादिक स्थलों में—जहाँ वस्तुमात्र व्यंग्य है—काव्यत्व का व्यवहार कैसे होगा ? उत्तर—यहाँ भी रसाभास के कारण ही हम काव्यत्व मानते हैं। उक्त पद्य में आगन्तुक परपुरुष में स्वयं दूती का अनुराग प्रतीत होता है, अतः शृंगाराभास है।

यदि यह न मानो अर्थात् वस्तु मात्र के व्यंग्य होने पर भी यदि काव्यत्व मानने लगो तो 'राजा देवदत्त गाँव को जाता है' इत्यादि वाक्य भी काव्य हो जायेंगे, क्योंकि इस वाक्य से भी देवदत्त के भृत्य का पीछे-पीछे जाना व्यंग्य है। यदि कहो कि यह भी काव्य हो सही—तो यह ठीक नहीं, क्योंकि सरस वाक्य ही काव्य माना जाता है, अन्य नहीं। इसमें प्रमाण देते हैं—प्राचीन आचार्यों ने भी रूप मीठी मीठी वस्तु के द्वारा, कठिन वेद शास्त्रादिकों से विमुख, सुकुमार-बुद्धि, शिक्षणीय राजपुत्रादिकों [illegible] प्रति रामादि की तरह प्रवृत्त होना चाहिये, रावणादि की तरह नहीं इत्यादिक कृत्य में प्रवृत्ति और अकृत्य [illegible] निवृत्ति के उपदेश को ही काव्य का प्रयोजन बतलाया है, अत जहाँ रसास्वाद है वे ही वाक्य काव्य होते हैं, नीरस नहीं। ऐसा ही आग्नेय पुराण में भी कहा है—वाणी के चातुर्य की प्रधानता होने पर भी काव्य में जीवनभूत रस ही है। व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट ने भी कहा है—काव्य के आत्मभूत अंगी (स्थायी) रसादिक हैं, इसमें तो किसी को विवाद ही नहीं। ध्वनिकार ने भी कहा है—कवि यदि केवल इतिहास लिख दे तो उस ग्रन्थ को आत्मपद (काव्यपद) प्राप्त नहीं हो सकता। कवि जो कुछ लिख दे वह सब काव्य नहीं हुआ करता और न उससे काव्य का प्रयोजन ही सिद्ध होता है। पुरानी कथाओं का ज्ञान होना काव्य का प्रयोजन नहीं वह तो इतिहास पुराणादिकों से भी हो सकता है।

प्रश्न—यदि सरस वाक्य ही काव्य होते हैं तो रघुवंशादिक प्रबन्धों के अन्तर्गत जो अनेक नीरस पद्य हैं, वे काव्य न रहेंगे ? उत्तर—ऐसा नहीं है। जैसे सरस पद्य के कुछ नीरस पद उसी के रस से रसवान् समझे जाते हैं इसी प्रकार प्रबन्ध के रस से नीरस पद्यों में भी रसवत्ता मानी जाती है। यहाँ पद्य शब्द गद्य का भी उपलक्षण है।

गुणों के व्यंजक वर्णों के और अलंकारों के होने एवं दोषों के न होने से नीरस वाक्यों में भी जो काव्यत्व व्यवहार देखा जाता है, वह सरस काव्य के बन्ध (रचना) की समता के कारण किया हुआ गौण (लाक्षणिक) प्रयोग जानना।

यह जो वामन (अलंकार-सूत्रकार श्री वामनाचार्य) ने कहा है कि 'काव्य की आत्मा रीति है' सो भी ठीक नहीं—क्योंकि रीति तो संघटना (रचना) रूप है—और

संघटना शरीर के अंग-विन्यास के तुल्य होती है—वह आत्मा नहीं हो सकती—आत्मा शरीर से भिन्न होता है।

ध्वनिकार ने यह जो कहा है कि—'सहृदयों से श्लाघ्य जो अर्थ काव्य का आत्मा व्यवस्थापित किया है, उसके दो भेद होते हैं—एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान।' इस कारिका में वाच्यार्थ को काव्य का आत्मा बतलाना उनके 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इस अपने कथन से ही विरुद्ध होने के कारण निरस्त समझना चाहिये।

अच्छा तो फिर काव्य का निर्दिष्ट लक्षण क्या है ? इस आकांक्षा में स्वसम्मत लक्षण कहते हैं—रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं। रस के स्वरूप का निरूपण तीसरे परिच्छेद में करेंगे। 'रसात्मक' पद का अर्थ करते हैं—सार अर्थात् सबसे प्रधान होने के कारण रस ही जिसका जीवनभूत आत्मा है वह वाक्य 'रसात्मक' कहलाता है। रस के बिना काव्यत्व नहीं होता यह बात पहले कह चुके हैं। 'रस्यते इति रसः' इस यौगार्थ के द्वारा, जो आस्वादित हो, उन सबको रस कहते हैं—इससे रस, रसाभास, भाव और भावाभासादि का भी ग्रहण होता है। उनमें से रस का उदाहरण देते हैं—नवोढा नायिका वासगृह को शून्य (सखी आदि से विमुक्त) देखकर पलंग से कुछ थोड़ी-सी, धीरे-धीरे उठी—और उठकर, निद्रा की मुद्रा से लेटे हुए प्रियतम को बहुत देर तक—बड़े ध्यान से देखती रही कि कहीं जागते तो नहीं हैं। अनन्तर सोता हुआ समझकर विश्वास-पूर्वक चुम्बन किया—परन्तु उस कपट निद्रित की कपोलस्थली को हर्ष से रोमांचित देखकर वह नव वधू लज्जा से नम्रमुखी हो गई और हँसते हुए प्रियतम ने अधिक समय तक उसका चुम्बन किया। यहाँ शृंगार रस की अभिव्यक्ति होती है।

भाव का उदाहरण—इसमें विष्णु के दस अवतारों का वर्णन है—जिसके खिन्ने (मछली का पर) के एक किनारे में सारा समुद्र समा गया—(मत्स्यावतार) और जिसकी पीठ पर अखण्ड ब्रह्माण्ड आ गया (कूर्म) जिसकी दाढ में पृथ्वी स्थिर गई (वाराह) और नख में दैत्यराज हिरण्यकशिपु चिपट रहा (नृसिंह), जिसके पैर में पृथ्वी और आकाश समा गये (वामन) और क्रोध में क्षत्रिय जाति विलीन होगई (परशुराम) एवं जिसके बाण में रावण का (राम), हाथ में प्रलम्बासुर का (कृष्ण), ध्यान में जगत् का (बुद्ध) और खड्ग में अधर्मी लोगों का क्षय हुआ (निष्कलंक) उस किसी अलौकिक तेज को मेरा नमस्कार है। यहाँ भगवद्विषयक रतिभाव व्यंग्य है।

रसाभास का उदाहरण—कामातुर भ्रमर, अपनी प्रिया का अनुगमन करता हुआ पुष्प-रूप एक पात्र में मधु (पुष्प रस रूप मद्य) का पान करने लगा और स्पर्श-

सुख से निमीलित नयना मृगी को उसका प्रेमी कृष्णसार मृग, सींग से धीरे-धीरे खुजाने लगा। यहाँ शृंगाराभास है। अनौचित्य से प्रवृत्त और पशु-पक्षी-विषयक शृंगार को शृंगाराभास कहते हैं। इसी प्रकार अन्य रसों और भावों के उदाहरण जानना।

गुणों का लक्षण करते हैं—गुण अलंकार और रीतियाँ काव्य की उत्कृष्टता के कारण होते हैं ॥१।३॥

जैसे शौर्यादि गुण, कटक कुण्डलादि अलंकार और अंग-रचनादिक मनुष्य के शरीर का उत्कर्ष सूचन करते हुए उसके आत्मा का उत्कर्ष सूचित करते हैं इसी प्रकार काव्य में भी माधुर्यादि गुण उपमादिक अलंकार और वैदर्भी आदिक रीतियाँ शरीर-स्थानीय शब्द और अर्थ का उत्कर्ष सूचित करते है और जैसे शौर्यादिक मनुष्य के उत्कर्षक कहे जाते हैं इसी प्रकार माधुर्यादिक काव्य के उत्कर्षक माने जाते हैं। (पृष्ठ १६-३२)

आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पद-समूह को वाक्य कहते हैं।

वाक्य का स्वरूप

एक पदार्थ के साथ सम्बन्ध करने में बाधा न होना योग्यता कहाता है। यदि योग्यता के बिना पदसमुदाय को वाक्य माना जायगा तो 'वह्निना सिञ्चति' यह भी वाक्य हो जायगा।

किसी ज्ञान की समाप्ति या पूर्ति का न होना आकांक्षा है। वाक्यार्थ की पूर्ति के लिए किसी पदार्थ की जिज्ञासा का बना रहना आकांक्षा कहलाता है। आकांक्षा-शून्य पद-समुदाय को वाक्य मानें तो 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादिक निराकांक्ष पद-समूह भी वाक्य हो जायगा।

बुद्धि अर्थात् प्रकृतोपयोगी पदार्थों की उपस्थिति के 'अविच्छेद' अर्थात् अव्यवधान को आसत्ति कहते हैं।

यदि बुद्धि विच्छेद होने पर भी वाक्यत्व स्वीकार किया जाय तो इस समय कहे हुए 'देवदत्त.' पद का दूसरे दिन बोले हुए 'गच्छति' पद के साथ सम्बन्ध होना चाहिये।

यद्यपि पूर्वोक्त जिज्ञासा इच्छा-रूप होने के कारण आत्मा में रहती है और योग्यता पदार्थों में ही रह सकती है, तथापि ये दोनों 'उपचार' (परम्परा-सम्बन्ध) से पद-समुदाय में रहती हैं।

आकांक्षादि-युक्त वाक्यों के समूह को महावाक्य कहते हैं। इस प्रकार वाक्य के दो भेद हुए ॥२।१॥

एक वाक्य, दूसरा महावाक्य । महावाक्य की सत्ता में प्रमाण देते हैं—अपने-अपने अर्थ का बोधन करके समाप्त हुए वाक्यों का, अंगांगिभाव-सम्बन्ध से, फिर मिलकर एक वाक्य (महावाक्य) होता है। उनमें वाक्य का उदाहरण 'शून्य-वासगृह' इत्यादि है और महावाक्य का रामायण, रघुवंशादिक ।

पद-समुदाय वाक्य होता है, यह कह चुके हैं। उसमें पद का लक्षण करते हैं—प्रयोग के योग्य, अनन्वित एक अर्थ के बोधक वर्णों को पद कहते हैं। जैसे 'घटः' यह वर्ण-समुदाय प्रयोग के योग्य है।

इस लक्षण में 'प्रयोगार्ह' कहने से प्रातिपदिक की व्यावृत्ति होती है।

अनन्वित कहने से वाक्य और महावाक्य की व्यावृत्ति होती है।

अनन्वित कहने से वाक्य और महावाक्य की व्यावृत्ति होती है, क्योंकि इनसे अन्वित अर्थ का बोध होता है, अनन्वित का नहीं। 'एक' कहने से साकांक्ष अनेक पद और अनेक वाक्यों का व्यवच्छेद होता है। 'अर्थ-बोधक' कहने से क, च ट, त, प इत्यादि वर्णों की व्यावृत्ति होती है। 'वर्णा' इस पद में बहुवचन अविवक्षित है।

(पृष्ठ ३४-३६)

३. काव्य के रूप

जो केवल सुने जा सकें—वे गद्य और पद्य दो प्रकार के श्रव्य-काव्य—होते हैं ॥६।३१३॥

छन्दों में लिखे काव्य को पद्य कहते हैं। वह यदि मुक्त—दूसरे पद्य से निरपेक्ष हो तो मुक्तक और यदि दो श्लोकों में वाक्य-पूर्ति होती हो तो युग्मक कहाता है। एवं तीन पद्यों का सन्दानितक अथवा विशेषक, चार का कलापक और पाँच अथवा इनसे अधिक का कुलक होता है ॥६।३१४।३१५॥

मुक्तक का उदाहरण—सान्द्रेति—जिस सान्द्रानन्द ब्रह्म का ध्यान योगी लोग बड़े एकाग्र चित्त होकर जैसे-तैसे कभी कर पाते हैं उसी को मथुरा की स्त्रियाँ खेल-खेल में आलिंगन करती हैं, उससे बातें करती हैं, उसे खेंचे-खेंचे फिरती हैं और चुम्बन भी करती हैं, वे धन्य हैं।

युग्मक—जैसे—

किं करोषि करोपान्ते कान्ते गण्डस्थलीमिमाम् ।
प्रणयप्रवणे कान्ते नैकान्ते नोचिताः क्रुधः ।।
इति यावत्कुरङ्गाक्षीं वक्तुमीहामहे वयम् ।
तावदाविरभूच्चूते मधुरो मधुपध्वनिः ।।*

अर्थात्, 'हे सुन्दरि ! अपने कपोलों को हथेली के सहारे टिका कर यह क्या कर रही हो ? अपने प्रेमी वल्लभ पर एकदम क्रोध ही करते रहना ठीक नहीं ।" जब हम उस मृगनयनी को यह बात कहना ही चाहते थे कि उसी समय आम्रवृक्ष पर भौंरों का मधुर गुञ्जन प्रारम्भ हो गया ।

इसी प्रकार और उदाहरण भी जानना ।

जिसमें सर्गों का निबन्धन हो वह महाकाव्य कहाता है । इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय—जिसमें धीरोदात्तत्वादि गुण हों—नायक होता है । कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं । शृङ्गार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अंगी होता है । अन्य रस गौण होते हैं । सब नाटक-सन्धियाँ रहती हैं । कथा ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध सज्जन सम्बन्धिनी होती है । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से एक उसका फल होता है । आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तु का निर्देश होता है । कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों का गुण-वर्णन होता है । इसमें न बहुत छोटे, न बहुत बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं । उनमें प्रत्येक में एक ही छन्द होता है, किन्तु अन्तिम पद्य (सर्ग का) भिन्न छन्द का होता है । कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं । सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिये । इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया (शिकार), पर्वत, ऋतु (छहों), वन, समुद्र, संभोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथा-सम्भव सांगोपांग वर्णन होना चाहिये । इसका नाम कवि के नाम से (जैसे माघ) या चरित्र के नाम से (जैसे कुमारसम्भव) अथवा चरित्र-नायक के नाम से (जैसे रघुवंश) होना चाहिए । कहीं इनके अतिरिक्त भी नाम होता है—जैसे भट्टि । सर्ग की वर्णनीय कथा से सर्ग का नाम रक्खा जाता है । सन्धियों के अंग यहाँ यथासम्भव रखने चाहियें । अवसानें—यहाँ बहुवचन की विवक्षा नहीं है—यदि एक या दो भिन्न वृत्त हों तो भी कोई हर्ज नहीं । जलक्रीडा, मधुपानादि सांगोपांग होने चाहियें । महाकाव्य के उदाहरण जैसे रघुवंशादि ।।६।३१५-३२४।।

* युग्मक का उदाहरण संस्कृत मात्र है, इसका हिन्दी अनुवाद नहीं ।

श्रार्ष (ऋषि-प्रणीत) काव्य में सर्गों का नाम 'आख्यान' होता है। जैसे महाभारत में। प्राकृत काव्यों में सर्गों का नाम 'आश्वास' होता है। इसमें स्कन्धक या कहीं गलितक छन्द होते हैं। जैसे सेतुबन्ध। अपभ्रंश भाषा के काव्यों में सर्गों का नाम कुडवक होता है और छन्द भी अपभ्रंश के योग्य अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे कर्णपराक्रम। भाषेति—संस्कृत, प्राकृतादि भाषा या बाह्लीका आदि विभाषा के नियमानुसार बनाया गया एक कथा का निरूपक, पद्य-बद्ध, सर्गमय ग्रन्थ—जिसमें सब सन्धियाँ न हों—काव्य कहलाता है। काव्य के एक अंश को अनुसरण करने वाला खण्डकाव्य होता है। जैसे मेघदूत। परस्पर निरपेक्ष श्लोक-समूह को कोष कहते हैं। यह यदि 'व्रज्या' (वर्णमाला) के क्रम से बने तो अतिसुन्दर होता है। सजातियों के एक स्थान में सन्निवेश को व्रज्या कहते हैं ॥६।३२५-३२६॥ (पृष्ठ ३२२-३२५)

४ गद्य-काव्य

अब गद्य काव्यों का निरूपण करते हैं। गद्य चार प्रकार का होता है—मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक।* पहला समास-रहित होता है। दूसरे में पद्य के अंश पड़े रहते हैं। तीसरे में दीर्घ समास और चौथे में छोटे-छोटे समास होते हैं।

मुक्तक का उदाहरण—'गुरुर्वचसि पृथुरुरसि'—इत्यादि। अर्थात् वह बात करने में बृहस्पति तुल्य था। उसका वक्ष विशाल था।

वृत्तगन्धि का उदाहरण—'समरकण्डूलनिबिडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिञ्जिनीटङ्कारोज्जागरितवैरिनगर'—इत्यादि। अर्थात्, उसके प्रचण्ड भुजदण्ड युद्ध के लिये खुजला रहे थे। फिर उसने हाथों में गोलाकार धनुष लेकर उसकी डोरी की टंकार से शत्रुओं के नगर को जगा दिया। यहाँ अनुष्टुप का अंश अन्त पतित है।

उत्कलिकाप्राय का उदाहरण—'अनिशविसुमरनिशितशरविसरविदलितसमरपरिगतप्रवरपरबलः।' अर्थात्, उसने समर में आई हुई शत्रुओं की प्रबल सेना को लगातार अपने तीक्ष्ण बाणों की वर्षा से छिन्न-भिन्न कर डाला।

चूर्णक का उदाहरण—'गुणरत्नसागर, जगदेकनागर, कामिनीमदन जनरञ्जन' इत्यादि। अर्थात्, तुम गुण रूपी रत्नों के सागर हो। संसार में अद्वितीय चतुर हो। रमणियों के लुभाने में कामदेव के समान सुन्दर हो। प्रजाजन को प्रसन्न करने वाले हो।

* नीचे लिखे संस्कृत-भाग ही मुक्तक आदि के उदाहरण हैं, इनके हिन्दी अनुवाद नहीं।

कथा में सरस वस्तु गद्यों के द्वारा ही बनायी जाती है। इसमें कहीं-कहीं आर्याछन्द और कहीं वक्त्र तथा अपवक्त्र छन्द होते हैं। प्रारम्भ में पद्यमय नमस्कार और खलादिकों का चरित्र निबद्ध होता है। जैसे कादम्बरी।

आख्यायिका कथा के समान होती है। इसमें कविवंश-वर्णन होता है, और अन्य कवियों का वृत्तान्त तथा पद्य भी कहीं-कहीं रहते हैं। यहाँ कथा-भागों का नाम 'आश्वास' रखा जाता है। आर्या, वक्त्र या अपवक्त्र छन्द के द्वारा अन्योक्ति से आश्वास के प्रारम्भ में अगली कथा की सूचना दी जाती है। जैसे हर्ष-चरित। 'आख्यायिका की कथा नायक के मुख से ही निबद्ध होनी चाहिये' यह किन्हीं का मत है—सो ठीक नहीं, क्योंकि आचार्य दण्डी ने यह कहा है कि 'आख्यायिका में भी अन्य लोगों के वचन होते हैं—केवल नायक ही के नहीं—अतः इस विषय में कोई नियम नहीं है।' आख्यानादिक कथा और आख्यायिका के ही अन्तर्भूत हैं। यह भी दण्डी ने ही कहा है। इनके उदाहरण पञ्चतन्त्रादि हैं।

जिसमें गद्य और पद्य दोनों हों उस काव्य को चम्पू कहते। गद्य-पद्यमय राजस्तुति का नाम विरुद है। विविध भाषाओं से निर्मित करम्भक कहलाता है ॥६।३३०-३३७॥　　　　(पृष्ठ ३२५-३२६)

अनुवादक : साहित्याचार्य श्री शालग्राम शास्त्री

विश्वनाथः

[साहित्यदर्पण]*

१ काव्यफलम्

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥१।२॥

चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवदित्यादिकृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव ।

उक्तं च—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥' इति ।

किञ्च काव्याद्धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना, 'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' इत्यादिवेदवाक्येभ्यश्च सुप्रसिद्धैव । अर्थप्राप्तिश्च प्रत्यक्षसिद्धा । कामप्राप्तिश्चार्थद्वारैव । मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्यधर्मफलाननुसन्धानात् । मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्त्याधायकत्वाच्च । चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते । परमानन्दसंदोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव ।

ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यपि न वक्तव्यम् । कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात् । (पृष्ठ १०-१६)

२. काव्यस्य स्वरूपम्

काव्यस्य स्वरूपं निरूप्यते । एतेनाभिधेयं च प्रदर्शितम् । तत्किं स्वरूपं तावत्काव्यमित्यपेक्षायां कश्चिदाह—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' इति । एतच्चिन्त्यम् । तथाहि—यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वं तदा—

* नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा संवत् १९९१ में प्रकाशित द्वितीय संस्करण

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापस
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥'

अस्य श्लोकस्य विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं [redacted] स्यात । प्रत्युत ध्वनित्वेनोत्तमकाव्यताऽस्याङ्गीकृता । तस्मादव्याप्तिर्लक्षणदोष । ननु कश्चिदेवांशोऽत्र दुष्टो न पुन सर्व एवेति चेत्तर्हि यत्रांशे दोष सोऽकाव्यत्वप्रयोजक, यत्र ध्वनि [redacted] उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यं वा किमपि न स्यात् । न च कश्चिदेवांशं काव्यस्य दूषयन्त श्रुतिदुष्टादयो दोषाः, किं तर्हि, सर्वमेव काव्यम् । तथाहि—काव्यात्मभूतस्य रसस्यानपकर्षकत्वे तेषां दोषत्वमपि नाङ्गीक्रियते । अन्यथा नित्यदोषानित्यदोषत्वव्यवस्थापि न स्यात् । यदुक्तं ध्वनिकृता—

'श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिता ।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृता ॥' इति ।

किञ्चैवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसम्भवात् ।

नन्वीषदर्थे नञः प्रयोग इति चेत्तर्हि 'ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्युक्ते निर्दोषयो काव्यत्वं न स्यात । सति सम्भवे 'ईषद्दोषौ' इति चेत, एतदपि काव्यलक्षणेऽवाच्यम् । रत्नादिलक्षणे कीटानुवेधादिपरिहारवत । नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशा, किन्तूपादेयतारतम्यमेव कर्तुम्, तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य । उक्तं च—

'कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता ।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगम स्फुट ॥' इति ।

किञ्च शब्दार्थयो सगुणत्वविशेषणमनुपपन्नम् । गुणानां रसैकधर्मत्वस्य 'ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन' इत्यादिना तेनैव प्रतिपादितत्वात् । रसाभिव्यञ्जकत्वेनोपचारत उपपद्यत इति चेत तथाप्ययुक्तम् । तथाहि—तयो काव्यस्वरूपेणाभिमतयो शब्दार्थयो रसोऽस्ति, न वा । नास्ति चेत गुणवत्त्वमपि नास्ति । गुणानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । अस्ति चेत् कथं नोक्तं रसवन्ताविति विशेषणम् । गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्यैतल्लभ्यत इति चेत्, तर्हि सरसावित्येव वक्तुं युक्तम्, न सगुणाविति । नहि प्राणिमन्तो देशा इति वक्तव्ये शौर्यादिमन्तो देशा इति केनाप्युच्यते ।

ननु 'शब्दार्थौ सगुणौ' इत्यनेन गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ काव्ये प्रयोज्यावित्यभिप्राय इति चेत्, न। गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थवत्त्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वम्, न तु स्वरूपाधायकत्वम्। उक्तं हि—काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्, इति। एतेन 'अनलंकृती पुनः क्वापि' इति यदुक्तम्, तदपि परास्तम्। अस्यार्थः—सर्वत्र सालंकारौ क्वचित्त्वस्फुटालंकारावपि शब्दार्थौ काव्यमिति। तत्र सालंकारशब्दार्थयोरपि काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वात्। एतेन 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि परास्तम्। वक्रोक्तेरलंकाररूपत्वात्। यत्तु क्वचिदस्फुटालंकारत्वे उदाहृतम्—

'यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥' इति।

एतच्चिन्त्यम्। अत्र हि विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य सन्देहसंकरालंकारस्य स्फुटत्वम्। एतेन—

'अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥'

इत्यादीनामपि काव्यलक्षणत्वमपास्तम्। यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इति, तत्किं वस्त्वलंकाररसादिलक्षणस्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा उत रसादिरूपमात्रो वा। नाद्यः, प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः। द्वितीयश्चेदोमिति ब्रूमः। ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, तदा—

'अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअन्धिअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि॥'*

इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत्, न। अत्रापि रसाभासवत्तयैवेति ब्रूमः। अन्यथा 'देवदत्तो ग्रामं याति' इति वाक्ये तद्भृत्यस्य तदनुसरणरूपव्यङ्ग्यावगतेरपि काव्यत्वं स्यात्। अस्त्विति चेत्, न। रसवत एव काव्यत्वाङ्गीकारात्। काव्यस्य प्रयोजनं हि रसास्वादसुखपिण्डदानद्वारा वेदशास्त्रविमुखानां सुकुमार-

* श्वश्रूरत्र निमज्जति, अत्राहं, दिवस एव प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध, शय्यायां मम निमङ्क्ष्यसि॥

मतीनां राजपुत्रादीनां विनेयानां रामादिवत्प्रवर्तितव्यम्, न रावणादिवदित्यादि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेश इति चिरन्तनैरप्युक्तत्वात्। तथा चाग्नेयपुराणेऽप्युक्तम्—'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' इति। व्यक्तिविवेककारेणाप्युक्तम्—'काव्यस्यात्मनि सङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः' इति। ध्वनिकारेणाप्युक्तम्—'नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभः। इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः' इत्यादि। ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषाञ्चिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेत्, न। रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्। यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद्दोषाभावादलंकारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः स रसादिमत्काव्यबन्धसाम्याद् गौण एव। यत्तु वामनेनोक्तम्—'रीतिरात्मा काव्यस्य' इति, तन्न। रीतेः संघटनाविशेषत्वात्। संघटनायाश्चावयवसंस्थानरूपत्वात्, आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात्। यच्च ध्वनिकारेणोक्तम्—

'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥' इति।

अत्र वाच्यात्मत्वं 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'—इति स्ववचनविरोधादेवापास्तम्। तत्किं स्वरूपं काव्यमित्युच्यते—

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

रसस्वरूपं निरूपयिष्यामः। रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य। तेन विना तस्य काव्यत्वाभावस्य प्रतिपादितत्वात्। 'रस्यते इति रसः' इति व्युत्पत्तियोगाद्भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते।

तत्र रसो यथा—

'शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥'

अत्र हि संभोगशृङ्गाराख्यो रसः।

भावो यथा महापात्रराघवानन्दसान्धिविग्रहिकाणाम्—

'यस्यालीयत शल्कसीम्नि जलधिः, पृष्ठे जगन्मण्डलं,
दंष्ट्रायां धरणी, नखे दितिसुताधीशः, पदे रोदसी।
क्रोधे क्षत्रगणः, शरे दशमुखः, पाणौ प्रलम्बासुरो,
ध्याने विश्वमसावधार्मिककुलं कस्मैचिदस्मै नमः॥'

अत्र भगवद्विषया रतिर्भावः ।

रसाभासो यथा—

'मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥'

अत्र संभोगशृङ्गारस्य तिर्यग्विषयत्वाद्रसाभासः ।

गुणाः किंस्वरूपा इत्युच्यन्ते—

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः ॥१।३॥

गुणाः शौर्यादिवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, देहद्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तमेव काव्यस्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते । (पृष्ठ १६-१२)

वाक्यस्वरूपमाह—

वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।

योग्यता पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः, पदोच्चयस्यैतदभावेऽपि वाक्यत्वे 'वह्निना सिञ्चति' इत्यादावपि वाक्यं स्यात् । आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः । स च श्रोतुर्जिज्ञासारूपः । निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वे 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादीनामपि वाक्यत्वं स्यात् । आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः—

बुद्धिविच्छेदेऽपि वाक्यत्वे इदानीमुच्चरितस्य देवदत्तशब्दस्य दिनान्तरोच्चरितेन गच्छतीति पदेन संगतिः स्यात् । अत्राकाङ्क्षायोग्यतयोरात्मार्थधर्मत्वेऽपि पदोच्चयधर्मत्वमुपचारात् ।

वाक्योच्चयो महावाक्यम्

योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त इत्येव ।

इत्थं वाक्यं द्विधा मतम् ॥२।१॥

इत्थमिति वाक्यमहावाक्यत्वेन । उक्तं च—

'स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया ।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ॥' इति ।

तत्र वाक्यं यथा—'शून्यं वासगृह'— इत्यादि। महावाक्यं यथा—रामायण-महाभारतरघुवंशादि।

पदोच्चयो वाक्यमित्युक्तम्, तत्र किं पदलक्षणमित्यत आह—

वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः।

यथा—पद। प्रयोगार्हेति 'प्रातिपदिकस्य व्यवच्छेदः'। अनन्वितेति वाक्यमहावाक्ययोः। एकेति साकाङ्क्षानेकपदवाक्यानाम्। अर्थबोधका इति क-च-ट-त-पेत्यादीनाम्। वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितम्। (पृष्ठ ३४-३६)

३ काव्यस्य प्रकाराः

काव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥६।३१३॥

तत्र पद्यमयान्याह—

छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते ॥६।३१४॥

कलापकं चतुर्भिश्च पंचभिः कुलकं मतम्।

तत्र मुक्तकं यथा मम—

'सान्द्रानन्दमनन्तमव्ययमजं यद्योगिनोऽपि क्षणं
साक्षात्कर्तुमुपासते प्रतिमुहुर्ध्यानैकतानाः परम्।
धन्यास्ता मथुरापुरीयुवतयस्तद् ब्रह्म याः कौतुका—
दालिंगन्ति समालपन्ति शतधा कर्षन्ति चुम्बन्ति च ॥'

युग्मकं यथा मम—

'किं करोषि करोपान्ते कान्ते गण्डस्थलीमिमाम्।
प्रणयप्रवणे कान्ते नैकान्तेनोचिताः क्रुधः ॥
इति यावत्कुरङ्गाक्षीं वक्तुमीहामहे वयम्।
तावदाविरभूच्चूते मधुरो मधुपध्वनिः ॥'

एवमन्यान्यपि।

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥६।३१५॥

सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥६।३१६॥

शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ॥६।३१७॥

इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥६।३१८॥

आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ॥६।३१९॥

एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥६।३२०॥

नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥६।३२१॥

सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥६।३२२॥

सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ॥६।३२३॥

वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥६।३२४॥

नामास्य, सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।

सन्ध्यङ्गानि यथालाभमत्र विधेयानि । 'अवसानेऽन्यवृत्तकैः' इति बहुवचनमविवक्षितम् । साङ्गोपाङ्गा इति जलकेलिमधुपानादयः । यथा—रघुवंश शिशुपालवध-नैषधादयः । यथा वा मम-राघवविलासादि ।

अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः ॥६।३२५॥

अस्मिन्महाकाव्ये । यथा—महाभारतम् ।

प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससंज्ञकाः ।
छन्दसा स्कन्धकेनैतत् क्वचिद्गलितकैरपि ॥६।३२६॥

यथा—सेतुबन्ध । यथा वा मम—कुवलयाश्वचरितम् ।

अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन्सर्गा कुडवकाभिधा ।
तथापभ्रंशयोग्यानि छन्दांसि विविधान्यपि ॥६।३२७॥

यथा कर्णपराक्रम ।

भाषाविभाषानियमात्काव्य सर्गसमुत्थितम् ।
एकार्थप्रवणं पद्यै सन्धिसामग्र्यवर्जितम् ॥६।३२८॥

यथा—भिक्षाटनम्, आर्याविलासश्च ।

खण्डकाव्य भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।

यथा—मेघदूतादि ।

कोष श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षक ॥६।३२९॥

व्रज्याक्रमेण रचित स एवातिमनोरम ।

सजातीयानामेकत्र सनिवेशो व्रज्या । यथा—मुक्तावल्यादि ।

(पृष्ठ ३२२ ३२५)

४ गद्यकाव्यम्

अथ गद्यकाव्यानि । तत्र गद्यम्—

वृत्तगन्धोज्झित गद्य मुक्तक वृत्तगन्धि च ॥६।३३०॥

भवेदुत्कलिकाप्राय चूर्णक च चतुर्विधम् ।
आद्य समासरहित वृत्तभागयुत परम् ॥६।३३१॥

अन्यद्दीर्घसमासाढ्य तुर्य चाल्पसमासकम् ।

मुक्तक यथा—'गुरुर्वचसि पृथुरुरसि'—इत्यादि ।

वृत्तगन्धि यथा मम—'समरकण्डूलनिबिडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिञ्जिनीटङ्कारोज्जागरितवैरिनगर'—इत्यादि ।

अत्र 'कुण्डलीकृतकोदण्ड'—इत्यनुष्टुब्वृत्तस्य पाद, 'समरकण्डूल' इति च प्रथमाक्षरद्वयरहितस्तस्यैव पाद ।

उत्कलिकाप्रायं यथा ममैव—'अणिसविसुमरसिविसरविसरविदलिवसमरपरिगदपवरपरबल'—इत्यादि।

चूर्णकं यथा मम—'गुणरत्नसागर, जगदेकनागर, कामिनीमदन जनरञ्जन' इत्यादि।

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ॥६।३३२॥

क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ॥६।३३३॥

यथा—कादम्बर्यादि।

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित् ॥६।३३४॥

कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित् ॥६।३३५॥

अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्।

यथा—हर्षचरितादिः।

'अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्' इति दण्ड्याचार्यवचनात्केचित् 'आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या' इत्याहु, तदयुक्तम्। आख्यानादयस्तु कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ता। यदुक्तं दण्डिनैव—

'अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः।' इति।

एषामुदाहरणम्—पञ्चतन्त्रादि।

अथ गद्यपद्यमयानि—

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ॥६।३३६॥

यथा—देशराजचरितम्।

गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते।

यथा—विरुदमणिमाला।

करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम् ॥६।३३७॥

यथा मम—षोडशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली। (पृष्ठ ३२५-३२६)

पण्डितराज जगन्नाथ

समय—सत्रहवीं शताब्दी का मध्य भाग

[ग्रन्थ—रसगंगाधर]

१ काव्य-लक्षण

रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य कहते हैं। अलौकिक आनन्द-जनक ज्ञान का विषय होना रमणीयता है। अलौकिकत्व चमत्कारत्व का ही पर्याय है। यह एक विशिष्ट प्रकार की आनन्द-दायिनी अनुभूति है। इसका कारण है एक विशिष्ट प्रकार की भावना जो अलौकिकत्व से युक्त शब्दार्थ के बार-बार अनुचिन्तन से उत्पन्न होती है। 'तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है' 'तुम्हें धन दूंगा', इस प्रकार के अर्थ ज्ञान से उत्पन्न आनन्द अलौकिक नहीं, अतः इन वाक्यों के लिए काव्य का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि चमत्कार को उत्पन्न करने वाली भावना के विषयभूत अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। अथवा, जिस या जिन शब्दों से प्रतिपादित अर्थ के बार-बार अनुचिन्तन करने से चित्त में चमत्कार उत्पन्न होता है, वे ही काव्य हैं। अथवा, विशिष्ट चमत्कार को उत्पन्न करने वाले अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है।

'दोष रहित, गुण एवं अलङ्कार सहित शब्द और अर्थ काव्य है" प्राचीनों ने काव्य का जो यह लक्षण लिखा है, उस पर विचार करते हैं—

शब्द और अर्थ दोनों काव्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसके विपरीत 'काव्य ज़ोर से पढ़ा जा रहा है', 'काव्य से अर्थ समझा जाता है', 'काव्य सुना, पर अर्थ समझ में न आया,' इत्यादि सार्वजनीन व्यवहार से विशिष्ट शब्द ही 'काव्य' (शब्द के अर्थ) का बोधक है।

शंका—ऐसे व्यवहार के लिए जिसमें काव्य शब्द का प्रयोग केवल 'शब्द' के विषय में किया गया हो लक्षणा मान लीजिए।

उत्तर—हाँ, ऐसा तब हो सकता है जब आप किसी दृढ़तर प्रमाण से यह सिद्ध कर दें कि काव्य शब्द का मुख्य प्रयोग आप से अभिप्रेत 'शब्द और अर्थ' दोनों

के लिए होता है। ऐसा कोई प्रमाण हम नहीं देखते। विरोधी मत निश्चय ही अमान्य है। इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों का नाम काव्य है इसमें कोई प्रमाण उपलब्ध न होने से हमारे द्वारा उपस्थित किए हुए पूर्वोक्त व्यवहार के अनुसार विशिष्ट शब्द का नाम ही काव्य है, इस बात का कौन निषेध कर सकता है ? इसी से काव्य 'शब्द और शब्दार्थ दोनों का वाचक है,' इस कथन का भी खण्डन हो जाता है। इस प्रकार विशिष्ट शब्द के ही काव्य सिद्ध होने से उसी के लक्षण करने की आवश्यकता है न कि स्वकल्पित शब्दार्थ-रूप काव्य के लक्षण करने की। यही बात वेद, पुराण आदि के लक्षणों में भी समझनी चाहिए, अन्यथा यही दुरवस्था उनमें भी होगी।

जो वादी यह युक्ति देते हैं कि जिससे रस का उद्बोध होता हो उसी के लिए काव्य का प्रयोग होना चाहिए और वह शब्द और अर्थ दोनों में समान है, अतएव दोनों को काव्य कहना उचित है—यह मत ठीक नहीं। क्योंकि (इस लक्षण को मान लेने पर) ध्वनिकार आदि सभी आलङ्कारिकों द्वारा सम्मत राग भी रस-व्यञ्जक होने के कारण प्रस्तुत काव्य लक्षण के अन्तर्गत आ जायगा। अधिक क्या कहें, सभी नाट्याङ्गों को प्रायः रस-व्यञ्जक होने के कारण काव्य मानना अनिवार्य हो जायगा। इसी हेतु से रसोद्बोध में समर्थ रचना ही काव्य है, यह युक्ति भी खण्डित हो गई। और भी, शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं अथवा प्रत्येक पृथक्-पृथक् भी पर्याप्त है ? प्रथम विकल्प नहीं हो सकता क्योंकि जिस प्रकार 'एक' (दो के अवयव) के लिए 'दो' का व्यवहार नहीं होता है, उसी प्रकार श्लोक के अवयव वाक्य के लिए 'काव्य' का प्रयोग नहीं हो सकेगा। द्वितीय भी अमान्य है क्योंकि एक पद्य के लिए काव्यद्वय का व्यवहार करना पड़ेगा। अतएव वेद, शास्त्र और पुराण के लक्षण की तरह शब्द को ही काव्य मानना चाहिए।

काव्य-लक्षण में गुण और अलङ्कार आदि की योजना भी अनुचित है। क्योंकि अभिसरण विधि, अभिसरण-निषेध, जीवनाभाव आदि के द्योतक, दूती, अभिसारिका, विरहिणी आदि द्वारा कथित 'चन्द्रमण्डल उदित हो गया है' और 'सूर्यास्त हो गया है' इत्यादि प्रयोगों में अव्याप्ति हो जायगी। परन्तु, यह काव्य नहीं है—यह नहीं कहा जा सकता।। क्योंकि इस अवस्था में आपके द्वारा अभिप्रेत काव्य को भी कोई काव्य नहीं कहेगा। काव्य का प्राण चमत्कार इन दोनों में समान है। दूसरे गुण और अलङ्कारों की अनुपलब्धि से उनका काव्य-लक्षण में सन्निवेश अनुचित है।

प्राचीनों के काव्य-लक्षण में 'अदोषौ' पद भी अनुपयुक्त है। क्योंकि 'अमुक काव्य दोष-युक्त है' ऐसा लोक में प्रयोग होता है। मुख्यार्थ-बाध न होने से लक्षणा के

द्वारा भी इसको काव्य नहीं कहा जा सकता। शङ्का—पूर्ण संयोग के न होने पर भी वृक्ष को संयोगी कहा जाता है, उसी प्रकार अंशतः निर्दोष होने पर भी 'यह काव्य दोष-युक्त है' यह व्यवहार हो जायगा। उत्तर—यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'वृक्ष की जड़ में पक्षी का संयोग है अन्यत्र शाखा में नहीं' इस प्रतीति के समान यह पद्य पूर्वार्द्ध में काव्य है उत्तरार्द्ध में नहीं ऐसा सार्वजनीन अनुभव न होने से अंशद्वय में भी काव्यत्व की प्रसक्ति हो जायगी।

जिस प्रकार आत्मा के धर्म शौर्य आदि होते हैं उसी प्रकार काव्य की आत्मा रस के धर्म गुण कहे जाते हैं। जिस तरह शरीर के शोभा-विधायक हार आदि होते हैं उसी प्रकार अलंकार भी काव्य को अलंकृत करते हैं। परन्तु जिस प्रकार वीरता अथवा हारादिक शरीर के निर्माण में अनुपयोगी हैं, उसी प्रकार काव्य-लक्षण में इनका प्रयोग भी अनुपयुक्त है।

साहित्य-दर्पणकार ने 'जिसमें रस हो वही काव्य है, यह जो लक्षण निश्चित किया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि इसके स्वीकार करने पर वस्तु-अलंकार-प्रधान काव्य काव्य ही न रहेंगे। आप कहेंगे कि हम उनको काव्य मानना ही नहीं चाहते—यह उचित नहीं, क्योंकि इससे महाकवियों की प्राचीन परम्परा में अव्यवस्था आ जायगी। उन्होंने स्थान-स्थान पर जल के प्रवाह, वेग, गिरने, उछलने और भ्रमण एवं बन्दरों और बालकों की क्रीडाओं का वर्णन किया है। यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें भी यथा-कथञ्चित् परम्परा से रस-स्पर्श है ही। कारण, 'बैल चलता है' हरिण दौड़ता है'—इनमें भी इस प्रकार का रस-स्पर्श मान कर इन्हें भी काव्य मानना पड़ेगा किन्तु ऐसा प्रयोग नहीं है। क्योंकि जगत की सम्पूर्ण वस्तुएँ विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव इनमें से किसी न किसी के अन्तर्गत आ ही जाती हैं। (पृष्ठ ४–६)

२. काव्य-हेतुक प्रतिभा

काव्य का कारण कवि में विद्यमान केवल प्रतिभा है। काव्य-निर्माण के लिए अनुकूल शब्दार्थों की उपस्थिति का नाम प्रतिभा है।

उसका कारण कहीं किसी देवता अथवा किसी महापुरुष की प्रसन्नता से कारण अदृष्ट, और कहीं असाधारण अध्ययन तथा काव्य रचना का अभ्यास है। किन्तु तीनों ही नहीं, क्योंकि कई बालकों एवं अबोधों को भी केवल महापुरुषों की कृपा से ही प्रतिभोत्पत्ति हुई है। इसमें उनके पूर्व-जन्म के विलक्षण व्युत्पत्ति और काव्य-रचना-भ्यास भी नहीं मान सकते क्योंकि इसमें अनावश्यक विस्तार, प्रमाण का अभाव तथा सब की अनुपस्थिति में भी कार्य सम्पन्न हो सकता है।

लोक में वेदादिक प्रबल प्रमाणों से कारण के निश्चय के उपरान्त भी यदि कारण में विरोध (व्यभिचार) हो तो उसके परिहार के लिए अन्य कारणों के निश्चय न होने पर पूर्व-जन्म कृत धर्म-अधर्म आदि कारण की कल्पना की जाती है। नहीं तो कार्य-कारण विरोध के लिए पूर्व-जन्म के कर्मों को कारण मानना भ्रान्ति-जनक ही होगा।

केवल अदृष्ट ही कारण है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि बहुत काल तक काव्य करने में असमर्थ होते हुए भी कुछ व्यक्तियों में श्रमपूर्वक अध्ययन और अभ्यास के अनन्तर प्रतिभा उत्पन्न हो जाती है। इसमें भी अदृष्ट को कारण मानने पर व्युत्पत्ति और अभ्यास के पूर्व भी प्रतिभा उत्पन्न हो जानी चाहिए थी। इसमें प्रतिभा के बाधक किसी अन्य अदृष्ट की कल्पना कर ली जानी चाहिए—ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसे अनेक स्थलों पर दो अदृष्टों की कल्पना की अपेक्षा रचनात्मक व्युत्पत्ति और अभ्यास को ही प्रतिभा के कारण मानने में लाघव है। इसलिए पूर्व प्रतिपादित पद्धति ही श्रेयस्कर है।

उस प्रकार ग अदृष्ट तथा उस प्रकार के अध्ययन और अभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा में एक ही प्रकार की विलक्षणता होती है जो काव्य का कारण है। इसलिए यहाँ कोई व्यभिचार नहीं। अन्यथा भिन्न भिन्न प्रतिभाओं से कार्य भी पृथक् पृथक् होने के कारण कोई दोष सम्भव नहीं है।

जिन मनुष्यों में व्युत्पत्ति और अभ्यास के होते हुए भी प्रतिभा उत्पन्न नहीं होती है उनमें विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास ही कारण हैं। अथवा किसी विशेष प्रकार के पाप को प्रतिभा का प्रतिबन्धक मान लेने से यह दोष नहीं रहता। काव्य के प्रति प्रतिबन्धकाभाव की कारणता तीनों को इकट्ठे कारण मानने वाले और केवल प्रतिभा अथवा शक्ति को कारण मानने वाले दोनों के लिए समान ही आवश्यक है क्योंकि प्रतिवादी जब मन्त्रादिकों से कुछ दिनों के लिए किसी अनेक काव्य बनाने वाले कवि की भी वाणी को रोक देता है, तो उससे काव्य उत्पन्न नहीं होता, यह देखा गया है। (पृष्ठ ९-११)

२ काव्य-भेद

यह काव्य (१) उत्तमोत्तम, (२) उत्तम, (३) मध्यम और (४) अधम भेद से चार प्रकार का होता है।

उत्तमोत्तम काव्य उसे कहते हैं, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों अपने को गौण बना कर किसी चमत्कार-जनक अर्थ को अभिव्यक्त करें अर्थात् व्यञ्जना-वृत्ति से

समझावें। चमत्कार-जनक अर्थ की अभिव्यक्ति से अति गूढ़ और अत्यन्त स्पष्ट व्यङ्ग्य वाले काव्य का निराकरण हो जाता है। अपराङ्ग और वाच्य-सिध्यङ्ग व्यंग्य भी चमत्कारी होते हैं, अतः उनके निवारण के लिए लक्षण में 'अपने को गौण बनाकर' कहा गया, अर्थात् शब्द और अर्थ (वाच्य) दोनों से व्यंग्य की प्रधानता अपेक्षित है।

उदाहरण—प्रियतमा अपने प्रियतम के समीप सोई है, पर आश्चर्य है कि वह अपने मनोरथों को सफल करने में असमर्थ है, अतः अर्द्ध-निमीलित नेत्रों से प्रियतम के मुख-कमल को देख रही है।

इसमें आलम्बन नायक, उद्दीपन विभाव समीप-शयन से ध्वनित एकान्त स्थान आदि, अनुभाव इस प्रकार अवलोकन आदि और व्यभिचारी भाव लज्जा, औत्सुक्य आदि के संयोग से रति की अभिव्यक्ति होती है। आलम्बन आदि के लक्षण का वर्णन आगे करेंगे।

इस पद्य में रति की अभिव्यक्ति न मान कर यदि यह सो गया हो, तो मैं इसका मुख-कमल चूम लूँ'। नायिका की इस प्रकार की इच्छा ही व्यंग्य है—यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि 'वह अपने मनोरथों को सफल करने में असमर्थ है' इससे उसके हृदय में सब मनोरथ विद्यमान हैं। इस प्रतीति से मनोरथ शब्द के द्वारा सामान्य रूप से चुम्बनेच्छा का भी वर्णन हो जाता है। यह मनोरथ शब्द से मनोरथ रूप सामान्य इच्छा के कथन होने पर भी 'चुम्बन करूँ' इस विशेष विषय से युक्त इच्छा को व्यंग्य मानने में कोई बाधा नहीं है—यह नहीं कहा जा सकता। कारण—चमत्कार नहीं रहेगा, बस यही बाधा है। विशेष-रूप से व्यंग्य होने पर भी सामान्य रूप से वाच्य अर्थ सहृदयों के हृदय में चमत्कार उत्पन्न करने में असमर्थ होता है। आलङ्कारिकों ने अभिधा वृत्ति से सर्वथा अस्पृष्ट व्यंग्य को ही चमत्कारी स्वीकार किया है। चुम्बनेच्छा रति के अनुभाव-रूप में सुन्दर रही या सकती है। अन्यथा जिस प्रकार 'चुम्बन करता हूँ' इस कथन में कोई चमत्कार नहीं है उसी प्रकार उसमें भी कोई चमत्कार नहीं होगा। अतः यह रति की अपेक्षा गौण ही है, प्रधान नहीं। इसी प्रकार श्लोक में लज्जा भी मुख्यतया व्यंग्य नहीं है क्योंकि 'अर्द्ध-निमीलित नेत्रों से' इस नायिका के विशेषण से लज्जा अभिव्यक्त होती है। पद्य में उस विशेषण का सिद्ध बात के अनुवाद रूप में वर्णन किया गया है, विधेय रूप में नहीं—तब उस विशेषण से पूर्णतया सम्बन्ध रखने वाली लज्जा ही इसका प्रधान अर्थ है यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु अर्द्ध-निमीलित नेत्रों से विशिष्ट निरीक्षण ही विधेय है। अतः यह अनुवाद नहीं है यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस प्रकार नयनों का अर्द्ध-निमीलन से विशिष्ट निरीक्षण रति

का ही कार्य है। लज्जा को मुख्य रूप से व्यंग्य मानने पर निरीक्षण शब्द का प्रयोग अनपेक्षित हो जायगा। जिस प्रकार अभिधा वृत्ति के द्वारा रति के अनुभाव 'निरीक्षण' की अपेक्षा लज्जा का अनुभाव 'अर्द्ध निमीलन' गौण है, उसी प्रकार व्यंजना-वृत्ति के द्वारा रति की अपेक्षा लज्जा को गौण मानना उचित है। अन्य उदाहरण—

नायक अपने मित्र से कह रहा है—गुरुजनों के बीच में बैठी हुई अतएव लज्जावनत प्रियतमा को मैंने धीरे कमल की डंडी से मार दिया। उसने कुण्डलों को कुछ नचा कर एवं भौंहें नीची करके मुझे देखा और घूम गई।

इस पद्य में 'घूम गई' इस वाक्य से—'ऐ! बिना सोचे समझे कार्य करने वाले! तुमने यह अनुचित कार्य क्यों किया'।' इस अर्थ से युक्त अमर्ष-भाव प्रधानतया ध्वनित होता है और उसकी अपेक्षा श्लोक के शब्द और अर्थ गौण हो गए हैं।

उत्तमोत्तम काव्य का दूसरा उदाहरण—

जो सुकुमारी नव वधू, पलङ्ग पर सोई हुई भी श्वास के स्पर्श मात्र से भी अपने लता के समान अङ्गों को सकुचित कर लेती थी वह प्रवत्स्यत्पतिका इस समय प्रस्थान से पूर्व की रात्रि में, अपने हृदय पर ससङ्क प्रिय के रखे हुए हाथ को नव-वधू जाति के स्वभाववश हटाती है किन्तु धीरे-धीरे।

यहाँ धीरे-धीरे हटा कर अपने स्थान पर पहुँचाने के रूप में रति नामक स्थायी भाव असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य है। स्थायी भाव आदि भी असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य होते हैं यह आगे सिद्ध किया जायगा। काव्य के इसी उत्तमोत्तम भेद को 'ध्वनि-काव्य' कहा जाता है।

अप्पय दीक्षित ने 'चित्रमीमांसा' में 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इस पद्य की ध्वनि-काव्य के उदाहरण के प्रसङ्ग में निम्नाङ्कित व्याख्या की है—

स्तनों का चन्दन उत्तरीय के खींचन से मिट सकता है, इस प्रकार की अन्यथा सिद्धि के निवारणार्थ 'निःशेष' कहा। स्नान से भी चन्दन च्युति सम्भव है इस कारण सम्भोग के चिह्न की अभिव्यक्ति के लिए 'तट' कहा। स्नान से तो सभी स्थानों का चन्दन धुल जाना चाहिए पर तेरे तो स्तनः के केवल अग्रभाग का ही मिटा है, यह आलिङ्गन से ही हुआ है। इसी प्रकार 'निर्मृष्ट रागोऽधरः' इसमें पान खाने में विलम्ब होने पर ओठ का राग कुछ-कुछ मिट जाता है, इस प्रकार की अन्यथा सिद्धि के निवारण के लिए 'निर्मृष्ट राग' कह कर राग के पूर्णतः मिट जाने का कथन किया

गया। स्नान से भी मोठ का रंग मिट सकता है—इसके निराकरण के लिए और सम्भोग-चिह्न की अभिव्यक्ति के लिए 'अधर' का विशेष रूप से प्रयोग हुआ। ऊपरी ओठ के राग सहित होने पर नीचे के ओठ का ही राग मिट जाना चुम्बन से ही सम्भव है। यहाँ से लेकर 'यह भी ध्वनि का उदाहरण है' इस प्रकरण द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि जो 'तट' आदि शब्दों से निर्मित वाक्यार्थ हैं, वे स्नान के निराकरण द्वारा सम्भोग के अङ्ग-आलिङ्गन, चुम्बन आदि के प्रतिपादन [redacted] प्रधान व्यंग्य की अभिव्यक्ति में सहायता करते हैं। यह सब अप्पय दीक्षित का विवेचन अलङ्कार-शास्त्र के तत्त्व को न समझने के कारण है, क्योंकि यह सभी प्राचीन ग्रन्थों एवं युक्तियों के विरुद्ध है। जैसा कि काव्य-प्रकाशकार ने पञ्चम उल्लास के अन्त में कहा है—'निःशेष' आदि व्यञ्जक-रूप से गृहीत 'चन्दन-च्यवन' आदि दूसरे कारणों से भी सम्भव हैं। क्योंकि इसी श्लोक में वे स्नान के कार्य के रूप में प्रयुक्त हैं, उपभोग में ही सीमित नहीं हैं, इस कारण अनैकान्तिक हैं। और वहीं उन्होंने व्यक्ति-विवेककार का जो यह मत है कि—

'हे धार्मिक ! अब आप विश्वस्त होकर घूमिए, उस कुत्ते को, जिससे आपको डर था, आज गोदावरी नदी के कछार की कुञ्ज में रहने वाले मत्त सिंह ने मार दिया।' इत्यादिक स्थलों में हेतु से कार्यज्ञान होता है, और 'हेतु' से कार्य के ज्ञान होने का नाम अनुमान है तथा व्यञ्जना से भी यही बात होती है, अतः व्यञ्जना और अनुमान में कोई भेद नहीं। इसका खण्डन करते हुए 'व्यभिचारी' और असिद्ध होने या जिन हेतुओं में सन्देह है उनसे भी अर्थ ध्वनित हो सकता है, यह स्वीकार किया है। इसी प्रकार ध्वन्यालोक में ध्वनिकार द्वारा भी यही मान्य है, और इस प्रकार व्यञ्जक अर्थों की साधारणता प्रतिपादन करने वाले प्रामाणिक ग्रन्थों के साथ असाधारणता का प्रतिपादन करने वाले आपके ग्रन्थ का विरोध स्पष्ट है।

प्रश्न—आप जो 'निःशेष' इत्यादि वाक्यार्थों से वापी-स्नान के स्थान पर सम्भोग की अभिव्यक्ति कर रहे हैं वह किसलिए ? व्यंग्य अर्थ की अभिव्यञ्जना के लिये ?

उत्तर—यह सम्भव नहीं, क्योंकि व्यंग्य अर्थ के निष्पादन [redacted] लिए यह आवश्यक नहीं कि उसको व्यक्त करने वाली सभी वस्तुएँ उसी से सम्बन्धित हों।

दूती नायक से सम्भोग करके नायिका के पास आई है। उसकी दशा देखकर नायिका उससे कहती है—

हे सखि ! हाय ! मुझ मन्द-भागिनी के लिए तुझे भी जागरण, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य और निश्वास ने दबा रखा है, तू भी इन से दुःखी हो रही है।

इस पद्य में साधारण रूप से निर्दिष्ट जागरण आदि बातों से वक्तादि के वैशिष्ट्य से विशेष अर्थ (सम्भोग) की अभिव्यक्ति होती है। प्रत्युत यदि व्याप्ति का पर्यायवाची असाधारण्य अनुमान के अनुकूल तथा व्यञ्जना के प्रतिकूल है। तट आदि शब्दों से रचित होने पर भी 'नि:शेष' इत्यादि वाक्यार्थ असाधारण नहीं हैं क्योंकि गीले कपड़े द्वारा पोंछने आदि से भी ये सम्भव हैं तो बावड़ी-स्नान के हटा देने से क्या फल हुआ ? क्योंकि जिस तरह एक स्थान पर व्यभिचरित होने की भाँति ही अनेक स्थानों पर व्यभिचरित होना भी अनुमान के प्रतिकूल है पर व्यञ्जना के नहीं। और यहाँ पर तू उसके पास ही रमण करने गई थी यह व्यंग्य 'उसके पास गमन' और 'रमण-रूप फल' दो बातों से निर्मित है। इनमें से 'उसके पास ही गई थी' इस अंश को व्यंग्य सिद्ध करना तुम्हारे मत से दुष्कर है। तुम्हारी बताई रीति के अनुसार 'निःशेष' इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रतिपाद्य विशेषण वाक्यों के अर्थ-वाच्यार्थ वापी-स्नान में बाधित होने से वाच्यार्थ में अभिव्यक्त विधि-निषेध-मूलक प्रधान वाक्यार्थों के प्रतिपादक 'गता' 'न गता' इन शब्दों द्वारा विपरीत लक्षणा से निषेध और विधि की प्रतीति होती है। वाच्यार्थ बाधित होने पर जो अर्थ प्रकट होता है वह व्यञ्जना से बोधित होता है, यह ठीक नहीं। जैसे 'आश्चर्य है कि यह सरोवर पूर्ण है, जिसमें मनुष्य लेटते हुए नहा रहे हैं'। इस वाक्य में नहाने वाले मनुष्यों का विशेषण 'लेटते हुए' से स्पष्ट है कि 'तालाब' पूर्ण नहीं है [इस अर्थ को व्यंग्य न कह कर लक्ष्य कहना पड़ेगा]।

'उसके पास ही गई थी' इस अंश के लक्षणा द्वारा प्रतीत होने पर भी 'रमण'-रूप फलांश की लक्षणा-मूला व्यंजना द्वारा प्रतीति अनिवार्य ही है। यदि ऐसा कहा जाय तो 'अधम शब्द का अर्थ हीन है और वह हीनता जाति अथवा कर्म से होती है। उत्तम नायिका अपने नायक को जाति से हीन तो बता नहीं सकती' इत्यादि प्रकरण से आपने ही 'रमण' को अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध किया है। क्योंकि यहाँ पर अन्य प्रमाणों से शब्दार्थ असिद्ध है। और भी यदि किसी न किसी प्रकार व्यञ्जना मान भी लें तो भी आपका तात्पर्य सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि 'स्तनों के ऊपरी भाग का चन्दन छूटना' आदि एवं नायक की 'अधमता' ये वाच्य तुम्हारे कथनानुसार अन्य किसी प्रकार से निष्पन्न न होकर दूती के सम्भोग-मात्र अर्थ के बोधक होने से गुणीभूत व्यंग्य हो जायेंगे। इस प्रकार आपकी ही स्थापना का विरोध स्पष्ट है। अतः अति चतुर नायिका के कहे हुए इन विशेषण-रूप वाक्यार्थों का वाच्य अर्थ (वापी-स्नान) और व्यंग्य अर्थ (सम्भोग) दोनों का साधारण्य होना ही उचित है। तब इनका अर्थ इस

प्रकार करना चाहिए—'हे बान्धव जन के ऊपर आई हुई पीड़ा को न जानने वाली स्वार्थ में तत्पर दूती ! तू स्नान का समय न निकल जाय, इस भय से नदी और मेरे प्रिय दोनों के पास न जाकर, मेरे पास से स्नान करने के लिए सीधी बावड़ी चली गई। उस, दूसरे की पीड़ा को न जान कर दुःख देने वाले अधम के पास नहीं। बावड़ी में बहुतेरे युवा जन स्नानार्थी आते हैं, उनसे लज्जित होने के कारण तूने अपने हाथों को कन्धे पर स्वस्तिक की भाँति रखे हुए दोनों बाहुओं से, उन्नत होने के कारण स्तनों के ऊपरी भाग का ही संघर्ष हुआ, अतः वे ही चन्दन-रहित हुए उर:स्थल नहीं। इसी तरह शीघ्रता में, अच्छी तरह न धोने के कारण ऊपर के ओठ का राग पूरा न घुल सका, पर नीचे के ओठ में कुल्लों के जल, दाँत साफ करने की अंगुली आदि की रगड़ अधिक लगने से वह राग रहित होगया। और भी अच्छी तरह न धोने से केवल प्रान्त-स्पर्श से नेत्रों का ऊपरी भाग अंजन रहित हुआ। शीत और दुर्बलता के कारण तेरा शरीर रोमाञ्चित हुआ।' इस तरह चतुर नायिका की गूढ़ तात्पर्य-रूप उक्ति उचित है, नहीं तो उसकी चतुरता नष्ट हो जायगी।

इस प्रकार जब इन वाक्यों के अर्थ साधारण होंगे, तो मुख्य अर्थ में कोई बाधा न होगी, एवं तात्पर्यार्थ की शीघ्र प्रतीति न होने के कारण यहाँ लक्षणा के लिए स्थान ही न रहेगा। वाच्यार्थ ज्ञान के अनन्तर वक्ता एवं श्रोता नायकादि के वैशिष्ट्य की प्रतीति होने पर, अधम पद के प्रयोग का कारण दुःखदायकत्व-रूपी गुण वाच्य और व्यंग्य में समान है। वाच्यार्थ दशा में उसका स्वरूप अन्य अपराधों के कारण दुःख-दायकत्व है। व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा दूती सम्भोग के कारण दुःखदायकत्व रूप में परिणत होता है। यह आलंकारिकों के सिद्धान्त का सार है।

इससे 'अधम' शब्द का अर्थ हीन है, और हीन जाति अथवा कर्म दो प्रकार से हो सकता है। उत्तम नायिका अपने नायक को जाति से हीन तो बता नहीं सकती। कर्म की हीनता भी दूती के सम्भोग आदि जो अपने (नायिका के) अपराध हो सकते हैं ऐसे कर्म के अतिरिक्त अन्य तो बता नहीं सकती। दूती प्रेषण के पूर्व के सब कर्म तो सहन कर ही लिए गए हैं, वे उद्घाटन के योग्य नहीं, अतः अन्य सब कुछ हटा देने पर अन्ततोगत्वा दूती का सम्भोग ही सिद्ध होता है—पर जो कहा है वह भी खण्डित होगया। क्योंकि चतुर और उत्तम नायिका सखियों के सामने, उसी (दूती) से सम्भोग करना, जो अपने नायक का अपराध है, उसे स्पष्ट प्रकट करे, यह सर्वथा अनुचित है। अतः जो पुराने अपराध वह सह चुकी है, वे बड़े असह्य थे, इस कारण उसे दूती के सामने उन्हीं का प्रतिपादन करना अभीष्ट था।

उत्तम काव्य

जहाँ *व्यंग्य* अप्रधान होते हुए भी चमत्कार-जनक हो वह द्वितीय (उत्तम काव्य) होता है।

जो व्यंग्य वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान हो और दूसरे किसी व्यंग्य की अपेक्षा गौण हो, उस व्यंग्य में अतिव्याप्ति के वारण के लिए 'अप्रधान' कहा है। उसके द्वारा वह काव्य ध्वनि रूप ही माना जायगा। जिन वाच्य चित्र काव्यों में व्यंग्य लीन हो जाता है उनमें अतिव्याप्ति वारण के लिए 'चमत्कार-जनक' कहा है। काव्य-प्रकाश में कहे गए लक्षण 'अतादृशि गुणीभूत व्यंग्य' इत्यादि का विवेचन करते हुए टीकाकारों ने गुणीभूत-व्यंग्य को 'चित्र' से पृथक् माना है—यह उनका कथन ठीक नहीं, क्योंकि पर्यायोक्ति, समासोक्ति आदि अलंकार-प्रधान काव्यों में अव्याप्ति हो जायगी। परन्तु सभी आलंकारिकों ने उनको गुणीभूत-व्यंग्य और चित्र दोनों माना है।

भगवान् रामचन्द्र के विरहानल की ज्वालाओं से सन्तप्त सह्य पर्वत के शिखरों पर शीत में सुख से सोए हुए वानर हनुमान् पर क्रोध कर रहे हैं।

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जानकी की कुशलता सुनाकर हनुमान् ने रामचन्द्र को शीतल कर दिया यह व्यंग्य, हनुमान् पर वानरों के अकस्मात् उत्पन्न होने वाले क्रोध-रूप वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण होने पर भी अभाग्यवश दासता अनुभव करने वाली किसी राजरानी की भाँति रमणीय प्रतीत होता है।

शङ्का—*इस प्रकार पूर्व-कथित आक्षेपगत धीरे-धीरे हटाना भी नव वधू के* स्वभाव के विरुद्ध होने के कारण अनुपपन्न होकर व्यंग्य से ही सिद्ध है, अतः उसको उत्तमोत्तम काव्य कैसे कहा जा सकता है?

उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिदिन के सखियों के उपदेश आदि जो कि *विशेष चमत्कारी नहीं हैं, उनसे भी 'धीरे-धीरे हटाना' सिद्ध हो* सकता है, अतः उसके सिद्ध करने के लिए प्रेम आवश्यक नहीं है। पर सहृदयों के हृदय में प्रतीत 'यह वियोग के समय का प्रेम है' उसे ध्वनित किये बिना 'धीरे धीरे उठाना' स्वतन्त्रता से परम आनन्द के आस्वाद का विषय बनने का सामर्थ्य नहीं रखता। इसी तरह 'निःशेष च्युत-चन्दन' इत्यादि पद्यों में भी 'अधमता आदि वाच्य, व्यंग्य के अतिरिक्त अर्थ के द्वारा पूर्णतः *निष्पन्न होकर व्यञ्जक हैं। अतः वहाँ भी व्यंग्य के गौण होने की* शङ्का नहीं की जा सकती।

यद्यपि इन दोनों (उत्तमोत्तम और उत्तम) भेदों में व्यंग्य का चमत्कार प्रकट ही रहता है तथापि एक में व्यंग्य की प्रधानता रहती है और दूसरे में अप्रधानता,

इस कारण इनमें एक दूसरे की अपेक्षा विशेषता है, जिसे सहृदय पुरुष समझ सकते [redacted] ।

चित्रमीमांसाकार ने जो यह कहा है—

'प्यारे ! क्या आप एक पहर के बाद लौट आवेंगे, या मध्याह्न में अथवा उसके भी बाद ? कि पूरा दिन बीत जाने पर ही लौटेंगे ? अश्रुप्रवाह-पूर्वक इस प्रकार की बातों से बाला सैकड़ों दिनों में प्राप्य देश को जाने के अभिलाषी प्रेमी के जाने का निषेध कर रही है।'

इस पद्य में दिन भर अन्तिम अवधि है, उसके बाद में न जी सकूँगी यह व्यंग्य है, जो प्रिय-गमन निवारण-रूप वाच्यार्थ का अङ्ग है, इस कारण यह काव्य गुणीभूत-व्यंग्य है—यह ठीक नहीं। क्योंकि 'क्या आप एक पहर के बाद लौट आवेंगे ?' इत्यादि अश्रु प्रवाह-पूर्वक कथन ही से प्रिय का न जाना रूपी वाच्य सिद्ध हो जाता है, इस कारण व्यंग्य गुणीभूत नहीं। इस कथन में 'आलापैः' यह तृतीया करण-अर्थ में है, अतः स्पष्ट है कि वे प्रकृत अर्थ (गमन) के निवारण की साधक हैं। पर व्यंग्य भी तो वाच्य को सिद्ध कर सकता है, इस कारण उसे गुणीभूत लिखा है—यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि ऐसा कहोगे तो 'निःशेष च्युत-चन्दन' इत्यादि में भी 'दूती सम्भोग' आदि व्यंग्य भी नायक की अधमता को सिद्ध करते हैं, इस कारण वे भी गुणीभूत हो जावेंगे। अथवा उसके बाद प्राण धारण करने में असमर्थ हूँ यह व्यंग्य वाच्यसिध्यङ्ग होने से गुणीभूत है, तथापि नायक आदि विभाव, अश्रु आदि अनुभाव एवं चित्त के आवेग आदि सञ्चारी भावों के संयोग से ध्वनित होने वाले विप्रलम्भ शृंगार के कारण इस काव्य को 'ध्वनि-काव्य' मानने से कौन निषेध कर सकता है।

मध्यम काव्य

जिस काव्य में वाच्य-अर्थ का चमत्कार व्यंग्य अर्थ के चमत्कार के साथ न रहता हो (व्यंग्य के चमत्कार की अपेक्षा वाच्य का चमत्कार स्पष्ट और उत्कृष्ट हो) वह तृतीय (मध्यम काव्य) होता है।

जैसे यमुना-वर्णन में—

(वह यमुना) उस भगवती भागीरथी की सखी है, जो मानो अपने पुत्र मैनाक को ढूँढने के लिए लम्बी की हुई एवं समुद्र के उदर में घुसी हुई हिमालय पर्वत की भुजा है।

यहाँ उत्प्रेक्षा वाच्य है और चमत्कार—कारण है। श्वेतता, तलचुम्बितत्व आदि का चमत्कार कुछ न कुछ होने पर भी किसी ग्रामीण नायिका द्वारा रचित केसर-रस के अङ्गराग में लीन उसके अङ्ग की गोराई की भाँति, उत्प्रेक्षागत चमत्कार के उदर में समाया हुआ-सा प्रतीत होता है। कोई भी वाच्य-अर्थ ऐसा नहीं है जो व्यंग्य अर्थ से थोड़ा भी सम्बन्ध रखे बिना स्वतः रमणीयता उत्पन्न कर सके। सभी अलंकार-प्रधान काव्य जागरूक और अजागरूक गुणीभूत-व्यंग्य वाले दूसरे और तीसरे भेद के अन्तर्गत है।

अधम काव्य

जिस काव्य में शब्द का चमत्कार प्रधान हो और अर्थ का चमत्कार शब्द के चमत्कार को शोभित करने के लिए हो वह 'अधम काव्य' कहलाता है। जैसे—

सूर्य और चन्द्र जिनके नेत्र हैं, जो वेदों के शत्रुओं (असुरों) के शत्रु हैं और इन्द्र के वशजों (देवताओं) के रक्षक हैं उन गोपाल अथवा वृषवाहन (शिव) का आपको बारबार नमस्कार है।

इसमें अर्थ का चमत्कार शब्द के चमत्कार में लीन हो गया है। यद्यपि जिसमें अर्थ के चमत्कार से सर्वथा रहित शब्द का चमत्कार हो, वह काव्य का पाँचवाँ भेद 'अधमाधम' भी इस गणना में माना उचित है। जैसे—एकाक्षर पद्य, अर्द्धावृत्ति यमक और पद्यबन्ध आदि। तथापि रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दत्व-रूप काव्य समान-लक्षण के घटित न होने से, वस्तुतः काव्यत्व के अभाव के कारण, महाकवियों के द्वारा प्राचीन परम्परा के अनुरोध से स्थान-स्थान पर काव्यों में अंकित करने पर भी, वस्तु-स्थिति के ही अनुरोध से हमने उसे काव्यों में परिगणित नहीं किया है।

कुछ लोग काव्यों के इन चार भेदों को अस्वीकार करते हुए उत्तम, मध्यम एवं अधम-रूप केवल तीन प्रकार का ही काव्य मानते हैं।

उसमें अर्थ चित्र और शब्द चित्र दोनों को एक समान अधम बताना अनुचित है, क्योंकि उनका तारतम्य स्पष्ट प्रतीत होता है। कौन ऐसा सहृदय होगा कि जो 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्' 'सच्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुः' इत्यादि काव्यों के साथ 'स्वच्छन्दोच्छलत्' इत्यादि पामरों द्वारा प्रशंसित काव्यों की समानता बता सकता है। यदि तारतम्य के रहते हुए भी एक भेद बताया जाता है, तो जिनमें बहुत ही कम अन्तर है, उन ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य को पृथक्-पृथक् भेद मानने के लिए क्यों दुराग्रह है?

जिस काव्य में शब्द और अर्थ दोनो का चमत्कार एक ही साथ हो, वहाँ यदि शब्द-चमत्कार की प्रधानता हो तो अधम और अर्थ-चमत्कार की प्रधानता हो तो मध्यम कहना चाहिए। पर दोनो की सम प्रधानता में उस काव्य को मध्यम ही कहना चाहिए।

जैसे—एक तेज का पुंज (सूर्य) उदयाचल के छोर से प्रकट हुआ। जो खिले हुए कमलो के समूह पर गिरते हुए मत्त भ्रमरों का उल्लास, शोक-रूपी दावानल से जिनका हृदय विकल हो रहा था, उन चक्रवाकियों का निस्तार, जिन्होंने तेज को नष्ट कर दिया था उन अन्धकार के समूहो का उत्पात और नेत्रों का पक्षपात है।

इस श्लोक में शब्दो से वृत्त्यनुप्रास की अधिकता और ओज गुण के प्रकाशित होने के कारण शब्द का चमत्कार है, एव प्रसाद गुण-युक्त होने के कारण शब्द सुनने के अनन्तर ही प्रतीत हुए 'रूपक' अथवा हेतु अलकार-रूपी वाच्य का। शब्द और अर्थ दोनो के चमत्कारो के समान होने के कारण दोनों की ही प्रधानता है।

(पृष्ठ ११-२५)

४　ध्वनि-काव्य के भेद

काव्य के उत्तमोत्तम भेद ध्वनि के असख्य भेद होते हुए भी साधारणतया कुछ भेदो का निरूपण किया जाता है—

ध्वनि-काव्य दो प्रकार का होता है—अभिधा-मूलक और लक्षणामूलक। उनमें से पहला अभिधा-मूलक तीन प्रकार का है—रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि। रस-ध्वनि असलक्ष्य-क्रम ध्वनि का उपलक्षण होने से रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भाव-सन्धि और भाव-शबलता सबका ग्रहण हो जाता है। दूसरा लक्षणा-मूलक दो प्रकार का होता है—अर्थान्तर-सक्रमित-वाच्य और अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य।　　(पृष्ठ २५)

५.　रस-ध्वनि

इस प्रकार ध्वनि-काव्य के पाँच भेदों में परम-रमणीय रस-ध्वनि के होने से उसकी आत्मा रस का वर्णन किया जाता है—

रसोचित ललित शब्दों के सन्निवेश से मनोहर काव्य के द्वारा समुपस्थित होकर सहृदयों के हृदय में प्रविष्ट हुए उनकी सहृदयता और भावना विशेष के पुन - पुन अनुसन्धान के प्रभाव से (साधारणीकरण व्यापार द्वारा) दुष्यन्त रमणी के रूप शकुन्तला की निवृत्ति से अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से व्यवहृत शकुन्तला आदि आलम्बन कारणों, चन्द्रिका आदि उद्दीपन कारणों, अश्रु-पात आदि

कार्यों एवं चिन्ता आदि सहकारी कारणों से सम्मिलित रूप से उत्पन्न हुए अलौकिक व्यापार के द्वारा उसी समय आनन्दांश के अज्ञान रूपी आवरण [redacted] हट जाने [redacted] कारण अपने वैयक्तिक धर्मों से रहित प्रमाता के द्वारा स्व-प्रकाश-स्वरूप अपने वास्तविक आनन्दमय स्वरूप से प्रत्यक्ष किए जाते हुए, पहले से वासना-रूप से समुपस्थित रत्यादि स्थायी भाव ही रस कहलाते हैं।

(१) अभिनवगुप्त का मत—

ऐसा ही मम्मटाचार्य ने काव्य-प्रकाश में कहा है—'पूर्वोक्त विभावादिकों से व्यक्त हुए स्थायी भाव ही रस कहलाते हैं।' 'व्यक्त' से व्यञ्जना वृत्ति से प्रतिपादित अर्थ गृहीत होता है। 'व्यञ्जना' से अभिप्राय है—आवरण-रहित चैतन्य। जिस प्रकार सकोरे ढका हुआ दीपक उसके हटा देने पर सन्निहित पदार्थों को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है।' इसी प्रकार आत्मा का चैतन्य विभावादि से मिश्रित रति आदि को प्रकाशित करता और स्वयं भी प्रकाशित होता है। क्योंकि रति आदि अन्त करण के धर्म हैं, उन सब को 'साक्षिभास्य' माना गया है। स्वप्नावस्था में अश्व आदि एवं जागृत अवस्था में रागे में रजत की प्रतीति के समान विभावादिकों का भी साक्षिभास्य (आत्मा के द्वारा भासित) हो जाता है। अतः कोई विरोध नहीं होता। रस को ध्वनित करने विभावादिक के अथवा उनके संयोग से उत्पन्न किए हुए अज्ञान रूप आवरण के भङ्ग की उत्पत्ति और विनाश के कारण रस की उत्पत्ति और विनाश मान लिए जाते हैं। जैसे कि वैयाकरण अक्षरों को नित्य मानते हुए भी वर्णों को व्यक्त करने वाले तालु आदि स्थानों की क्रियाओं की उत्पत्ति और विनाश को गकार आदि अक्षरों की उत्पत्ति और विनाश मान लेते हैं। जब तक विभावादिकों का आस्वाद होता है तभी तक आवरण भङ्ग रहता है, आस्वाद के समाप्त हो जाने पर प्रकाश के आवृत हो जाने [redacted] कारण विद्यमान होने पर भी स्थायी भाव प्रकाशित नहीं होता।

अथवा, विभावादिकों के आस्वाद के द्वारा सहृदय पुरुष को उसकी सहृदयतावश उत्पन्न हुए प्रभाव के कारण उन उन रस के स्थायी भाव से युक्त अपने स्वरूपानन्द को विषय बनाकर समाधिस्थ योगी के समान, उसकी चित्त-वृत्ति तन्मय हो जाती है। यह आनन्द अन्त करण की वृत्तियों से युक्त चैतन्य स्वरूप न होने के कारण अन्य सांसारिक सुखों के समान नहीं अर्थात् शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है। इस प्रकार अभिनवगुप्ताचार्य और मम्मट भट्ट आदि के ग्रन्थों के वास्तविक तात्पर्य [redacted] अनुसार अज्ञान रूप आवरण से रहित जो चैतन्य है, उससे युक्त रति आदि स्थायी भाव ही 'रस' है यह सिद्ध हुआ। वास्तव में तो आगे चल कर उल्लिखित श्रुति के अनुसार,

रति आदि से युक्त और आवरण रहित चैतन्य का नाम ही रस है। पर दोनों ही पक्षों में विशेषण अथवा विशेष्य किसी रूप में रहने वाले आत्मा के चैतन्यांश को लेकर रस की नित्यता और स्वतःप्रकाशमानता तथा रति आदि के अंश को लेकर अनित्यता और दूसरे के द्वारा प्रकाशित होना सिद्ध है। चैतन्य के आवरण का निवृत्त हो जाना ही इस रस का आस्वाद कहलाता है जैसा कि पहले कह आए हैं, अथवा अन्तःकरण की वृत्ति के आनन्दमय हो जाने को रस का आस्वाद समझना चाहिए। यह आस्वाद परब्रह्म के आस्वाद-रूप समाधि से विलक्षण है क्योंकि इसका आलम्बन विभावादि विषयों से युक्त आत्मानन्द है। और यह आस्वाद काव्य के व्यापार तक ही सीमित है। इस आस्वाद में सुख का अंश प्रतीत होता है, इसमें क्या प्रमाण है? इसके उत्तर में समाधि में भी सुख का भान होता है, इसमें क्या प्रमाण है? यह प्रश्न दोनों में समान है। 'समाधि में जो अत्यन्त सुख है उसे बुद्धि जान सकती है इन्द्रियाँ नहीं' इत्यादि (भगवद्गीता के) शब्द प्रमाण-रूप में विद्यमान हैं तो इस आनन्द में भी 'वह आत्मा रस-रूप है' और 'रस को प्राप्त होकर ही यह आनन्द-रूप होता है' ये श्रुतियाँ और सब हृदयों का प्रत्यक्ष, ये दो प्रमाण हैं। जो यह द्वितीय पक्ष में चित्त-वृत्ति के आनन्दमय हो जाने को रस की चर्वणा बताया गया है वह शब्द के व्यापार व्यञ्जना से उत्पन्न होने के कारण शाब्दी है। इसके द्वारा सुख का प्रत्यक्ष अनुभव होता है इस कारण प्रत्यक्ष-रूप है, जैसे कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से उत्पन्न होने वाला ब्रह्म-ज्ञान।

(२) भट्टनायक का मत—

तटस्थ रहने पर यदि रस की प्रतीति मान भी जाय तो रस का आस्वाद नहीं हो सकता, और 'रस हमारे साथ सम्बन्ध रखता है' ऐसा मानने से प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि शकुन्तला आदि सामाजिकों के विभाव नहीं हैं। विभाव के बिना निराधार रस की अनुभूति नहीं हो सकती। यहाँ पर कान्ता-रूप ही साधारण विभाव है, यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जिसे हम विभाव मानते हैं उसके विषय में हमें यह ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि वह हमारे लिए अगम्या नहीं और वह ज्ञान भी ऐसा होना चाहिए जिसकी अप्रामाणिकता न हो। अन्यथा स्त्री तो हमारी बहिन आदि भी होती हैं वे भी विभाव होने लगेंगी। इसी तरह करुण रसादिक में जिसके विषय में हम शोक कर रहे हैं वह अशोच्य अथवा निन्दित पुरुष न होना चाहिए। जिसे हम विभाव मानते हैं उसके विषय में अगम्यात्व ज्ञान की उत्पत्ति का अभाव किसी प्रतिबन्धक के सिद्ध हुए बिना बन नहीं सकता। दुष्यन्तादिक के साथ हमारा अपने को अभिन्न समझ लेना ही उस ज्ञान का प्रतिबन्धक मानें तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि शकुन्तला का नायक दुष्यन्त पृथ्वीपति और धीर

पुरुष था और हम इस काल के क्षुद्र मनुष्य हैं, इस विरोध के स्पष्ट प्रतीत होने के कारण उसके साथ अभेद समझना दुर्लभ है।

अब प्रश्न यह होता है कि यह रस की प्रतीति क्या है ? अन्य किसी प्रमाण से प्रसिद्ध होने से शब्द प्रमाण द्वारा उत्पन्न मानें तो सम्भव नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर, रात दिन व्यवहार में आने वाले अन्य शब्दों के द्वारा ज्ञात हुए स्त्री-पुरुषों के वृत्तान्तों के ज्ञान के समान आस्वाद-हीनता हो जायगी। यदि इसे मानस ज्ञान मानें तो, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि विचार पूर्वक लाए हुए पदार्थों का मन में जो बोध होता है, उससे इसमें विलक्षणता उपलब्ध होती है। न इसे स्मृति ही कह सकते हैं क्योंकि उन पदार्थों का वैसा अनुभव पहले नहीं हुआ। अतएव अभिधा-शक्ति द्वारा प्रतिपादित पदार्थ भावकत्व व्यापार के द्वारा इसके विरोधी अगम्यत्व आदि ज्ञान का प्रतिबन्ध करके इसके अनुकूल रमणीयत्व आदि धर्म पूर्वक उपस्थापित होते हैं। इस प्रकार दुष्यन्त, शकुन्तला, देश, काल, वय, अवस्था आदि का साधारणीकरण हो जाने पर, पहले व्यापार के शान्त हो जाने पर, तीसरे व्यापार भोजकत्व के प्रभाव से रजोगुण और तमोगुण का लय एवं सत्त्व गुण की वृद्धि से उत्पन्न अपने चैतन्य स्वभाव-रूपी आनन्द से युक्त विश्राम-स्थल की प्राप्त साक्षात्कार का विषय भावकत्व व्यापार द्वारा साधारणीकृत रति आदि स्थायी भाव ही रस है। इस पक्ष में भी भोग किए हुए रत्यादि अथवा रत्यादि का भोग इन दोनों का नाम रस है। यह आस्वाद विषय-संयुक्त होने के कारण ब्रह्मानन्द के समान कहा जाता है। इस प्रकार काव्य के तीन अंश हैं— अभिधा, भावना, भोगीकृति, ऐसा कहा है। इस मत में पहले मत से केवल भावकत्व अथवा भावना नामक अतिरिक्त क्रिया का स्वीकार करना ही विशेषता है, भोग आवरण रूप से चैतन्य-रहित है और आवरण भंग करने वाला भोगीकृति नामक व्यापार आवरण भंग करने वाली व्यंजना से भिन्न नहीं। शेष पद्धति सब वही है।

(३) नवीनों का मत—

काव्य और नाट्य में नट के द्वारा, विभाव आदिकों के प्रकाशित किए जाने पर, व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा, दुष्यन्त आदिकों की शकुन्तला आदि के विषय में रति ज्ञान के अनन्तर सहृदयता के कारण भावना विशेष की उत्पत्ति रूप-दोष के प्रभाव से हमारा अन्तरात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाता है। तब जैसे अज्ञान से ढँके हुए, सीप के टुकड़े में रजत-खण्ड की प्रतीति होने लगती है उसी प्रकार पूर्वोक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित अपनी आत्मा में, शकुन्तला आदि के विषय में अनिर्वचनीय सत्-असत् से विलक्षण आत्म-चैतन्य के द्वारा प्रकाशित शकुन्तला आदि विषयक रति आदि चित्त-वृत्तियों का नाम रस है। यह रस पूर्वोक्त दोष का

कार्य है और उसका नाश होने पर नष्ट हो जाता है। रस की प्रतीति के अनन्तर उत्पन्न होने वाले अलौकिक आह्लाद के साथ इसकी अभेद प्रतीति के कारण इसका सुख शब्द से व्यवहार होता है। रसोत्पत्ति के पूर्व व्यंजना-वृत्ति के द्वारा शकुन्तला आदि के विषय में जो दुष्यन्त आदि की रति आदि का ज्ञान होता है, उसका और इस मिथ्या प्रेम आदि का भेद विदित न होने के कारण यह व्यंग्य और वर्णनीय कहा है। सहृदयों की आत्मा को आच्छादित करने वाला दुष्यन्तत्व भी अनिर्वचनीय ही है। रत्यादि की विशिष्ट प्रतीति में अपने आपको दुष्यन्त समझना ही दुष्यन्तत्व का आच्छादित करना है। इस प्रकार "दुष्यन्त आदि के जो रति आदि हैं उनका आस्वाद न होने से, व रस नहीं हैं। अपनी रति आदि की अभिव्यक्ति शकुन्तला आदि से असम्बद्ध होने से कैसे हो सकती है? यदि दुष्यन्त के साथ अपना अभेद मानें तो वह राजा हम साधारण पुरुष आदि बाधक ज्ञान के कारण सम्भव नहीं'—इनका निराकरण हो गया। जो कि प्राचीन आचार्यों ने विभावादिकों का साधारण होना लिखा है उसका भी बिना किसी दोष की कल्पना किए सिद्ध होना कठिन है क्योंकि काव्य में तो शकुन्तला आदि का वर्णन है, उसका बोध हमें शकुन्तला आदि के रूप में ही होता है, केवल स्त्री के रूप में नहीं। इसलिए अवश्य ही कल्पित दोष के द्वारा आत्मा में दुष्यन्त आदि के साथ अभेद समझ लेना भी सहज ही है।

इस प्रकार रति से तो दुष्यन्त के समान सहृदय में भी सुख विशेष की उत्पत्ति सम्भव है परन्तु करुण-रसादिकों के स्थायी भाव शोक आदि जो दुःख के जनक हैं, यह प्रसिद्ध है, उनको सहृदयों के आनन्द का कारण कैसे माना जा सकता है? प्रत्युत नायक के समान सहृदय पुरुषों को भी उनसे दुःख होना ही उचित है। सच्चे शोक आदि से दुःख उत्पन्न होता है कल्पित से नहीं अतः नायकों को दुःख होता है सहृदयों को नहीं—यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रज्जु में कल्पित सर्प आदि से भी भय, कम्प आदि की उत्पत्ति न होनी चाहिए।

शङ्का—सहृदय में कल्पित रति से भी सुख उत्पन्न नहीं होना चाहिए।

समाधान—ठीक है। यदि सहृदयों के हृदय के द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि जिस तरह शृंगार-रस प्रधान काव्यों से आनन्द उत्पन्न होता है उसी प्रकार करुण-रस प्रधान काव्यों से भी केवल आनन्द ही उत्पन्न होता है तो 'कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना कर लेनी चाहिए' इस नियम से जिस तरह काव्य के व्यापार को आनन्द का उत्पन्न करने वाला मानते हो उसी प्रकार उसे दुःख का भी प्रतिबन्धक मान लेना चाहिए। पर यदि आनन्द की तरह दुःख भी प्रमाण-सिद्ध है तो प्रतिबन्धक कल्पना नहीं करनी चाहिए। अपने-अपने कारण से दोनों ही उत्पन्न हो जायेंगे।

प्रश्न—इस प्रकार के काव्य के निर्माण के लिए सहृदय की प्रवृत्ति कैसे होगी? क्योंकि जब ऐसे काव्य अनिष्ट के साधन हैं तो उनसे विरत होना ही उचित है।

उत्तर—इष्ट की अधिकता और अनिष्ट की न्यूनता से चन्दन लेप के समान प्रवृत्ति तर्क-सिद्ध है। रस को केवल आह्लाद स्वरूप मानने वालों की प्रवृत्ति तो निर्विघ्न है। करुण आदि में अश्रुपातादिक भी आनन्द के कारण ही होते हैं न कि दुःख से। इसीलिए भगवान के वर्णन सुनने से भगवद्भक्तों को भी अश्रुपात आदि होने लगते हैं, पर उस अवस्था में कदापि दुःख का अनुभव नहीं होता।

शङ्का—करुण रसादिक में शोक आदि से युक्त दशरथ आदि से अभेद मान लेने पर यदि आनन्द सम्भव है तो स्वप्न अथवा सन्निपात आदि में, अपनी आत्मा में, शोक आदि से युक्त दशरथ आदि के अभेद का आरोप कर लेने पर भी आनन्द ही होना चाहिए, पर अनुभव यह है कि उन अवस्थाओं में केवल दुःख ही होता है, इस कारण यहाँ भी केवल दुःख ही होता है, यही मानना उचित है।

समाधान—यह ठीक नहीं। यह काव्य के अलौकिक व्यापार का प्रभाव है कि जिसके प्रयोग में आए हुए शोक आदि सौन्दर्य शून्य पदार्थ भी अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करने लगते हैं। क्योंकि काव्य व्यापार से उत्पन्न होने वाला रुचिर आस्वाद, अन्य प्रमाण से उत्पन्न होने वाले अनुभाव की अपेक्षा विलक्षण है। (पूर्वोक्त वाक्य में) व्यापार से उत्पन्न का अर्थ है काव्य के व्यापार से उत्पन्न होने वाली भावना से उत्पन्न हुई रति का आस्वाद, अतः इस आस्वाद को काव्य व्यापार से उत्पन्न न मानने पर भी कोई हानि नहीं। शकुन्तला आदि में अगम्या होने के ज्ञान की उत्पत्ति अपनी आत्मा में दुष्यन्त से अभेद समझ लेने के कारण बाधित हो जाती है।

(४) अन्य मत

व्यञ्जना नामक व्यापार और अनिर्वचनीय ख्याति को माने बिना भी पूर्वोक्त दोष के प्रभाव से अपनी आत्मा में दुष्यन्त आदि की तद्रूपता समझ, काव्यगत पदार्थों का बारबार अनुसन्धान करने से विलक्षण विषयता से युक्त शकुन्तला आदि के विषय में रति आदि से युक्त व्यक्ति के साथ अभेद का मनःकल्पित ज्ञान ही रस है। स्वप्न आदि का मानस ज्ञान काव्य के पुनः पुनः अनुसन्धान से उत्पन्न न होने के कारण रस नहीं हो सकता। इसलिए उसमें विशिष्ट आनन्द भी असम्भव है।

प्रश्न—इस प्रकार मानने पर हमारे में न रहने वाली रति आदि का अनुभव कैसे होगा?

उत्तर—यह ठीक नहीं। क्योंकि यह रति आदि का अनुभव लौकिक तो है नहीं कि इसमें जिन वस्तुओं का अनुभव होता है, उनका विद्यमान रहना आवश्यक है। अपितु यह भ्रम है। रत्यादि विषयक आलम्बन मानने पर ही आस्वादन का रस-विषयक व्यवहार सम्भव है। ऐसा भी दूसरों का मत है।

जिसे इस मत के अनुसार रस कहते हैं, वह ज्ञान तीन प्रकार से सम्भव है। एक यह कि शकुन्तला आदि के विषय में जो रति है, उससे युक्त मैं दुष्यन्त हूँ, दूसरा यह कि शकुन्तला आदि के विषय में जो रति है, उससे युक्त दुष्यन्त मैं हूँ। और तीसरा यह कि मैं शकुन्तला आदि के विषय में जो रति है, उससे और दुष्यन्तत्व से युक्त हूँ। अतः इन लोगों को तीनों प्रकार के ज्ञान को रस मानना होगा। इन तीनों ज्ञानों में जो रति विशेषण रूप से प्रविष्ट हो रही है, शब्दों से उसकी प्रतीति न होने के कारण, और उसका बोध कराने वाली व्यञ्जना को अस्वीकृत करने के कारण विशेषण रूप रति आदि के ज्ञान के लिए चेष्टा आदि कारणों से सिद्ध अनुमान स्वीकार करना पड़ेगा।

(५) भट्ट लोल्लट इत्यादि का मत—

'दुष्यन्त आदि में रहने वाले जो रति आदि हैं, प्रधानतया वे ही रस हैं, उन्हीं को नाटक में सुन्दर विभाव आदि का अभिनय दिखाने में निपुण दुष्यन्त आदि का अभिनय करने वाले नट पर आरोपित करके हम उसकी अनुभूति कर लेते हैं' ऐसा कुछ लोगों का मत है।

इस मत में भी रस का अनुभव, पूर्वमत की भाँति 'शकुन्तला के विषय में जो रति है, उससे युक्त यह (नट) दुष्यन्त है' इत्यादि में धर्मी के विषय में उसका बोध लौकिक और आरोप्य अंश में अलौकिक है।

(६) श्री शङ्कुक प्रभृति का मत—

दुष्यन्त आदि में जो रति आदि रहते हैं, वे ही नट अथवा काव्य पाठक में उसे दुष्यन्त समझ कर, अनुमान कर लिए जाते हैं तो उनका नाम रस हो जाता है। नाटक आदि में जो शकुन्तला आदि विभाव परिज्ञात होते हैं, वे यद्यपि कृत्रिम होते हैं, तथापि उनको स्वाभाविक मान कर और नट को दुष्यन्त मान कर पूर्वोक्त विभावादिकों से नट आदि में रति आदि का अनुमान की बलवती सामग्री के कारण अनुमान कर लिया जाता है।

(७) कितने ही कहते हैं कि 'विभाव, अनुभाव और सचारी भाव ये तीनों ही सम्मिलित रूप में रस कहलाते हैं।'

(८) बहुतों का कथन है कि 'तीनों में जो चमत्कारी होता है वही रस है, अन्यथा तीनों ही रस नहीं हैं।

(९) इनके अतिरिक्त कुछ लोग कहते हैं कि 'बार-बार चिन्तन किया हुआ विभाव ही रस है।'

(१०) दूसरे कहते हैं कि 'बार-बार चिन्तन किया हुआ अनुभाव ही रस है।'

(११) कोई कहते हैं कि 'बार-बार चिन्तन किया हुआ व्यभिचारी भाव ही रस-रूप में परिणत हो जाता है।'

अब भरत मुनि के सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की पूर्वोक्त मतों के अनुसार व्याख्या की जाती है—

प्रथम मत के अनुसार 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा, संयोग अर्थात् ध्वनित होने से, आत्मानन्द से युक्त स्थायी भाव-रूप अथवा स्थायी भाव *से उपाहत आत्मानन्द-रूप रस की निष्पत्ति होती है अर्थात् वह अपने वास्तव-रूप में* प्रकाशित होता है, यह अर्थ है।

द्वितीय मत के अनुसार— विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के सम्यक् अर्थात् साधारण रूप से योग अर्थात् भावकत्व व्यापार के द्वारा भावन करने से, स्थायी भाव-रूप उपाधि से युक्त सत्त्व गुण की वृद्धि से प्रकाशित, अपने आत्मानन्द-रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् भोग नामक साक्षात्कार के द्वारा अनुभव होता है' अर्थ है।

तृतीय मतानुसार—'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग अर्थात् *विशेष प्रकार की भावना-रूपी दोष से, दुष्यन्त आदि के अनिर्वचनीय रति आदि रूप* रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है' अर्थ है।

चतुर्थ मतानुसार—'विभावादिकों के संयोग अर्थात् ज्ञान से विशेष प्रकार के ज्ञान-रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है' यह अर्थ है।

पंचम मतानुसार—'विभावादिकों के सम्बन्ध से रस रति आदि की निष्पत्ति होती है अर्थात् वे (नट आदि पर) आरोपित किये जाते हैं' अर्थ है।

षष्ठ मतानुसार—'कृत्रिम होने पर भी स्वाभाविक रूप में समझे हुए विभावादिकों के द्वारा संयोग अर्थात् अनुमान के द्वारा, रस अर्थात् रति आदि की निष्पत्ति होती है अर्थात् अनुमान कर लिया जाता है। यह अनुमिति नट आदि के पक्ष में होती है यह तात्पर्य है।

सप्तम मतानुसार 'विभावादिक तीनों के संयोग अर्थात् सम्मिलित होने से रस की निष्पत्ति होती है अर्थात् रस कहलाने लगता है' अर्थ है।

अष्टम मतानुसार—'विभावादिकों में से, संयोग अर्थात् चमत्कारी होने से रस कहलाता है' अर्थ है।

सर्वदिष्ट तीनों मतों में सूत्र का अर्थ सगत नहीं होता है, अतः उनका सूत्र से विरोध पर्यवसित होता है।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इनमें से केवल एक का किसी नियत रस को ध्वनित करना नहीं बन सकता, क्योंकि वे जिस तरह एक रस के विभाव आदि होते हैं उसी तरह दूसरे रस के भी हो सकते हैं। अतः सूत्र में तीनों का सम्मिलित रूप में ही ग्रहण किया गया है। जब यह प्रमाणित हो गया कि तीनों के सम्मिलित होने पर ही रस ध्वनित होता है, तब जहाँ कहीं किसी असाधारण रूप में वर्णित विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव में से किसी एक से ही रस का उद्बोध हो जाता है, वहाँ अन्य दोनों का आक्षेप कर लिया जाता है। इसलिए अनैकान्तिक दोष नहीं।

इस प्रकार इस प्रपंच में विद्वानों द्वारा नाना प्रकार की बुद्धियों से विभिन्न रूपों में गृहीत होने पर भी, परम आह्लाद से व्याप्त होकर प्रतीत रस रमणीयता का प्रतिपादक है इसमें कोई विवाद नहीं।   (पृष्ठ २५-३५)

६ रस-भेद—

पूर्वोक्त रस शृंगार, करुण, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और बीभत्स भेद से नौ प्रकार का है। भरतमुनि का वाक्य इसमें प्रमाण है।

पर कुछ लोग कहते हैं—शान्त रस के सिद्ध करने के लिए शम की आवश्यकता है, और नट में उसका होना असम्भव है, अतः नाट्य में आठ ही रस होते हैं, उसमें शान्त रस का होना नहीं बन सकता।' इस बात को दूसरे विद्वान स्वीकार नहीं करते हैं। वे कहते हैं—आपने जो यह हेतु दिया है कि नट में शम का होना असम्भव है, वह असङ्गत है। क्योंकि हम लोग नट में रस की अभिव्यक्ति स्वीकार ही नहीं करते। यदि सामाजिक शम-युक्त हैं तो रस का आस्वादन होने में कोई बाधा नहीं।

प्रश्न—यदि नट में शान्ति न होगी तो वह शान्त रस का अभिनय ही प्रकाशित न कर सकेगा।

उत्तर—यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जब नट भयानक अथवा रौद्र रस की अभिव्यक्ति के लिए अभिनय करता है, तब भी उसमें भय और क्रोध तो रहते नहो, फिर वह उन रसों का अभिनय भी कैसे कर सकता है ?

यदि नट में क्रोध आदि न होने के कारण, क्रोधादिक के वास्तविक वध, बन्धन आदि के उत्पन्न न होने पर भी शिक्षा और अभ्यास आदि से बनावटी वध-बन्धन आदि के उत्पन्न होने में कोई बाधा नही होती यह देखा ही जाता है, तो इस विषय में भी वैसा ही क्यों नहो समझ लेते ? दोनों ही स्थानो पर एक ही बात है।

प्रश्न—सामाजिकों में भी, नाटकादि के द्वारा, शान्त रस का उदय कैसे हो सकता है ? क्योंकि विषयो से विमुख होना ही शान्त रस का स्वरूप है, और नाटक में उसके विरोधी पदार्थ-गीत, वाद्य आदि-विद्यमान रहते हैं, अत विरोधियो के द्वारा रस का आविर्भाव सिद्ध होना असम्भव है।

उत्तर—जो लोग नाटक में शान्त रस को स्वीकार करते हैं, वे गीत, वाद्य आदि को फल के कारण उसका विरोधी नही मानते। यदि आप यावन्मात्र विषयों के चिन्तन को शान्त रस के विरुद्ध मानें, तो शान्त रस का आलम्बन—ससार का अनित्य होना एव उसके उद्दीपन पुराणों आदि का सुनना, सत्सङ्ग, पवित्र वन और तीर्थों के दर्शन—आदि के भी विषय होने से वे भी उसके विरोधी हो जायेंगे। इसी कारण सगीत-रत्नाकर के अन्तिम अध्याय में लिखा है—

'नाटकों में आठ हो रस है, यह जो आग्रह करते हैं वह ठीक नही है, क्योंकि नट किसी रस का आस्वादन नहीं करता' इत्यादि लिखकर नाटकों में भी शान्त रस है यह सिद्ध कर दिया। परन्तु जो लोग 'नाटकों में शान्त रस नही है, यह मानते हैं, उन्हें भी किसी प्रकार की बाधा न होने के कारण एव महाभारतादि ग्रन्थों में शान्त रस ही प्रधान है, यह बात सब लोगों के अनुभव सिद्ध होने के कारण उसे काव्यो में अवश्य स्वीकार करना होगा। इसी कारण मम्मट भट्ट ने भी 'नाटक में आठ रस माने गए हैं' इस प्रकार प्रारम्भ करके 'शान्त भी नवम रस है।' इस तरह उपसहार किया है। (पृष्ठ ३६-३७)

७ गुण-निरूपण

इन पूर्व-प्रतिपादित रसों में माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों का वर्णन किया गया है। इनके विषय में कुछ विद्वानों का कथन है कि सयोग-शृगार में

जितना माधुर्य होता है, उससे अधिक करुण रस में होता है, उन दोनों से अधिक विप्रलम्भ शृंगार में होता है, एवं इन सब से अधिक शान्त रस में होता है। क्योंकि पूर्व-पूर्व रस की अपेक्षा उत्तर-उत्तर रस में चित्त का द्रव विशेष होता जाता है। दूसरे विद्वानों का कथन है कि संयोग शृंगार से करुण और शान्त रसों में अधिक माधुर्य होता है और इन दोनों से अधिक विप्रलम्भ-शृंगार में होता है। अन्य विद्वानों का यह कथन है कि संयोग-शृंगार से करुण, विप्रलम्भ शृंगार और शान्त इन तीनों रसों में अधिक होता है, फिर इन तीनों में कुछ भी तारतम्य नहीं होता। 'करुण विप्रलम्भ और शान्त में माधुर्य अतिशयता युक्त होता है। प्राचीन आचार्यों का यह सूत्र प्रथम और अन्तिम मत के अनुकूल है। क्योंकि उसके आगे के सूत्र में जो 'क्रमेण' पद है, उसको पहले सूत्र में लेने और न लेने से उसकी दो व्याख्याएँ सम्भव हैं। द्वितीय मत में करुण और शान्त रसों की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार माधुर्य की अधिकता का यदि सहृदय पुरुषों को अनुभव होता तो वह भी प्रमाण है। वीर, बीभत्स एवं रौद्र रसों में पहले की अपेक्षा पिछले में अधिक ओज रहता है, क्योंकि इन तीनों में से प्रत्येक पिछला रस चित्त को अधिक दीप्त करने वाला है। अद्भुत, हास्य और भयानक रसों में कुछ विद्वान माधुर्य और ओज दोनों गुणों को स्वीकार करते हैं और दूसरे केवल प्रसाद गुण को ही मानते हैं। प्रसाद गुण तो सब रसों और रचनाओं में साधारण-रूप से रहता है।

इन गुणों के द्वारा, क्रम से द्रुति, दीप्ति और विकास ये तीन चित्त की वृत्तियाँ प्रयुक्त होती हैं, अर्थात् उन-उन गुणों से विशिष्ट रसास्वाद से उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार इन गुणों के केवल रस के धर्म सिद्ध होने पर रचना मधुर है, शब्द ओजस्वी है, इत्यादि व्यवहार किसी पुरुष के लिए, इसका आकार शूर-वीर है, इस कथन के समान लाक्षणिक है—यह मम्मट भट्ट आदि का मत है।

जो इन माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को केवल रस के धर्म ही माना जाता है, इसमें क्या प्रमाण है ? प्रत्यक्ष है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जैसे अग्नि का कार्य दग्ध करना है और उष्ण स्पर्श उसका गुण है, इन दोनों का हमें पृथक्-पृथक् अनुभव होता है, इस तरह रसों के कार्य जो द्रुति आदि चित्त-वृत्तियाँ हैं, उनके अतिरिक्त रसों में रहने वाले गुणों का हमें अनुभव नहीं होता।

प्रश्न—माधुर्य आदि गुणों से युक्त हो रस द्रुति आदि के कारण होते हैं अतः कारण होने से गुणों का अनुमान कर लिया जाता है।

उत्तर—यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्येक रस जब कि बिना गुणों के ही उन वृत्तियों का कारण हो सकता है तो गुणों की कल्पना करने में गौरव है। शृंगार,

करुण और शान्त रसो में से प्रत्येक को द्रुति का कारण मानने की अपेक्षा तीनों माधुर्य गुण-युक्त हैं—इस कारण तीनो से द्रुति उत्पन्न होती है—यह मानने में लाघव है। ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योकि मम्मट भट्ट आदि कितने ही विद्वानो ने मधुर रस से द्रुति, अत्यन्त मधुर रस से अत्यन्त द्रुति—इत्यादिक जो कार्यों में तारतम्य माना है, उसके कारण माधुर्य गुण-युक्त होने से रस द्रुति का कारण होता है। यह मानना घेंघें (एक प्रकार की गले की गाँठ) की तरह व्यर्थ है। इस प्रकार प्रत्येक रस के माधुर्य आदि का पृथक्-पृथक् कारण मानने में ही लाघव है। और आत्मा निर्गुण है तथा रस है आत्म-रूप, अत माधुर्यादिक को रस का गुण मानना असिद्ध है। दूसरो के अनुसार गुण-रूप रसों में अन्य गुणों का मानना अनुचित होने के कारण एव प्रमाण न होने से इनको उसके उपाधि-रूप रति आदि स्थायी भावों के ही गुण मानना प्रसिद्ध है।

प्रश्न—'शृगार रस मधुर होता है' इत्यादि व्यवहार कैसे होगा ?

उत्तर—द्रुति आदि चित्त-वृत्तियों की प्रयोजकता, जो रसो में रहती है, उसे ही माधुर्य आदि समझिए, और उसी के रहने से रसो को मधुर आदि कहा जाता है अथवा द्रुति आदि चित्त-वृत्तियाँ ही जब किसी रस के साथ प्रयोजकता सम्बन्ध रखती हैं तो उन्हे माधुर्य आदि कहा जाता है इस कारण यह कह देते हैं कि असगन्ध गरम होती हैं, इसी प्रकार शृगार आदि माधुर्य शब्द, अर्थ, रस, रचना का प्रयोजक अदृष्ट से भिन्न ही ग्रहण किया जाना चाहिए, अत. पूर्वोक्त व्यवहार में अति-व्याप्ति नही। इस प्रकार का माधुर्य आदि शब्द और अर्थ दोनों में रहने के कारण, शब्द और अर्थ के माधुर्य को कल्पित नहीं कहना चाहिए—यह मेरे जैसे लोगों का मत है।

(पृष्ठ ६७-६६)

अनुवादक—श्री आर्येन्द्र शर्मा एम. ए साहित्याचार्य
डा० उदयभानुसिंह

जगन्नाथः

[रसगङ्गाधर]*

१. काव्यलक्षणम्

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ॥

रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता । लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः । कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनःपुनरनुसंधानात्मा । 'पुत्रस्ते जातः', 'धनं ते दास्यामि' इति वाक्यार्थधीजन्यस्याह्लादस्य न लोकोत्तरत्वम् । अतो न तस्मिन्वाक्ये काव्यत्वप्रसक्तिः । इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम्, यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वम्, स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम् । यत्तु प्राञ्चः 'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्याहुः, तत्र विचार्यते—शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात् । काव्यमुच्चैः पठ्यते, काव्यादर्थोऽवगम्यते, काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः, इत्यादिविश्वजनीनव्यवहारतः प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च । व्यवहारः शब्दमात्रे लक्षणयोपपादनीय इति चेत् स्यादप्येवम्, यदि काव्यपदार्थतया पराभिमते शब्दार्थयुगले काव्यशब्दशक्तेः प्रमापकं दृढतरं किमपि प्रमाणं स्यात् । तदेव तु न पश्यामः । विमतं वाक्यं त्वस्मद्धेयमेव । इत्थं चासति काव्यशब्दस्य शब्दार्थयुगलशक्तिग्राहके प्रमाणे प्रागुक्ताद् व्यवहारतः शब्दविशेषे सिद्ध्यन्तीं शक्तिं को नाम निवारयितुमीष्टे । एतेन विनिगमनाविरहादुभयत्र शक्तिरिति प्रत्युक्तम् । तदेवं शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वे सिद्धे तस्यैव लक्षणं वक्तुं युक्तम्, न तु स्वकल्पितस्य काव्यपदार्थस्य । एवं च वेदपुराणादिलक्षणेष्वपि गतिः । अन्यथा तत्रापीयं दुरवस्था स्यात् । यत्त्वास्वादोद्बोधकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकं तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्टमित्याहुः, तन्न । रागस्यापि रसव्यञ्जकताया ध्वनिकारादिसकलालङ्कारिकसंमतत्वेन प्रकृते लक्षणोपरत्वापत्तेः । किं बहुना नाट्याङ्गानां सर्वेषामपि प्रायशस्तथात्वेन तत्त्वापत्तिर्दुर्वारैव । एतेन रसोद्बोधसमर्थस्यैवात्र लक्ष्यत्वमित्यपि परास्तम् । अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तम्, प्रत्येकपर्याप्तं वा ? नाद्यः । एको न द्वाविति व्यवहारस्येव श्लोकवाक्यं न

---

* निर्णयसागर प्रेस, बम्बई द्वारा सन् १९४७ में प्रकाशित षष्ठ संस्करण ।

काव्यमिति व्यवहारस्यापत्तेः । न द्वितीयः । एकस्मिन्पद्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः । तस्माद्वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता ।

लक्षणे गुणालङ्कारादिनिवेशोऽपि न युक्तः । 'उदितं मण्डलं विधोः' इति काव्ये दूत्यभिसारिकाविरहिण्यादिमुखोदीरितेऽभिसरणविधिनिषेधजीवनाभावादिपरे 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ चाव्याप्त्यापत्तेः । न चेदमकाव्यमिति शक्यं वदितुम् । काव्यतया पराभिमतस्यापि तथा वक्तुं शक्यत्वात् । काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव । गुणत्वालङ्कारत्वादेरननुगमाच्च । दुष्टं काव्यमिति व्यवहारस्य बाधकं विना लाक्षणिकत्वायोगाच्च । न च संयोगाभाववान्वृक्षः संयोगीतिवदंशभेदेन । दोषरहितं दुष्टमिति व्यवहारे बाधकं नास्तीति वाच्यम् । 'मूले महीरुहो विहगसंयोगी, न शाखायाम्' इति प्रतीतेरिवेव पद्ये पूर्वार्धे काव्यमुत्तरार्धे तु न काव्यमिति स्वरसवाहिन्या विश्वजनीनानुभवस्य विरहाद्व्याप्यवृत्तितया अपि तस्यायोगात् । शौर्यादिवदात्मधर्माणां गुणानाम्, हारादिवदुपस्कारकाणामलङ्काराणां च शरीरघटकत्वानुपपत्तेश्च । यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न । वस्त्वलङ्कारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः । न चेष्टापत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसङ्गात् । तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि कपिबालादिविलसितानि च । न च तत्रापि यथाकथंचित्परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम् । ईदृशरसस्पर्शस्य 'गौश्चलति', 'मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात् । अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक् । (पृष्ठ ४-६)

२ प्रतिभाया एव काव्यकारणता

तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा । सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः । तद्गतं च प्रतिभात्वं काव्यकारणतावच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेष उपाधिरूपं वाखण्डम् । तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम् । क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्यकरणाभ्यासौ । न तु त्रयमेव । बालादेस्तौ विनापि केवलान्महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्तेः । न च तत्र तयोर्जन्मान्तरीययोः कल्पनं वाच्यम् । गौरवान्मानाभावात्कार्यस्यान्यथाप्युपपत्तेश्च । लोके हि बलवता प्रमाणेनागमादिना सति कारणतानिर्णये पश्चादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणाय जन्मान्तरीयमन्यथानुपपत्त्या कारणं धर्माधर्मादि कल्प्यते । अन्यथा तु व्यभिचारोपस्थित्या पूर्ववृत्तकारणतानिर्णये भ्रमत्वप्रतिपत्तिरेव जायते । नापि केवलमदृष्टमेव कारणमित्यपि शक्यं वदितुम् । कियन्तं चिरकालं काव्यं कर्तुमजानतो कथमपि संजातयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः प्रतिभायाः प्रादुर्भावस्य दर्शनात् । तत्राप्यदृष्टस्याङ्गीकारे प्रागपि ताभ्यां तस्याः प्रसक्तेः । न च तत्र प्रतिभायां प्रतिबन्धकमदृष्टान्तरं कल्प्यमिति वाच्यम् । तादृशा-

ऽनेकस्यस्खलगतादृष्टद्वयकल्पनापेक्षया क्लृप्तव्युत्पत्त्यभ्यासयोरेव प्रतिभाहेतुत्वकल्पने लाघवात् । अतः प्रागुक्तसरणिरेव ज्यायसी । तादृशादृष्टस्य तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च प्रतिभागतं वैलक्षण्यं कार्यतावच्छेदकम्, अतो न व्यभिचारः । प्रतिभात्वं च कवितायाः कारणतावच्छेदकम्, प्रतिभागतवैलक्षण्यमेव वा विलक्षणकाव्यं प्रतीति नात्रापि सः । न च सतोरपि व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्यत्र न प्रतिभोत्पत्तिस्तत्रान्वयव्यभिचार इति वाच्यम् । तत्र तयोस्तादृशवैलक्षण्ये मानाभावेन कारणतावच्छेदकानवच्छिन्नत्वात् । पापविशेषस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वकल्पनाद्वा न दोषः । प्रतिबन्धकाभावस्य च कारणता समुदितशक्त्यादि-त्रयहेतुतावादिनः शक्तिमात्रहेतुतावादिनश्चाविशिष्टा । प्रतिवादिना मन्त्रादिभिः कृते कतिपयदिवसव्यापिनि वाक्स्तम्भे विहितानेकप्रबन्धस्यापि कवेः काव्यानुदयस्य दर्शनात् ।

(पृष्ठ ९-११)

३ काव्य-भेदाः

तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा ।

शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यंक्तस्तदाद्यम् ॥

कमपीति चमत्कृतिभूमिम् । तेनातिगूढस्फुटव्यंग्ययोर्निरासः ।

अपरांगवाच्यसिद्ध्यंगव्यंग्यस्यापि चमत्कारितया तद्वारणाय गुणीभावितात्माना-विति स्वापेक्षया व्यंग्यप्राधान्याभिप्रायकम् ।

उदाहरणम्—

'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान् ।
दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ॥'

अत्रालम्बनस्य नायकस्य, तद्विषयकशयनाक्षिप्तस्य रहःस्थानादेरुद्दीपनस्य च विभावस्य, तादृशनिरीक्षणादेरनुभावस्य, त्रपौत्सुक्यादेश्च व्यभिचारिणः, संयोगाद्रतिः रसोऽभिव्यज्यते । आलम्बनादीनां स्वरूपं वक्ष्यते । न चात्र शयितः स्यात्तदास्याननाम्बुजं चुम्बेयमिति नायिकेच्छाया एव व्यंग्यत्वमस्तीति वाच्यम् । मनोरथान्सफलीकर्तुमसमर्थ-त्वेन मनोरथाः सर्वेऽस्या हृदि तिष्ठन्तीति प्रतीतेः स्वशब्देन मनोरथपदेन सामान्या-कारेण सामान्येच्छाया अभिधानेऽपि चुम्बेयमिति विषयविशेषविशिष्टेच्छात्वेन व्यंग्यत्वे किं बाधकमिति वाच्यम् । चमत्कारो न स्यादित्यस्यैव बाधकत्वात् । न हि विशेषाकारेण व्यंग्योऽपि सामान्याकारेणाभिहितोऽर्थः सहृदयानां चमत्कृतिमुत्पादयितुमीष्टे । कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिंगितस्यैव व्यंग्यस्य चमत्कारित्वेनालंकारिकैः स्वीकारात् । चुम्बनेच्छाया रत्यनुभावमर्थैव सुन्दरत्वेन तदभ्यंजने चुम्बामीति शब्दबलाच्चुम्बनेच्छावरसमर्थकारि-

त्वाच्च । एवं त्रपाया अपि न प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वम् । अनुवाद्यतावच्छेदकतया प्रतीतायां तस्या मुख्यवाक्यार्थत्वायोगात् । न च दरमीलननयनत्वविशिष्टनिरीक्षणं विधेयमिति नानुवाद्यतावच्छेदकत्वं तस्या इति वाच्यम् । एवमपि नयनगतदरमीलनस्य तत्कार्यत्वेऽपि दरमीलननयनत्वविशिष्टनिरीक्षणस्य रतिमात्रकार्यत्वात् । त्रपाया एव मुख्यत्वेन व्यङ्ग्यत्वे निरीक्षणोक्तेरनतिप्रयोजनकत्वापत्तेः । वाच्यवृत्त्या रतेरनुभावे निरीक्षणे त्रपाया अनुभावस्य दरमीलनस्येव व्यञ्जनया तस्यास्तस्या अपि गुणीभावप्रत्ययौचित्यात् ।

यथा वा—

‘गुरुमध्यगता मया नताङ्गी निहता नीरजकोरकेण मन्दम् ।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णितासीत् ॥’

अत्र घूर्णितासीदित्यनेनासमीक्ष्यकारिन्किमिदमनुचितं कृतवानसीत्यर्थसवलितोऽमर्षस्त्रपावर्णनविश्रान्तिधामत्वात्प्राधान्येन व्यज्यते । तत्र शब्दोऽर्थश्च गुणः ।

यथा वा—

‘तल्पगतापि च सुतनुः श्वासासङ्गं न या सेहे ।
सम्प्रति सा हृदयगतं प्रियपाणिं मन्दमाक्षिपति ॥’

× × ×

या नववधूः तल्पकशायिता श्वासस्यासङ्गमात्रेणापि सकुचदङ्गलतिकाभूत्सा सम्प्रति प्रस्थानपूर्वरजन्यां प्रवत्स्यत्पतिका प्रियेण सशोकेन समर्पितं हृदि पाणिं नववधूजातिस्वाभाव्यादाक्षिपति, परं तु मन्दम् । अत्र शनैः स्वस्थानप्रापणात्मना मन्दाक्षेपेण रत्याख्यः स्थायी संलक्ष्यक्रमतया व्यज्यते । उपपादयिष्यते च स्थाय्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम् । अमुमेव च प्रभेदं ध्वनिमामनन्ति । यत्तु चित्रमीमांसायामप्पयदीक्षितैः ‘निःशेषच्युतचन्दनम्’ इति पद्यं व्यङ्ग्योदाहरणप्रसङ्गे व्याख्यातम्—‘उत्तरीयकर्षणेन चन्दनच्युतिरित्यन्यथासिद्धिपरिहाराय निःशेषग्रहणम् । ततश्चन्दनच्युतेः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन संभोगचिह्नोद्घाटनाय तटग्रहणम् । स्नाने हि सर्वत्र चन्दनच्युतिः स्यात्, तत्र तु स्तनयोस्तटं उपरिभाग एव दृश्यते । इयमाश्लेषकृतैव । तथा निर्मृष्टरागोऽधर इत्यत्र ताम्बूलग्रहणविलम्बात्प्राचीनरागस्य किंचिन्मृष्टतेत्यन्यथासिद्धिपरिहाराय निर्मृष्टराग इति रागस्य निःशेषमृष्टतोक्ता । पुनः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन संभोगचिह्नोद्घाटनाय अधर इति विशिष्य ग्रहणम् । उत्तरोष्ठे सरागेऽधरोष्ठमात्रस्य निर्मृष्टरागता चुम्बनकृतैव’ इत्यादिना, ‘इदमपि ध्वनेरुदाहरणम्’ इत्यन्तेन सन्दर्भेण । ‘तटादिघटिता वाच्यार्था स्नानव्यावृत्तिद्वारा संभोगाङ्गानामाश्लेषचुम्बनादीनां प्रतिपादनेन प्रधानव्यङ्ग्यव्यञ्जने साहाय्यकमाचरन्ति’ इति, तदेतदसत्कारणारब्धतत्स्थानपदार्थनिबन्धनम् । प्राचीनसकलग्रन्थविरुद्धत्वादुपपत्तिविरोधाच्च । तथा हि प्रथमोल्लाससंधेये ‘निःशेषेत्यादौ गमकतया यानि

उदाहरणम्—

'राघवविरहज्वालासंतापितसह्यशैलशिखरेषु ।
शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय ॥' इति ।

अत्र जानकीकुशलावेदनेन राघवः शिशिरीकृत इति व्यङ्ग्यमाकस्मिकहर्षकपिवर्तक-हनुमद्विषयककोपोपपादकतया गुणीभूतमपि दुर्दैववशतो दास्यमनुभवद् अकलत्रमिव कामपि कमनीयतामावहति । नन्वेवं प्रागुक्तमाक्षेपगतं मान्द्यमपि नववधूप्रकृतिविरोधादनुपपद्यमानं व्यङ्ग्येनैवोपपाद्यत इति कथमुत्तमोत्तमता तस्य काव्यस्येति चेत्, न । यतो ह्यनुचितसरपुपदेशादिभिरर्थान्तरचमत्कारैरनुपपद्यमानं मान्द्यमिव प्रथमचित्तचुम्बिनीं विप्रलम्भरतिमप्रकाशयत् प्रभवति स्वातन्त्र्येण परमिदं लिखवंगणोचरतामाधातुम् । इत्थमेव 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादिपद्येऽधमत्वादीनि वाच्यानि व्यङ्ग्यातिरिक्तेनार्थेनापाततो निष्प्रयोजनानि व्यञ्जकानीति न तत्रापि गुणीभावः शङ्कनीयः । अनयोर्भेदयोरनपह्नवनीयचमत्कारयोरपि प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्ति कश्चित्सहृदयवेद्यो विशेषः । यत्तु चित्रमीमांसाकृतोक्तम्—

'प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेण वा
किमुत सकले याते वाह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालाऽऽलापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥'

इत्यत्र सकलमहः परमावधित्वं परं प्राणान्धारयितुं न शक्नोमीति व्यङ्ग्यं प्रियगमननिवारणरूपवाच्यसिद्ध्यङ्गमतो गुणीभूतव्यङ्ग्यम्' इति । तन्न । सबाष्पगलज्जलानां प्रहरविरतावित्याद्यालापानामेव प्रियगमननिवारणरूपवाच्यसिद्ध्यङ्गतया व्यङ्ग्यस्य गुणीभावाभावात् । आलापैरिति तृतीयया प्रकृत्यर्थस्य हरणक्रियाकरणतायाः स्फुटं प्रतिपत्तेः । न च व्यङ्ग्यस्यापि वाच्यसिद्ध्यङ्गताऽत्र सम्भवतीति तथोक्तमिति वाच्यम् । निःशेषच्युतचन्दनमित्यादावेवाधमत्वरूपवाच्यसिद्ध्यङ्गतया दूतीसम्भोगादेः सम्भवात् गुणीभावापत्तेः । अस्तु वा सततं परं प्राणान्धारयितुं न शक्नोमीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यसिद्ध्यङ्गतया गुणीभावस्तथापि नायकादेर्विभावस्य बाष्पादेरनुभावस्य चिन्तावेगादेश्च सञ्चारिणः संयोगादभिव्यज्यमानेन विप्रलम्भेन ध्वनित्वं को निवारयेत् ।

यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम् ॥

यथा यमुनावर्णने—'तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी' इति । अत्रोत्प्रेक्षा वाच्यैव चमत्कृतिहेतुः । इर्वतपातालतलसचुम्बित्वादीनां चमत्कारो नैतादृशः समस्त्युत्प्रेक्षाचमत्कृतिजठरनिलीनो मार्गरिकेतरनाविकाकल्पितकाश्मीरकणाङ्गरागनिर्भरो निजाङ्गगौरिमैव प्रतीयते । न तावत्तोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यः सम्मानामुष्टप्रतीयमान एव स्वतो रमणीयतामाधातु

प्रभवति । अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्नागरकानागरकगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः प्रविष्टं निखिलमलंकारप्रधानं काव्यम् ।

यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम् ॥

यथा—

'मित्रात्रिपुत्रनेत्राय त्रयीशात्रवशत्रवे ।
गोत्रारिगोत्रजत्राय गोत्रात्रे ते नमो नमः ॥' इति ।

यत्रार्थचमत्कृतिः शब्दचमत्कृतौ लीना । यद्यपि यत्रार्थचमत्कृतिसामान्यशून्या शब्दचमत्कृतिस्तदप्यधमाधममपि काव्यविधासु गणयितुमुचितम् । यथैकाक्षरपद्यार्धावृत्तियमकपद्मबन्धादि । तथापि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दत्वरूपकाव्यसामान्यलक्षणानाक्रान्ततया वस्तुतः काव्यत्वाभावेन महाकविभिः प्राचीनपरम्परामनुरुन्धानैस्तत्र तत्र काव्येषु निबद्धमपि नास्माभिर्गणितम्, वस्तुस्थितेरेवानुरोध्यत्वात् । केचिदिमानपि चतुरो भेदानगणयन्तः उत्तममध्यमाधमभावेन त्रिविधमेव काव्यमाचक्षते । तन्नार्थचित्रशब्दचित्रयोरविशेषेणाधमत्वमयुक्तं वक्तुम्, तारतम्यस्य स्फुटमुपलब्धेः । को ह्येव सहृदयः सन् 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्', 'स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुः' इत्यादिभिः काव्यैः 'स्वच्छन्दोच्छलद' इत्यादीनां पामरश्लाघ्यानामविशेषं ब्रूयात् । सत्यपि तारतम्ये यद्येकभेदत्वं कल्प्यते तर्हि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोरपि तयोर्विभिन्नभेदत्वे दुराग्रहः । यत्र च शब्दार्थचमत्कृत्योरेकाधिकरण्यं तत्र तयोर्गुणप्रधानभावं पर्यालोच्य यथालक्षणं व्यवहर्तव्यम् । समप्राधान्ये तु मध्यमतैव ।

यथा—

'उल्लासः फुल्लपङ्केरुहपटलपतन्मत्तपुष्पंधयानां
निस्तारः शोकदावानलविकलहृदां कोकसीमन्तिनीनाम् ।
उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः
सङ्घातः कोऽपि धाम्नामयमुदयगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत् ॥'

अत्र वृत्त्यनुप्रासप्राचुर्यादोजोगुणप्रकाशकत्वाच्च शब्दस्य, प्रसादगुणयोगादनन्तरमेवाधिगतस्य रूपकस्य हेत्वलङ्कारस्य वा वाच्यस्य, चमत्कृत्योस्तुल्यकक्ष्यत्वात्सममेव प्राधान्यम् । (पृष्ठ ११-२५)

४ ध्वनिकाव्यभेदाः

तत्र ध्वनेरुत्तमोत्तमस्यास्य भेदस्यापि सामान्यतः केऽपि भेदा निरूप्यन्ते— द्विविधो ध्वनिः, अभिधामूलो लक्षणामूलश्च । तत्राद्यस्त्रिविधः । रसवस्त्वलंकारध्वनिभेदात् । रसध्वनिरित्यसंलक्ष्यक्रमोपलक्षणाद्रसभावतदाभासभावशान्तिभावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानां ग्रहणम् ।

द्वितीयश्च द्विविधः । अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च ।

(पृष्ठ २५)

५ रसध्वनि

एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते—

समुचितललितसंनिवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैस्तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः, चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैः, अश्रुपातादिभिः कार्यैः, चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च, संभूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः।

(१) तथा चाहुः—'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः' इति। व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः। व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्। यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ संनिहितान्पदार्थान्प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन्। अन्तःकरणधर्माणां साक्षिभास्यत्वाभ्युपगमात्। विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव रङ्गरजतादीनामिव साक्षिभास्यत्वमविरुद्धम्। व्यञ्जकविभावादिचर्वणाया आवरणभङ्गस्य चोत्पत्तिविनाशाभ्यामुत्पत्तिविनाशौ रसे उपचर्येते वर्णनित्यतावादिभिरिव व्यञ्जकताल्वादिव्यापारस्य गकारादौ। विभावादिचर्वणावधित्वादावरणभङ्गस्य, निवृत्तायां तस्यां प्रकाशस्याऽऽवृतत्वाद्विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते।

यद्वा विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहितस्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्। आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः, अनन्तःकरणवृत्तिरूपत्वात्। इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम्।

वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः। सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषणं विशेष्यं वा चिदंशमादाय नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धम्। रत्याद्यंशमादाय त्वनित्यत्वमितरभास्यत्वं च। चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभङ्ग एव प्रागुक्ता, तदाकारान्तःकरणवृत्तिर्वा। इयं च परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा, विभावादिविषयसंवलितचिदानन्दालम्बनत्वात्। भाव्या च काव्यव्यापारमात्रात्। यथास्यां सुखांशभाने किं मानमिति चेत्समाधावपि तद्भाने किं मानमिति

पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात् । 'सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' इत्यादि शब्दोऽस्ति तत्र मानमिति चेत्, अस्त्यत्रापि 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इति श्रुतिः, सकलसहृदयप्रत्यक्षं चेति प्रमाणद्वयम् । येयं द्वितीयपक्षे तदाकारचित्तवृत्त्यात्मिका रसचर्वणोपन्यस्ता सा शब्दव्यापारभाव्यत्वाच्छाब्दी । अपरोक्षसुखालम्बनत्वाच्चापरोक्षात्मिका । तदुक्तमाचार्यैरपि । इत्याहुरभिनवगुप्ताचार्यपादाः ।

(२) भट्टनायकास्तु "ताटस्थ्येन रसप्रतीतावनास्वाद्यत्वम् । आत्मगतत्वेन तु प्रत्ययो दुर्घटः । शकुन्तलादीनां सामाजिकान्प्रत्यविभावत्वात् । विना विभावमनालम्बनस्य रसादेरप्रतिपत्तेः । न च कान्तात्वं साधारणविभावतावच्छेदकमप्यस्तीति वाच्यम् । अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गिताऽगम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदककोटाववश्यं निवेश्यत्वात् । अन्यथा स्वमात्रेरपि कान्तात्वाविना तत्त्वापत्तेः । एवमशोच्यत्वकापुरुषत्वादिज्ञानविरहस्य तथाविधस्य करुणरसादौ । तादृशज्ञानानुत्पादस्तु तत्प्रतिबन्धककान्तरनिर्वचनमन्तरेण दुरुपपादः । स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरेव तथेति चेत्, न । नायके धीरोदात्तत्वधीरललितत्वादेरात्मनि चाधुनिकत्वकापुरुषत्वादेर्वैधर्म्यस्य स्फुटं प्रतिपत्तेरभेदबोधस्यैव दुःसंभवत्वात् । किं च केयं प्रतीतिः ? प्रमाणान्तरानुपस्थानाच्छाब्दीति चेत्, न । व्यावहारिकशब्दान्तरजन्यनायकमिथुनवृत्तान्तविततीनामिवास्या अप्यहृद्यत्वापत्तेः । नापि मानसी । चिन्तोपनीतानां तेषामेव पदार्थानां मानस्याः प्रतीतेरस्या वैलक्षण्योपलम्भात् । न च स्मृतिः । तथा प्रागननुभवात् । तस्मादभिधया निवेदिता पदार्था भावकत्वव्यापारेणाऽगम्यत्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणोपस्थाप्यन्ते । एवं साधारणीकृतेषु दुष्यन्तशकुन्तलादेशकालवयोवस्थादिषु, पश्चात् पूर्वव्यापारमहिम्नि, तृतीयस्य भोगकृत्त्वव्यापारस्य महिम्ना निगीर्णयो रजस्तमसोरुद्रिक्तसत्त्वजनितेन निजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणेन साक्षात्कारेण विषयीकृतो भावनोपनीतः साधारणात्मा रत्यादिः स्थायी रसः । तत्र भुज्यमानो रत्यादिः, रत्यादिभोगो वेद्युभयमेव रसः । सोऽयं भोगो विषयसंवलनाद् ब्रह्मास्वादसविधवर्तीत्युच्यते । एवं च त्र्यंशं काव्यस्य—'अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव च' इत्याहुः । अतश्चैतस्य पूर्वस्मान्मताद्भावकत्व-व्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः । भोगस्तु व्यक्तिः । भोगकृत्त्वं तु व्यञ्जनादविशिष्टम् । अन्या तु सैव सरणिः ।

(३) नव्यास्तु 'काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः । अयं च कार्यो दोषविशेषस्य । नाशश्च तन्नाशस्य । दोषोत्तरभाविना

लोकोत्तराह्लादेन भेदाऽग्रहात्सुखपदव्यपदेश्यो भवति स्वपूर्वोपस्थितेन रत्यादिना तदग्रहात्तद्वृत्तित्वेनैकत्वाध्यवसानाद्वा रम्यो वर्णनीयश्चोच्यते। अवच्छादक दुष्यन्तत्वमप्यनिर्वचनीयमेव। अवच्छादकत्व च रत्यादिविशिष्टबोधे विशेष्यतावच्छेदकत्वम्। एतेन—'दुष्यन्तादिनिष्ठस्य रत्यादेरनास्वाद्यत्वान्न रसत्वम्। स्वनिष्ठस्य तु तस्य शकुन्तलादिभिरसंसर्गिभिः कथमभिव्यक्तिः। स्वस्मिन्दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिस्तु बाधबुद्धिपराहता' इत्यादिकमपास्तम्। यदपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तं तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु दोषविशेषकल्पनं विना दुरुपपादम्। अतोऽवश्यकल्प्ये दोषविशेषे तेनैव स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि सूपपादा।

नन्वेवमपि रतेरस्तु नाम दुष्यन्त इव सहृदयेऽपि सुखविशेषजनकता, करुणरसादिषु तु स्थायिनः शोकादेर्दुःखजनकतया प्रसिद्धस्य कथमिव सहृदयाह्लादहेतुत्वम्। प्रत्युत नायक इव सहृदयेऽपि दुःखजनकत्वस्यैवौचित्यात्। न च सत्यस्य शोकादेर्दुःखजनकत्वं क्लृप्तं न कल्पितस्येति नायकानामेव दुःखम्, न सहृदयस्येति वाच्यम्। रज्जुसर्पादेर्भयकम्पाद्युत्पादकतापत्तेः। सहृदये रतेरपि कल्पितत्वेन सुखजनकतानुपपत्तेश्चेति चेत्। सत्यम्। शृङ्गारप्रधानकाव्येभ्य इव करुणप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवलाह्लाद एव सहृदयहृदयप्रमाणकस्तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वाल्लोकोत्तरकाव्यव्यापारस्यैवाह्लादप्रयोजकत्वमिव दुःखप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम्। अथ यथाह्लाद इव दुःखमपि प्रमाणसिद्धं तदा प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम्। स्वस्वकारणवशाच्चोभयमपि भविष्यति। अथ तत्र कवीनां कर्तुम्, सहृदयानां च श्रोतुम्। कथं प्रवृत्तिः ? अनिष्टसाधनत्वेन निवृत्तेरुचितत्वात्। इति चेत्। इष्टस्याधिक्यादनिष्टस्य च न्यूनत्वाच्चन्दनद्रवलेपनादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः। केवलाह्लादवादिनां तु प्रवृत्तिरप्रत्यूहैव। अश्रुपातादयोऽपि तत्तदानन्दानुभवस्वाभाव्यात्, न तु दुःखात्। अत एव भगवद्भक्तानां भगवद्वर्णनमाकर्णनादश्रुपातादय उपपद्यन्ते। न हि तत्र जात्वपि दुःखानुभवोऽस्ति। न च करुणरसादौ—स्वात्मनि शोकादिमद्दुष्यन्तादितादात्म्यारोपे यद्याह्लादस्तदा स्वप्नादौ सन्निपातादौ वा स्वात्मनि तदारोपेऽपि स स्यात्, आनुभविकं च तत्र केवलं दुःखमितो-ह्यपि तदेव युक्तमिति वाच्यम्। अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति। विलक्षणो हि कमनीयः काव्यव्यापारज आस्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात्। क एव च स्वजन्यभावनाजन्यरत्यादिविषयकत्वम्। तेन रसास्वादस्य काव्यव्यापारजन्यत्वेऽपि न क्षतिः। शकुन्तलादावगम्यात्वज्ञानोत्पादस्तु स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्ध्या प्रतिबध्यते' इत्याहुः।

(४) परे तु 'व्यञ्जनाव्यापारस्यानिर्वचनीयख्यातेश्चानभ्युपगमेऽपि प्रागुक्तदोषमहिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोधो

मानस काव्यार्थभावनाजन्मा विलक्षणविषयताशाली रस । स्वाप्नादिस्तु तादृशबोधो न काव्यार्थचिन्तनजन्मेति न रस । तेन तत्र न तादृशाह्लादापत्ति । एवमपि स्वस्मिन्नविद्यमानस्य रत्यादेरनुभव कथ नाम स्यात् । मैवम् । न ह्ययं लौकिकसाक्षात्कारो रत्यादे, येनावश्य विषयसद्भावोऽपेक्षणीय स्यात् । अपि तु भ्रम । आस्वादनस्य रसविषयकत्वव्यवहारस्तु रत्यादिविषयकत्वालम्बन ' इत्यपि वदन्ति । एतैश्च स्वात्मनि दुष्यन्तत्वधर्मितावच्छेदकशकुन्तलादिविषयकरतिवैशिष्ट्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे शकुन्तलादिविषयकरतिविशिष्टदुष्यन्ततादात्म्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्तत्वशकुन्तलादिविषयकरत्योर्वैशिष्ट्यावगाही, वा त्रिविधोऽपि बोधो रसपदार्थतयाभ्युपेय । तत्र रतेर्विशेषणीभूताया शब्दादप्रतीतत्वाद् व्यञ्जनायाश्च तत्प्रत्यायिकाया अनभ्युपगमाच्चेष्टादिलिङ्गकमादौ विशेषणज्ञानार्थमनुमानमभ्युपेयम् ।

(५) मुख्यतया दुष्यन्तादिगत एव रसो रत्यादि कमनीयविभावाद्यभिनयप्रदर्शनकोविदे दुष्यन्ताद्यनुकर्तरि नटे समारोप्य साक्षात्क्रियते इत्येके । मतेऽस्मिन्साक्षात्कारो दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलादिविषयकरतिमानित्यादि प्राग्वद्धर्म्यंशे लौकिक आरोप्यांशे त्वलौकिक ।

(६) 'दुष्यन्तादिगतो रत्यादिर्नटे पक्षे दुष्यन्तत्वेन गृहीते विभावादिभि कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैर्भिन्ने विषयेऽनुमितिसामग्र्या बलवत्त्वादनुमीयमानो रस ' इत्यपरे ।

(७) विभावादयस्त्रय समुदिता रसा ' इति कतिपये । (८) 'त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसोऽन्यथा तु त्रयोऽपि न' इति बहव । (९) 'भाव्यमानो विभाव एव रस' इत्यन्ये । (१०) 'अनुभावस्तथा' इतीतरे । (११) व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति' इति केचित् ।

तत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति ' इति सूत्र तत्तन्मतपरतया व्याख्यायते— विभावानुभावव्यभिचारिभि संयोगाद् व्यञ्जनाद्रसस्य चिदानन्दविशिष्टस्थाय्यात्मन स्थाय्युपहितचिदानन्दात्मनो वा निष्पत्ति स्वस्वरूपेण प्रकाशनम्' इत्याद्ये । 'विभावानुभावव्यभिचारिणां सम्यक्साधारणात्मतया योगाद्भावकत्वव्यापारेण भावनाद्रसस्य स्थाय्युपहितसत्त्वोद्रेकप्रकाशितस्वात्मानन्दरूपस्य निष्पत्तिर्भोगाख्येन साक्षात्कारेण विषयीकृति ' इति द्वितीये । विभावानुभावव्यभिचारिणां संयोगाद्भावनाविशेषरूपाद्दोषाद्रसस्यानिर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्ति । इति तृतीये । 'विभावादीनां संयोगाज्ज्ञानाद्रसस्य ज्ञानविशेषात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्ति' इति चतुर्थे । 'विभावादीनां सम्बन्धाद्रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरारोप ' इति पञ्चमे । 'विभावादिभि कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतै संयोगादनुमानाद्रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरनुमिति, नटादौ पक्ष इति शेष' इति

षष्ठे। 'विभावादीनां त्रयाणां संयोगात्समुदायाद्रसनिष्पत्तौ रसपदव्यवहार' इति सप्तमे। 'विभावादिषु सम्यग्योगाच्चमत्कारात्' इत्यष्टमे। तत्रैव पर्यवसितत्रिषु मतेषु सूत्रविरोध। विभावानुभावव्यभिचारिणामेकस्य तु रसान्तरसाधारणतया नियतरसव्यञ्जकत्वानुपपत्तेः सूत्रे मिलितानामुपादानम्। एवं च प्रामाणिके मिलितानां व्यञ्जकत्वे यत्र क्वचिदेकस्यैवासाधारणत्वाद्रसोद्बोधस्तत्रेतरद्वयमाक्षेप्यम्। अतो नानैकान्तिकत्वम्। इत्थं नानाजातीयाभिः शेमुषीभिर्नानारूपतयावसितोऽपि मनीषिभिः परमाह्लादाविनाभावितया प्रतीयमानः प्रपञ्चेऽस्मिन्नसौ रमणीयतामावहतीति निर्विवादम्।

(पृ० २५-३५)

६ रस-भेदाः

स च—

'शृङ्गारः करुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा।
हास्यो भयानकश्चैव बीभत्सश्चेति ते नव॥'

इत्युक्तेर्नवधा। मुनिवचनं चात्र मानम्।

केचित्तु—

'शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसंभवात्।
अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते॥'

इत्याहुः। तच्चापरे न क्षमन्ते। तथा हि—नटे शमाभावादिति हेतुरसङ्गतः, नटे रसाभिव्यक्तेरस्वीकारात्। सामाजिकानां शमवत्त्वेन तत्र रसोद्बोधे बाधकाभावात्। न च नटस्य शमाभावात्तदभिनयप्रकाशकतानुपपत्तिरिति वाच्यम्। तस्य भयक्रोधादेरप्यभावेन तदभिनयप्रकाशकताया अप्यसङ्गत्यापत्तेः। यदि च नटस्य क्रोधादेरभावेन वास्तवतत्कार्याणां वधबन्धादीनामुत्पत्त्यसम्भवेऽपि कृत्रिमतत्कार्याणां शिक्षाभ्यासादिना उत्पत्तौ नास्ति बाधकमिति विभाव्यते, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्। अथ नाट्ये गीतवाद्यादीनां विरोधिनां सत्त्वात्सामाजिकेष्वपि विषयवैमुख्यात्मनः शान्तस्य कथमुद्रेक इति चेत्, नाट्ये शान्तरसमभ्युपगच्छद्भिः फलबलात्तद्गीतवाद्यादेस्तस्मिन्विरोधिताया अकल्पनात्। विषयचिन्तासामान्यस्य तत्र विरोधित्वस्वीकारे तदीयालम्बनस्य संसारानित्यत्वस्य तदुद्दीपनस्य पुराणश्रवण सत्सङ्ग-पुण्यवन-तीर्थावलोकनादेरपि विषयत्वेन विरोधित्वापत्तेः। अत एव च चरमाध्याये संगीतरत्नाकरे—

'अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन्।
तदचारु, यतः कञ्चिन्न रसं स्वदते नटः॥'

इत्यादिना नाट्येऽपि शान्तो रसोऽस्तीति व्यवस्थापितम्। यद्यपि नाट्ये शान्तो रसो नास्तीत्यभ्युपगम्यते तथापि वाक्यकाव्यान्महाभारतादिप्रबन्धानां शान्तरसप्रधानताया अखिललोकानुभवसिद्धत्वाच्च काव्ये सोऽवश्य स्वीकार्यः। अत एव 'अष्टौ नाट्ये रसा स्मृता' इत्युपक्रम्य 'शान्तोऽपि नवमो रस' इति मम्मटभट्टा अप्युपसमहार्षुः।

(पृष्ठ ३६-३७)

७ गुण-निरूपणम्

रसेषु चैतेषु निरूपितेषु माधुर्योजःप्रसादाख्यास्त्रीन्गुणानाह। तत्र 'शृङ्गारे संयोगाख्ये यन्माधुर्यं ततोऽतिशयितं करुणे, ताभ्यां विप्रलम्भे, तेभ्योऽपि शान्ते। उत्तरोत्तरमतिशयितावाच्चित्तद्रुतेर्जनकत्वात्' इति केचित्।' संयोगशृङ्गारकरुणविप्रलम्भशान्तेष्वतिशयितमेव न पुनस्तत्रापि तारतम्यम्' इत्यन्ये। तत्र प्रथमचरमयोर्मतयोः 'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्' इति प्राचां सूत्रमनुकूलम्। तस्योत्तरसूत्रगतस्य क्रमेणेति पदस्यापकर्षानपकर्षाभ्यां व्याख्याद्वयस्य संभवात्। मध्यस्थे तु मते करुणशान्ताभ्यां विप्रलम्भस्य माधुर्यातिशये यदि सहृदयानामनुभवोऽस्ति साक्षी, तदा स प्रमाणम्। वीरबीभत्सरौद्रेष्वोजसो यथोत्तरमतिशयः, उत्तरोत्तरमतिशयितावाच्चित्तदीप्तेर्जनकत्वात्। अद्भुतहास्यभयानकानां गुणद्वययोगित्व केचिदिच्छन्ति, अपरे तु प्रसादमात्रम्। प्रसादस्तु सर्वेषु रसेषु सर्वासु रचनासु च साधारण।

गुणानां चैषां द्रुतिदीप्तिविकासाख्यास्तिस्रश्चित्तवृत्तयः क्रमेण प्रयोज्याः। तत्तद्गुणविशिष्टरसचर्वणाजन्या इति यावत्। एवमेतेषु गुणेषु रसमात्रधर्मेषु व्यवसितेषु मधुरा रचना, ओजस्वी शब्द इत्यादयो व्यवहारा आकारोऽस्य शूर इत्यादिव्यवहारवदौपचारिका इति मम्मटभट्टादय। येऽमी माधुर्योजःप्रसादा रसमात्रधर्मतयोक्तास्तेषां रसधर्मत्वे किं मानम्? प्रत्यक्षमेवेति चेत्, न। दाहादेः कार्यविशेषस्योष्णस्पर्शस्य यथा भिन्नतयानुभवस्तथा द्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यो रसकार्येभ्योऽन्येषां रसगतगुणानामननुभवात्। तादृशगुणविशिष्टरसानां द्रुत्यादिकारणत्वात्कारणतावच्छेदकतया गुणानामनुमानमिति चेत्, प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात्। शृङ्गारकरुणशान्तानां माधुर्यवत्त्वेन द्रुतिकारणत्वं प्रातिस्विकरूपेण कारणत्वकल्पनापेक्षया लघुभूतमिति तु न वाच्यम्। परेण मधुरतरादिगुणानां पृथक्पृथक्तरत्वादिकार्यतारतम्यप्रयोजकताया अभ्युपगमेन माधुर्यत्वेन कारणताया गुरुभूतत्वात्। इत्थं च प्रातिस्विकरूपेणैव कारणत्वे लाघवम्। किं चात्मनो निर्गुणतयात्मधर्मस्य सुतरां माधुर्यादेरोजाभनुपपन्नम्। एव तदुपाधिरत्यादिगुणत्वमपि, मानाभावात्, परकीयतया गुणे गुणान्तरानयानौचित्याच्च। अथ शृंगारो मधुर इत्यादिव्यवहार कथमिति चेत्, एवं तर्हि द्रुत्यादिचित्तवृत्ति

प्रयोजकत्वम्, प्रयोजकतासंबन्धेन द्रुत्यादिकमेव वा माधुर्यादिकमस्तु। व्यवहारस्तु वाजि-गन्धोष्णेतिव्यवहारवदक्षतः। प्रयोजकत्वं चावुष्टादिविलक्षणं शब्दार्थरसरचनागतमेव ग्राह्यम्। अतो न व्यवहारातिप्रसक्तिः। तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुप-चारो नैव कल्प्य इति तु मादृशाः। (पृष्ठ ६७-६९)

२

हिन्दी

केशवदास

(समय—सन् १५५५-१६१७ ई०)

ग्रन्थ—कविप्रिया, रसिकप्रिया

१—सामान्य काव्य-सिद्धान्त

(अ) कवि-कर्म का स्वरूप—

चरण धरत चिंता करत, नींद न भावत सोर।
सुबरण को सोधत फिरत, कवि, व्यभिचारी, चोर॥

(कविप्रिया, ३-४)

सांची बात न बरनहीं, झूठी बरननि बानि।
एकनि बरनें नियम कैं, कवि मत त्रिविध बखानि॥

(कविप्रिया ४-४)

(ब) कवि-भेद—

उत्तम, मध्यम, अधम कवि, उत्तम हरि रस लीन।
मध्यम मानत मानुषनि, दोषनि अधम प्रवीन॥
जो अति उत्तम ते पुरुषारथ, जे परमारथ के पथ सोहैं।
केशवदास अनुत्तम ते नर स्वारथ संयुत जो हैं॥
स्वारथ हू परमारथ भोगनि मध्यम लोगनि के मन मोहैं।
भारत पारथ-गीत कहौ, परमारथ स्वारथहीन ते को हैं॥

(कविप्रिया, ४-१, २, ३)

(ज) काव्य और दोष—

राजत रंच न दोष युत, कविता बनिता मित्र।
बूंदक हाला परत ज्यों, गंगा घट अपवित्र॥
विप्र न नेमी कीजई, मुग्ध न कीजै मित्त।
प्रभु न कृतघ्नी सेइये, दूषण सहित कवित्त॥
अन्ध, बधिर अरु पंगु तजि, नगन, मृतक मतिशुद्ध।
अन्ध विरोधी पन्थ को, बधिर जो शब्द विरुद्ध॥

छन्द विरोधी पगु गुनि, नगन जो भूषण हीन।
मृतक कहावैं अरथ बिन, केसव सुनहु प्रवीन॥
(कविप्रिया, ३-५, ६, ७, ८,)

(स) काव्य मे अलकार-प्रयोग—

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिन न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥
कविन कहे कवितानि के अलकार द्वै रूप।
एक कहे साधारणहि, एक विशिष्ट स्वरूप॥
सामान्यालकार को, चारि प्रकार प्रकास।
वर्ण, वर्ण्य भू-राज श्री भूषण केशवदास॥
(कविप्रिया, ५ १, २, ३)

(ह) काव्य और रस-तत्व—

ताते रुचि सुचि सोचि पचि कीजैं सरस कवित्त।
केशव स्याम सुजान को, सुनत होइ बस चित्त॥
(रसिकप्रिया, पृष्ठ १२, १४)

(ङ) कवि-वाणी—

ज्यो बिन डीठ न सोभिये, लोचन लोल विसाल।
त्यो ही केशव सकल कवि, बिन बानी न रसाल॥
(रसिकप्रिया, पृष्ठ ११, १३)

२—रस-प्रसंग

(अ) रसाङ्ग—

(१) भाव—

आनन लोचन बचन मग, प्रकटत मन की बात।
ताही सो सब कहत है, भाव कविन के तात॥
(रसिकप्रिया पृ० ८६।१)

२- *विभाव* —

जिनते जगत अनेक रस, प्रकट होत अनयास।
तिनसो विमति विभाव कहि, वर्णत केशवदास॥
सो विभाव द्वै भाँति के, केशवदास बखान।
आलबन इक दूसरो, उद्दीपन मन आन॥

जिन्हैं जतन अवलबई, ते आलबन जान।
जिनते दीपित होत है, ते उद्दीप बखान॥
(रसिकप्रिया, पृ० ६०।३, ४, ५)

३. *अनुभाव* —

आलबन उद्दीप के जे अनुकरण बखान।
ते कहिये अनुभाव सब, दम्पति प्रीति विधान॥
(रसिकप्रिया, पृ० ६२।८)

४. *स्थायी भाव* —

रति हासी अरु शोक पुनि, क्रोध उछाह सुजान।
भय निंदा विस्मय सदा, थाई भाव प्रमान॥
(रसिकप्रिया, पृ० ६२।६)

५. *सात्त्विक भाव* —

स्तभ स्वेद रोमाच सुर, भग कप वैवर्ण।
अश्रु प्रलाप बखानिये, आठो नाम सुवर्ण॥
(रसिकप्रिया, पृ० ६३।१०)

६. *व्यभिचारी भाव* —

भाव जु सब ही रसन में, उपजत केशव राय।
बिना नियम तिन शोक है, व्यभिचारी कविराय॥
(रसिकप्रिया, पृ० ६३।११)

(ग) नव रस —

१. *शृंगार रस* —

इतर रसो का शृगार रस में समाहार —

श्री वृषभानु कुमारि हेतु 'शृगार' रूप भय।
वास 'हास' रस हरे, मात बधन 'करुणामय'॥
केशी प्रति अति 'रौद्र', 'वीर' मारो वत्सासुर।
'भय' दावानल पान, पियो 'बीभत्स' बकी उर॥
अति 'अद्भुत' बच विरचि मति, 'शात' सतते शोच चित।
कहि केशव सेवहु रसिक जन, नवरस में ब्रज राज नित॥

नवहू रस को भाव बहु, तिनके भिन्न विचार।
सबको केशवदास हरि, नायक है शृंगार॥
रति मति की अति चातुरी, रति पित सत्र विचार।
ताही सो सब कहत हैं, कवि कोविद शृंगार॥
शुभ संयोग वियोग पुनि, दोउ शृंगार की जाति।
पुनि प्रच्छन्न प्रकाश करि, दोऊ द्वै-द्वै भाँति॥
(रसिकप्रिया, प्र० १२-१३।१६, १७, १८)

२ हास्य रस —

नयन बयन कछु करत जहँ जन को मोद उदोत।
चतुर चित्त पहिचानिये, तहाँ हास्य रस होत॥
मन्द हास कलहास पुनि, कहि केशव अतिहास।
कोविद कवि वर्णत सबै, अरु चौथो परिहास॥
विकसहि नयन कपोल कछु, दशन दशन के वास।
मन्दहास तासो कहैं, कोविद केशवदास॥
जहँ सुनिये मल ध्वनि कछु, कोमल विमल विलास।
केशव तन मन मोहिये, वर्णहु कवि कलहास॥
जहाँ हँसे निरशङ्क ह्वै, प्रकटै सुख मुख वास।
आधे आधे बरण पद, उपज परत अतिहास॥
जहँ परिजन सब हँसि उठै, तजि दम्पति की कान।
केशव कौनहुँ बुद्धि बल, सो परिहास बखान॥
(रसिकप्रिया, प्रक० १४।१, २, ३, ८, १२, १५)

३. करुण रस —

प्रिय के विप्रियकरण ते, आन करुण रस होत।
ऐसो बरण बखानिये, जैसे तरुण कपोत॥
(रसिकप्रिया, प्रक० १४।१८)

४. रौद्र रस —

होहि रौद्र रस क्रोध में, विग्रह उग्र शरीर।
अरुण बरण वरणत सबै, कहि केशव मति धीर॥
(रसिकप्रिया, प्रक० १४।२१)

५ वीर रस —

होहि वीर उत्साहमय, गौर बरण द्युति अंग।
अति उदार गम्भीर कहि केशव पाय प्रसंग ॥
(रसिकप्रिया, प्रक० १४।२४)

६ भयानक रस —

होहि भयानक रस सदा, केशव स्याम शरीर।
जाको देखत सुनत ही, उपजि परे भय भीर ॥
(रसिकप्रिया, प्रक० १४।२७)

■ बीभत्स रस —

निंदामय बीभत्स रस, नील वरण वपु तास।
केशव देखत सुनत ही, तन मन होइ उदास ॥
(रसिकप्रिया, प्रक० १४।३०)

८ अद्भुत रस —

होहि अचभो देखि सुनि, सो अद्भुत रस जान।
केशवदास विलास निधि, पीत वरण वपु मान ॥
(रसिकप्रिया, प्रक० १४।३३)

९ समरस —

सब ते होइ उदास मन, बसै एक ही ठौर।
ताही सो समरस कहै, केशव कवि सिरमौर ॥
(रसिकप्रिया, प्रक०, १४।३८)

(ज) अनरस —

१ सामान्यभेद —

प्रत्यनीक नीरस विरस, केशव दुसधान।
पात्रादुष्ट कवित्त बहु करहि न सुकवि बखान ॥

२. प्रत्यनीक रस —

जहँ शृंगार बीभत्स भय, विरसहि बरणे कोइ।
रौद्रसु करुणा मिलत हीं, प्रत्यनीक रस होइ ॥

३. नीरस रस —

जहाँ दम्पती मुँह मिलैं, सदा रहै यह रीति।
चपट रहै लपटाय मन, नीरस रस की प्रीति॥

४. विरस रस —

जहाँ शोक महँ भोग को, वरणिय है कवि कोइ।
केशवदास हुलास सो, तहँ ही बीरस होइ॥

५. दुःसंधान रस —

एक होइ अनुकूल जहँ, दूजो है प्रतिकूल।
केशव दुःसंधान रस, शोभित तहाँ समूल॥

६. पात्रा-दुष्ट रस —

जैसो जहाँ न बूझिए, तैसो करिए पुष्ट।
बिनु विचार जो वरणियै, सो रस पातर दुष्ट॥
(रसिकप्रिया प्रक०, १६-१, ३, ४, ६, ८, १८)

३ काव्य-वृत्तियाँ

प्रथम कैशिकी भारती आरभटी मनि भाँति।
कहि केशव शुभ सात्त्विकी, चतुर चतुर विधि जाति॥

१. कैशिकी वृत्ति —

कहिए केशवदास जहँ, वरण हास शृङ्गार।
सरल वरण शुभ भाव जहँ, सो कैशिकी विचार॥

२. भारती —

बरणै जामें वीर रस, अरु अद्भुत रस हास।
कहि केशव शुभ अर्थ जहँ, सो भारती प्रकास॥

३. आरभटी —

केशव जामें रुद्र रस, भय बीभत्सक जान।
आरभटी आरम्भ यह, पद-पद जमक बखान॥

४. सात्त्विकी —

अद्भुत वीर शृंगार रस, समरस वरणि समान।
सुनतहि समुभत भाव जिहि, सो सात्त्विकी सुजान॥
(रसिकप्रिया प्रक० १५-१, २, ४, ६, ८)

चिन्तामणि

[समय— सन् १६०६—]

ग्रन्थ —कविकुलकल्पतरु

१—सामान्य काव्य-सिद्धान्त

(अ) काव्य का स्वरूप —

छन्द निबद्ध सुपद्य कहि गद्य होत बिन छंद।
भाषा छंद निबद्ध सुनि सुकवि होत सानंद॥
सगुनालंकारन सहित दोष रहित जो होइ।
शब्द अर्थ ताको कवित कहत विबुध सब कोई॥

(प्रक० १।५-७)

(ब) काव्य के भेद —

उत्तम मध्यम अधम ए त्रिविध कवित पहिचानि।
तिनके लक्षण उदाहरन देत लेहु मन आनि॥
वाक अर्थ तें कहत मनि व्यंग अधिक जहँ होइ।
सो जन उत्तम कवित है? यह जानत कवि कोइ॥
उत्तम व्यंग प्रधान गन अप्रधान गन व्यंग।
सो मध्यम पुनि अधम गन त्रिविध चित्र अव्यंग॥
वाच्या लक्ष तें भिन्न जे कवित सुनी ते अर्थ।
भाते तें सब व्यंग कहि बरनत सुकवि समर्थ॥

(प्रक० ५, श्री राधा वर्णन-भाग, ।१, २, ३, ४)

(ज) काव्य में गुण-स्थिति —

प्रथम कहत माधुर्य पुनि ओज प्रसाद बखानि।
त्रिविधै गुन तिन में सबै सुकवि लेन मनमानि॥

१. माधुर्य गुण —

जो सयोग सिंगार में सुखद दवावै चित्त
सो माधुर्य बखानियें यहई तत्त्व ववित ॥
सो सयोग सिंगार तें करुण मध्य अधिकाइ।
विप्रलम्भ अरु सात रस तामें अधिक बनाइ ॥
अनुस्वार जुत बरन जिति सर्व वर्ग अ-टवर्ग।
मृदु समास माधुर्य की घटना मैं जु निसर्ग ॥

२. ओज गुण —

दीप्त चित्त विस्तार को हेतु ओज गुन जानि।
सु तौं वीर वीभत्स अरु रौद्र क्रमाधिक मानि ॥
वरगन में जो आदि अरु तीजो आखर कोइ।
तिन सों जोग द्वितीय अरु चौथे को जो होइ ॥
रेफ जोग सब ठौर जो तुल्य वरन जुग जोग।
सपट वरन दीरघ करत जे समास कवि लोग ॥
ऐसी घटना ओज की व्यञ्जक मन मैं आनि।
सकल सुकवि जन की मती सुजन लेहु मन जानि ॥
सजोगी उद्धत बरन जो पुनि दिग्घ समास।
ऐसी रचना करत है सुनतहि ओज प्रकास ॥

३. प्रसाद गुण —

सूखे ईधन आग ज्यौं स्वछ (स्वच्छ) नीर की रीति।
झलकैं अक्षर अर्थ जो सो प्रसाद गुन नीति ॥
जामहिं सुननहिं पढ़न ते अर्थ बोध मन होइ।
सा प्रसाद बरनादि इति साधारण सब कोइ ॥
(प्रश्न० १।१३, १४, १५, २०, १६, २२, २३, २४, २५, १७,२८)

(ख) काव्य-पुरुष —

सबै अर्थ तनु (नु) वाँणिये जीवित रस जिय जानि।
अलंकार हारादि पे उपमादिक मन आनि ॥

श्लेषादि गन सूरतादिक से मानो चित्त ?
बरनौ रीति सुभाव, ज्यों वृत्ति वृत्ति सी मित्त ॥
पद अनगुन विश्राम सो सज्ज्या सज्जा जानि ।
रस आस्वादन भेद जे पाक पाँक से मानि ॥
कवित पुरुष की साजु सब समुझ लोक का रीति ।

(प्रक० १।६, १२)

२—रस-प्रसंग

अ) रसाङ्ग —

१. हाव-भाव —

भ्रू नेत्रादि विकार जो कछु उपजै मन माँहि ।
कछू सलक्ष्य विकार वह भाव हाव ह्वै जाहि ॥

(प्रक० ७।१५)

मन विकार कहि भाव सो करन वासना रूप ।
विविध ग्रथ करता कहत ताको रूप अनूप ॥
जो नहिं जाति विजाति सौं होइ तिरस्कृत रूप ।
जब लग रहु तब लग सुथिर थाई भाव अनूप ॥

(प्रक० ५, श्री राधा-वर्णन भाग, । ५०, ५२)

२. अनुभाव —

इति कारज अनुभाव गनि एकटाछ दै आदि ।
मधुर अग ईहा कहै सुहृदय सुखद अनादि ॥
जे पुनि थाई भाव को प्रकट करै अनयास ।
ताहि कहत अनुभाव है सब कवि बुद्धि बिलास ॥

(प्रक० ६।१, २)

३. संचारी भाव —

जे विपरीते थाइ का अभिमुख रहे बनाइ ।
ते सचारी वर्णिये कहत बडे कविराइ ॥
रहत सदा थिर भाव में प्रगट होत इहि भाँति ।
ज्यों कल्लोल समुद्र में यो सचारी जानि ॥

(प्रक० ६।८, ६)

४. रसाभास-भावाभास —

अनुचित विषय करति जुहै सोई त रस ग्राभास ।
अनुचित विषय के भाव जो सो पुनि भावाभास ॥

(प्रक० ८।१६२)

(व) <u>शृंगार रस</u> —

जामें थाई रति सु तौ मन की लगन अनूप ।
चिंतामनि कवि कहत है सो शृंगार सरूप ॥
सु तौ एक सजोग है विप्रलभ कहि और ।
द्विविधि होत शृंगार यो वरनत कवि सिर मौर ॥
जहाँ दम्पती प्रीति सो बिलसत रचत बिहार ।
चिंतामनि कवि कहत यों तहँ सजोग सिंगार ॥
जहाँ मिलैं नहिं नारि अरु पुरुष सुबरन वियोग ।
विप्रलभ यह नाम कहि वरनत सब कवि लोग ॥

(प्रक० ८।१, २, ३, ६)

३—शब्दार्थ-निरूपण

पद वाच्यक अरु लाक्षणिक व्यंजक विविध बखान ।
वाच्य लक्ष्य अरु व्यंग्य पुनि अर्थौ तीनि प्रमान ॥
बिन अंतर ना शब्द कर जाको होत बखान ।
सो वाचक पद होत है कहत सुकवि परमान ॥
लक्षक ताकों कहत जो होत लक्षणा जुक्त ।
चिंतामनि कवि कहत है यह प्रमान है उक्त ॥
जहँ अभिधा अरु लक्षणा शक्ति करु भिन्न प्रकार ।
होइ अर्थ को बोध तहँ कवि व्यंजक व्यापार ॥

(प्रक० ६ शब्दार्थ।१, २, ३, ७)

४—अलंकार का स्वरूप

अलंकार ज्यों पुरुष को हारादिक मन आनि ।
ग्रामोपम आदिक कवित अलंकार ज्यों जानि ॥

(प्रक० २।१)

५—काव्य-दोष

१. दोष का स्वरूप —

शब्द अर्थ रस को जु इत देखि परै अपकर्ष।
दोष कहत हैं ताहि को सुने घटतु है हर्ष ॥

(प्रक० ५।१)

२. दोष-परिहार —

जहाँ हेत परसिद्ध है तहँ न रहै सत दोस।
सब अदुष्ट अनुकरन मैं इनतो नहीं अतोस ॥
चिंतामनि गोपाल को बर्नन करैं बनाइ।
वक्तादिक औचित्य तें दोषौ गुन ह्वै जाइ ॥

(प्रक० ५।६६, ६७)

कुलपति

[समय—सन् १६६७-१६८६ ई० (कविता-काल)]

ग्रन्थ—रस-रहस्य

१. सामान्य काव्य-सिद्धान्त

(अ) काव्य का लक्षण—

जग तें अद्भुत सुख सदन शब्दरु अर्थ कवित्त।
यह लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रन्थ बहु चित्त॥

(प्रक० १, २०)

(ब) काव्य का प्रयोजन—

जस सम्पति आनन्द अति दुरितन डारै खोइ।
होत कवित तें चतुरई जगत राम बस होइ॥

(प्रक० छन्द १२)

(ज) काव्य की सामग्री और भेद—

व्यंग जीव ताको कहत शब्द अर्थ है देह।
गुण गुण भूषण भूषणै दूषण दूषण एह॥
सो कवित्त है तीन विधि उत्तम मध्यम और।
जीव मरम पुनि देह मम दैहै बलि जेहि ठौर॥
व्यंग अर्थ सम सुखद जहँ मध्यम कहिये सोइ।
शब्द अर्थ है चित्र जहँ व्यंग न अवर सु होइ॥

(प्रक० १, ३४, ३५, ३८, ४०,)

२ शब्दार्थ-निरूपण

१. सामान्य अंग —

वाचक लक्षक व्यंजको शब्द तीन विधि सोइ।
वाच्य-लक्ष्य अरु व्यंग्य पुनि अर्थ तीन विधि होइ॥

२. *वाचक-वाच्य* —

वाचक सो जु सहाय बिन आप अर्थ करि देइ।
वाच्य अर्थ पद सुनत ही जाहि चित्त गहि लेइ॥

३. *लक्ष्यक-लक्षणा* —

लक्ष्यक सो अर्थ न बनें तव ढिग तें गहि लेह।
मुख्य अर्थ के बाध तें पुनि ताही के पास।
और अर्थ जातें लखें कहें लक्षणा तास॥

४ *व्यंजक, व्यंग्य, व्यंजना* —

अर्थ बनाइ अधिक कहै व्यंजक कहिये सोइ।
शब्द सुनें समझै अरथ होय जु अधिक प्रकास॥
सोई व्यंग जु लक्षणा अविधा मूल विलास।
व्यंग हि कहे सुव्यंजना वृत्ति सवन सुख देइ॥
(प्रक० १, ३, ४, ७, ८, १६, १७, १८)

३. रस-प्रसंग

(अ) रसांग—

विभाव —

जिन तें जिनको जगत में प्रगटत है थिर भाव।
तेई नित्त नवित्त में पावहिं नाम विभाव॥
अरु सब रस में सबरे तहँ विभाव द्वै भांति।
जे निवास थिर भाव के ते आलंबन जानि।
सुधि आवे जिनके लखे ते उद्दीप बखानि॥

२. *अनुभाव* —

थिर भावनि को और कौं प्रगटें ते अनुभाव।
सचारी जेहि साथ ह्वै बहुत बढ़ावे दाव॥

३. *सात्त्विक भाव* —

बधि रहिबो सुरभङ्ग पुनि, कम्प स्वेद अंसुवानि।
रोम विवर्न रू प्रन्त तनु, सात्त्विक भाव बखानि॥
(तृतीय प्रकरण, छन्द ११, १३, १४, १२,१७)

४. रसभाव-भावाभास—

अनुचित है रसभाव जहाँ ते कहिये आभास।
रस,भाव तामें कहत सुनिये सहित हुलास॥

(तृतीय प्रकरण, छन्द ६८)

(ख) रस का स्वरूप

मिलि विभाव, अनुभाव अरु संचारी सु अनूप।
व्यंग कियोथिर भाव जो, सोई रस सुख भूप॥

(तृतीय प्रकरण छन्द १४)

(ज) नवरस —

१. शृंगार रस

पति तिय रति प्रगटै जहाँ सोई रस शृंगार।
इन संयोग वियोग करि ताके द्वय परकार॥
जेहि ठा नायक नायका, रमैं सु है संयोग।
जहाँ अटक है मिलन की ताही कहत वियोग॥

२. हास्य रस —

जहाँ अजोग को जोग पुनि, उलटे लखिये साज।
बुरी रूप विद्रवनि चलनि, हास विभाव समाज॥
मन्द, मध्य अरु उच्च स्वर, हंसिवो है अनुभाव।
हर्ष, उदेग अरु चपलता, यह सञ्चारी भाव॥
इन तें नृत्य कवित्त में, हास व्यंग जहाँ होय।
कवि सहृदय कौं सुखद है, कह्यो हास रस सोय॥

३. करुण रस —

दुखी देखिये मित्र पुनि, मृतक थाप अरु बन्धु।
इनते उपजत शोक जग, दारिद जुत अरु अन्धु॥
रदन कम्प अरु रोम तन, ये कहिये अनुभाव।
ग्लानि दीनता मूर्छा यह संचारी भाव॥
समुभ्भत नृत्य कवित्त में, शोक व्यंग जहा होय।
कवि सहृदय सब रसन में, करुण बखानों सोय॥

४. रौद्र रस—

गर्व वचन रण रिपु लखत और कढ़ै हथियार।
इनतें उपजत क्रोध जग ये विभाव सिरदार॥
भ्रकुटि कुटिल अरु अरुण दृग,अधर फरक अनुभाव।
गर्व चपलता विकलता, यह संचारी भाव॥
इनतें नृत्य कवित्त में क्रोध व्यंग जहँ होय।
कवि सहृदय सब कहत हैं, रौद्र सुरस है सोय॥

५. वीर रस—

मिलि विभाव अनुभाव अरु संचारिन को भीर।
व्यङ्ग कियो उत्साह जहँ सोई रस है वीर॥
युद्ध, दान अरु दया पुनि, धर्म सु चारि प्रकार।
अरि बल समर विभाव यह, युद्ध वीर विस्तार॥
वचन अरुणता बदन की, अरु फूलैं सब अङ्ग।
यह अनुभाव बखानियें, सब वीरन के सङ्ग॥

६ रौद्र और युद्ध-वीर का अन्तर—

समता की सुधि है जहाँ सु है युद्ध उत्साह।
जहँ भूलै सुधि सम असम सो है क्रोध प्रवाह॥

७. भयानक रस—

बाघ व्याल विकराल रण, सूनो बन गृह देस।
जे रावर अपराध पुनि, भय विभाव यह लेस॥
कंप रोम प्रस्वेद पुनि, यह अनुभाव बखानि।
मोह मूर्छा दीनता, यह सचारी जानि॥
इनतें नृत्य कवित्त में, अति भय परगट होय।
कवि सहृदय को मन गमन, कहैं भयानक सोय॥

८. बीभत्स रस—

अति गावनि को देखिबो, सुनिबो सुमिरनि जानि।
और निषिद्ध पदर्थ पे, ग्लानि विभाव बखानि॥
निंदा करिबो नप तनु, रोम जु है अनुभाव।
दुःख असूया जानियो, यह सञ्चारी भाव॥

कवित नृत्य में ग्लानि जहँ, इनतें परगट होय।
नव रस में वीभत्स रस, ताहि कहैं सब कोय॥

६ अद्भुत रस—

जहँ अनहोने देखिये वचन रचन अनुरूप।
अद्भुत रस के जानिये, ये विभाव सु अनूप॥
वचन कंप अरु रोम तनु, यह कहिये अनुभाव।
हर्ष शंक चित मोह पुनि, यह संचारी भाव॥
जेहि ठाँ नृत्य कवित्त में, व्यंग आचरज होय।
नौऊ रस में जानियो, अद्भुत रस है सोय॥

१० शान्त रस—

सिद्धि मंडली तपोवन, मथा जगत सम ज्ञान।
ए विभाव अनुभाव पुनि, सब में समता ज्ञान॥
हरष ज्ञान तें कवित में, जहँ प्रगटै निर्वेद।
कहैं शांत रस तासु को, सोहै नौमो भेद॥

टीका—यह रस ही कहाता है, भाव ध्वनि नहीं इस कारण तत्व ज्ञान से जो निर्वेद उपजता है सो स्थायी है। और जहाँ स्थायी प्रधानता करके व्यंग होवे सो वही रस है। और यह रस काव्य में ही होता है, नाट्य में नहीं होता सो इसके न होने का कारण कहते हैं। निर्वेद वासनावंत सहृदय को नाट्य देखने की इच्छा नहीं होती, इस डर से कि नृत्य में बहुतेरे विषय हैं कदाचित् किसी से विकार उपजै। और काव्य में एक विषय ही है, इससे इसके श्रवण करने में कुछ अटक नहीं, इस कारण कवित्त में इसको कहा।

(तृतीय प्रकरण, छन्द ३६, ४०, ५७, ५८, ५६, ६२, ६३, ६४, ६६, ६७, ६८, ७०, ७१, ७२, ७३, ७६, ८०, ८१, ८३, ८४, ८५, ८७, ८८, ८६, ६१, ६२, टीका)

४—काव्य-वृत्तियाँ

उपनागरिका मधुर गुन, व्यंजक वरनन होय।
ओज प्रकाशक वरन तें परुष कहिये सोय॥

बरन प्रकास प्रसाद को, करे कोमला सोय।
हीन वृत्ति गुण भेद तें, कहैं बड़े कवि लोय॥
वैदरभी गौरी कहत, मुनि पाचाली जानि।
इनही सो कोऊ कवी, बरनत रीति बखानि॥
(सप्तम प्रकरण, छन्द १०, ११, १२)

५—काव्य-गुण

(१) गुण-लक्षण—

जो प्रधान रस को धरम, निपट बड़ाई हेत।
सो गुण कहिये अचल तिथि, सुर को परम निकेत।
तीनि भाँति सो मधुरता, ओज प्रसादहि जानि।
शान्त करुण शृंगार रस, सुखद मधुरता मानि॥

(२) माधुर्य गुण—

द्रव्य चित्त जाके सुनत, अति आनद प्रधान।
सुहै मधुरता रसनु क्रम प्रथम सरस ही मान॥
सो रचना माधुर्य जहँ, योग मधुरता जानि।
बिन्दु सहित ट ठ ड ढ रहित रण लघुवरण प्रमान॥

(४) ओज गुण—

चितहि बढावै तेज करि, ओज वीर रस वास।
बहुत रुद्र वीभत्स मैं जाको बनै निवास॥
सजोगी ट ठ ड ढ ण जुत, उद्धत बरना रूप।
रेफ जोग सरय पद बड़े बरनहु ओज अनूप॥

(४) प्रसाद गुण—

नव रस में उज्जल सलिल, स्वच्छ अग्नि के रूप।
सो प्रसाद रचना बरन इनके कहो अनूप॥
अर्थ सुनत ही पाइये यह प्रसाद को रूप॥
(षष्ठ प्रकरण, छन्द २, ३, ४, ७, ५, ६, ६, ११)

६—अलंकार का स्वरूप

रसहि बढ़ावे होय जहँ, वक्तृत्व अङ्ग निवास।
अनुप्रास उपमादि है, अलङ्कार सुप्रकाश ॥

(षष्ठ प्रकरण, छन्द १३)

उक्ति भेद तें होत है, अलंकार यह जानि।
वक्र उक्ति यातें कही, द्वै विधि प्रथम बखानि ॥

(सप्तम प्रकरण, छन्द ३)

७—काव्य-दोष

परिभाषा—

शब्द अर्थ में प्रगट ह्वै, रस समुझन नहि देइ।
सो दूषण सब मन लिया, जो जिय को हर लेइ ॥
जाहि रहत ही जोर है, जेहि फेरो फिरि जाय।
शब्द अर्थ रस सबन में, सोई दोष कहाय ॥

(पंचम प्रकरण, छन्द २, ३)

देव

[समय—सन् १६६०–१७३४ ई० (कविता-काल)]

ग्रन्थ—शब्द-रसायन, भाव-विलास, भवानी-विलास

सामान्य काव्य-सिद्धान्त

(अ) समर्थ काव्य—

शब्द सुमति मुख ते कढै, लै पद बचननि अर्थ।
छन्द, भाव, भूषण सरस, सो कहि काव्य समर्थ॥

(शब्द-रसायन, प्रथम प्रकाश)

(ब) काव्य का माहात्म्य—

ऊँच नीच तरु कर्म बस, चलो जात संसार।
रहत भव्य भगवत जस, नव्य काव्य सुखसार॥
रहत न घर बर, धाम, धन, तरुवर, सरवर, कूप।
जस शरीर जग में अमर, भव्य काव्य रस रूप॥

(शब्द रसायन, प्रथम प्रकाश)

(ज) कवि का आदर्श—

जाके न काम न क्रोध विरोध न लोभ छुवै नहीं छोभ को छांहो।
मोह न जाहि रहै जग बाहिर, मोल जवाहर ता अति चाहो॥
बानी पुनीत ज्यो 'देव' धुनी, रस आरद सारद के गुन गाहो।
सीलससी सविता छविता कवि ताहि रचै कवि ताहि सराहो॥

(स) काव्य की आत्मा—

काव्य सार शब्दार्थ को रस तेहि काव्य सुसार

(शब्द-रसायन)

ताते काव्य (हिं ?) मुख्य रस, जामें दरसत भाव
अलंकार भूषण, सुरस जीव, छन्द तन भाव।
तन भूषण हू बिन जिये, बिन जीवन सम रास॥

(शब्द रसायन)

२—रस-प्रसंग

(अ) रसाग—छल संचारी-भाव—

अपमानादिक करन को, कीजै क्रिया छिपाव।
यत्र उचित अन्तर-कपट, सो बरनै छल-भाव॥

(भाव-विलास)

(ब) रस का स्वरूप—

जो विभाव अनुभाव अरु, विभिचारिनु करि होइ।
थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस सोइ॥

(भाव-विलास)

अरथ धर्म ते होइ अरु काम अरथ ते जानु।
ताते मुख, सुख, को सदा, रस शृंगार निदानु॥

(भाव-विलास)

कहत कहत उमहत हियो, सुनत चुनत चित प्रीति।
शब्द अर्थ भाषा सुरस, सरस काव्य दस रीति॥

(शब्द-रसायन)

हरिजस-रस की रसिकता, सकल रसायन सार।
जहाँ न बरनत बदर्थना मह असार संसार॥

(शब्द-रसायन)

(ज) रस-परिपाक—

चित पाशित थिर बीज विधि, होत अकुरित भाव।
नित बर्द्धित, दस फूल फलि, बरसत सुरस सुभाव॥
खेत पात्र, प्रारब्ध विधि, बीज सुमधुर जोग।
सलिल नेह, भाव सुविटप, छन्द पत्र परिभोग॥

(शब्द रसायन)

रस अकुर थाई, विभाव-रस के उपजावन।
रस अनुभव अनुभाव, सात्विकी रम मलकावन॥

(शब्द रसायन)

(ख) शृंगार और उसका रस-राजत्व—

१ शृंगार रस का स्वरूप—

नव रस के थिति भाव हैं, तिनको बहु विस्तारु।
तिनमें रति थिति भाव ते, उपजत रस शृंगारु॥
नेकु जु प्रियजन देखि सुनि, आन भाव चित होइ।
अति कोविद पति कविन के, सुमति कहत रति सोइ॥

(भाव विलास)

नायकादि आलम्बन होई, उपवन सुरभि उदीपन सोई॥

(शब्द-रसायन)

आनन नैन प्रसन्नता, चलि चितौनि मुसकानि।
ये अनुभाव शृंगार के, अग अग जिय जानि॥

(भाव विलास)

कहि 'देव' देव तैंतीस हू, सचारी तिय सचरति।

(शब्द-रसायन)

देव कहै प्रच्छन्न सो, जाको दुरो विलास।
जानहि जाको सकल जन, बरनै ताहि प्रकास॥

(भाव-विलास)

शृंगार का रस-राजत्व—

प्रकृति पुरुष शृंगार में नौ रस को सचार।
जैसे मठ आकाश में घटत अकास- प्रकास॥

(शब्द-रसायन)

निर्मल स्याम सिगार हरि देव अकास अनत,
उडि उडि खग ज्यो और रस बिवस न पावत अत।
भाव सहित सिंगार में नव रस झलक अजस्र,
ज्यो कचन मणि कनक को ताही में नवरत्न॥

\+ + +

भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार।

तेहि उछाह निर्वेद तें, वीर, शान्त, सचार ॥
(भवानी विलास, प्रथम विलास)

तीन मुख्य नौ हू रसनि द्वै द्वै प्रथम विलीन।
प्रथम मुख्य तिन तिनहुँ में, दोऊ तेहि आधीन।
हास्य भयरु सिंगार संग रौद्र करुन संग वीर।
अद्भुत अरु बीभत्स संग शान्तहि बरनत धीर।
(भवानी विलास)

सो सँजोग वियोग भेद, शृंगार द्विविध यह,
हास्य, वीर, अद्भुत सयोग के, सङ्ग अङ्ग लहु,
अरु करुना, रौद्र भयान भये, तीनो वियोग अग,
रस बीभत्स रु सात होत, दोऊ दुहून सँग,
यह सूक्षम रीति जानत रसिक, जिनके अनुभव सब रसनि,
नवहू सुभाव भावनि सहित, रहत मध्य शृंगार तनि।
(शब्द-रसायन)

(ह) वीभत्स रस—

(१) वस्तु घिनौनी देखि सुनि घिन उपजै जिय माँहि।
छिन बाढै बीभत्स रस, चित की रुचि मिटि जाँहि ॥
(२) निद्य कर्म करि निंद्य गति, सुनै कि देखै कोय।
तन सँकोच मन सम्भ्रमरु, द्विविध जुगुप्सा होय ॥
(शब्द-रसायन)

३—काव्य-गुण

गुण के दो भेद—

नागर सुनि आगर, दुतिय रस सागर रवि हीन।
(शब्द रसायन)

४—अलंकार-प्रयोग

(अ) अलकार का महत्व—

सो रस बरसन भाव क्रम, अलकार अधिकार।
+ + +

कविता कामिनि सुखद पद, सुबरण सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक अदभुत रूप लखाति॥

(शब्द रसायन)

(च) शब्दालंकार—

अनुप्रास अरु यमक ये चित्र काव्य के मूल।
इनही के अनुसार सो सकल चित्र अनुकूल॥

\+ \+ \+

मृतक काव्य बिनु अर्थ के कठिन अर्थ को प्रेत।

\+ \+ \+

सरस वाक्य पद अरथ तजि, शब्द चित्र समुझात।
दधि घृत मधु पायस तजि वायसु चाम चबात॥

(शब्द रसायन)

(ज) अर्थालंकार—

अलंकार में मुख्य हैं उपमा और सुभाव।
सकल अलंकारनि विषै परसत प्रगट प्रभाव॥

× \+ \+

सकल अलंकारनि विषै उपमा अंग उपंग।

× \+ \+

सकल अलंकारनि विषै उपमा अंग लखाहि।

(शब्द रसायन)

५—शब्द-शक्तियाँ

तिहूँ शब्द के अर्थ में तीनिउ भांत प्रोत।
पै प्रवीन ताही कहत जाको अधिक उदोत॥

\+ \+ \+

अभिधा उत्तम काव्य है मध्य लक्षणा लीन।
अधम व्यंजना रस कुटिल उलटी कहत नवीन॥

(शब्द रसायन)

श्रीपति

[समय—सन् १७२० ई० (कविता काल)]

ग्रन्थ—काव्य-सरोज

१—काव्य की परिभाषा

शब्द अर्थ बिन दोष गुन अलंकार रसवान।
ताको काव्य बखानिये श्रीपति परम सुजान॥

२—काव्य की परिभाषा

शक्ति निपुणता लोकमत वितपति अरु अभ्यास।
अरु प्रतिभा ते होत है ताको ललित प्रकास॥
शक्ति सुपुण्य विशेष है जा बिन कवित न होय।
जो कोऊ हठ सो रचै, हँसी करै कवि लोइ॥
पद पदार्थ पावै सुरत ताहि निपुनता जानु।
जो जग को व्यवहार है वही लोकमत मान॥
परिज्ञान बहु शास्त्र में सो बितपत्ति बखान।
रचै कवित नित कवि सुकवि ढिग सो अभ्यास प्रमान॥
नूतन तर्क प्रसन्न पद युक्ति बोध करतार।
प्रतिमा ताहि बखानिये श्रीपति सुमति अगार॥

३—काव्य-दोष

जा पदार्थ के दोष ते भाव्य कवित्त नसाइ।
दूषन तासों कहत है श्रीपति पंडित गइ॥

४—काव्य में अलंकार-प्रयोग

जदपि दोष बिनु गुन सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसै बनिता कविता रूप॥

५—काव्य और रस

यदपि दोष बिनु गुन सहित, अलंकार सों लीन।
कविता बनिता छवि नहीं, रस बिन तदपि प्रवीन॥

सोमनाथ

[समय—सन् १७३२—१७५३ ई० (कविता-काल)]

ग्रन्थ—रस-पीयूष-निधि[1]

१—सामान्य काव्य-सिद्धान्त

(अ) काव्य-लक्षण—

सगुन पदारथ दोष बिनु पिंगल मत अविरुद्ध ।
भूषन जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि सुद्ध ।।

(षष्ठ तरंग, छन्द २)

(ब) काव्य-प्रयोजन—

कीरति वित्त विनोद अरु अति मंगल को देति ।
करै भलो उपदेस नित वह कवित्त चित चेति ।।

(षष्ठ तरंग, छन्द ३)

(ज) काव्य-रचना—

कवि सों सुनि—बो बहुत पुनि करिबो अति अभ्यास ।
तासों कविता होति है कारन हिये हुलास ।।
बिना सुने अभ्यास के कविता होत अनंत ।
सो प्रसाद गुरदेव को बरनत सब गुनवंत ।।

(षष्ठ तरंग, छन्द ४ तथा ५)

(स) काव्य की शरीर-सामग्री—

व्यंग्य प्रान अरु अंग सब शब्द अर्थ पहिचान ।
दोष और गुन अलंकृति दूषनादि उर आनि ।।

(षष्ठ तरंग, छन्द ६)

---

१. पाण्डुलिपि [हिन्दी अनुसन्धान परिषद, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली]

(ह) काव्य के भेद—

उत्तम मध्यम अधम अरु त्रिविध कवित्त सुमानि।
व्यंग्य सरस जहँ कवित में सो उत्तम उर जानि॥
शब्द अरथ सम व्यंगि जहँ सो मध्यम ठहराय।
शब्द अरथ यो सरसई व्यंग्य न अधम बताय॥
(षष्ठ तरंग, छन्द ७, १० तथा १२)

२—शब्द-शक्तियाँ

(अ) शब्दार्थ-निरूपण—

सुनिये श्रवननि शब्द सयानो।
समुझै चित्त अर्थ यह जानो॥
बरन शब्द है तीनि विधि वाचक प्रथम अनूप।
लक्षण अरु व्यंजक बहुरि, त्रिविध अर्थ को रूप॥
वाच्य अरथ लक्ष्यार्थ पुनि व्यंगारथ अभिराम।
बिना शब्द को अर्थ को तात परम सुख धाम॥
(षष्ठ तरंग, छन्द, १४, १६ तथा १७)

(ब) वाचक शब्द, वाच्यार्थ और अभिधा-शक्ति—

बिनु सहाय अर्थहि कहै सो वाचक सुख मद।
चित्त वाच्य अरथहि लहै जाते अभिधा होय।
मुख्य अर्थ सक्यार्थ पुनि याहि कहत सब कोय॥
या अच्छर को यह अरथ ठौरहि ये ठहराय।
जानि परै जातें सु वह अभिधा वृत्ति कहाय॥
यही रीति सामर्थ्य अरु यही शक्ति व्यौपार।
याही कौं ब्यौहार कहि बरनत बुद्धि उदार॥
(षष्ठ तरंग, छन्द १८, १९, २० तथा २१)

(ज) लक्षक शब्द, लक्ष्यार्थ तथा लक्षणा-शक्ति—

मुख्य अर्थ नहिं बनि सकै तब समीप तें लेय।
अगर शब्द सु जानिये पढत महा सुख देय॥

मुख्यारथ परिहरि लख्यो और जु अर्थ अनूप।
निपट हरषि परगट कियो यह लक्ष्यारथ रूप॥
मुख्यारथ को छोडि कैं पुनि तिहि के ढिग ओर।
कहै जु अर्थ सुलक्षणा वृत्ति कहत कवि मौर॥

(षष्ठ तरंग, छन्द २२, २३, तथा २४)

(ख) व्यंजक शब्द, व्यंग्यार्थ तथा व्यंजना-शक्ति—

अधिक कहै कछि अर्थ को व्यंजक शब्द सु जानि।
समुझि लीजिये अर्थ पुनि और बीज जु होय॥
रसिकन को सुखदानि अति व्यंग्य कहावत सोय।
कहै व्यंग्य सो व्यंजना वृत्ति बढावै फूल॥

(षष्ठ तरंग, छन्द ३७, ३८)

३—ध्वनि-प्रसङ्ग

(अ) ध्वनि का स्वरूप—

ध्वनि भेद तैं होत कवित्त अनूप।
बखानत सो ध्वनि को अब रूप॥
होय लक्षना मूल जहं गूढ व्यंग्य परकास।
वाच्य अर्थ है वृथा जहँ सो ध्वनि कहु सविलास॥

(सप्तम तरंग, छन्द १ तथा २)

(ब) ध्वनि के भेद—

कवि की इच्छा है न जहं वाच्य अर्थ पै मित्र।
सो अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहि बरनत सु विचित्र॥

अविवक्षित वाच्य ध्वनि दो प्रकार को। एक अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य ध्वनि। वाच्य अर्थ को मिलाय अन्यत्र वह होइ सो अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य ध्वनि। और जहाँ वाच्य अर्थ वृथा है सो अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि। और वाच्यार्थ व्यंग्य के लायक होय जहाँ सो विवक्षित वाच्य ध्वनि।

(सप्तम तरंग, छन्द ३, ४ तथा ६)

४—रस-प्रसङ्ग

(अ) रसाङ्ग—

१. भाव—

रस को मूल भाव पहिचानो । ताको यह लक्षण उर आनौ ॥
चित्तवृत्ति ह्वै जो ठहराय । भाव वासना रूप बताय ॥
चारि प्रकार सु भाव है प्रथम विभाव बखानि ।
फिरि अनुभाव सु जानिये सचारी पुनि आनि ॥
तातें पुनि थाई समुझि चौविधि इमि उर आनि ।
सातुक भाव जु है सु वह अनुभावनि में जानि ॥
(सप्तम तरंग, छन्द ६, ११ तथा १२)

२. विभाव—

जिहि ते उपजतु है जहाँ जिहि के थाई भाव ।
तासो कहत विभाव सब समुझि रसिक कविराव ॥
थाई भावन को जु बसेरो । सो विभाव आलबन हेरो ।
अति सरसे पुनि जहँ दरसावे । सो उद्दीपनि समुझि सयाने ॥
(सप्तम तरंग, छन्द १३ तथा १४)

३. अनुभाव—

दरसावै परकास रस सो अनुभाव बखानि ।
(सप्तम तरंग छन्द १७)

४. स्थायी भाव—

नायक सब ही भाव को टारें हरे न रूप ।
तासों थाई रूप कहि बरनत है कवि भूप ॥
रति अरु हाँसी सोक पुनि क्रोध उछाह अनूप ।
भय गिलानि विसमय बहुरि गनि निरवेद सरूप ॥
(सप्तम तरंग, छन्द ३१)

(ब) रस का लक्षण—

जहँ विभाव अनुभाव अरु सहित संचारी भाव।
व्यंग कियो थिर भाव इहि सो रस रूप बताव॥

(सप्तम तरंग, छन्द ४४)

(ज) नवरस—

सो रस नौ बिधि उर में आनो सबके न्यारे नाम बखानो।
प्रथम सिंगार सु हास पुनि करुना रुद्रहि जानि।
वीर भयानक रस बहुरि बीभतसरु पहिचानि॥
अद्भुत शांत सु नवरस होत बरनत सुकवि सुबुद्धि उदोत॥

(सप्तम तरंग, छन्द ४४)

१ शृंगार रस—

नवरस को पति सरस अति रस सिंगार पहिचानि।
एक संयोग वियोग पुनि सो द्वै बिधि उर आनि॥
दंपति मिलि बिहुर न जहाँ मनमथ कला प्रवीन।
ताहि संजोग सिंगार कहि बरनत सुकवि कुलीन॥
पीतम के बिछुरनि विषै जो रस उपजतु आइ।
विप्रलंभ सिंगार सो कहत सकल कविराइ॥

(सप्तम तरंग, छन्द १, २ तथा पंचदश तरंग, छन्द १)

२ हास्य रस—

सुनि कै सरस कवित्त को होत व्यंग्य जब हास।
तब ही तासों हास्य रस कहियतु है सविलास॥

३ करुण रस—

सुनतहिं जहाँ कवित्त में व्यंगि होय जब सोक।
करुणा रस तासों कहे सकल सुकवि रस ओक॥

४. रौद्र रस—

जब कवित्त में आनि कै क्रोध व्यंगि ठहराइ।
ताहि रुद्र रस कहत है सबै सुकवि सुख पाइ॥

५ वीर रस—

जब कवित्त में सुनत ही व्यंग्य होय उत्साह।
तहाँ वीर रस समझियो चौविधि के कविनाह॥

६ भयानक रस—

सुनि कवित्त में व्यंगि भय जब ही परगट होय।
तहाँ भयानक रस बरनि कहैं सबै कवि लोय।

७ बीभत्स रस—

जहँ कवित्त को सुनत ही हिय में सरसे ग्लानि।
ताहि कहैं बीभत्स रस कवि कोविद पहिचानि॥

८ अद्भुत रस—

जहँ कवित्त में सुनि महा अचिरज वेगि सु होइ।
तहाँ प्रकट उर आनिये अदभुत रस है सोइ॥

९ शान्त रस—

प्रकट होय निरवेद जहँ ब्रह्म ज्ञान तें आय।
सुनि कवित्त तासों कहैं सांत सु रस सुख पाय॥
(सप्तदश तरंग, छन्द १, ३, ६, ८, १५, १६, १८, तथा २०)

(स) नव रस का रंग—

स्याम बरन सिंगार रस स्वेत हास्य रस जानि।
पारावत के रंग सम करुना रस पहिचानि॥
अरुन बरन पुनि रुद्र रस वीर पीत रंग होत।
मिलन भयानक नील अनि रस बीभत्स उदोत।
गौर बरन अदभुत रस भाखो। अति ही सेत सांत अभिलाखो।
(सप्तम तरंग, छन्द ४८, ४९ तथा ५०)

(ह) हाव-वर्णन—

होति संयोग सिंगार में जे चेष्टा सु अनूप।
तिनही को सब हाव कहि बरनत हैं कवि भूप॥
(चतुर्दश तरंग, छन्द १७)

५—अलंकार का स्वरूप

अलंकार जो होत सो उक्ति भेद सों होत।

(एकविंश तरंग, छन्द १७)

६—काव्य-दोष

रस को सुख मन है जिहि सब्दारथ जोर।
ता सों दूषन कहत है कवि रसिकनि जोर॥
जाके राखे तें रहै दूरि करें मिटि जाय।
शब्दारथ अरु वृत्त को रस को दोष बताय॥

(विंशति तरंग, छन्द १ तथा २)

७—काव्य-गुण

(अ) गुण-लक्षण—

कविता दोष विहीन बिन गुण लसै न मित्र।
तातें गुण बरनत प्रकट रीझै सुनत विचित्र॥
त्रिविधि सु गुण उर में पहिचानो।
मधुरता सु पुनि ओज बखानो॥
तातें बहुरि प्रसाद बनावो।
पढ़ि सुनि अति आनंद बरसावो॥

(एकविंश तरंग, छन्द १ तथा २)

(ब) माधुर्य गुण—

रस सिंगार अरु करुन में पुनि सु शांत में आनि।
मधुराई की सरसई तो दरसै सुख दानि॥
श्रवन सुनत ही हिय श्रवै अंग-अंग सुख होइ।
ताहि मधुरता गुन कहै कवि कोविद सब कोइ॥
ट, ठ, ड, ढ, वरजित, बिंदु जुत र, ण, लघु बरन अनूप।
रचना सो माधुर्य की सुनि रीझै कवि भूप॥

(एकविंश तरंग, छन्द ३, ४, तथा ५)

(ज) ओज गुण—

बढै तेज उद्धत महा जाहि सुनत ही चित्त।
ताहि कहत है ओज गुण जे कविता के मित्त॥
बरनि ओज गुण वीर में तातें अधिक सु रुद्र।
तातें बढि बीभत्स में मासत बुद्धि समुद्र॥
दुत्त बरन अरु टवर्ग जुत रचना उग्र प्रकार।
जुक्त रेफ सों ओज गुन बरणें रसिक उदार॥

(एकविंश तरंग, छन्द ७, ८ तथा ९)

(स) प्रसाद गुण—

नवहू रस में अर्थ जहं गंग नीर के तूल।
ताको कहत प्रसाद गुन सुनत बढ़ै हिय फूल॥

(एकविंश तरंग, छन्द ११)

(ह) गुण और अलंकार का भेद—

दोऊ रस दायक प्रगट गुन औ भूषन जानि।
भेद दुहून में होय क्यों कहिये सो हित ठानि॥

याको उत्तर—गुण सदा एक रस है। और अलंकार कहूं रस को पोषत है कहूं उदास कहूं दूषक होय है। यह भेद।

(एकविंश तरंग, छन्द १३ तथा १४)

भिखारीदास

[समय—सन् १७२८-१७५० ई० (कविता-काल)]

ग्रन्थ—शृङ्गार-निर्णय,* रस-सारांश,* काव्य-निर्णय

१—सामान्य काव्य-सिद्धान्त

(अ) काव्य का स्वरूप—

बानी लता अनूप, काव्य अमृत फल सु फल्यो।
प्रगट करैं कवि भूप, स्वाद लेवत रसिक जन॥

(रस सारांश)

(ब) काव्य का प्रयोजन—

एक लहैं तप-पुञ्जन्ह के फल
ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं।
एक लहैं बहु सम्पति केशव
भूषन ज्यों बरवीर बड़ाई॥
एकन्ह को जसही सों प्रयोजन
है रसखानि रहीम की नाईं।
दास कवित्तन्ह की चरचा
बुधिवन्तन को सुखदै सब ठाईं॥

(काव्य-निर्णय, पृष्ठ ४ छंद १०)

(स) काव्य की रचना-विधि—

शक्ति कवित्त बनाइबे की जेहि जन्म नछत्र में दीन्हि बिधातैं।
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सो देखी-सुनी बहुलोक की बातैं॥
दास है जामें इकत्र ये तीनि बनै कविता मनरोचक तातैं।
एक बिना न चलै रथ जैसे धुरन्धर सूत की चक्र निपातैं॥

(काव्य-निर्णय, पृष्ठ ५, छन्द १२)

---

*टंकित प्रति [हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली]

जानै पदारथ भूपनमूल रसाङ्गपराङ्गन्ह में मति छाकी।
सो धुनि अर्थन्ह वाक्यन्ह लै गुन शब्द अलंकृत सो रति पाकी ॥
चित्र कवित्त करै तुक जानै न दोपन्ह पन्थ कहूँ गति जाकी।
उत्तम ताको कवित्त बनै करै कीरति भारती यों अति ताकी ॥

(काव्य निर्णय, पृष्ठ ५ छन्द १२)

(स) काव्य की आत्मा—

रस कविता को अङ्ग, भूपन हैं भूपन सकल।
गुन सरूप औ रङ्ग, दूपन करैं कुरूपता ॥

(काव्य निर्णय, पृष्ठ ५, छन्द १३)

२—रस-प्रसग

(अ) रसाङ्ग—

१. विभाव—

जासो रस उत्पन्न है, सो विभाव उर आनि।
आलम्बन उद्दीपनो, सो द्वै विधि पहिचानि ॥

(रस-सारांश)

२. अनुभाव—

कहूँ कृपा कहुँ बचन ते, कहुँ चेष्टा ते देखि।
जी की गति जानी परै, सो अनुभाव विशेषि ॥

(रस सारांश)

तदपि हाव हेला सकल, अनुभावहि की रीति।
साधारण अनुभाव जहँ, प्रगटि चेष्टनि प्रीति ॥

(रस सारांश)

३. स्थायी भाव—

एक एक प्रति रसन में, उपजे हिये विकार।
ताको थाई नाम है, बरनत बुद्धि उदार ॥

(रस-सारांश)

४. हाव—

क्रिया वचनु अरु चेष्टा जहँ, बरनत है कवि कोइ।
ताहू को हावै कहै, अनुभाव होइ न होइ॥

(रस सारांश,)

५. सात्त्विक भाव—

उपजत जे अनुभाव ते, आठ रीति परतच्छ।
तासो सात्त्विक कहत हैं, जिनकी मति अति स्वच्छ॥
स्तम्भ स्वेद रोमाञ्च अरु, स्वर-भंगहि करि पाठ।
बहुरि कम्प वैवर्ण्य है, अस्तु प्रलय जुत आठ॥

(रस-सारांश,)

६. संचारी भाव—

बिना नियम सब रसिन में, उपजै न पाई ठाउ।
चर बिभचारी कहत है, अरु संचारी नाउ॥

(रस-सारांश)

जे न विमुख ह्वै थाय ते, अभिमुख रहैं बनाय।
ते व्यभिचारी बरनिये, कहत सकल कविराय॥
रहत सदा थिर भाव में, प्रगट होत एहि भाँति।
ज्यो कल्लोल समुद्र में, त्यो संचारी जाति॥

(काव्य निर्णय, पृ० ४० छन्द ३६-४०)

७ भावोदय भावसन्धि—

उचित बात तच्छन लखे, उदै भाव की होइ।
बीचहि में द्वै भाव के, भाव-सन्धि है सोइ।

(काव्य-निर्णय, पृ० ४१, छन्द ४७)

८. भाव-शबलता—

बहुत भाव मिलि कै जहाँ, प्रगट करें इक रंग।
सबल भाव तासो कहैं, जिनको बुद्धि उतंग॥

(काव्य निर्णय, पृ० ४२, छन्द ५०)

९. भावशान्ति-भावाभास—

भाव साति सोहै जहाँ, मिटत भाव अनयास ।
भाव जु अनुचित ठौर है, सोई भावाभास ॥

(काव्य-निर्णय, पृ० ४२, छन्द ४२)

१०. रसाभास-भावाभास—

रस सोभाविनु होनु है, जहाँ न रस की बात ।
रसाभास तासो कहे जे हैं मति अवदात ॥
भ्रम ते उपजत भाव है, सो है भावाभास ।

(रस सारांश)

(ब) नव-रस—

१. शृंगार रस—

जिहि कहियत शृंगार रस ताकी जुगल विभाव ।
आलम्बन इक दूसरो, उद्दीपन कवि राव ॥
बरनत नायक नायिका, आलम्बन के काज ।
उद्दीपन सखि दूतिका, सुख-समयो सुखसाज ॥

(शृंगार-निर्णय, छन्द ६, ७)

जहँ दंपति के मिलन बिन, होत बिथा बिस्तार ।
उपजत अन्तर भाव बहु, सो वियोग शृंगार ॥
है वियोग विधि चारि को, पहिले मानु बिचार ।
पूरब राग प्रवास पुनि, करुना उर में धार ॥

(रस-सारांश)

२. हास्य रस—

व्यंगि बचन भ्रम आदि दै, बहु विभाव है जासु ।
ख्याल स्वाग अनुभव तरक, हँसिबो थाई हासु ॥

(रस-सारांश)

३. करुण रस—

हित दुख विपति विभाव, करना वरनै लोक।
भूमि लिखन विलपन स्वसन, अनुभव थाई शोक।।

(रस-सारांश)

४ वीर रस—

जानो वीर विभाव पे, सत्य दया रन दानु।
अनुभव टेक मरु सूरता, उत्सह थाई जानु।।

(रस-सारांश)

५ अद्भुत रस—

नई बात को पाइबो, यति विभाव सुवि चित्र।
अद्भुत अनुभव थाकियो, विस्मै थाई मित्र।।

(रस-सारांश)

६. रौद्र रस—

असह न बैर विभाव जहें, थाई कोप समुद्र।
अग्न अधरन दरन ? अनुभव मैं रस रुद्र।।

(रस-सारांश)

७ वीभत्स रस—

थाई घिनै विभाव जहँ, छिनमें वस्तु अस्वच्छ।
बिरचि निंद मुख मूँदिबो, अनुभव रस वीभत्स।।

(रस-सारांश)

८. भयानक रस—

चात विभाव भयावनो, मोहै थाई भाव।
मुखि जैवो अनुभाव है, सुरस भयानक ठाव।।

(रस-सारांश)

९. शान्त रस—

देव कृपा सज्जन मिलन, तत्त्व ज्ञान उपदेश।
तीर्थ विभाव सम, थाई सात सुदेश॥
क्षमा सत्य वैराग्य थिति, धर्म कथा मैं चाउ।
देव प्रणति स्तुति विनय, गुनो सत अनुभाव॥

(रस-सारांश,)

३ काव्य-वृत्तियाँ

वृत्ति कौसकी भारती, सात्त्विकादि उर आनि।
आरभटी युत चारि बिधि, रस को सबल बखानि॥
सुभावनि युत कौसिकी, करुना हास सिंगार।
बीर हास शृंगार मिलि, सात्विकीहि निरधारि॥
भय बिभत्स अरु रुद्र ते, आरभटी उर आनि।
अद्भुत वीर शृंगार युत, सात सात्त्विकी जानि।

(रस-सारांश,)

४—काव्य-गुण

१. गुण का स्वरूप—

रस के भूषित करन तैं, गुन बरनै सुखदानि।

(काव्य-निर्णय, १९७, छन्द ३४)

२. माधुर्य गुण—

अनुस्वारजुत बर्ण जुत, सबै वर्ग अटवर्ग।
अक्षर जामें मृदु परै, सो माधुर्ज निसर्ग॥
इनैपोमध्य समास को, समता कान्ति बिचार।
लीन्हे गुन माधुर्य जुन, करुना हास सिंगार॥

३. ओज गुण—

उद्धत अक्षर जहँ परैं, सकटवर्ग मिलि जाय।
ताहि ओज गुण कहत हैं, जे प्रवीन कविराय॥
श्लेष समाधि उदारता, सिथिल ओज गुन रीति।
रुद्र भयानक वीर अरु रस बिभत्स सों प्रीति॥

४. प्रसाद गुण—

मनरोचन अच्छर परें, सोहै सिथिल सरीर।
गुण प्रसाद जल-सुक्ति ज्यों, प्रगटै अर्थ गँभीर ॥
अलर समास समास-बिन, अर्थ व्यक्त गुन मूल।
सो प्रसाद गुन बर्न सब, सब गुन सब रस तूल ॥

(उन्नीसवाँ प्रकरण, छन्द ५, ११, ७, १२, ८, १३)

५—काव्य-दोष

(अ) दोष के प्रकार—

दोष शब्द हूँ वाक्य हूँ, अर्थ रसहु में होइ।
तेहि तजि कविताई करें, सज्जन सुमती जोइ ॥

(काव्य निर्णय पृष्ठ २४६ छन्द १)

(ब) रस-दोष—

(१) रस थाइ पर थिर भाव की, सब्दवाच्यता होइ।
ताहि कहत रस दोप है, कहूँ अदोषित सोइ ॥

(काव्य निर्णय पृष्ठ २७२, छन्द १)

(२) जहँ विभाव अनुभाव की, कष्ट कल्पना व्यक्ति।
रस दूषन ताहू कहै, जिन्हैं काव्य की सक्ति।

(काव्य-निर्णय, पृष्ठ २७४ छन्द ६)

(३) भावरसनि प्रतिकूलता, पुनि-पुनि दीपति उक्ति।
येऊ है रस दोप जहँ असमैं उक्ति अयुक्ति ॥

(काव्य निर्णय, पृष्ठ २७५, छन्द १०)

(४) अगहि को बरनन करै, अगी देइ भुलाइ।
येऊ है रस दोष मैं, सुनो सकल कविराइ ॥

(काव्य निर्णय, पृष्ठ २७८, छन्द २४)

(ज) दोष-परिहार—

कहुँ सब्दालंकार कहुँ, छंद कहुँ तुक हेतु।
कहुँ प्रकरन बस दोषहू, गनै अदोष सचेतु॥
कहुँ अदोषो दोष कहुँ, दोष होत गुनखानि।
उदाहरन कछु कछु कहौं, सरल सुमति हढ़ जानि॥

(काव्य निर्णय, पृष्ठ २६८, छन्द १, २)

६—शब्द-शक्तियाँ

अनेकार्थ हू सब्द में, एक अर्थ की ब्यक्ति।
तेहि वाच्यारथ को कहैं, सज्जन अभिधा सक्ति॥
मुख्य अर्थ के बाध तें, सब्द लाच्छनिक होत।
रूढ़ि औ' प्रयोजनवती, द्वै लच्छना उदोत॥
ब्यञ्जन ब्यञ्जक जुक्त पद, ब्यङ्ग तासु जो अर्थ।
ताहि बुझैबे की सकति, है ब्यञ्जना समर्थ॥
सूधो अर्थ जु बचन को, तेहि तजि औरै बैन।
समुझि परैं तेहि कहत हैं, सक्ति ब्यञ्जना ऐन॥

(काव्य निर्णय, द्वितीय प्रकरण, छन्द ६, २२, ४२, ४३)

७—तुक-विचार

भाषा बरनन मैं प्रथम, तुक चाहिये बिसेखि।
उत्तम मध्यम अधम सो, तीनि भाँति को लेखि॥
समसरि कहुँ कहुँ बिषमसरि कहूँ कष्टसरि राज।
उत्तम तुक के होत हैं, तीनि भाँति के साज॥
असयोग मिलि स्वर मिलित, दुमिल तीनि प्रकार।
मध्यम तुक ठहरावते, जिनके बुद्धि अपार॥
अमिल सुमिल मता अमिल, आदि अन्त को होइ।
ताहि अधम तुक कहत हैं, सकल सयाने लोइ॥

(काव्य निर्णय, बाईसवाँ प्रकरण, छन्द १, २, ९, १०)

प्रतापसाहि

[समय—सन् १८२३ १८४२ ई० (कविता काल)]

ग्रन्थ—काव्य विलास*

१—सामान्य काव्य-सिद्धान्त

(अ) काव्य का स्वरूप और भेद —

व्यंग्य जीवन कहि कवित को हृदय सु धुनि पहिचानि।
शब्द अर्थ कहि देह पुनि भूषण भूषण जानि॥
सो कवित्त गनि तीनि विधि उत्तम मध्यम नाम।
अवर सु अधम बखानिये बरनत कवि परिनाम॥
वाच्य अर्थ तें जहँ गनत सुंदर व्यंग्य प्रधान।
अर्थ चमत्कृत पद ललित उत्तम काव्य सुजान॥
बरणन वाच्य प्रधा ते व्यंग्य न अति ही होइ।
व्यंग्य वाच्य सम नहिं परै मध्यम कहिये सोइ॥
जहाँ व्यंग्य नहिं वर्णिये शब्द अर्थ बलवान।
शब्द चित्र पद अर्थ चित्र अधम काव्य सो जान॥
ठकौ शब्द ता व्यंग्य जा शब्द चित्र सो जानि॥
समुझि परै नहिं अर्थ सों अर्थ चित्र पहिचानि॥

(प्रथम प्रकाश, छंद १९, २०, २१, २३, २५ २६)

(ब) कवित्व की शक्ति —

बीज मूल है कवित को सोइ शक्ति कहाय।
वाच्य चमत्कृत रूप जहँ जामे उपजत जाय॥
सो शक्ति द्वै भाँति की ... जानि।
प्रात विद्ध दूजा कहत कवि ... पहिचानि॥

---

*टंकित, हिन्दी अनुसंधान परिषद् दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली।

बिना शक्ति की काव्य जो छंद प्रबंध बनाइ।
सुहृद मन रंजन भ्रनहि उपहसनीय कहाइ॥
कोस व्याकरण काव्य पुनि शास्त्र कला अवगाहि।
यह गवपड प्रमाण लहि कहत निपुनता ताहि॥
जे विचार निसदिन करत करत काव्य अभिराम।
लहि सिक्षा उपदेस नित कहि अभ्यास सुनाम॥
कवित होत है शक्ति सों बढ़त भ्यास सजोग।
वितपतिजे प्रति चाहना कहत सयाने लोग॥

(प्रथम प्रकाश, छन्द १३, १४, १५, १६, १७, १८)

(ज) काव्यार्थ —

श्रवण सुने ते शब्द है समुझें चित्त सु अर्थ।
वर्णात्मक धुन्यात्मक द्वै विधि कहत समर्थ॥
वेद पुराण विमिश्रित युत वर्णात्मक सो जानि।
रूढ़ सु जौगिक दूसरो जोग रूढ़ गे मानि॥
प्रभु सम्मित वेदादि गनि सुहृद पुराण प्रमान।
कान्ता सम्मत काव्य मैं बरणत सुकवि सुजान॥

२—रस-प्रसंग

(अ) रसांग —

१. विभाव —

जिनते प्रगटत जगत में रति आदिक थिर भाव।
पावत है सुकवित मैं तेई नाम विभाव॥

२. अनुभाव —

जे प्रतीति रस की करत ते अनुभाव प्रमाण।
भुज उत्क्षेप कटाक्ष वच आलिंगन ये जान॥

३. संचारी भाव —

सकल रसन में संचरैं ते संचारी भाव।
पुष्ट करत रस को सदा कहत सुकवि मन भाव॥

४. *स्थायी भाव* —

हृदै बध ते उठत जहँ आनद अकुर जोय।
गनि विरुद्ध अविरुद्ध ते थाई कहियत सोय॥

५. *भाव-ध्वनि* —

सबै रसन में होत है भाव व्यग्य परधान।
रस-ध्वनि भाव-ध्वनिहि को भेद कहावत जान॥

६. *रसाभास* —

जहँ अनुचित रसभाव को रसाभास तहँ जानि।
रस प्रथम अवगाहि कैं कविजन कहत बखानि॥

(तृतीय प्रकाश, छन्द २५ से २८ तक तथा ७३, ७८)

(ब) <u>रस का स्वरूप</u> —

चारि पद्य कहि रमहि के काव्य प्रकार बखानि।
यह विभाव के ज्ञान ते रसहो जानत आनि॥

यक अनुमित ते जानिये यक भोगहि ते जानि।
एक व्यजना हेत है चारि भाँति के मानि॥
जहाँ परस्पर होत है विवाद सम्बन्ध?
सो विभाव के ज्ञान ते जानो रस सम्बन्ध॥
जहँ विभाव परमर्प ते जो रस कहियत होइ।
सो अनुमित रस जानिये कहत सुकवि सब कोइ॥

(द्वितीय प्रकाश, छन्द १५ से १८ तक)

३—ध्वनि-प्रसंग

(अ) <u>ध्वनि का स्वरूप</u>—

वाच्य अपेक्षा अरथ को व्यग्य चमत्कृत होइ।
शब्द अरथ में प्रगट जो धुनि कहियत है सोइ।

(ब) ध्वनि के भेद—

सो धुनि द्वै विधि की कहत अविवक्षित है एक।
अपर विवक्षित कहत है कवि जन सदन विवेक॥
अर्थ विगि के काम को जहाँ नहीं ठहराय।
अविवक्षित कहि वाच्य धुनि द्वै विधि की कविराय॥
वाच्य तिरस्कृत एक पुनि अर्थ तिरस्कृत और।
अविवक्षित के भेद ये बरनत कवि सिरमौर॥
विगि योपहित वाच्य जहँ छोडि देइ निज अर्थ।
वाच्य तिरस्कृत धुनि तहाँ बरनत सुकवि समर्थ॥
अर्थ और सो मिलि रहै अर्थहि गहै न कोइ।
अर्थ सक्रमित ध्वनि तहाँ बरनत सब कवि लोइ॥
अर्थ व्यग्य के काम को क्रम विन क्रम जहाँ होइ।
द्वै विधि बरणन करत ध्वनि सुविवक्षित है सोइ॥
जेहि ठा क्रम कहु व्यग्य को जानि परत नहिं होइ।
असलक्षक्रम व्यग्य सो बरनत सब कवि लोइ॥
जहाँ शब्द ते अर्थ में झाईं सी पहिचानि।
सलक्षक्रम जानिये घटी रूप परमान॥

(तृतीय प्रकाश, छन्द १ से ६ तक, ८, १०, ११, ८९)

४—शब्द-शक्तियाँ

वाचक लक्षक व्यजकौ कवित वृत्ति में तीनि।
समुझि ग्रथ प्राचीन मत बरणत सुकवि प्रवीन॥
जहाँ शब्द में रचित है निज अर्थहि को बोध।
शक्ति लक्षणा व्यजना वृत्य तीनि विधि सोध॥
मुख्यार्थ प्रतिपाद्य शब्दस्य व्यापारो अभिधा अर्थ।
वाचक तासो कहत हैं जे कवि सुमति समर्थ॥
वाचक ते वाच्यार्थ कहि लक्षक ते लक्ष्यार्थ।
तीनि भाँति सो जानिये विजक ते विग्यार्थ॥
अर्थ न लक्षक सो कनत गहि समीप ते जोइ।
होइ लक्षणा ते प्रगट लक्ष्यारथ कहि सोइ॥
मुख्य अर्थ को बाध करि बहुरि शक्ति सनबध।
और अर्थ डिग ते बनै सो लक्षणा प्रबध॥

(द्वितीय प्रकाश, छन्द ५ से ७, ११ से १३)

५—काव्य-गुण

ज्यों शरीर के धर्म में सौर्य अधिक पहिचान।
त्यों रस में उत्कर्ष गुण अचल स्थित जिय जान॥
शब्द अर्थ में गनत है गुन इमि सरस विसेषि।
शब्द अर्थ भूषण मिले न्यारे चल चित लेखि॥
प्रथम गनत माधुर्ज गुण ओज प्रसाद बखानि।
प्रश्लेषादिक दश गनै इनके अन्तर जानि॥
द्रवत चित्त जाके सुनत आनन्द बढ़त अथाह।
रस सिंगार माधुर्ज गुण करुण शान्त रस माह॥
उतवर्गन नहिं रेफयुत टवर्गादि नहिं वर्ण।
लघु समास पद वर्ण जहँ गुण माधुर्ज सुकर्ण॥
महत तेज को प्रगट चित उद्धत बरन प्रसिद्धि।
तहाँ ओजगुण गनत है बीर रौद्र रस सिद्धि॥
उद्धत वर्ण उदड पद दीर्घ समास विचारि।
बीरहि ते पुनि रौद्र ते भए बीभत्स निहारि॥
साधारन सब आपरन विमल बसन जिमि नीर।
जानि परत तुरतहि अरथ गहि प्रताप गुन धीर॥

(पंचम प्रकाश, छन्द १ से ५ तथा ११, १२, १५)

६—काव्य-दोष

अर्थ बोध के मुख्य में घात करत जो होइ।
ताको दूषण कहत है शब्द अर्थ रस सोइ॥
शब्द फिरे जो फिरत है अर्थ फिरे तिर होइ।
शब्द अर्थ दूषण तहाँ मानत सब कवि लोइ॥
पदगत बहु पुनि वाक्यगत शब्द दोष ई भाँति।
कहुँ सुपद के अन्त में नित्य अनित्य विसाति॥

(षष्ठ प्रकाश, छन्द १ से ३ तक)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

[समय—सन् १८५०-१८८५]

ग्रन्थ—नाटक

१. नाटक का स्वरूप

नाटक शब्द का अर्थ है नट लोगों की क्रिया । नट कहते हैं विद्या के प्रभाव से अपने वा किसी वस्तु के स्वरूप के फेर कर देने वाले को, वा स्वयं दृष्टि-रोचन के अर्थ फिरने को । नाटक में पात्रगण अपना स्वरूप परिवर्तन करके राजादिक का स्वरूप धारण करते हैं वा वेश विन्यास के पश्चात् रंगभूमि में स्वकीय कार्य साधन के हेतु फिरते हैं । काव्य दो प्रकार के हैं । दृश्य और श्रव्य । दृश्य काव्य वह है जो कवि की वाणी को उसके हृदयगत आशय और हाव भाव सहित प्रत्यक्ष दिखला दे । जैसा कालिदास ने शाकुन्तल में भ्रमर के आने पर शकुन्तला की सूधी चितवन से कटाक्षों का फेरना जो लिखा है, उस को प्रथम चित्रपटी द्वारा उस स्थान का, शकुन्तला वेश-सज्जित स्त्री द्वारा उसके रूप-यौवन और वनोचित शृंगार का, उसके नेत्र, सिर, हस्तचालनादि द्वारा उसके अगभगी और हाव-भाव का, तथा कवि कथित वाणी के मुख से कथन द्वारा काव्य का, दर्शकों के चित्त पर खचित कर देना ही *दृश्य-काव्यत्व है । यदि श्रव्य-काव्य द्वारा* ऐसी चितवन का वर्णन किसी से सुनिए या ग्रन्थ में पढ़िए तो जो काव्य-जनित आनन्द होगा, यदि कोई प्रत्यक्ष अनुभव करा दे तो उससे चतुर्गुणित आनन्द होता है । दृश्य-*काव्य की संज्ञा रूपक है । रूपकों में नाटक ही सबसे मुख्य है इससे रूपक मात्र को* नाटक कहते हैं । इसी विद्या का नाम कुशीलव-शास्त्र भी है । ब्रह्मा, शिव, भरत,नारद, हनुमान्, व्यास, वाल्मीकि, लव-कुश, श्रीकृष्ण, अर्जुन, पार्वती, सरस्वती और तुंबुरु *आदि इसके आचार्य हैं । इनमें भरत मुनि इस शास्त्र के मुख्य प्रवर्तक हैं ।*

(पृष्ठ ५—६)

२. नाटक-रचना की नवीन पद्धति

आजकल योरोप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और बंग देश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं वह सब नवीन भेद में परिगणित हैं । प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारंबार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है क्योंकि इस समय में

नाटक के खेलो के साथ विविध दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है। इन अक और गर्भांक की कल्पना यो होनी चाहिए, यथा पाँच वर्ष के आख्यान का एक नाटक है तो उसमें वर्ष-वर्ष के इतिहास में एक-एक अक और उस अक के अतःपाती विशेष-विशेष समयो के वर्णन वा एक-एक गर्भांक। अथवा पाँच मुख्य घटना-विशिष्ट कोई नाटक है तो प्रत्येक घटना के सम्पूर्ण वर्णन का एक-एक अक और भिन्न भिन्न स्थानो में विशेष घटनान्तःपाती छोटी-छोटी घटनाओं के वर्णन में एक-एक गर्भांक। ये नवीन नाटक मुख्य दो भेदो में बँटे हैं—एक नाटक, दूसरा गीति रूपक। जिनमें कथा-भाग विशेष और गीति न्यून हो वह नाटक और जिसमें गीति विशेष हो वह गीति-रूपक। यह दोनो कथाओं के स्वभाव से अनेक प्रकार के हो जाते है किन्तु उनके मुख्य भेद इतने किये जा सकते हैं यथा—(१) सयोगान्त—अर्थात् प्राचीन नाटको की भाँति जिसकी कथा सयोग पर समाप्त हो। (२) वियोगान्त—जिसकी कथा अत में नायिका वा नायक के मरण वा और किसी आपद घटना पर समाप्त हो। (उदाहरण "रणधीर प्रेम-मोहिनी') । (३) मिश्र—अर्थात् जिसके अत में कुछ लोगो का तो प्राण-वियोग हो और कुछ सुख पावें।

इन नवीन नाटको की रचना के मुख्य उद्देश्य ये होते हैं यथा—(१) शृगार (२) हास्य (३) कौतुक (४) समाज-संस्कार (५) देश-वत्सलता। शृगार और हास्य के उदाहरण देने की आवश्यकता नही, जगत् में प्रसिद्ध है। कौतुक विशिष्ट वह है जिसमें लोगो के चित्त विनोदार्थ किसी यत्र विशेष द्वारा या और किसी प्रकार अद्भुत घटना दिखाई जाय। समाज-संस्कारक नाटकों में देश की कुरीतियो का दिखलाना मुख्य कर्तव्य कर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति, विवाह-सम्बन्धी कुरीति निवारण, अथवा धर्म-सम्बन्धी अन्यान्य विषयों में सशोधन इत्यादि। किसी प्राचीन कथा भाग का इस बुद्धि से सगठन कि देश की उसमें कुछ उन्नति हो इसी प्रकार के अतर्गत है। (इसके उदाहरण, सावित्री चरित्र, दु:खिनी बाला, बाल्यविवाह विदूषक, जैसा काम वैसा ही परिणाम, जय-नरसिंह की, चक्षुदान इत्यादि।) देश-वत्सल नाटको का उद्देश्य पढने वालों व देखने वालो के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और ये प्राय करुण और वीर रस के होते हैं। (उदाहरण—भारत-जननी, नीलदेवी, भारत दुर्दशा इत्यादि)। इन पाँच उद्देश्यो को छोडकर वीर, सख्य इत्यादि अन्य रसो में भी नाटक बनते हैं।

प्राचीन समय में सस्कृत भाषा में महाभारत आदि का कोई प्रख्यात वृत्तान्त अथवा कवि प्रौढोक्ति-सम्भूत, किंवा लोकाचार-सघटित, कोई कल्पित आख्यायिका अव-लम्बन करके, नाटक प्रभृति दशविध रूपक और नाटिका प्रभृति अष्टादश प्रकार उप-रूपक लिपिबद्ध होकर, सहृदय सभासद लोगों की तात्कालिक रुचि अनुसार, उक्त नाटक

नाटिका प्रभृति दृश्य-काव्य किसी राजा को अथवा राजकीय उच्चपदाभिषिक्त लोगों की नाट्यशाला में अभिनीत होते थे।

प्राचीन काल के अभिनयादि के सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शक-मडली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्य-काव्य रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त-विनोदन कर गये हैं। किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे सम्प्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्य-काव्य लिखना युक्ति-संगत नहीं बोध होता।

जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदयगण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना योग्य है।

नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होगी वह सब अवश्य ग्रहण होगी। नाट्यकला-कौशल दिखलाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत असम्भव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदय हारिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती।

अब नाटकादि दृश्य-काव्य में अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य-मण्डली को नितांत अरुचिकर है, इसलिये स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदय-ग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं 'आशी' प्रभृति नाट्या-लंकार, कहीं 'प्रकरी', कहीं 'विलोभन', कहीं 'सम्फेट', पंचसन्धि', वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं बाकी रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसन्धान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है। संस्कृत नाटकादि रचना के निमित्त महामुनि भरतजी जो सब नियम लिख गये हैं उनमें जो हिन्दी नाटक-रचना के नितान्त उपयोगी हैं और इस काल के सहृदय सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयायी हैं वे ही नियम यहाँ प्रकाशित होते हैं।

(पृष्ठ १०—१४)

३. नाटक-रचना की प्रणाली

रचना-प्रणाली

(क) नाटक लिखना आरम्भ करके, जो लोग उद्देश्य, वस्तु परम्परा से चमत्कारजनक और अति मधुर वस्तु निर्वाचन करके भी स्वाभाविक सामग्री परिपोष के प्रति दृष्टिपात नहीं करते उनका नाटक नाटिकादि दृश्य काव्य लिखने का प्रयास व्यर्थ है क्योंकि नाटक आख्यायिका की भाँति श्रव्य-काव्य नहीं है।

ग्रन्थकर्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रगण की बातचीत रचना करे कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो। नाटक में वाचाल पात्र की मितभाषिता, मितभाषी की वाचालता, मूर्ख की वाक्पटुता और पण्डित का मौनीभाव विडम्बन-मात्र है। पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अंग है। नाटक में वाक्-प्रपंच एक प्रधान दोष है। रसविशेष द्वारा दर्शकों के अन्तःकरण को उन्नत अथवा एकबारगी शोकावनत करने को समधिक वागाडम्बर करने से कभी उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। नाटक में वाचालता की अपेक्षा मितभाषिता के साथ, वाग्मिता का ही सम्यक् आदर होता है। नाटक में प्रपंच रूप से किसी भाव को व्यक्त करने का नाम गौण उपाय है और कौशल विशेष द्वारा थोड़ी बात में पुरतर भाव व्यक्त करने का नाम मुख्योपाय है। थोड़ी-सी बात में अधिक भाव की अवतारणा ही नाटक जीवन का महौषध है। जैसा 'उत्तर रामचरित' में महात्मा जनकजी आकर पूछते है—'क्वास्ते प्रजावत्सलो राम'? यहाँ प्रजावत्सल शब्द से महाराज जनक के हृदय के कितने विकार बोध होते है, केवल सहृदय ही इसका अनुभव करेंगे। चित्रकार्य के निमित्त जिन-जिन उपकरणों का प्रयोजन और स्थान-विशेष की उच्चता-नीचता दिखलाने की जैसी आवश्यकता होती है वैसे ही वही उपकरण और उच्चता-नीचता-प्रदानपूर्वक अति सुन्दर रूप से मनुष्य के बाह्य भाव और कार्य-प्रणाली के चित्रण द्वारा सहज भाव से उनका मानसिक भाव और कार्य प्रणाली दिखलाना प्रशंसा का विषय है। जो इस भाँति दूसरे का अन्तर्भाव व्यक्त करने को समर्थ है, उन्हीं को नाटककार सम्बोधन दिया जा सकता है और उन्हीं के प्रणीत ग्रन्थ नाटक में परिगणित होते हैं। (पृष्ठ २८-३०)

(ख) नाटक रचना में शैथिल्य दोष कभी न होना चाहिये। नायक-नायिका द्वारा किसी कार्य विशेष की अवतारणा करके अपरिसमाप्त रखना अथवा अन्य व्यापार की अवतारणा करके उसका मूलच्छेद करना नाटक-रचना का उद्देश्य नहीं है। जिस नाटक की उत्तरोत्तर कार्य-प्रणाली सदर्शन करके दर्शक लोग पूर्व-पूर्व कार्य विस्मृत होते जाते है वह नाटक कभी प्रशंसा-भाजन नहीं हो सकता। जिन लोगों ने केवल

उत्तम-उत्तम वस्तु चुनकर एकत्र किया है उनकी गुम्फित वस्तु की अपेक्षा जो उत्कृष्ट, मध्यम और अधम तीनों का यथा-स्थान निर्वाचन करके प्रकृति की भावभंगी उत्तम रूप से चित्रित करने में समर्थ है वही काव्यामोदी रसज्ञ मण्डली को अपूर्व आनन्द वितरण कर सकते हैं। कालिदास, भवभूति और शेक्सपियर प्रभृति नाटककार इसी हेतु पृथ्वी में अमर हो रहे हैं। कोई सामग्री संग्रह नहीं है, *अथच नाटक लिखना होगा* यह अलीक संकल्प करके जो लोग नाटक लिखने को लेखनी धारण करते हैं उनका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। यदि किसी को नाटक लिखने की वासना हो तो नाटक किसको कहते हैं इसका तात्पर्य हृदयगम करके, नाटक-रचयिता को सूक्ष्म-रूप से ओत प्रोत भाव में मनुष्य की प्रकृति आलोचना करनी चाहिये। जो अनालोचित मानव प्रकृति हैं उनके द्वारा *मानवजाति के अन्तर्भाव सब विशुद्ध रूप से चित्रित होंगे, यह कभी सम्भव नहीं* है। इसी कारण से कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल और शेक्सपियर के मैकबेथ और हेमलेट इतने विख्यात हो के पृथ्वी के सर्व स्थान में एकादर से परिभ्रमण करते हैं। मानव प्रकृति की समालोचना करनी हो तो नाना देशों में भ्रमण करके नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिन वास करे, तथा नाना प्रकार के समाज में गमन करके विविध लोगों का आलाप सुने तथा नाना प्रकार के ग्रन्थ अध्ययन करे, वरंच समय में अश्व-रक्षक, गो रक्षक, दास, दासी, ग्रामीण, दस्यु प्रभृति नीच प्रकृति और सामान्य लोगों के साथ कथोपकथन करे। यह न करने से मानव-प्रकृति समालोचित नहीं होती। मनुष्यों की मानसिक वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य है उन लोगों के हृदयस्थ भाव भी उसी रूप अप्रत्यक्ष हैं। केवल बुद्धि वृत्ति की परिचालना द्वारा तथा जगत् में कतिपय बाह्य कार्यों पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसके अनुशीलन में प्रवृत्त होना होता है। और किसी उपकरण द्वारा नाटक लिखना झख मारना है। (पृष्ठ ३३-३४)

अभिनेय नाटक के गुण

नाटक की कथा—नाटक की कथा की रचना ऐसी विचित्र और पूर्वापरबद्ध होनी चाहिए कि जब तक अन्तिम अंक न पढ़े किंवा न देखे, यह न प्रगट हो कि खेल कैसे समाप्त होगा। *यह नहीं कि 'सीधा एक को बेटा हुआ, उसने यह किया वह किया'* प्रारम्भ ही में कहानी का मध्य बोध हो।

पात्रों के स्वर-शोक, हर्ष, हास, क्रोधादि के समय में पात्रों को स्वर भी घटाना-बढ़ाना उचित है। जैसे स्वाभाविक स्वर बदलते हैं, वैसे ही कृत्रिम भी बदलें। 'आप ही आप' ऐसे स्वर में कहना चाहिए कि बोध हो धीरे धीरे कहता है, किन्तु तब भी इतना उच्च हो, कि श्रोतागण निरक्षर सुन लें।

पात्रों की दृष्टि—यद्यपि परस्पर वार्ता करने में पात्रों की दृष्टि परस्पर रहेगी

किन्तु बहुत से विषय पात्रों को दर्शकों की ओर देखकर कहने पड़ेंगे। इस अवसर पर अभिनय-चातुर्य यह है कि यद्यपि पात्र दर्शकों की ओर देखें किन्तु यह न बोध हो कि वह बातें वे दर्शकों से कहते हैं।

पात्रों के भाव—नृत्य की भांति रंगस्थल पर पात्रों को हस्तक भाव वा मुख, नेत्र, भ्रू के सूक्ष्मतर भाव दिखलाने की आवश्यकता नहीं, स्वर भाव और यथायोग्य स्थान पर अंगभंगी भाव ही दिखलाने चाहिएँ।

पात्रों का फिरना—यह एक साधारण नियम भी माननीय है कि फिरने वा जाने के समय जहाँ तक हो सके पात्रगण अपनी पीठ दर्शकों को बहुत कम दिखलावें। किन्तु इस नियम-पालन का इतना आग्रह न करें कि जहाँ पीठ दिखलाने की आवश्यकता हो वहाँ भी न दिखलावें।

पात्रों का परस्पर कथोपकथन—पात्रगण आपस में जो वार्ता करें उसको कवि निरे काव्य की भाँति न ग्रथित करे। यथा नायिका से नायक साधारण काव्य की भाँति 'तुम्हारे नेत्र कमल हैं कुच कलश हैं इत्यादि न कहें।' परस्पर वार्ता में हृदय के भाव-बोधक वाक्य ही कहने योग्य हैं। किसी मनुष्य वा स्थानादि के वर्णन में लम्बी चौड़ी काव्य रचना नाटक के उपयोगी नहीं होती। (पृष्ठ ३७३८)

नाटक में रस-विरोध

नाटक-रचना में विरोधी रसों को बहुत बचाना चाहिए। जैसे शृंगार के हास्य, और विरोधी नहीं किन्तु अति करुण, बीभत्स, रौद्र, भयानक और शान्त विरोधी हैं, तो जिस नाटक में शृंगार रस प्रधान अंगीभाव से हो उसमें ये न आने चाहिये। अति करुण लिखने का तात्पर्य यह है कि सामान्य करुण तो वियोग में भी वर्णित होगा किन्तु पुत्र शोकादिवत् अति करुण का वर्णन शृंगार का विरोधी है। हाँ नवीन (ट्रेजेडी) वियोगान्त नाटक लेखक तो यह रस विरोध करने को बाधित है। नाटकों की सौन्दर्य-रक्षा के हेतु विरोधी रसों को बचाना भी बहुत आवश्यक कार्य है, अन्यथा होने से कवि का मुख्य उद्देश्य नाश हो जाता है। (पृष्ठ ३६)

महावीरप्रसाद द्विवेदी

[समय—सन् १८६४-१९३८ ई०]

ग्रंथ—रसज्ञ-रंजन

१—कविता और छन्द

गद्य और पद्य दोनों ही में कविता हो सकती है। यह समझना अज्ञानता की पराकाष्ठा है कि जो कुछ छन्दोबद्ध है सभी काव्य है। कविता का लक्षण जहाँ कहीं पाया जाय, चाहे वह गद्य में हो चाहे पद्य में, वही काव्य है। लक्षण-हीन होने से कोई भी छन्दोबद्ध लेख काव्य नहीं कहलाये जा सकते और लक्षण-युक्त होने से सभी गद्य-बन्ध काव्य-कला में सन्निविष्ट किये जा सकते हैं। गद्य के विषय में कोई विशेष नियम निर्दिष्ट करने की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी पद्य के विषय में है। इसलिए हम, यहाँ पर, पद्य ही का विचार करेंगे। भाषा, अर्थ और विषय के सम्बन्ध में जो कुछ हम कहेंगे वह गद्य के सम्बन्ध में भी, प्रायः समान-भाव से प्रयुक्त हो सकेगा।

जिन पंक्तियों में वर्णों या मात्राओं की संख्या नियमित होती है, वे छन्द कहाती हैं, और छन्द में जो कुछ कहा जाता है, वह पद्य कहलाता है। कोई-कोई छन्द और पद्य दोनों को एक ही अर्थ का वाचक मानते हैं।

जो सिद्ध कवि हैं वे चाहे जिस छन्द का प्रयोग करें उनका पद्य अच्छा ही होता है, परन्तु सामान्य कवियों को विषय के अनुकूल छन्द-योजना करनी चाहिए। जैसे समय विशेष में राग विशेष के गाये जाने से चित्त अधिक चमत्कृत होता है, वैसे ही वर्णन के अनुकूल वृत्त-प्रयोग करने से कविता का आस्वादन करने वालों को अधिक आनन्द मिलता है। गले में डाली हुई मेखला के समान वृत्त-रूपिणी हार-लता को अनुचित स्थान में विनिवेशित करने से कवि की अज्ञानता दर्शित होती है। इस लेख में हम इस बात का विवेचन नहीं करना चाहते कि किस विषय के लिए कौन-सा छन्द प्रयोग में लाना चाहिए। काव्य के मर्मज्ञ निपुण कवि स्वयमेव जान सकते हैं कि कौन छन्द कहाँ विशेष शोभा-वर्धक होगा। प्राचीन संस्कृत-कवि इसका पूरा-पूरा विचार रखते थे। उन्होंने ऋतुओं का वर्णन प्रायः उपजातिछन्द में किया है, नीति का वंशस्थ में किया है, चन्द्रोदयादि का रथोद्धता में किया है, वर्षा और प्रवास का मन्दाक्रान्ता में किया है, और स्तुति, शौर्य आदि का शार्दूल विक्रीडित और शिखरिणी में किया है।

यही नहीं, किन्तु वृत्त-रचना में छन्द-शास्त्र के नियमों के अतिरिक्त वे लोग और-और विषयों का भी ध्यान रखते थे। दोधक-वृत्त का लक्षण तीन भगण और दो गुरु हैं। इस नियम का प्रतिपालन करते हुए वे तीन ही तीन अक्षर वाले शब्द-प्रयोग करते थे, जिससे छन्द की शोभा विशेष बढ़ जाती थी। तोटक में वे रूखे अक्षर वाले ही शब्द रखते थे, क्योंकि ऐसे अक्षर वाले शब्दों से सगठित हुआ तोटक, ताल की द्रुतगति के समान, मन को सविशेष आनन्दित करता है। हिंदी के कवियों को भी इन बातों का विचार करना चाहिए।

दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि का प्रयोग हिन्दी में बहुत हो चुका। कवियों को चाहिए कि यदि वे लिख सकते हैं, तो इनके अतिरिक्त और और छन्द भी लिखा करें। हम यह नहीं कहते कि ये छन्द नितान्त परित्यक्त ही कर दिये जायें। हमारा अभिप्राय यह है कि इनके साथ-साथ संस्कृत काव्यों में प्रयोग किये गये वृत्तों में से दो-चार उत्तमोत्तम वृत्तों का भी प्रचार हिन्दी में किया जाय। इन वृत्तों में से द्रुतविलम्बित, वंशस्थ और वसन्ततिलका आदि वृत्त ऐसे हैं जिनका प्रचार हिंदी में होने से हिन्दी-काव्य की विशेष शोभा बढ़ेगी। किसी-किसी ने इन वृत्तों का प्रयोग भी आरम्भ कर दिया है। यह सूचना उन्हीं लोगों के लिए है जो सब प्रकार के छन्द लिखने में समर्थ हैं, जो घनाक्षरी और दोहे अथवा चौपाई की सीमा उल्लंघन करने में असमर्थ हैं, उनके लिए नहीं।

आजकल के बोलचाल की हिन्दी की कविता उर्दू के विशेष प्रकार के छन्दों में अधिक खुलती है, अतः ऐसी कविता लिखने में तदनुकूल छन्द प्रयुक्त होने चाहिएँ।

कुछ-कुछ कवियों को एक ही प्रकार का छन्द सध जाता है, उसे ही वे अच्छा लिख सकते हैं। उनको दूसरे प्रकार के छन्द लिखने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए। यदि कविता सरस और मनोहारिणी है, तो चाहे वह एक ही अथवा बुरे से बुरे छन्द में क्यों न हो, उससे आनन्द अवश्य ही मिलता है। तुलसीदास ने चौपाई और बिहारी-लाल ने दोहा लिखकर ही इतनी कीर्ति सम्पादन की है। प्राचीन कवियों को भी किसी-किसी वृत्त से समधिक स्नेह था, वे अपने आदृत वृत्त ही को अधिक काम में लाते थे और उसमें उनकी कविता खुलती भी अधिक थी। भारवि का वंशस्थ, रत्नाकर की वसन्ततिलका, भवभूति और जगन्नाथराय की शिखरिणी, कालिदास की मन्दाक्रान्ता और राजशेखर का शार्दूल-विक्रीडित इस विषय में प्रमाण हैं।

पादान्त में अनुप्रास-हीन छन्द भी हिन्दी में लिखे जाने चाहिएँ। इस प्रकार के छन्द जब संस्कृत, अंग्रेजी और बँगला में विद्यमान हैं तब, कोई कारण नहीं, कि हमारी भाषा में वे न लिखे जायें। संस्कृत ही हिन्दी की माता है। संस्कृत का सारा कविता-

साहित्य इस तुकबन्दी के बखेड़े से वहिर्गत सा है। अतएव इस विषय में यदि हम संस्कृत का अनुकरण करें, तो सफलता की पूरी पूरी आशा है। अनुप्रास-युक्त पादान्त सुनते-सुनते हमारे कान उस प्रकार की पंक्तियों के पक्षपाती हो गये हैं। इसलिए अनुप्रास-हीन रचना अच्छी नहीं लगती। बिना तुक वाली कविता के लिखने अथवा सुनने का अभ्यास होते ही वह भी अच्छी लगने लगेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। अनुप्रास और यमक आदि शब्दाडम्बर कविता के आधार नहीं, जो उनके न होने से कविता निर्जीव हो जाय, या उससे कोई अपरिमेय हानि पहुँचे। कविता का अच्छा और बुरा होना विशेषतः अच्छे अर्थ और रस-बाहुल्य पर अवलम्बित है। परन्तु अनुप्रासों के ढूँढने का प्रयास उठाने में समुचित शब्द न मिलने से अर्थांश की हानि हो जाया करती है, इससे कविता की चारुता नष्ट हो जाती है। अनुप्रासों का विचार न करने से कविता लिखने में सुगमता भी होती है और मनोभिलषित अर्थ व्यक्त करने में विशेष कठिनाई भी नहीं पड़ती। अतएव पादान्त में अनुप्रास-हीन छन्द हिन्दी में लिखे जाने की बड़ी आवश्यकता है। संस्कृत में प्रयोग किये गये शिखरिणी, वंशस्थ और वसन्ततिलका आदि वृत्त ऐसे हैं जिनमें अनुप्रास का होना काव्य रसिकों को बहुत ही कम खटकेगा। पहले-पहल इन्हीं वृत्तों का प्रयोग होना चाहिए।

किसी भी प्रचलित परिपाटी का क्रम भंग होता देख प्राचीनता के पक्षपाती बिगड़ खड़े होते हैं और नई चाल के विषय में नाना प्रकार की कुचेष्टाएँ और दोषो-द्भावनाएँ करने लगते हैं, यह स्वाभाविक बात है। परन्तु यदि इस प्रकार की टीकाओं से लोग डरते, तो संसार से नवीनता का लोप ही हो जाता। हमारा यह मतलब नहीं कि पादान्त में अनुप्रास वाले छन्द लिखे ही न जाया करें। हमारा कथन इतना ही है कि इस प्रकार के छन्दों के साथ अनुप्रास-हीन छन्द भी लिखे जायें, बस।

(पृष्ठ १३-१७)

२. कविता की भाषा

कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिये जिसे सब कोई सहज में समझ ले और अर्थ को हृदयंगम कर सके। पद्य पढ़ते ही उसका अर्थ बुद्धिस्थ हो जाने से विशेष आनन्द प्राप्त होता है और पढ़ने में जी लगता है। परन्तु जिस काव्य का भावार्थ कठिनता से समझ में आता है, उसके अवलोकन में जी नहीं लगता और बराबर अर्थ का विचार करते-करते उससे विरक्ति हो जाती है। जो कुछ लिखा जाता है, वह इसी अभिप्राय से लिखा जाता है कि लेखक का हृद्गत भाव दूसरे समझ जायें। यदि इस उद्देश्य ही की सफलता न हुई, तो लिखना ही व्यर्थ हुआ। अतएव क्लिष्ट की अपेक्षा सरल लिखना ही सब प्रकार वाञ्छनीय है। कालिदास, भवभूति और तुलसीदास के

काव्य सरलता के आकार हैं, परम विद्वान् होकर भी उन्होंने सरलता ही को विशेष मान दिया है। इसीलिए उनके काव्यों का इतना आदर है। जो काव्य सर्व-साधारण की समझ के बाहर होता है, वह बहुत कम लोकमान्य होता है। कवियों को इसका सदैव ध्यान रखना चाहिये।

कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना न करनी चाहिए। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है अशुद्ध का उतना नहीं होता। व्याकरण का विचार न करना कवि की तद्विषयक अज्ञानता का सूचक है। कोई कोई कवि व्याकरण के नियमों की ओर दृक्पात तक नहीं करते। यह बड़े खेद और लज्जा की बात है। व्रजभाषा की कविता में कविजन मनमानी निरंकुशता दिखलाते हैं। यह उचित नहीं। जहाँ तक सम्भव हो शब्दों का मूल रूप न बिगड़ना चाहिये।

मुहाविरे का भी विचार रखना चाहिए। बे मुहाविरा भाषा अच्छी नहीं लगती। "क्रोध क्षमा कीजिए" इत्यादि वाक्य कान को अतिशय पीड़ा पहुँचाते हैं। मुहाविरा ही भाषा का प्राण है, उसे जिसने नहीं जाना, उसने कुछ नहीं जाना। उसकी भाषा कदापि आदरणीय नहीं हो सकती।

विषय के अनुकूल शब्द-स्थापना करनी चाहिए। कविता एक अपूर्व रसायन है। उसके रस की सिद्धि के लिए बड़ी सावधानी, बड़ी मनोयोगिता और बड़ी चतुराई आवश्यक होती है। रसायन सिद्ध करने में आँच के न्यूनाधिक होने से जैसे रस बिगड़ जाता है, वैसे ही यथोचित शब्दों का उपयोग न करने से काव्य-रूपी रस भी बिगड़ जाता है। किसी-किसी स्थल-विशेष पर रूक्षाक्षर वाले शब्द अच्छे लगते हैं, परन्तु और सर्वत्र ललित और मधुर शब्दों ही का प्रयोग करना उचित है। शब्द सुनने में अक्षर-मैत्री का विशेष विचार रखना चाहिए। अच्छे अर्थ का द्योतक न होकर भी कोई-कोई पद्य केवल अपनी मधुरता ही से पढ़नेवालों के अन्तःकरण को द्रवीभूत कर देता है। "टूटत बहु बठे तर जाई" इत्यादि वाक्य लिखना हिन्दी की कविता को कलंकित करना है।

शब्दों को यथा-स्थान रखना चाहिए। शब्द-स्थापना ठीक न होने से कविता की दुर्दशा होती है और अर्थ में जो क्लिष्टता आ जाती है, उसके उदाहरण "हिन्दी कालिदास की समालोचना" में दिये जा चुके हैं।

गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिए। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्य-पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए। गद्य का प्रचार हिन्दी में थोड़े दिनों से हुआ है। पहले गद्य प्राय न था, हमारा

साहित्य केवल पद्यमय था। गद्य साहित्य की उत्पत्ति के पहले पद्य में ब्रजभाषा ही का सार्वदेशिक प्रयोग होता था। अब कुछ अन्तर होने लगा है। गद्य की इस समय, उन्नति हो रही है। अतएव अब यह सम्भव नहीं कि गद्य की भाषा का प्रभाव पद्य पर न पड़े। जो प्रबल होता है वह निर्बल को अवश्य अपने वशीभूत कर लेता है। यह बात भाषा के सम्बन्ध में भी तद्वत् पाई जाती है। पचास वर्ष पहले के कवियों की भाषा इस समय के कवियों की भाषा से मिला कर देखिए। देखने से तत्काल विदित हो जायगा कि आधुनिक कवियों पर बोल-चाल की हिन्दीभाषा ने अपना प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया है, उनकी लिखी ब्रजभाषा की कविता में बोल चाल (खड़ी-बोली) के जितने शब्द और मुहाविरे मिलेंगे उतने ५० वर्ष पहले के कवियों की कविता में कदापि न मिलेंगे। यह निश्चित है किसी समय बोलचाल की हिन्दी भाषा, ब्रजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी। इसलिए कवियों को चाहिए कि वे क्रम-क्रम से गद्य की भाषा में भी कविता करना आरम्भ करें। बोलना एक भाषा और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा, प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है। जो लोग हिन्दी बोलते हैं और हिन्दी ही के गद्य-साहित्य की सेवा करते हैं, उनके पद्य में ब्रज की भाषा का आधिपत्य बहुत दिनों तक नहीं रह सकता। (पृष्ठ १७ २०)

३—कविता में अर्थ का गौरव

अर्थ सौरस्य ही कविता का प्राण है। जिस पद्य में अर्थ का चमत्कार नहीं, वह कविता नहीं। कवि जिस विषय का वर्णन करे उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए। ऐसा न होने से अर्थ-सौरस्य नहीं आ सकता। विलाप-वर्णन करने में कवि के मन में यह भावना होनी चाहिए कि वह स्वयं विलाप कर रहा है और वर्णित दुःख का स्वयं अनुभव कर रहा है। प्राकृतिक वर्णन लिखने के समय उसके अन्तःकरण में यह दृढ संस्कार होना चाहिए कि वर्ण्यमान नदी, पर्वत अथवा वन के सम्मुख वह स्वयं उपस्थित होकर उनकी शोभा देख रहा है। जब कवि की आत्मा का वर्ण्य विषयों से इस प्रकार निकट सम्बन्ध हो जाता है तभी उसका किया हुआ वर्णन यथार्थ होता है और तभी उसकी कविता पढ़कर पढ़ने वालों के हृदय पर तद्वत् भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। कविता करने में, हमारी समझ में, अलंकारों को बलात् लाने का प्रयत्न न करना चाहिए। विषय-वर्णन के झोंके में जो कुछ मुख से निकले उसे ही रहने देना चहिए। बलात् किसी अर्थ के लाने की चेष्टा करने की अपेक्षा प्रकृत भाव से जो कुछ आ जाय उसे ही पद्य-बद्ध कर देना अधिक सरल और आह्लादकारक होता है। अपने मनोनीत अर्थ को इस प्रकार व्यक्त करना चाहिए कि पद्य पढ़ते ही पढ़ने वाले उसे तत्क्षण हृदयंगम कर सकें, क्लिष्ट कल्पना अथवा सोच विचार करने की आवश्यकता न पड़े।

बहुत से शब्द ऐसे हैं जो सामान्य रीति से सब एक ही अर्थ के व्यंजक हैं, परन्तु विशेष ध्यानपूर्वक देखने अथवा धातु के अर्थ का विचार करने से पृथक्-पृथक् शब्दों में पृथक्-पृथक् शक्तियों का गर्भित रहना प्रकट होता है। 'तन्वी' शब्द का सामान्य अर्थ स्थल-विशेष में स्त्री होता है परन्तु 'तनु' शब्द का अर्थ कृश होने के कारण 'तन्वी' का विशेष अर्थ दुर्बल है। यदि कहें कि "यह तन्वी अपने पति के साथ सुख से अपने घर में रहती है, तो वहाँ 'तन्वी' शब्द उस अर्थ का व्यंजक नहीं हो सकता जो अर्थ 'रामा' इत्यादि शब्दों का होता है। परन्तु यदि कहें कि "तन्वी अपने प्रियतम का वियोग बड़े धैर्य से सहन कर रही है" तो यहाँ 'तन्वी' शब्द को गर्भित शक्ति से वियोग-उद्योत अर्थ को सहायता पहुँचती है। अतः ऐसे स्थल पर इस शब्द का प्रयोग बहुत प्रशस्त है। अर्थ-सौरस्य के लिए, जहाँ तक सम्भव हो, ऐसे ही ऐसे शक्तिमान् शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

घनाक्षरी और सवैया आदि लिखने वाले कुछ कवियों की कविता में कभी-कभी अनेक निरर्थक शब्द आ जाते हैं। कभी-कभी शब्दों के ऐसे विकृत रूप प्रयुक्त हो जाते हैं कि उनका अर्थ ही समझ में नहीं आता। कभी-कभी पादान्त में समान अक्षर लाने ही के लिए निरर्थक अथवा अपभ्रंश शब्द लाये जाते हैं। ब्रजभाषा की कविता, अथवा घनाक्षरी या सवैया के हम प्रतिकूल नहीं, परन्तु हमारा मत यह है कि अर्थ के सौरस्य ही की ओर कवियों का ध्यान अधिक होना चाहिए, शब्दों के आडम्बर की ओर नहीं। अर्थ-हीन अथवा अनुपयोगी शब्द न लिखे जाने चाहिए और न शब्दों के प्रकृत रूप को बिगाड़ना ही चाहिए। शब्दों के बिगाड़ने से उनके बिगड़े हुए रूप पढ़ने वालों के कान को खटकते हैं और जिस अर्थ में वे प्रयुक्त होते हैं, उस अर्थ की वे कभी-कभी पोषकता भी नहीं करते।

अश्लीलता और ग्राम्यता-गर्भित अर्थों से कविता को कभी न दूषित करना चाहिए और न देश-काल तथा लोक आदि के विरुद्ध कोई बात कहनी चाहिए। कविता को सरस बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। नीरस पद्यों का कभी आदर नहीं होता। जिसे पढ़ते ही पढ़ने वाले के मुख से 'वाह' न निकले, अथवा उसका मस्तक न हिलने लगे, अथवा उसकी दन्त-पंक्ति न दिखलाई देने लगे, अथवा जिस रस की कविता है, उस रस के अनुकूल वह व्यापार न करने लगे, तो वह कविता कविता ही नहीं, वह तुकबन्दी मात्र है। कविता के सरस होने ही से ये उपर्युक्त बातें हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। रस ही कविता का सब से बड़ा गुण है। श्रीकण्ठचरित के कर्ता ने ठीक कहा है—

तैस्तैरलंकृतिशतैरवतंसितोपि
रूढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि ।
नूनं विना घनरसप्रसराभिषेकं
काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्धः ॥

अर्थात् सैकड़ों अलंकारों से अलंकृत होकर भी, शब्द-शास्त्र के उच्चासन पर अधिरूढ़ होकर भी और सब प्रकार सौष्ठव को धारण करके भी, रस-रूपी अभिषेक के बिना, कोई भी प्रबन्ध काव्याधिराज पदवी को नहीं पहुँचता ।

(पृष्ठ २०-२२)

४. काव्य का विषय

कविता का विषय मनोरंजक और उपदेश-जनक होना चाहिए । यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्भुत अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका । न परकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की । चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत—सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है । फिर क्या कारण है कि इन विषयों को छोड़कर कोई-कोई कवि स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता की चरम सीमा समझते हैं ? केवल अविचार और अन्ध-परम्परा । यदि 'मेघनाद वध' अथवा 'यशवन्तराव महाकाव्य' वे नहीं लिख सकते, तो उनको ईश्वर की निःसीम सृष्टि में से छोटे-छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों को चुन कर उन्हीं पर छोटी-छोटी कविताएँ करनी चाहिए । अभ्यास करते-करते शायद, कभी, किसी समय, वे इससे अधिक योग्यता दिखलाने में समर्थ हो और दंडी कवि के कथनानुसार शायद कभी वाग्देवी उन पर सचमुच ही प्रसन्न हो जायं । नायिका के हाव-भावादि के वर्णन का अभ्यास करने वालों पर भी सरस्वती की कृपा हो सकती है, परन्तु तदर्थ उसकी उपासना न करना ही अच्छा है ।

संस्कृत में रहस्य उत्तमोत्तम काव्य विद्यमान हैं । अतः उस भाषा में काव्य-प्रकाश, ध्वन्यालोक, कुवलयानन्द, रसगंगाधर आदि साहित्य के अनेक लक्षण-ग्रन्थों का होना अनुचित नहीं । परन्तु हिन्दी-भाषा में सत्काव्य का प्रायः अभाव है । इस कारण अलंकार और रस-विवेचन के झगड़ों से जटिल ग्रन्थों के बनने की हम कोई आवश्यकता नहीं देखते । 'हेला' हाव का लक्षण और उसका चित्र देखने से क्या लाभ ? अथवा दीपक अलंकार के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म भेदों को जानने का क्या उपयोग ? हिन्दी में ऐसे कितने काव्य हैं जिनमें ये सब भेद पाये जाते हैं ? हमारी अल्प-बुद्धि के अनुसार रस

कुसुमाकर और जसवन्तजसो (?) भूषण के समान ग्रन्थों की, इस समय आवश्यकता नहीं। इनके स्थान में यदि कोई कवि किसी आदर्श-पुरुष के चरित्र का अवलम्बन करके एक अच्छा काव्य लिखता तो उससे हिन्दी-साहित्य को अलभ्य लाभ होता। कनिष्ठा और ज्येष्ठा का भेद और उनके चित्र देखे तो क्या और न देखे तो क्या? और उत्प्रेक्षा अलंकार का लक्षण नामानुसार सिद्ध हो गया तो क्या और न सिद्ध हुआ तो क्या? नायिकाओं के भी झगड़े में उलझने से हानि के अतिरिक्त लाभ की कोई सम्भावना नहीं। हिन्दी काव्य की हीन दशा को देखकर कवियों को चाहिए कि वे अपनी विद्या, अपनी बुद्धि और अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग इस प्रकार से ग्रन्थ लिखने में न करें। अच्छे काव्य लिखने का उन्हें प्रयत्न करना चाहिए। अलंकार, रस और नायिका-निरूपण बहुत हो चुका।

इस समय, कवियों का एक दल कवि-समाजों और कवि-मण्डलों में बद्ध होकर समस्या-पूर्ति करने में व्यग्र हो रहा है। इन पूर्तिकारों में से कुछ को छोड़ कर शेष, कविता के नाम की भी बड़ी ही अवहेलना कर रहे हैं। इनको चाहिए कि बिना योग्यता सम्पादन किये समस्या पूर्ति करने के झगड़े में न पड़ें। अच्छी समस्या-पूर्ति करना असाधारण प्रतिभावान का काम है। एक साधारण कवि अपने मनोनुकूल विषय पर एक घड़ी में चाहे ५० पद्य लिख डाले और वे सब चाहे अच्छे भी हों, परन्तु किसी समस्या के टुकड़े पर अच्छी कविता करने में वह शायद ही सफल-मनोरथ होगा। समस्या-पूर्ति के लिए असामान्य कौशल और प्रबल प्रतिभा की आवश्यकता है। इस समय प्रतिभा का पूरा पूरा विकास बहुत कम देखा जाता है, इसलिए समस्याओं की पूर्तियाँ भी प्राय. अच्छी नहीं होतीं। हमारी यह सम्मति है कि समस्या-पूर्ति के विषय को छोड़ कर अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार विषयों को चुन कर, कवि को यदि बड़ी न हो सके, तो छोटी ही छोटी स्वतन्त्र कविता करनी चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की कविताओं का हिन्दी में प्राय. अभाव है।

संस्कृत और अंग्रेजी काव्यों का अनुवाद हिन्दी में करने की ओर भी कवियों की रुचि बढ़ने लगी है। परन्तु स्वतन्त्र कविता करने की अपेक्षा दूसरे की कविता का अनुवाद अन्य भाषा में करना बड़ा कठिन काम है। एक शीशी में भरे हुए इत्र को जब दूसरी शीशी में डालने लगते हैं तब डालने ही में पहले कठिनता उपस्थित होती है, और यदि बिना दो चार बूंद इधर-उधर टपके वह दूसरी शीशी में चला भी गया, तो इस उलट फेर में उसके सुवास का विशेषांश अवश्य उड़ जाता है। एक भाषा की कविता का दूसरी भाषा में अनुवाद करने वालों को यह बात स्मरण रखनी चाहिए। बुरा अनुवाद करना मूल कवि का अपमान करना है, क्योंकि अनुवाद के द्वारा उनके गुणों का ठीक-ठीक परिचय न होने के कारण पढ़ने वालों की दृष्टि में वह हीन हो जाता

है। इसलिए किसी पुस्तक का अनुवाद आरम्भ करने के पहले अनुवादक को अपनी योग्यता का विचार कर लेना नितांत आवश्यक है। सच तो यह है कि जो अच्छा कवि है वही अच्छा अनुवाद करने में समर्थ हो सकता है, दूसरा नहीं। पर अच्छा कवि होना भी दुर्लभ है।

(पृष्ठ २३ २६)

संसार में ईश्वर या देवताओं का अवतार कई प्रकार का और कई कामों के लिए होता है। अलौकिक कार्य करने वाले प्रतिभाशाली मनुष्य ही अवतार हैं। स्वाभाविक कवि भी एक प्रकार के अवतार हैं। इस पर कदाचित् कोई प्रश्न करे कि अकेले कवि ही क्यों अवतार माने गये, और लेखक इस पद पर क्यों न बिठाये गये ? तो यह कहा जा सकता है कि लेखक का समावेश कवि में है, पर कवियों में कुछ ऐसी विशेष शक्ति होती है, जिसके कारण उनका प्रभाव लोगों पर बहुत पड़ता है। अब मुख्य प्रश्न यह है कि कवि का अवतार होता ही क्यों है ? पहुँचे हुए पण्डितों का कथन है कि कवि भी "धर्म्म-संस्थापनार्थाय" उत्पन्न होते हैं। उनका काम केवल तुक मिलाना या 'पावस-पचासा' लिखना ही नहीं। तुलसीदास ने कवि होकर वैष्णव धर्म की स्थापना की है, मत-मतान्तरों का भेद मिटाया है और "ज्ञान के पन्थ को कृपाण की धार" बताया है। प्राय उसी प्रकार का काम, दूसरे रूप में, सूरदास, कबीर और लल्लूलाल ने किया है। हरिश्चन्द्र ने शूरता, स्वदेश-भक्ति और सत्य प्रेम का धर्म चलाया है। जिन कवियों ने केवल संस्कृत भाषा ही का भण्डारा भरा है वे भी, किसी न किसी रूप में, लोगों के उपदेशक थे। हिन्दी के जितने कवि प्रसिद्ध हैं उन्होंने देश, काल, अवस्था और पात्र के अनुसार ही कविता की है। दूसरे देशों और दूसरी भाषाओं के कवियों का नाम लेने की यहाँ आवश्यकता नहीं, क्योंकि हिन्दी के पूर्ववर्ती कवियों ने, समय-समय पर अपने कर्तव्य को समझा है और उसका पालन भी किया है। राजा शिवप्रसाद सदृश इतिहासकारों ने भी अवतार का काम किया है, यद्यपि उनके विचारों को लोग मानते नहीं। साराश यह कि कवियों को ऐसा काम करना पड़ता है। वह स्वभाव ही से ऐसा करते हैं—कि संसार का कल्याण हो और इस प्रकार उनका नाम आप ही अमर हो जाय। भूषण के समान कवियों ने तो राजनीतिक आंदोलन तक उपस्थित कर दिया है। 'पूर्ण' कवि ने हमें यह उपदेश दिया है कि जो लोग बोलचाल की भाषा से किसी प्रकार अप्रसन्न हैं वे भी अपनी पुरानी ब्रज (कविता) की बोली को बिना तोड़े-मरोड़े काम में ला सकते हैं, और यदि वे चाहें तो बोलचाल की भाषा में भी कविता कर सकते हैं। सारांश यह कि कविता लिखते समय कवि के सामने एक ऊँचा उद्देश्य अवश्य रहना चाहिए। केवल कविता ही के लिए कविता करना एक तमाशा है।

(पृष्ठ २६-२८)

५. काव्य में नायिका-भेद

जहाँ तक हम देखते हैं स्त्रियों के भेद-वर्णन से कोई लाभ नहीं, हानि अवश्य है, और बहुत भारी हानि है। फिर हम नहीं जानते, क्या समझ कर लोग इस विषय के इतना पीछे पड़े हुए हैं। आश्चर्य इस बात का है कि इस भेद-भक्ति के प्रतिकूल आज तक किसी ने चकार तक मुख से नहीं निकाला। प्रतिकूल कहना तो दूर रहा, नायिकाओं की नई नई चेष्टाओं का वर्णन करनेवालों को प्रोत्साहन और पुरस्कार तक दिया गया है। इस प्रोत्साहन का फल यह हुआ कि नवोढा आदि नायिकाओं के सम्बन्ध में कवियों को अनन्त स्वप्न देखने पड़े हैं। हिन्दी के समान बँगला, मराठी, गुजराती भाषाएँ भी संस्कृत से निकली हैं, परन्तु इन भाषाओं में नायिकाओं का कहीं भी उतना साम्राज्य नहीं जितना हिन्दी में है। हिन्दी में इनका आधिक्य क्यों? जान पड़ता है, और कहीं भी ठहरने के लिए सुखदाई स्थान न पाकर बेचारे नायिका-भेद ने विवश होकर, हिन्दी का आश्रय लिया है। इस विस्तृत विश्व में ईश्वर ने इतने प्रकार के मनुष्य, पशु, पक्षी, वन, निर्झर, नदी, तड़ाग आदि निर्माण किये हैं कि यदि सैकड़ों कालिदास उत्पन्न होकर अनन्त काल तक उन सबका वर्णन करते रहें तो भी उनका अन्त न हो। फिर हम नहीं जानते और विषयों को छोड़ कर नायिका-भेद सदृश अनुचित वर्णन क्यों करना चाहिए? इस प्रकार की कविता करना वाणी को विगर्हणा है।

(पृष्ठ ७२-७३)

× × ×

जिस प्रकार नायिकाओं के अनेक भेद कहे गये हैं और भेदानुसार उनकी अनेक चेष्टाएँ वर्णन की गई हैं, उसी प्रकार पुरुषों के भी भेद और चेष्टा-वैलक्षण्य का वर्णन किया जा सकता है। जब नवोढा और विश्रब्ध नवोढा नायिका होती हैं तब नवोढ और विश्रब्ध नवोढ नायक भी हो सकते हैं। वासकसज्जा, विप्रलब्धा और कलहान्तरिता नायक होने में क्या आपत्ति हो सकती है? कोई नहीं। क्या स्त्री ही अज्ञात-यौवना होती है? पुरुष अज्ञात-यौवन नहीं होता? 'रसमंजरी' वाले कहते हैं कि स्वभाव भेद से पुरुषों के चार ही भेद होते हैं—अर्थात् अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ, परन्तु व्यवस्था-भेद से स्त्रियों के अनेक भेद होते हैं। यह बात हमारी समझ में नहीं आती। मनोविकार दोनों में प्रायः एक ही से होते हैं। जिस प्रकार के लक्षण और उदाहरण नायिकाओं के विषय में लिखे गये हैं, उसी प्रकार के लक्षण और उदाहरण प्रायः पुरुषों के विषय में भी लिखे जा सकते हैं। परन्तु हमारी भाषा के कवियों ने नायकों के ऊपर इस प्रकार की पुस्तकें नहीं लिखीं। इसलिए हम उनको अनेक धन्यवाद देते हैं। यदि कहीं वे इस ओर भी अपनी कवित्व-शक्ति की योजना करते, तो हमारा कविता-साहित्य और भी अधिक चौपट हो जाता। (पृष्ठ ७४-७५)

मिश्रबन्धु

ग्रन्थ—मिश्रबन्धु-विनोद, हिन्दी-नवरत्न

१—काव्योत्कर्ष

काव्योत्कर्ष क्या है ? इस ग्रन्थ में स्थानाभाव एवं अन्य कारणों से कवियों के वर्णन पूरे नहीं हो सके हैं। हमने स्थान स्थान पर काव्योत्कर्ष एवं साहित्य-गरिमा आदि के कथन किए हैं। यदि कोई पूछे कि किन गुणों के होने से हम काव्य को गौरवान्वित मानते हैं, तो हमें विवशत कहना पड़ेगा कि इन गुणों एवं कारणों का कथन हर एक छन्द के लिए पृथक् है। इसका कोई छोटा-सा नियम नहीं बताया जा सकता। आचार्यों ने दशांग कविता पर अनेकानेक ग्रंथ रचे हैं। उनमें गुण-दोषों के सांगोपांग वर्णन हैं। *ऐसे ग्रंथ हिन्दी साहित्य में भरे पड़े हैं, जैसा अन्यत्र कहा गया है। इन गुणों* के अतिरिक्त स्वभाव कथन एवं भारी वर्णनों के सम्मिलित प्रभावों पर भी ध्यान देना पड़ता है। शब्द-प्रयोग का भी सम्मिलित प्रभाव छन्द-लालित्य-प्रवर्द्धक होता है। इन सब बातों पर समालोचक की रुचि प्रधान है। कोई किसी गुण को श्रेष्ठ मानता है, और कोई किसी को। (मिश्रबन्धु विनोद, पृष्ठ १२)

२—समालोचक के गुण

समालोचना से हर एक ग्रन्थ का असली स्वरूप साधारण पाठक के सम्मुख, बिना उस ग्रंथ के पढ़े ही, उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार समालोचना से उचित, उपयोगी पुस्तकों के चुनाव में भी लोगों को बड़ी सहायता मिलती है। इस प्रकार से सत्य समालोचना मान्य ग्रंथ को जीवन और बल देती है। ऐसे ग्रंथों की संख्या बढ़ाने में भी समालोचना परम पटु या समर्थ है, क्योंकि जब उसके द्वारा निकृष्ट ग्रन्थों का मान न होने पावेगा, तब श्रेष्ठ ग्रंथ आप ही अधिक बनेंगे। भविष्य के लेखकों और कवियों के लिए समालोचना गुरु का काम करती है, क्योंकि उन्हें वह यह सिखलाती है कि किस प्रकार की रचना अच्छी है, और सभ्य समाज में आदर पा सकती है। यदि कपूर और कपास श्वेत वर्ण होने के कारण ही एक मूल्य के माने जाने लगें, तो संसार में उपयोगी पदार्थों का बहुत शीघ्र अभाव हो जाय।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि किसी भी भाषा की उन्नति के लिए समालोचना-विभाग का पूर्ण होना परमावश्यक है, और जितना ही जिस समाज में समा-

लोचना का जार होगा, उतने ही उपयोगी, उत्कृष्ट ग्रंथ उस समाज में बनेंगे। अंग्रेजी की भारी उन्नति का एक बड़ा कारण समालोचनाओं का बाहुल्य है। आज हम देख रहे हैं कि हिन्दी में साधारण से साधारण ग्रन्थ तो प्रकाशित होकर धड़ल्ले से बिकते है, पर उत्कृष्ट ग्रंथ बहुधा जहाँ के तहाँ पड़े रहते हैं। उनका नाम तक कोई नहीं जानता। इसका कारण समालोचना का अभाव ही है।

यही सब सोच विचार कर हम समझते हैं कि इन एक सहस्र वर्ष के कवियों की रचनाओं को जीवन दान करने के लिए प्रत्येक लेखक का कर्तव्य है कि वह पक्षपात रहित मान्य समालोचनाओं द्वारा हिन्दी का भंडार भरे। लेकिन समालोचना का लिखना भी कोई साधारण काम नहीं है। वही मनुष्य समालोचना लिख सकता है, जो ग्रंथों को भली भाँति समझ सके, और उनके विषयों की अच्छी जानकारी तथा सहृदयता रखता हो। इस योग्यता और सहृदयता के अतिरिक्त समालोचक को मूल ग्रंथ का भली भाँति अध्ययन तथा मनन करने में यथेष्ट समय भी देना पड़ेगा। अतः प्रकट है कि अच्छे विद्वान् के सिवा कोई साधारण मनुष्य समालोचक नहीं हो सकता।

(हिन्दी-नवरत्न, पृष्ठ २८-२९)

३—काव्य का सत्य

प्रत्येक मनुष्य या काव्य उत्कृष्ट तभी होता है, जब वह सच्चा होता है। सच्ची कविता तभी बनती है, जब कवि जो उस पर बीते, अथवा जो उमगें उसके चित्त में उठें, या जो भाव उसके चित्त में भरे हों, उन्हीं का वर्णन करे। यदि कोई लपट मनुष्य वैराग्य कथन करने बैठेगा, तो वह सिवा चोरी के और क्या करेगा? उसके चित्त में वैराग्य का अभाव है। उसके चित्त-सागर को वैराग्य की तरंगों ने कभी चंचल नहीं किया। तब वह बेचारा अनुभव न होने पर भी वैराग्य के सच्चे भाव कहाँ से लाकर वर्णन करे? यदि वह हठात् लिखने बैठ ही जायगा, तो वैराग्य के विषय में उसने इधर-उधर से जो कुछ सुन लिया होगा, वही कह चलेगा। ऐसी दशा में उसकी कविता में सिवा नकल के कोई असली भाव न आवेगा। ऐसे ही काव्य को निर्जीव कहना पड़ता है।

इसके विपरीत जो मनुष्य सचमुच विरक्त है, उसके चित्त में वैराग्य सम्बन्धी असली भाव उठेंगे, और जब उनका वर्णन होगा तभी कविता असली और सजीव होगी इसी कारण उर्दू के कवियों में यह कहावत प्रचलित है कि जब कोई शिष्य किसी उस्ताद से शायरी सिखलाने को कहता था, तो उस्ताद पहले यही कहता था कि जाओ आशिक़ हो जाओ। असली भावों की ही कविता ऐसी बनती है कि श्रोता को बरबस कहना पड़ता है—"थारी कविता में मूल्यो लाग्यो।"

(हिन्दी नवरत्न, २३१-३२)

कन्हैयालाल पोद्दार

[जन्म—सन् १८७१]

ग्रन्थ—साहित्य-समीक्षा, रसमंजरी

भक्ति रस है या भाव ?

यों तो स्थायी भाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव, 'भाव' ही कहे जाते हैं। किन्तु रस के साथ जिस 'भाव' शब्द का प्रयोग होता है, वह भाव संज्ञा, स्थायी एवं व्यभिचारिभावों की एक विशेष संज्ञा है। और स्थायी और व्यभिचारिभावों को यह विशेष 'भाव' संज्ञा किस अवस्था में प्राप्त होती है, इसके विषय में आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में लिखा है—

"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः
भावः प्रोक्तः।"

अर्थात् (१) देवता, गुरु, मुनि, राजा और पुत्र आदि जहाँ रति (प्रेम) के आलम्बन होते हैं या यों कहिये कि जहाँ उनके विषय में यथायोग्य भक्ति, प्रेम, अनुराग, श्रद्धा, पूज्य भाव, वात्सल्य और स्नेह होता है, वहाँ उस रति को, चाहे वह विभावादि से पुष्ट हो अथवा अपुष्ट, 'भाव' संज्ञा है। और—

(२) जहाँ रति आदि भाव उद्बुद्ध हो अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों से वह परिपुष्ट न किये गये हो, वहाँ भी रति आदि स्थायी भावों को 'भाव' संज्ञा है। तथा—

(३) निर्वेद आदि व्यभिचारि भाव जहाँ प्रधानता से व्यञ्जित (प्रतीत) होते हैं, वहाँ व्यभिचारि भावों की भी भाव संज्ञा है।

जब 'रति' स्थायी भाव की अवस्था में, विभावादि से परिपुष्ट होकर रस में परिणत हो जाती है तब उसे शृङ्गार रस माना है। निष्कर्ष यह है कि रति की दो अवस्था-भेद से रस और भाव दो संज्ञाएँ हैं, उसका कारण आलम्बन-भेद है। अर्थात् जहाँ 'रति' (प्रेम) के आलम्बन परस्पर में अनुरक्त स्त्री पुरुष होते हैं, उस विभावादि से परिपुष्ट रति को शृङ्गार रस की संज्ञा दी गई है। और जहाँ 'रति' देवता, गुरु और पुत्रादि के विषय में होती है अर्थात् देव, गुरु, आदि प्रेम के आलम्बन होते हैं, वहाँ उसी 'रति' को 'भाव' संज्ञा दी गई है और 'देव'-विषयक जो 'रति' (प्रेम) भाव है उसे भक्ति कह सकते हैं।

यह विचारणीय है कि देव-विषयक रति को (अर्थात् भक्ति को) सर्व प्रथम 'भाव' संज्ञा कब और किसके द्वारा दी गई है ? जहाँ तक हमने अनुसंधान किया है,

साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों में सबसे प्रथम आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में 'देवादि-विषयक-रति भाव' के अन्तर्गत भक्ति को 'भाव' संज्ञा दी है। मम्मट के पूर्ववर्ती रस सम्प्रदाय के प्राचीनतम आचार्य श्री भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में 'देव विषयक रति' के अर्थात् भक्ति के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं है। सम्भवतः भरत मुनि ने भक्ति को शान्त रस के अन्तर्गत माना हो क्योंकि उन्होंने शान्त रस से ही रति आदि अन्य भावों की अथवा शृङ्गार आदि सभी रसों की उत्पत्ति और अन्त में 'शान्त' रस में ही सब रसों का विलीन होना माना है—

'स्वं स्वं निमित्तमादाय शान्ताद्भाव प्रवर्तते,
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते।"

—नाट्य-शास्त्र ६, १०८।

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी नाट्य-शास्त्र की व्याख्या 'अभिनव भारती' में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

'तत्त्वज्ञानं तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीयं सर्वस्थायिभ्यः स्थायितममिति।'

—पृ० ३३७

अर्थात् तत्त्वज्ञान तो सम्पूर्ण भावों की भित्तिस्थान रूप है, अतः सभी स्थायी भावों में स्थायितम है। भरत मुनि द्वारा भक्ति रस को पृथक् न मानने के विषय में आचार्य अभिनवगुप्त का कहना है कि संसार से वैराग्य उत्पन्न होना आदि शान्त रस के जो विभाव, मोक्ष, शास्त्र का चिंतन आदि अनुभाव और निर्वेद, मति, स्मृति, धृति आदि व्यभिचारिभाव है, वे ही स्मृति, मति, धृति एवं उत्साह आदि भक्ति-रस के भी व्यभिचारी होते हैं, और ये शान्त रस के अन्तर्गत है यही कारण है कि भरतमुनि ने भक्ति को पृथक रस नहीं माना है।[1]

किन्तु, आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार की—

'रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः'।

—ध्वन्यालोक २।३

इस कारिका को अविकल उद्धृत कर उसमें 'भाव' शब्द की व्याख्या में भक्ति को देव-विषयक-रतिभाव के अन्तर्गत मान लिया है—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ॥
भावः प्रोक्तः।

काव्यप्रकाश ४।३५

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में श्री अभिनवगुप्ताचार्य के लिये बड़े आदर के साथ—'श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यपादाः' का

१. देखो अभिनवभारती व्याख्या, गायकवाड़ सीरीज, पृ० ३३४–३४०

प्रयोग किया है और उनके मत का सिद्धान्त-रूप से रस प्रकरण में उल्लेख किया है। अतएव प्रश्न होता है कि जब आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत मुनि के मतानुसार भक्ति को शान्तरस के अन्तर्गत बताया है, फिर आचार्य मम्मट ने उनके इस मत को स्वीकार न करके 'भक्ति' को 'भाव' संज्ञा क्यों प्रदान की है ? प्रश्न वस्तुत बड़ा मार्मिक और जटिल है। सम्भवतः इसका यह कारण था कि आचार्य मम्मट अपना स्वतन्त्र सिद्धान्त रखते थे। वे केवल साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् ही नहीं थे, किन्तु उत्कट समालोचक भी थे। *इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि उन्होंने अपने काव्य-प्रकाश के, काव्य के दोष-*प्रकरण में, अपने पूर्ववर्ती कालिदास आदि सुप्रसिद्ध महाकवियों के काव्यों के दूषणों का निस्संकोच उद्‌घाटन किया है। आचार्य मम्मट ध्वनिकार को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे और उनके मतानुयायी भी थे। तथापि आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार का दासवत् अनुसरण नहीं किया। रसों के विरोधाविरोध प्रकरण में ध्वनिकार ने लिखा है—

'विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ॥'

—ध्वन्यालोक ३।८६

अर्थात् सुकुमार-मति राजकुमार आदि को मधुरता-पूर्वक शिक्षा देने के लिये यदि शृङ्गार रस में उसके विरोधी रस का समावेश किया जाय तो दोष नहीं होता है। इसके उदाहरण-रूप में ध्वनिकार द्वारा दिये गये—

'सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः,
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ।'

इसी पद्य को उद्‌धृत कर आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार की इस प्रकार आलोचना की है—

'न तु विनेयोन्मुखीकरणमात्रपरिहारः।'

निष्कर्ष यह है कि आचार्य मम्मट ने भक्ति का शान्त रस के अन्तर्गत समावेश होना उचित नहीं समझा और इसीलिये उन्होंने आचार्य अभिनवगुप्त का अनुसरण नहीं किया।

भरत मुनि महाभारत के पूर्व-कालीन थे। वह औपनिषद् काल था। उस समय सम्भवत. भक्तिवाद प्रधान नहीं था अतएव भरत मुनि ने भक्तिरस को कोई महत्त्व नहीं दिया। परन्तु आचार्य मम्मट के समय में भक्तिवाद का प्रचुर प्रचार हो चुका था और सम्भवतः यही कारण था कि आचार्य मम्मट को साहित्य दृष्टि से भक्ति को पृथक् रस मानना आवश्यक प्रतीत हुआ। और उन्होंने शान्त रस के स्थायी भाव 'शम' या "वैराग्य" आदि को भक्ति के अनुकूल न समझकर 'भक्ति' को शान्त रस के अन्तर्गत

माना जाना भी उचित नहीं समझा और साथ ही उन्होंने भरत मुनि द्वारा निर्धारित रसों की नौ संख्या की मर्यादा को भी उलङ्घन करना उचित नहीं समझा। इसीलिए उन्होंने 'देव-विषयक रति' (भक्ति) को भावों के अन्तर्गत मानना उचित समझा। परिणाम यह हुआ कि गतानुगतिक-न्याय के अनुसार आचार्य मम्मट के आदर्श पर उनके परवर्ती सभी साहित्याचार्य भक्ति को भाव ही मानते चले आये हैं।

इस विषय पर रसगंगाधर में पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा किये गये विवेचन से भी यही सिद्ध होता है। उन्होंने पहले तो यह पूर्वपक्ष उठाया कि भक्ति को स्वतंत्र रस क्यों नहीं माना जाय? यदि भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट नौ रसों की संख्या में परिवर्तन किया जाना उचित न समझा जाय तो कामिनी-विषयक रति के स्थान पर भक्ति को नौ रसों में और कामिनी-विषयक रति को भावों में स्थान क्यों न दिया जाय? फिर इसके उत्तर में पण्डितराज ने यही कहा है कि ऐसा परिवर्तन करने में भरतमुनि द्वारा निर्धारित रस और भावों की व्यवस्था का उल्लङ्घन किया जाना उचित नहीं—

"भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातंत्र्यायोगात्। ......रसानां नवत्वगणनाच्च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत।" —रसगंगाधर पृष्ठ ५०

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि भक्ति को पृथक् रस न मानने का और उसे भाव के अन्तर्गत मानने का एकमात्र कारण साहित्यिक परिपाटी अथवा रूढ़ि मात्र है। वास्तव में शृङ्गारादि रसों की अपेक्षा—

'भक्ति' सर्वोपरि प्रधान रस है।

"रसो वै सः रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। आनन्दाद् ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्दादेव जातानि जीवन्ति॥"

इत्यादि श्रुति-प्रमाणों द्वारा और भगवान् वेदव्यास के

'परमं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्। वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दरसहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन। व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥

इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्मानन्द को ही रस के रसत्व का मूल आधार सभी साहित्याचार्यों ने स्वीकार किया है। साहित्याचार्यों ने रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर अर्थात् ब्रह्मानन्द के समान माना है। उनका मत है कि अज्ञान रूप आवरण से रहित जो चैतन्य है, उससे युक्त रति आदि स्थायी भाव ही 'रस' है। अथवा उपर्युक्त श्रुतियों के अनुसार रति आदि से युक्त और आवरण से रहित चैतन्य का नाम ही रस है—

"इत्थमभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिस्थायिभावो रस इति स्थितम्। वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः।"

विचारणीय यह है कि क्या शान्त रस के समान भक्ति-रस ब्रह्मानन्द-सहोदर नहीं है ? इस विषय में अद्वैत सिद्धि (वेदान्त-ग्रन्थ) के प्रणेता परमहंस परिव्राजक श्री मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—

समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात् ''''तस्मात्''''''भक्ति-योग पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादिति निर्विवादम् । —भक्ति रसायन ।

अर्थात् समाधिजन्य ब्रह्मानन्द और भक्तिरसानन्द समान है । यह तो हुआ, अद्वैत वीथी के पथिक अध्यात्मोपासकों का मत । और इस रसानन्द के अनुभवी ध्रुव कहते हैं—

"या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म—
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किंत्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥"
—श्रीमद्भागवत, ४।९।१०

अर्थात् हे नाथ, शरीरधारियों को आपके पादारविन्द के ध्यान द्वारा जो परमानन्द उपलब्ध होता है, अथवा आपके भक्तों से आपके कथा-श्रवण द्वारा प्राप्त होता है, वह परमानन्द समाधि-जन्य ब्रह्मानन्द में भी प्राप्त नहीं हो सकता है, फिर काल-रूपी खड्ग से कटकर गिरते हुए विमान से गिरने वाले स्वर्ग-वासियों को तो उपलब्ध ही कहाँ हो सकता है । इसी प्रकार वृत्रासुर के प्रति स्वर्गाधिप इन्द्र कहते हैं—

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे ।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः ॥
—श्रीमद्भागवत, ६।१२।२२

श्रीमद्भागवत के अनेक प्रसङ्गों में भक्ति-रसानन्द को ब्रह्मानन्द से बढ़कर कहा गया है । अविद्याग्रन्थियों से निर्मुक्त आत्माराम मुनिजनों को भी भक्ति-रसानन्द बलात् अपनी तरफ़ आकर्षित कर लेता है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे,
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥ १।७।१०

अतएव निर्विवाद सिद्ध होता है कि भक्ति रसानन्द सर्वोपरि है । इसके अतिरिक्त शृङ्गारादि अन्य रसों के स्थायी भाव और विभावादि लौकिक होते हैं, किन्तु भक्ति रस के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी सभी अलौकिक होते हैं । भक्ति रस के—

स्थायी भाव—भगवद्-विषयक अनुराग (रति) अलौकिक है।

आलम्बन विभाव—भगवान राम, कृष्ण आदि के अखिल विश्व-सौन्दर्य-निधि दिव्य विग्रह अलौकिक हैं।

अनुभाव—भगवान के अन्य प्रेम-जन्य अश्रु, रोमाञ्च आदि अलौकिक हैं।

व्यभिचारि-भाव—हर्ष, सुख, आवेग, चपलता, उन्माद, चिन्ता, दैन्य, धृति, स्मृति और मति आदि अलौकिक हैं। कहा है—

> क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
> नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥
>
> श्रीमद्भागवत ११।३।३२

दुःख और आश्चर्य है कि जिन साध्याभास शृङ्गारादि रसों में चिदानन्द के प्रकाश के स्फुरण मात्र से रसानुभूति होती है, उनको 'रस' संज्ञा दी गई है और जो साक्षात् चिदानन्दात्मक भक्ति-रस है, उसे 'रस' न मान कर 'भाव' माना गया है। यही क्यों, क्रोध, भय और जुगुप्सा आदि स्थायी भावों को (जो प्रत्यक्षतः सुख-विरोधी हैं) रौद्र, करुण, भयानक और बीभत्स 'रस' की संज्ञा दी गई है।

यदि यह कहा जाय कि भगवद्-विषयक प्रेम में आनन्द होने का क्या प्रमाण ? इसका यही उत्तर है कि (जिस प्रकार) शृङ्गारादि रसों के आस्वादन के प्रमाण के लिये साहित्याचार्य अनुभवी सहृदय जनों की ओर संकेत करते हैं, उसी प्रकार हमारा अनुरोध है कि यदि आपको शास्त्र प्रमाणों से सन्तोष नहीं होता है, तो भक्ति-रसास्वाद के लिए आप तदीय भक्तजनों से पूछिये और उन महानुभावों के सत्सङ्ग द्वारा आप स्वयं भी प्रत्यक्ष अनुभव करिये।

साहित्य-समीक्षा पृष्ठ ६६–७१

व्यंजना-शक्ति का प्रतिपादन

ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि काव्य में व्यंग्यार्थ ही सर्वोपरि पदार्थ है। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यंग्यार्थ का बोध होना व्यंजना-शक्ति के ही आश्रित है। किन्तु मीमांसक आदि व्यंजना का मानना अनावश्यक बताते हैं—वे अभिधा और लक्षणा ही मानते हैं। इस गम्भीर विषय पर ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश में विस्तृत विवेचना की गई है। व्यंजना-शक्ति के विरोधियों की सारी दलीलों का आचार्य मम्मट ने बड़ा ही मार्मिक खण्डन किया है। उसी को यहाँ संक्षेप में लिखा जाता है।

व्यंजना-शक्ति की आवश्यकता का अनुभव करने के लिए सर्वप्रथम ध्वनि के भेदों पर विचार करना चाहिए।

ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—अविवक्षित-वाच्य और विवक्षितान्यपर-वाच्य। अविवक्षित-वाच्य के नाम से ही स्पष्ट है कि जिस अभिधा के बल पर व्यंजना को निर्मूल करने का साहस किया जाता है, उस अभिधा के अभिधेयार्थ (वाच्यार्थ) का अविवक्षित-वाच्य ध्वनि में कुछ उपयोग ही नहीं होता। अविवक्षित-वाच्य के अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य में अभिधा का वाच्यार्थ, अनुपयोगी होने के कारण, दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है, जैसे 'कदली-कदली ही जु है' इत्यादि में[1]। और अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य में वाच्यार्थ सर्वदा ही छोड़ दिया जाता है, जैसे 'सुबरन फूलन की धरा' इत्यादि में[2]।

यदि यह कहा जाय कि अविवक्षित वाच्य ध्वनि में अभिधा का तो उपयोग नहीं होता है, परन्तु जब लक्षणा द्वारा व्यंग्यार्थ का प्रतिपादन हो सकता है, तब व्यंजना का आविष्कार करने की क्या आवश्यकता है ? हाँ, यह ध्वनि लक्षणा-मूला अवश्य है और इसमें प्रयोजनवती लक्षणा रहती है, किन्तु लक्षणा तो केवल लक्ष्यार्थ का ही बोध करा सकती है। लक्षणा में जो प्रयोजन-रूप व्यंग्यार्थ होता है, जिसके लिए लक्षणा की जाती है, उसका लक्षणा कदापि बोध नहीं करा सकती। जैसे—

'गंगा पर घर' उदाहरण में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। इसमें लक्षणा केवल 'गंगा' शब्द का लक्ष्यार्थ 'तट' बोध करा सकती है। जिस प्रयोजन के लिए (अपने निवास-स्थान में शीतलता और पवित्रता का आधिक्य सूचित करने के लिए) इस वाक्य का प्रयोग किया है, वह लक्षणा द्वारा बोध नहीं हो सकता। अर्थात् लक्षणा में जिसे प्रयोजन कहा जाता है वह व्यंग्यार्थ ही है और वह व्यंजना का

---

१. रसमंजरी पृष्ठ ८५।   २ वही पृष्ठ ९९।

व्यापार है। उस (प्रयोजन) का बोध केवल व्यंजना-शक्ति ही करा सकती है[1]। यदि 'गंगा पर घर' वाक्य में उक्त प्रयोजन न माना जायगा, तो वक्ता के ऐसे वाक्य कहने का अर्थ ही कुछ नहीं होगा। अतएव यह सिद्ध होता है कि व्यंग्यार्थ के बिना प्रयोजनवती लक्षणा नहीं हो सकती। और अविवक्षित वाच्य ध्वनि के व्यंग्यार्थ का चमत्कार व्यंजना पर ही निर्भर है।

'विवक्षितान्यपर वाच्य' ध्वनि में तो लक्षणा को कोई स्थान ही नहीं, क्योंकि इसमें वाच्यार्थ का बोध नहीं होता, और वाच्यार्थ के बोध के बिना लक्षणा हो नहीं सकती। हां, अभिधा का उपयोग इस ध्वनि में होता है, क्योंकि वाच्यार्थ विवक्षित रहता है, किन्तु वाच्यार्थ व्यंग्य-निष्ठ होता है। अर्थात् विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि के जो दो मुख्य भेद हैं, असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य और संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य, इनमें असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य तो रसभावादि हैं, वे न तो अभिधा के वाच्यार्थ ही हैं, और न लक्षणा के लक्ष्यार्थ। यदि वे वाच्यार्थ होते, तो रस अथवा शृंगार आदि शब्दों के कह देने मात्र से ही उनका आनन्दानुभव होना चाहिए था। पर ऐसा होता नहीं है। शृंगार-रस, शृंगार-रस कहने से ही कुछ आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता, प्रत्युत रस या शृंगार आदि शब्दों का प्रयोग किए बिना ही विभावादिकों के व्यंजन-व्यापार द्वारा रस का आनन्दानुभव होने लगता है।

यदि यह कहा जाय कि विभावादिकों के वाचक जो दुष्यन्त आदि शब्द हैं, उनके बिना उन विभावादिकों की प्रतीति नहीं होती, इसलिए रसादिकों को लक्षणा का लक्ष्यार्थ समझना चाहिए—व्यंजना की व्यर्थ ही कल्पना क्यों की जाय? इसका उत्तर यह है कि लक्षणा तो वहीं होती है, जहाँ मुख्यार्थ का बाध आदि तीन कारण होते हैं। किन्तु जहाँ रसादि व्यक्त होते हैं, वहाँ मुख्यार्थ का बाध आदि नहीं होते।

संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के शब्द शक्ति मूलक भेदों में अनेकार्थी शब्दों का प्रयोग होता है, अर्थात् जहाँ अनेकार्थी शब्द होते हैं, वहीं शब्द-शक्ति-मूलक संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य होता है। 'संयोग' आदि कारणों से अभिधा की शक्ति रुक जाने पर ही अनेकार्थ शब्दों का व्यंग्यार्थ व्यंजना द्वारा बोध होता है। अर्थ-शक्ति-मूलक भेदों में भी अभिधा वाच्यार्थ का बोध कराके हट जाती है। अतः वाच्यार्थ के पश्चात् जो वस्तु या अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, उसे अभिधा तो बोध करा ही नहीं सकती, और मुख्यार्थ का बाध न होने के कारण न वहाँ लक्षणा को ही स्थान मिल सकता है। ऐसी परिस्थिति में अर्थ शक्ति मूलक व्यंग्यार्थ का बोध कराने के लिए एक तीसरी शक्ति की अपेक्षा रहती है, और वह शक्ति व्यंजना के सिवा और कौन हो सकती है?

व्यंग्यार्थ के ज्ञान के लिए व्यंजना के माने जाने में और भी बहुत से कारण हैं—

१. रसमंजरी पृष्ठ ६०-६१।

पर्याय शब्द—समान अर्थ के बोधक शब्दों का अभिधेयार्थ सर्वत्र एक ही रहता है, *किन्तु व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।*

जैसे—

सोचनीय अब दो भए मिलन कपाली हेत;
कांतिमती वह ससिकला अब तू कांति-निकेत।

(कुमारसंभव से अनुवादित)

तपश्चर्या-रत पार्वतीजी के प्रति ब्रह्मचारी का कपट-वेष धारण किए हुए श्रीशंकर की यह उक्ति है—'हे पार्वती, कपाली के (मुण्डमाला धारण करने वाले शिव के) समागम की इच्छा के कारण अब दो—एक तो चन्द्रमा की वह कान्तिमयी *कला, और दूसरी नेत्रानन्द-दायिनी तू—शोचनीय दशा को प्राप्त हो गए हैं, अर्थात्* पहले चन्द्रमा की कला ही शोचनीय थी, अब तू भी हो गई है, क्योंकि तू भी उसी मार्ग की पथिक होकर कपाली के समागम की इच्छा कर रही है'। यहाँ 'कपाली' के स्थान पर यदि 'पिनाकी' आदि उसी अर्थ के बोधक शब्द रख दिए जाएँ, तो भी *वाच्यार्थ तो वही रहेगा—शंकर का बोधक ही होगा—पर 'कपाली' शब्द के प्रयोग* में जो 'अशुद्ध नरकपाल धारण करने वाला' कहकर श्रीशंकर का अपने को अस्पृश्य सूचित करना है, वह व्यंग्यार्थ व्यंजनावृत्ति द्वारा प्रतीत होता है, वह पर्याय शब्द से सूचित नहीं हो सकेगा। यदि व्यंजना न मानी जायगी, तो ऐसे पदों के प्रयोग में जो *काव्य का महत्व है, वह सर्वथा लुप्त हो जाता है*

प्रकरण, वक्ता, बोधव्य, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, संख्या और विषय आदि की वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की भिन्नता के कारण भी व्यंजना का माना जाना आवश्यक है। देखिए—

'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी को एक यही बोध होगा कि *'सूर्य अस्त हो गया'*—इसके सिवा दूसरा कोई वाच्यार्थ बोध नहीं हो सकता। *किन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरणादि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होता है।* यदि शत्रु पर आक्रमण करने के प्रकरण में सेनापति अपनी सेना के प्रति यह वाक्य कहेगा तो इसका व्यंग्यार्थ होगा 'शीघ्र धावा करो, यह मौका अच्छा है'। यदि अभिसार के प्रकरण में दूती यह वाक्य नायिका से कहेगी तो इसका व्यंग्यार्थ होगा कि अभिसार के लिए प्रस्तुत हो। *वासकसज्जा नायिका के प्रकरण में सखी के इस वाक्य में व्यंग्य* होगा कि 'तेरा पति आना ही चाहता है।' भृत्य के प्रति स्वामी के इस वाक्य में 'अब हमें काम करने से निवृत्त होना चाहिए' यह व्यंग्य होगा। शिष्य के प्रति गुरु के इस वाक्य में 'सन्ध्यादि कर्म करने चाहिए' यह व्यंग्य होगा। गोपालक के प्रति

गृहस्थ के इस वाक्य में 'गौओं को घर में ले आओ' यह व्यंग्य होगा। भृत्यों के प्रति दुकानदार के इस वाक्य में 'बिक्री की वस्तुओं को समेट कर रखो' यह व्यंग्य होगा। अपने साथियों के प्रति पथिक के इस वाक्य में 'अब कहीं विश्राम करना चाहिए' यह व्यंग्य होगा—इत्यादि इत्यादि। निष्कर्ष यह कि प्रकरण और वक्ता तथा बोद्धाओं की भिन्नता से एक ही वाक्य के भिन्न-भिन्न व्यंग्यार्थ होते हैं।

'अहो भगत निधरक विचर...'[1] इस पद्य में उस भक्त को निश्शंक आने को कहा गया है, अतः वाच्यार्थ विधि-रूप है। पर व्यंग्यार्थ में आने का निषेध है, अतः व्यंग्यार्थ निषेध-रूप है। 'कुच के तट चन्दन छूट्यो सबै....'[2] इस पद्य में वाच्यार्थ निषेध-रूप है, पर व्यंग्यार्थ विधि-रूप है। इसी प्रकार—

> पूछत हैं मतिमानन सों अन जे अति मत्सरता तें विहीन के।
> सेवन जोग बताओ नितंब गिरीन के हैं अथवा तरुनीन के?
> त्यौं चित ध्याइवे जोग है जोग वा भोग-विलास कहो रमनीन के?
> औ तन लाइबे जोग भभूत है के मृदु अंग हैं चन्द-मुखीन के?

ऐसे पद्यों में वाच्यार्थ संशयात्मक होता है। अर्थात् वाच्यार्थ द्वारा यह नहीं जाना जा सकता है कि यह किसी विरक्त की उक्ति है या किसी विलासी पुरुष की, किन्तु व्यंग्यार्थ द्वारा विरक्त वक्ता में शान्त-रस की ओर शृंगारी वक्ता में शृंगार-रस की व्यंजना निश्चयात्मक होती है।

और—

> दूती तू उपकारिनी तो सम हितू न और।
> अति सुकुमार शरीर में सहे जु क्षत हित-मोर॥

यहाँ वाच्यार्थ स्तुति-रूप है, और व्यंग्यार्थ निन्दा-रूप। ऐसे स्थलों में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में स्वरूप-भेद होने के कारण व्यंजना को मानना पड़ता है।

वाच्यार्थ प्रथम बोध हो जाता है, और व्यंग्यार्थ उसके पीछे प्रतीत होता है, अतः काल-भेद के कारण भी व्यंजना का मानना आवश्यक है।

वाच्यार्थ केवल शब्द ही में रहता है, किन्तु व्यंग्यार्थ शब्द, शब्द के एक अंश, शब्द के अर्थ और वर्णों की स्थापना विशेष में भी रहता है, जैसा 'ध्वनि' प्रकरण में स्पष्ट है। अतः आश्रय-भेद के कारण भी व्यंजना की आवश्यकता सिद्ध होती है।

वाच्यार्थ केवल व्याकरण आदि के ज्ञान-मात्र से ही हो सकता है, पर व्यंग्यार्थ केवल विशुद्ध प्रतिभा द्वारा काव्य-मार्मिकों को ही भासित हो सकता है—

---

१. रसमंजरी पृष्ठ   २. वही—पृष्ठ

'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ;
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ।'

(ध्वन्यालोक उ०, १-७)

अत यह निमित्त-भेद भी व्यजना का प्रतिपादन करता है।

वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ज्ञान होता है, पर व्यग्यार्थ से चमत्कार (आस्वादन का आनन्द) उत्पन्न होता है, अत यह कार्य-भेद भी व्यजना के मानने का एक कारण है।

और—

प्रिया अधर छत-युत निरखि किहिके होइ न रोष।
बरजत [redacted] स मधुप कमल सूंघत भई स दोष ॥[1]

इसमें वाच्यार्थ का विषय वह नायिका है, जिसके अधर पर क्षत दीख पडता था, और जिसे वह वाक्य कहा गया है। 'अधर को भ्रमर ने काटा है, उपपति ने नहीं' इस व्यग्य का विषय नायिका का पति है—उसी को सूचन करने के लिए यह व्यग्योक्ति है। 'मैं अपने चातुर्य से इसका अपराध छिपा रही हूँ' यह जो दूसरा व्यग्य है, उसका विषय पडोसिन है, क्योंकि यह बात पास में खडी हुई पडोसिन को व्यग्योक्ति से सूचन की गई है। और 'मैंने इसके अपराध का समाधान कर दिया' इस तीसरे व्यग्य का विषय नायिका की सपत्नी है। इस प्रकार वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ में विषय-भेद होने के कारण भी व्यजना का मानना परमावश्यक है। इसी प्रकार—

"मायके तें कब हौं कित ही निकसी न सदा घर ही महं खेली;
'बृंद' कहैं अब हौं मनभावती आइके खेलि हैं संग सहेली।
कालि ही कटक भूसन के लगि कटक आग कहा गति मेली ;
हौं बरजौं चित दे हित तें बन-कुंजन में जिन जाय अकेली।"

ये नायिका की सखी के वाक्य हैं। यहाँ वाच्यार्थ का विषय यह नायिका है, जिसके अगों पर उपनायक द्वारा किए गए नख-क्षत दीख पडते हैं। 'इसके अंगों में,

---

१. उपपति द्वारा अपनी कान्ता के अधर को दष्ट देखकर, विदेश से आए हुए नायक के कुपित होने पर नायिका की चतुर सखी का, उसे निरपराध सिद्ध करने के लिये, नायक को सुनाते हुए, यह चातुर्य गर्भित वाक्य है। हे सखि ! दतक्षत-युक्त अपनी प्रिया के अधर को देखकर किसे रोष नहीं होता ? यह तेरा ही दोष है, जो मेरे रोकने पर भी तूने उस कमल को सूंघ ही तो लिया जिसके भीतर भौंरा बैठा हुआ था, और उसने तेरे अधर पर व्रण कर दिया। अब अपने पति के कोप को सहन कर।

वन की कुंजों में, काँटे लग गए हैं (अर्थात् नख-क्षत नहीं है)'। इस व्यंग्यार्थ का विषय समीप में बैठा हुआ नायिका का पति है।

लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की विलक्षणता भी देखिए—

जिस लक्षणा-वृत्ति द्वारा लक्ष्यार्थ लक्षित होता है, वह लक्षणा मुख्यार्थ के बाध और मुख्यार्थ के सम्बन्ध आदि की अपेक्षा रखती है, किन्तु अभिधा-मूला व्यंजना में—विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में—मुख्यार्थ के बाध आदि की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि ध्वनि में वाच्य-अर्थ विवक्षित रहता है और उसके द्वारा ही व्यंग्य-अर्थ प्रतीत होता है।

जिस प्रकार व्यंग्य-अर्थ अनेक प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार लक्ष्यार्थ भी अनेक होते हैं, जैसे—'राम हौं कठोर हिय भुवन प्रसिद्ध मैं सो ' में 'राम हौं' का 'अनेक दुःखों को सहन करने वाला' लक्ष्यार्थ है।

और—

क्रूर निसाचर रावन ने निज दारुनता ही के जोग कियो वहि ;
उच्च कुलोचित तेरे हू जोग भिये ! रहिबो उत कुखन को सहि।
पै रघुवंस लजाइ कै चोर कहाइ वृथा बनवासन को गहि ;
प्रानन सौं रखि मोह या राम ने हा ! कछु प्रेम के जोग कियो नहिं।

इसमें वियोगी श्रीरामचन्द्र जी जनकनन्दिनी को उद्देश्य करके कहते हैं—'रावण ने तेरा हरण करके अपनी क्रूरता और नीचता के योग्य ही कार्य किया, और तू अपने धर्म पालन के कारण असह्य दुःख सहन कर रही है, वह भी उच्च कुलोत्पन्न तेरे योग्य ही है। किन्तु अपने प्राणों से मोह रखने वाले इस राम ने प्रेम का पालन नहीं किया'। वक्ता स्वयं राम है। अतः 'या राम ने' इस वाक्य में राम का अर्थ उपादान लक्षणा द्वारा 'कायर' होता है। इसी प्रकार—

दसहु दिसिन जाको सुजस भरत तात-सुर मातु;
तात कह्यो यह राम है त्रिभुवन-बस-विख्यातु।

(राघवानन्द-नाटक से अनूदित)

— रावण के प्रति बिभीषण की इस उक्ति में 'राम' पद का लक्ष्यार्थ है 'खर-दूषणादिकों का वध करने वाला'।

जिस प्रकार 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य में अनेक व्यंग्य सूचित होते हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों में 'राम' पद के लक्ष्यार्थ भी अनेक होते हैं। जैसे व्यंग्य के अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य आदि अनेक भेद होते हैं, वैसे ही लक्ष्यार्थ के भी अनेक भेद होते हैं। फिर लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद ही

१. रसमंजरी पृष्ठ ३२४

क्या है ? अतएव व्यंजना को लक्ष्यार्थ से पृथक् मानना अनावश्यक है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि लक्ष्यार्थ भी अनेक अवश्य हो सकते हैं, पर लक्ष्यार्थ, एक या एक से अधिक, वाच्यार्थ की तरह नियत (मर्यादित) रहता है। क्योंकि जिस अर्थ का वाच्य-अर्थ के साथ नियत सम्बन्ध नहीं होता, उसकी लक्षणा नहीं हो सकती। अर्थात् जिस प्रकार अनेकार्थी शब्द का अभिधा द्वारा एक ही वाच्य-अर्थ हो सकता है, उसी प्रकार लाक्षणिक शब्द भी उसी एक अर्थ को लक्ष्य करा सकता है, जो वाच्य अर्थ का नियत सम्बन्धी होता है। जैसे 'गंगा पर घर' में गंगा शब्द के प्रवाह-रूप वाच्य अर्थ का नियत (नित्य)[1] सम्बन्धी 'तट' है, अतः तट ही में गंगा शब्द की लक्षणा हो सकती है, अन्य किसी अर्थ में नहीं। इस प्रकार लक्ष्य-अर्थ भी वाच्य-अर्थ की तरह नियत-सम्बन्ध में होता है, पर व्यंग्य-अर्थ प्रकरण आदि के द्वारा (१) नियत-सम्बन्ध में, (२) अनियत-सम्बन्ध में, और (३) सम्बन्ध-सम्बन्ध में होता है। जैसे—'हौं इत सोवत सास उत' में 'इच्छानुकूल विहार' रूप एक ही व्यंग्य है, दूसरा कोई व्यंग्य नहीं, इसलिए यहाँ व्यंग्यार्थ का वाच्य के साथ नियत सम्बन्ध है। 'प्रिया अधर-छत-युत निरखि''' ' में विषय भेद से अनेक व्यंग्य-अर्थ हैं। इन व्यंग्यों का एक ही बाध्य या बोध्य नहीं है, पर भिन्न-भिन्न हैं, अतएव अनियत सम्बन्ध है। और—

> नाभि-कमल-थित विधिहिं लखि रति-विपरीत सुभाय।
> ढकि दाहिनो हरि-दृग कियो कमला सुरत उपाय।[2]

'हरि' पद से दक्षिण नेत्र की सूर्यरूपता व्यंग्य से सूचित होती है, क्योंकि पुराणों में विष्णु भगवान का दक्षिण नेत्र सूर्य-रूप और वाम नेत्र चन्द्र-रूप कहा गया है। दक्षिण नेत्र को ढक देने से सूर्य का अस्त होना दूसरा व्यंग्य सूचित होता है। सूर्यास्त पर कमल का सकुचित हो जाना तीसरा व्यंग्य है। कमल के सकुचित हो जाने पर ब्रह्मा का अदृश्य हो जाना यह चौथा व्यंग्य है। और ब्रह्मा के अदृश्य हो जाने पर लज्जा का कारण न रहने से प्रतिबन्ध-रहित विलास-रूप पाँचवाँ व्यंग्य है। यहाँ उत्तरोत्तर सम्बन्ध से व्यंग्य की प्रतीति होती है, अर्थात् एक व्यंग्य की प्रतीति हो जाने पर दूसरे व्यंग्य-अर्थ की प्रतीति होती जाती है, यही सम्बन्ध-सम्बन्धिता है। इस विवेचना से स्पष्ट है कि वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ विलक्षण है, और

---

१. प्रवाह के साथ तट का नित्य सम्बन्ध इसलिए है कि जल के प्रवाह का तट के साथ सर्वत्र सम्बन्ध रहता है।

२. विपरीत रति के समय विष्णु भगवान के नाभि-कमल पर ब्रह्मा जी को देखकर लक्ष्मीजी ने लज्जित होकर उनका (विष्णु का) दाहिना नेत्र अपने हाथ से ढककर अपने रहस्य-दर्शन-जन्य लज्जा की रक्षा कर ली।

व्यंग्यार्थ का बोध अभिधा और लक्षणा द्वारा नहीं हो सकता है। अतएव व्यंजना-शक्ति का मानना अनिवार्यतः आवश्यक है।

महिम भट्ट के मत का खण्डन

महिम भट्ट व्यंजना और ध्वनि-सिद्धान्त के कट्टर विरोधी हैं। इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन पर 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ लिखा है। इनका कहना है कि जिस व्यंजना-वृत्ति के आधार पर ध्वनि सिद्धान्त का विशाल भवन निर्माण किया गया है, वह व्यंजना पूर्व-सिद्ध अनुमान के अतिरिक्त कोई पृथक् पदार्थ नहीं है।

यहाँ यह समझ लेना उचित होगा कि 'अनुमान' किसे कहते हैं। अनुमान में साधन द्वारा साध्य सिद्ध किया जाता है। साधन कहते हैं हेतु या लिंग को—अनुमान किए जाने के कारण को, अर्थात् जिसके द्वारा अनुमान किया जाता है। साध्य या लिंगी उसे कहते हैं, जो अनुमान के ज्ञान का विषय हो, अर्थात् जिसका अनुमान किया जाय। जैसे धुएँ से अग्नि का अनुमान किया जाता है—'धुआँ' साधन (हेतु) है, और 'अग्नि' साध्य। क्योंकि धुएँ से यह अनुमान हो जाता है कि यहाँ धुआँ है, अतः यहाँ अग्नि भी है। अनुमान में व्याप्ति-सम्बन्ध रहता है, अर्थात् जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ वहाँ अग्नि भी अवश्य है। और यह व्याप्ति सम्बन्ध ही अनुमान है।

महिम भट्ट कहते हैं कि जिसे तुम व्यंजक कहते हो—जिसके द्वारा व्यंग्यार्थ का ज्ञान होना बतलाते हो—वह अनुमान का साधन (हेतु) है। अर्थात् जिस प्रकार धुएँ से अग्नि का अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे माने हुए व्यंजक शब्द या अर्थ से उस अर्थ का, जिसे तुम व्यंग्यार्थ मानते हो, अनुमान हो जाता है।

अपने मत की पुष्टि में महिम भट्ट ने वे ही अनेक पद्य, जो ध्वनिकार ने ध्वनि के उदाहरणों में दिखाए हैं, उद्धृत करके उनमें 'अनुमान' होना सिद्ध किया है। जैसे—

> अहो भगत निधरक विचर वह न स्वान इत आय।
> हन्यो ताहि जो रहत इहिं गोदा-तट मृगराय॥

यह पद्य किसी कुलटा स्त्री द्वारा उस धार्मिक व्यक्ति से कहा हुआ है, जो उस कुलटा के एकान्तस्थल में पुष्प लेने के लिए प्रतिदिन आया करता था। ध्वनिकार ने कहा है—'इस पद्य के वाच्यार्थ में कुत्ते से डरने वाले उस धार्मिक को, सिंह द्वारा कुत्ते के मारे जाने से, निश्शंक आने के लिए कुलटा कह रही है। किन्तु व्यंग्यार्थ में उस कुलटा ने उसे, सिंह का भय दिखाकर, आने का निषेध किया है। क्योंकि

जो व्यक्ति कुत्ते से भयभीत होता था वह उसी स्थान पर सिंह के रहने की बात सुनकर वहाँ जाने का किस प्रकार साहस कर सकता है। और यह निषेध व्यंग्यार्थ है।'

महिम भट्ट कहते हैं—'जिस वाच्यार्थ में निश्शंक आने के लिए कहा गया है, वह वाच्यार्थ ही न आने को कहने का साधन (हेतु) है, अर्थात् जिसको व्यंग्यार्थ बताया जाता है वह व्यंजना का व्यापार नहीं, किन्तु वाच्यार्थ द्वारा ही उसका अनुमान हो जाता है। जैसे, अग्नि का अनुमान करने के लिए धुएँ का होना हेतु है, उसी प्रकार सिंह के होने की सूचना देना आने के निषेध का हेतु है। इसी प्रकार की दलीलों से उन्होंने व्यंजना का खंडन किया है।

आचार्य मम्मट ने इन दलीलों का बड़ी सारगर्भित युक्तियों द्वारा खंडन किया है। श्री मम्मट कहते हैं—'सिंह का होना जो तुम अनुमान का हेतु बताते हो, वह अनैकान्तिक है—निश्चयात्मक नहीं। अनुमान वहीं हो सकता है, जहाँ हेतु निश्चयात्मक होता है। जैसे, अग्नि का अनुमान वहीं हो सकता है, जहाँ धुएँ का होना निश्चित है। यदि धुएँ के अस्तित्व में संशय है, तो अग्नि का अनुमान भी नहीं किया जा सकता। कुलटा द्वारा सिंह का होना बताए जाने में उस भक्त के वहाँ न आने का हेतु निश्चयात्मक नहीं है। क्योंकि गुरु या स्वामी की आज्ञा से या अपने किसी प्रेमी के अनुराग से अथवा ऐसे ही किसी विशेष कारण से डरपोक व्यक्ति का भी भय वाले स्थान पर जाना हो सकता है। अतएव यहाँ हेतु नहीं—हेतु का आभास है। फिर वहाँ पर सिंह का होना, न तो प्रत्यक्ष सिद्ध है, और न अनुमान सिद्ध ही। सिंह को बतलाने वाली एक कुलटा है, जिसका कथन आप्तवाक्य (सत्यवादी ऋषियों का वाक्य) नहीं हो सकता, प्रत्युत ऐसी स्त्रियों का झूठ बोलना तो स्वभाव सिद्ध है। अतएव वहाँ सिंह है या नहीं ? यह भी सन्देहास्पद है। इस प्रकार व्याप्ति-सम्बन्ध, जिसका होना अनुमान के लिए परमावश्यक है, सन्दिग्ध है। ऐसी अवस्था में अनुमान सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार महिम भट्ट के सभी आक्षेपों का समुचित उत्तर देकर श्रीमम्मटाचार्य ने यह भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि व्यंजना अवश्य है और उसका व्यापार व्यंग्यार्थ, अनुमान का विषय किसी भी प्रकार नहीं हो सकता।

रामचन्द्र शुक्ल

[समय—सन् १८८४-१९४० ई०]

ग्रन्थ—चिन्तामणि (भाग प्रथम तथा द्वितीय), रस मीमांसा, जायसी ग्रन्थावली, भ्रमर-गीत-सार, गोस्वामी तुलसीदास

१—अलंकार-अलंकार्य का भेद

अलंकार अलंकार्य का भेद मिट नहीं सकता। शब्द-शक्ति के प्रसंग में हम दिखा आए हैं कि उक्ति चाहे कितनी ही कल्पनामयी हो उसकी तह में कोई 'प्रस्तुत अर्थ' अवश्य ही होना चाहिए। इस अर्थ से या तो किसी तथ्य की या भाव की व्यंजना होगी। इस 'अर्थ' का पता लगाकर इस बात का निर्णय होगा कि व्यंजना ठीक हुई है या नहीं। अलंकारों (अर्थालंकारों) के भीतर भी कोई-न-कोई अर्थ व्यंग्य रहता है, चाहे उसे गौण ही कहिए। उदाहरण के लिए पन्तजी की ये पंक्तियाँ लीजिए—

"बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग-सी नित
इसी में था असीम अवसित।"

इसका प्रस्तुत अर्थ इस प्रकार कहा जा सकता है—'वह बालिका अपने बाल्य-जीवन के प्रवाह की सीमा के भीतर उछलती-कूदती थी। उसके उस बाल्य-जीवन में अत्यन्त अधिक और अनिर्वचनीय आनन्द प्रकट होता था।'

बिना इस प्रस्तुत अर्थ को सामने रखे, न तो कवि की उक्ति की समीचीनता की परीक्षा हो सकती है, न उसकी रमणीयता के स्थल ही सूचित किए जा सकते हैं। अब यह देखिए कि उक्त प्रस्तुत अर्थ को कवि की उक्ति सुन्दरता के साथ अच्छी तरह व्यंजित कर रही है या नहीं। पहले 'बाल्य-सरिता' यह रूपक लीजिए। कोई अवस्था स्थिर नहीं होती, प्रवाह-रूप में बहती चली जाती है, इससे साम्य ठीक है। अब नदी की मूर्त्त भावना का प्रभाव लीजिये। नदी की धारा देखने से स्वच्छन्दता, द्रुतगति, चपलता, उल्लास आदि की स्वभावतः भावना होती है, अतः प्रभाव भी वैसा ही रम्य है जैसा भोली-भाली स्वच्छ-हृदय प्रफुल्ल और चपल बालिका को देखने से पड़ता है। अतः कह सकते हैं कि यह रूपक समीचीन और रम्य है। बाल्यावस्था या कोई अवस्था हो उसकी दो सीमाएँ होती हैं—एक सीमा के पार व्यतीत अवस्था होती है दूसरी के पार आने वाली अवस्था। अतः 'दो कूलों' भी बहुत ठीक है। तरंग नदी की सीमा के भीतर ही उछलती है, बालिका भी बाल्यावस्था के बीच स्वच्छन्द क्रीड़ा करती है। अतः 'तरंग-सी' उपमा भी अच्छी है। असीम अर्थात् ब्रह्म अनन्त आनन्द-स्वरूप है और उस बालिका में भी अपरिमित आनन्द का आभास मिलता है अतः यह कहना ठीक ही है कि मानो उस ससीम बाल्य-जीवन के भीतर असीम आनन्द-स्वरूप ब्रह्म ही आ बैठा

है। इसलिए यह प्रतीयमान उत्प्रेक्षा भी अनूठी है क्योंकि इसके भीतर 'अधिक' अलंकार के वैचित्र्य की भी झलक है।

यह सब समीक्षा प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद समझ कर प्रस्तुत अर्थ को सामने रखने से ही सम्भव है।

(चिन्तामणि भाग २, पृष्ठ १८९-९१)

२—साधारणीकरण

जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है। यह सिद्धान्त यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।

(चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ २२७)

'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है। जिस व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति विशेष ही उपस्थित रहता है। हाँ, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति-विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती है। जैसे, यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृंगार-रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन-रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आएगी। यदि किसी से प्रेम न हुआ तो सुन्दरी की कोई कल्पित मूर्ति उसके मन में आएगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कल्पित मूर्ति भी विशेष ही होगी—व्यक्ति की ही होगी।

कल्पना में मूर्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में

एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह कि आलम्बन-रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है। विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं—इसका तात्पर्य यही है कि रस-मग्न पाठक के मन में यह भेद-भाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता।

(चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ २२६-३०)

३—रसात्मकता की दो कोटियाँ

'साधारणीकरण' के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव व्यंजना करने वाला पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है जिसमें आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप में आलम्बन-रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यंजना करता है। और श्रोता (या पाठक) उसी भाव का रस-रूप में अनुभव करता है। पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है। उसका भी विचार करना चाहिए। किसी भाव की व्यंजना करने वाला, कोई क्रिया व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) के किसी भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का आलम्बन होता है। इस दशा में श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र के हृदय से अलग रहता है—अर्थात् श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यंजना पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करने वाले उस पात्र के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है। यह दशा भी एक प्रकार की रस-दशा ही है—यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं रहता। जैसे, कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जगेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील द्रष्टा या प्रकृति द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।

(चिंतामणि भाग १, पृष्ठ २३०-३१)

४—प्रत्यक्ष रसानुभूति

हमारा कहना यह है कि जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलम्बनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलम्बनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलम्बनों के सम्बन्ध में लोक के साथ या कम से कम सहृदयों के साथ हमारा तादात्म्य रहता है। ऐसे विषयों या आलम्बनों के प्रति हमारा जो भाव रहता है वही भाव और भी बहुत से उपस्थित मनुष्यों का रहता है। वे हमारे और लोक के सामान्य आलम्बन रहते हैं। साधारणीकरण के प्रभाव से काव्य श्रवण के समय व्यक्तित्व का जैसा परिहार हो जाता है वैसा ही प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति के समय भी कुछ दशाओं में होता है। अतः इस प्रकार की प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अन्तर्गत मानने में कोई बाधा नहीं। मनुष्य-जाति के सामान्य आलम्बनों के आँखों के सामने उपस्थित होने पर यदि हम उनके प्रति अपना भाव व्यक्त करेंगे तो दूसरों के हृदय भी उस भाव की अनुभूति में योग देंगे और यदि दूसरे लोग भाव-व्यक्त करेंगे तो हमारा हृदय योग देगा। इसके लिए आवश्यक इतना ही है कि हमारी आँखों के सामने जो विषय उपस्थित हों वे मनुष्य मात्र—सहृदय मात्र—के भावात्मक सत्त्व पर प्रभाव डालने वाले हों। रस में पूर्णतया मग्न करने के लिए काव्य में भी यह आवश्यक होता है। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक रस में पूर्णतया लीन करने की शक्ति उसमें नहीं होती। किसी काव्य में वर्णित किसी पात्र का किसी अत्यन्त कुरूप और दुःशील स्त्री पर प्रेम हो सकता है, पर उस स्त्री के वर्णन द्वारा शृंगार रस का आलम्बन नहीं खड़ा हो सकता। अतः वह काव्य भाव-व्यंजक मात्र होगा, विभाव का प्रतिष्ठापक कभी नहीं होगा। उसमें विभावन व्यापार हो ही न सकेगा। इसी प्रकार रौद्र रस के वर्णन में जब तक आलम्बन का चित्रण इस रूप में न होगा कि वह मनुष्य मात्र के क्रोध का पात्र हो सके तब तक वह वर्णन भाव-व्यंजक मात्र रहेगा, उसका विभाव-पक्ष या तो शून्य होगा अथवा अशक्त। पर भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना रस में पूर्ण मग्नता हो नहीं सकती। अतः केवल भाव-व्यंजक काव्यों में होता यह है कि पाठक या श्रोता अपनी ओर से अपनी कल्पना और रुचि के अनुसार आलम्बन का आरोप या आक्षेप किए रहता है।

जैसा कि ऊपर कह आए हैं रसात्मक अनुभूति के दो लक्षण ठहराए गए हैं.

(१) अनुभूति-काल में अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार और

(२) किसी भाव के आलम्बन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात्

उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।

यदि हम इन दोनों बातों को प्रत्यक्ष उपस्थित आलम्बनों के प्रति जगने वाले भावों की अनुभूतियों पर घटा कर देखते हैं तो पता चलता है कि कुछ भावों में तो ये बातें कुछ ही दशाओं में या कुछ अंशों तक घटित होती हैं और कुछ में बहुत दूर तक या बराबर।

(*चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ २४७-४६*)

\+ \+ \+

अब प्रकृति के नाना रूपों पर आइए। अनेक प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों को सामने प्रत्यक्ष देख हम जिस मधुर भावना का अनुभव करते हैं क्या उसे रसात्मक न मानना चाहिए? जिस समय दूर तक फैले हरे-भरे टीलों के बीच से घूम-घूम कर बहते हुए स्वच्छ नालों, इधर-उधर उभरी हुई बेडौल चट्टानों और रंग-बिरंगे फूलों से गुथी हुई झाड़ियों की रमणीयता में हमारा मन रमा रहता है, उस समय स्वार्थमय जीवन की शुष्कता और विरसता से हमारा मन कितनी दूर रहता है! यह रस दशा नहीं तो और क्या है? उस समय हम विश्व-काव्य के एक पृष्ठ के पाठक के रूप में रहते हैं। इस अनन्त दृश्य-काव्य के हम सदा कठपुतली की तरह काम करने वाले अभिनेता ही नहीं बने रहते, कभी-कभी सहृदय दर्शक की हैसियत को भी पहुँच जाते हैं। *जो इस दशा को नहीं पहुँचते उनका हृदय बहुत संकुचित या निम्न कोटि का होता है।* कविता उनसे बहुत दूर की वस्तु होती है, कवि वे भले ही समझे जाते हों। शब्द-काव्य की सिद्धि के लिए वस्तु-काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है। हमारे यहाँ के आचार्यों ने स्पष्ट सूचित कर दिया है कि वासनारूप में स्थित भाव ही रसरूप में जगा करते हैं। यह वासना या संस्कार वंशानुक्रम से चली आती हुई दीर्घ भाव-परंपरा का मनुष्य-जाति की अन्तःप्रकृति में निहित संचय है।

(चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ २५२-५३)

५—काव्य के विभाग

कुछ कवि और भक्त तो जिस प्रकार आनन्द-मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख-सौंदर्यमय माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम-व्यापार इत्यादि उपभोग-पक्ष की ओर आकर्षित होते हैं उसी प्रकार आनन्द-मंगल की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर पीड़ा, बाधा, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी उत्साह

क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गति-विधि में भी पूरी रमणीयता देखते हैं। जिस प्रकार प्रकाश को फैला हुआ देख कर मुग्ध होते हैं उसी प्रकार फैलने के पूर्व उसका अंधकार को हटाना देखकर भी। ये ही पूर्ण कवि हैं, क्योंकि जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर ये सौंदर्य का साक्षात्कार करते हैं। साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को ग्रहण करने वाले कुछ ऐसे कवि भी होते हैं जिनका मन सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष की ओर नहीं जाता, जैसे, भूषण। इसी प्रकार कुछ कवि या भावुक आनन्द के केवल सिद्ध स्वरूप या उपभोग-पक्ष में ही अपनी वृत्ति रमा सकते हैं। उनका मन सदा सुख-सौंदर्य-मय माधुर्य, दीप्ति, उल्लास, प्रेम, क्रीड़ा इत्यादि के प्राचुर्य ही की भावना में लगता है। इसी प्रकार की भावना या कल्पना उन्हें कला-क्षेत्र के भीतर समझ पड़ती है।

उपर्युक्त दृष्टि से हम काव्यों के दो विभाग कर सकते हैं—

(१) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले।

(२) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले।

डटन (थिओडर वाट्स-डटन) ने जिसे शक्ति-काव्य (पोयेट्री एज एन एनर्जी) कहा है वह हमारे प्रथम प्रकार के अन्तर्गत आ जाता है जिसमें लोक-प्रवृत्ति को परिचालित करने वाला प्रभाव होता है, जो पाठकों या श्रोताओं के हृदय में भावों की स्थायी प्रेरणा उत्पन्न कर सकता है। पर डटन ने शक्ति-काव्य से भिन्न को जो कला-काव्य (पोयेट्री एज एन आर्ट) कहा है वह कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन मान कर। वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों में भी अपेक्षित है। साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में भी यदि कला में चूक हुई तो लोक गति को परिचालित करने वाला स्थायी प्रभाव न उत्पन्न हो सकेगा। यहीं तक नहीं, व्यंजित भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति या साधारणीकरण तक, जो रस की पूर्ण अनुभूति के लिये आवश्यक है, न हो सकेगा। यदि 'कला' का वही अर्थ लेना है जो कामशास्त्र की चौंसठ कलाओं में है—अर्थात् मनोरंजन या उपभोग मात्र का विधायक—तो काव्य के सम्बन्ध में दूर ही से इस शब्द को नमस्कार करना चाहिए।

(रस-मीमांसा, पृष्ठ ५६-५८)

\+ \+ \+

जैसा ऊपर कह आए हैं, मंगल-अमंगल के द्वन्द्व में कवि लोग अन्त में मंगल-शक्ति की जो सफलता दिखा दिया करते हैं उसमें सदा शिक्षावाद (डिडैक्टिज्म) या अस्वाभाविकता की गन्ध समझ कर नाक-भौं सिकोड़ना ठीक नहीं। अस्वाभाविकता तभी आएगी जब बीच का विधान ठीक न होगा अर्थात् जब प्रत्येक अवसर पर सत्पात्र

सफल और दुष्ट पात्र विफल या ध्वस्त दिखाए जायँगे। पर सच्चे कवि ऐसा कभी नहीं करते। इस जगत् में अधर्म प्रायः दुर्दमनीय शक्ति प्राप्त करता है जिसके सामने धर्म की शक्ति बार-बार उठकर व्यर्थ होती रहती है। कवि जहाँ मंगल-शक्ति की सफलता दिखाता है वहाँ कला की दृष्टि से सौंदर्य का प्रभाव डालने के लिये, धर्म-शासक की हैसियत से डराने के लिये नहीं कि यदि ऐसा करोगे तो ऐसा फल पाओगे। कवि कर्म-सौंदर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अन्तःप्रकृति में उत्पन्न करता है, उसका उपदेश नहीं देता।

कवि सौन्दर्य से प्रभावित रहता है और दूसरों को भी प्रभावित करना चाहता है। किसी रहस्यमयी प्रेरणा से उसकी कल्पना में कई प्रकार के सौन्दर्यों का जो मेल आप से आप हो जाया करता है उसे पाठक के सामने भी वह प्रायः रख देता है जिस पर कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसा मेल क्या संसार में बराबर देखा जाता है? मंगल-शक्ति के अधिष्ठान राम और कृष्ण जैसे पराक्रमशाली और धीर हैं वैसा ही उनका रूप-माधुर्य और उनका शील भी लोकोत्तर है। लोक-हृदय आकृति और गुण, सौन्दर्य और सुशीलता, एक ही अधिष्ठान में देखना चाहता है। इसी से 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' सामुद्रिक की यह उक्ति लोकोक्ति के रूप में चल पड़ी। 'नैषध' में नल हंस से कहते हैं—

न तुला विषये तवाकृतिर्न वचो वर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रिक-सार-मुद्रणा॥

(नैषधीय चरित, द्वितीय सर्ग, ५)

भीतरी और बाहरी सौंदर्य, रूप-सौंदर्य और कर्म सौंदर्य के मेल की यह आदत धीरोदात्त आदि भेद-निरूपण से बहुत पुरानी है और बिलकुल छूट भी नहीं सकती। यह हृदय की एक भीतरी वासना की तुष्टि के हेतु कला की रहस्यमयी प्रेरणा है।

(रस-मीमांसा, पृष्ठ ६१-६२)

\+ \+ \+

कर्म-सौन्दर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिये स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि-परम्परा बराबर करती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करने और कर्म-सौन्दर्य के एक दूसरे पक्ष में ही—केवल प्रेम और भ्रातृ-भाव के प्रदर्शन और आचरण में ही—काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टाल्सटाय के समय से चला है वह एकदेशीय है। दीन और असहाय जनता को निरन्तर पीड़ा पहुँचाते चले जाने वाले क्रूर आततायियों का उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और

प्रेम जताने तथा उनकी सेवा-सुश्रूषा करने में ही कर्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती, कर्म-क्षेत्र का एकमात्र सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्य कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।

(रस-मीमांसा, पृष्ठ ६४-६५)

६—काव्य का लक्ष्य

काव्य या कवि-कर्म के लक्ष्य को हम क्रम से तीन भागों में बाँट सकते हैं—

(१) शब्द-विन्यास द्वारा श्रोता का ध्यान आकर्षित करना।

(२) भावों का स्वरूप प्रत्यक्ष करना।

(३) नाना पदार्थों के साथ उनका प्रकृत सम्बन्ध प्रत्यक्ष करना। मेरी समझ में काव्य का अन्तिम लक्ष्य तीसरा है। यह दूसरी बात है कि अपनी शक्ति के अनुसार कोई पहली सीढ़ी पर रह जाता है, कोई दूसरी ही तक पहुँच पाता है। श्रोता के सम्बन्ध में यदि हम पहले दो विभागों का ही विचार करते हैं तो कविता केवल आनन्द या मनोरंजन की वस्तु प्रतीत होती है।

(रस-मीमांसा, पृष्ठ ८८)

× × ×

सच्चे काव्य में सहज भाव प्रधान होता है, आरोपित नहीं। उसमें कवि, पात्र और श्रोता तीनों के हृदय का समन्वय होता है जिससे काव्य का जो प्रकृत लक्ष्य है, पदार्थों के साथ भावों के प्रकृत सम्बन्ध का प्रत्यक्षीकरण-जगत् के साथ हमारी रागात्मिकता वृत्ति का सामंजस्य—वह सिद्ध हो जाता है। ऐसे ही काव्य अमर या चिरस्थायी होते हैं जिनमें मनुष्य मात्र अपने भावों के आलंबन पाते हैं।

जो काव्य न कवि की अनुभूति से सम्बन्ध रखते हैं न श्रोता की, उनमें केवल कल्पना और बुद्धि के सहारे भावों के स्वरूप का प्रदर्शन होता है। यदि हम किसी भाव के स्वरूप-प्रदर्शन मात्र का विचार करते हैं श्रोता के हृदय में उसके संचार का नहीं, तो कविता केवल ऊपरी दिल-बहलाव या मनोरंजन की वस्तु प्रतीत होती है और कवि का कार्य चित्रकार के कार्य से अधिक महत्त्व का नहीं जान पड़ता। जैसे चित्रकार नाना रंगों के मेल से पहले लोगों का ध्यान चित्र की ओर ले जाता है फिर आकार और भाव प्रदर्शित करके उनका मनोरंजन करता है वैसे ही कवि भी अपने सुन्दर और चटकीले शब्दों द्वारा श्रोता या पाठक को आकर्षित करता है, फिर किसी भाव का स्वरूप

दिखाकर बैठे-ठाले लोगों को एक प्रकार के आनन्द का अनुभव करा देता है।

(रस-मीमांसा, पृष्ठ ६७-६८)

७—प्रकृति-वर्णन और रस

मैं समझता हूं, अब यह दिखाने के लिये और अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं है कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रति-भाव के स्वतन्त्र आलम्बन हैं, उनमें सहृदयों के लिये सहज आकर्षण वर्तमान है। इन दृश्यों के अन्तर्गत जो वस्तुएँ और व्यापार होंगे उनमें जीवन के मूल स्वरूप और मूल परिस्थिति का आभास पाकर हमारी वृत्तियाँ तल्लीन होती हैं। जो व्यापार केवल मनुष्य की अधिक समुन्नत बुद्धि के परिणाम होंगे, जो उसके आदिम जीवन से बहुत इधर के होंगे, उनमें प्राकृतिक या पुरातन व्यापारों की-सी तल्लीन करने की शक्ति न होगी। जैसे, 'सीतल गुलाब-जल भरि चहबच्चन में' बैठे हुए कविजी की अपेक्षा तलैया के कीचड़ में बैठकर जीभ निकाल-निकाल हाँफते हुए कुत्ते का अधिक प्राकृतिक व्यापार कहा जायगा। इसी प्रकार शिशिर में दुशाला ओढ़े 'गुल-गुली गिलमें, गलीचा' बिछाकर बैठे हुए रईस से धूप में खपरैल पर बैठी बदन चाटती हुई बिल्ली में अधिक प्राकृतिक भाव है। पुतलीघर में एंजिन चलाते हुए देशी साहब की अपेक्षा खेत में हल चलाते हुए किसान में अधिक स्वाभाविक आकर्षण है। विश्वास न हो तो भवभूति और कालिदास से पूछ लीजिए।

जब कि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलम्बन हैं तब इस शंका के लिये कोई स्थान ही नहीं रहा कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन-सा रस है? जो-जो पदार्थ हमारे किसी-न किसी भाव के विषय हो सकते हैं उन सबका वर्णन रस के अन्तर्गत है, क्योंकि 'भाव' का ग्रहण भी रस के समान ही होता है। यदि रति-भाव के रस-दशा तक पहुँचने की योग्यता 'दाम्पत्य रति' में ही मानिए तो पूर्ण भाव के रूप में भी दृश्यों का वर्णन कवियों की रचनाओं में बराबर मिलता है। जैसे काव्य के किसी पात्र का यह कहना कि 'जब मैं इस पुराने आम के पेड़ को देखता हूँ तब इस बात का स्मरण हो आता है कि यह वही है जिसके नीचे मैं लड़कपन में बैठा करता था, और सारा शरीर पुलकित हो जाता है, मन एक अपूर्व भाव में मग्न हो जाता है।' विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट भाव-व्यंजना का उदाहरण होगा।

(रस-मीमांसा, पृष्ठ १४२-४३)

८—भाव

भाव उस विशेष रूप के चित्त-विकार को कहते हैं जिसके अन्तर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति का बोध और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा पूर्वापर सम्बद्ध सघटित हो। संक्षेप में—

प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम 'भाव' है।

मन के प्रत्येक वेग को भाव नहीं कह सकते, मन का वही वेग 'भाव' कहला सकता है जिसमें चेतना के भीतर आलम्बन आदि प्रत्यय रूप से प्रतिष्ठित होंगे।

मनोविज्ञानियों के अनुसार प्रधान भाव हैं—क्रोध, भय, हर्ष, शोक घृणा, आश्चर्य और जिज्ञासा। भाव विधान के भीतर जिस प्रकार प्रवृत्तियाँ हैं उसी प्रकार मनोवेग मात्र भी हैं जिन्हें आलम्बन प्रधान न होने के कारण हम 'भाव' नहीं कह सकते, जैसे चकपकाहट, घबराहट, सोने या टहलने को जी करना इत्यादि। इच्छा भी एक प्रकार का मनोवेग ही है, पर 'भाव' तक पहुँचता हुआ स्वतन्त्र विधान नहीं। उसका अपना कोई लक्ष्य नहीं होता, दूसरे भावों के लक्ष्य को लेकर यह चलता है। उसमें निश्चयात्मिका बुद्धि का योग अधिक होता है। उसमें दूरस्थ लक्ष्य या परिणाम की धारणा अधिक स्फुट होती है इससे वेग की मात्रा कम होती है। पर इस 'इच्छा' से स्थिति भेद के अनुसार कुछ सचारी भावों की उत्पत्ति होती है, जैसे इच्छा की पूर्ति के अच्छे लक्षण दिखाई देने पर आशा, पूर्ति में विलम्ब होने से व्याकुलता, पूर्ति न होने से नैराश्य, पूर्ति की ओर यथेष्ट अवसर न हो सकने पर विषाद इत्यादि।

(रस मीमांसा, पृष्ठ १६८-१६९)

९—भारतीय काव्य में प्रेम-पद्धति

(१) सबसे पहले उस प्रेम को लीजिए जो आदि-काव्य रामायण में दिखाया गया है। उसका विकास विवाह-सम्बन्ध हो जाने के पीछे और पूर्ण उत्कर्ष जीवन की विकट स्थितियों में दिखाई पड़ता है। राम के वन जाने की तैयारी के साथ ही सीता के प्रेम का स्फुरण होता है, सीता हरण होने पर राम के प्रेम की व्याप्ति सहसा फूटती हुई दिखाई पड़ती है। वन के जीवन में इस पारस्परिक प्रेम की आनन्द विधायिनी शक्ति लक्षित होती है और लंका की चढ़ाई में इसका तेज, साहस और पौरुष। यह प्रेम अत्यन्त स्वाभाविक, शुद्ध और निर्मल है। यह विलासिता या कामुकता के रूप में हमारे सामने नहीं आता बल्कि मनुष्य-जीवन के बीच एक मानसिक शक्ति के रूप में दिखाई पड़ता है। उभय पक्ष में सम होने पर भी नायक-पक्ष में यह कर्तव्य बुद्धि द्वारा कुछ संयत-सा दिखाई पड़ता है।

(२) दूसरे प्रकार का प्रेम विवाह के पूर्व का होता है, विवाह जिसका फल-स्वरूप होता है। इसमें नायक-नायिका संसार-क्षेत्र में घूमते-फिरते हुए कहीं—जैसे उपवन, नदी तट, वीथी इत्यादि में—एक दूसरे को देख मोहित होते हैं और दोनों में प्रीति हो जाती है। अधिकतर नायक की ओर से नायिका का प्रयत्न होता है। इसी प्रयत्न-काल में संयोग और विप्रलम्भ दोनों के अवसरों का सन्निवेश रहता है और विवाह हो जाने पर प्रायः कथा की समाप्ति हो जाती है। इसमें कहीं बाहर घूमते-फिरते साक्षात्कार होता है इससे मनुष्य के आदिम प्राकृतिक जीवन की स्वाभाविकता बनी रहती है। अभिज्ञान-शाकुन्तल, विक्रमोर्वशी आदि की कथा इसी प्रकार की है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने सीता और राम के प्रेम का आरम्भ विवाह से पूर्व दिखाने के लिए ही उनका जनक की वाटिका में परस्पर साक्षात्कार कराया है। पर साक्षात्कार और विवाह के बीच के थोड़े से अवकाश में परशुराम वाले झमेले को छोड़ प्रयत्न का कोई विस्तार दिखाई नहीं पड़ता। अतः रामकथा को इस दूसरे प्रकार की प्रेम-कथा का स्वरूप न प्राप्त हो सका।

(३) तीसरे प्रकार के प्रेम का उदय प्रायः राजाओं के अन्तःपुर, उद्यान आदि के भीतर भोग-विलास या रंग-रहस्य के रूप में दिखाया जाता है, जिसमें सपत्नियों के द्वेष, विदूषक आदि के हास-परिहास और राजाओं की स्त्रैणता आदि का दृश्य होता है। उत्तर काल के संस्कृत नाटकों में इसी प्रकार के पौरुषहीन, निःसार और विलासमय प्रेम का प्रायः वर्णन हुआ है, जैसे रत्नावली, प्रियदर्शिका, कर्पूरमंजरी इत्यादि में। इसमें नायक को कहीं बाहर वन, पर्वत आदि के बीच नहीं जाना पड़ता है, वह घर के भीतर ही लुकता-छिपता, चौकड़ी भरता दिखाया गया है।

(४) चौथे प्रकार का वह प्रेम है जो गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन आदि से बैठे बिठाए उत्पन्न होता है और नायक या नायिका को संयोग के लिये प्रयत्नवान करता है। उषा और अनिरुद्ध का प्रेम इसी प्रकार का समझिये जिसमें प्रयत्न स्त्री-जाति की ओर से होने के कारण कुछ अधिक विस्तार या उत्कर्ष नहीं प्राप्त कर सकता है। पर स्त्रियों का प्रयत्न भी यह विस्तार या उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है इसकी सूचना भारतेंदु ने 'पान में छाले पर, नाधिबे को नाले परे, तऊ लाल, लाले परे रावरे दरस को' द्वारा दिया है।

इन चार प्रकार के प्रेमों का वर्णन नए और पुराने भारतीय साहित्य में है। ध्यान देने की बात यह है कि विरह की व्याकुलता और असह्य वेदना स्त्रियों के मत्थे अधिक मढ़ी गई है। प्रेम के वेग की मात्रा स्त्रियों में अधिक दिखाई गई है। नायक के दिन-

दिन क्षीण होने, विरह-ताप में भस्म होने, सूख कर ठठरी होने के वर्णन में कवियों का जी उतना नहीं लगा है। बात यह है कि स्त्रियों की शृंगार-चेष्टा वर्णन करने में पुरुषों को जो आनन्द आता है, वह पुरुषों की दशा वर्णन करने में नहीं। इसी से स्त्रियों का विरह-वर्णन तो हिन्दी काव्य का एक प्रधान अंग ही बन गया। ऋतु-वर्णन केवल इसी की बदौलत रह गया।

(जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ २६-२७)

१०—प्रबन्ध-कल्पना

किसी प्रबन्ध-कल्पना पर और कुछ विचार करने के पहले यह देखना चाहिए कि कवि घटनाओं को किसी आदर्श परिणाम पर ले जाकर तोड़ना चाहता है अथवा यों ही स्वाभाविक गति पर छोड़ना चाहता है। यदि कवि का उद्देश्य सत् और असत् के परिणाम दिखाकर शिक्षा देना होगा तो वह प्रत्येक पात्र का परिणाम वैसा ही दिखाएगा जैसा न्याय नीति की दृष्टि से उसे उचित प्रतीत होगा। ऐसे नपे-तुले परिणाम काव्य-कला की दृष्टि से कुछ कृत्रिम जान पड़ते हैं।

"छार उठाइ लीन्ह एक मूठी। दीन्ह उठाइ विरिधिवी झूठी।"

प्रबन्ध-काव्य में मानव-जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की संबद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ-साथ हृदय को स्पर्श करने वाले, उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का समावेश होना चाहिए। इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता। उसके लिए घटना-चक्र के अन्तर्गत ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का प्रतिबिंबवत् चित्रण होना चाहिए जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरंगें उठाने में समर्थ हों। अतः कवि को कहीं तो घटना का संकोच करना पड़ता है और कहीं विस्तार।

घटना का संकुचित उल्लेख तो केवल इतिवृत्त मात्र होता है। उसमें एक-एक ब्योरे पर ध्यान नहीं दिया जाता और न पात्रों के हृदय की झलक दिखाई जाती है प्रबन्ध-काव्य के भीतर ऐसे स्थल रस-पूर्ण स्थलों की केवल परिस्थिति की सूचना देते हैं। इतिवृत्त-रूप इन वर्णनों के बिना उन परिस्थितियों का ठीक परिज्ञान नहीं हो सकता जिनके बीच पात्रों को देख कर श्रोता उनके हृदय की अवस्था का अपनी सहृदयता के अनुसार अनुमान करते हैं। यदि परिस्थिति के अनुकूल पात्र के भाव नहीं हैं तो विभाव, अनुभाव और संचारी द्वारा उनकी अत्यन्त विशद व्यंजना भी फीकी लगती है। प्रबन्ध और मुक्तक में यही बड़ा भारी भेद होता है। मुक्तक में किसी भाव की रस-पद्धति के अनुसार अच्छी व्यंजना हो गई, बस। पर प्रबन्ध में इस बात पर भी ध्यान रहना है

कि वह भाव परिस्थिति के अनुरूप है या नहीं। पात्र की परिस्थिति भी सहृदय श्रोता के हृदय में भाव का उद्बोधन करती है। उसके ऊपर से जब श्रोता के भाव के अनुकूल उसकी पूर्ण व्यंजना भी पात्र द्वारा हो जाती है तब रस की गहरी अनुभूति उत्पन्न होती है। "वनवासी राम स्वर्ण मृग को मार जब कुटी पर लौटे तब देखा कि सीता नहीं हैं" यह इतिवृत्त मात्र है, पर यह सहृदयों के हृदय को उस दुखानुभव की ओर प्रवृत्त कर देता है जिसकी व्यंजना राम ने अपने विरह-वाक्यों में की। इसी बात को ध्यान में रसकर विश्वनाथ ने कहा है कि प्रबन्ध के रस से नीरस पदों में भी रसवत्ता मानी जाती है—रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्तांगीकारात्।

जिनके प्रभाव से सारी कथा में रसात्मकता आ जाती है वे मनुष्य-जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल हैं जो कथा-प्रवाह के बीच-बीच में आते रहते हैं। यह समझिये कि काव्य में कथा-वस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुँचने के लिये होती है।

(जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ ६६-६७)

११—सम्बन्ध-निर्वाह

हमारे आचार्यों ने कथा-वस्तु दो प्रकार की कही है—आधिकारिक और प्रासंगिक। अतः सम्बन्ध-निर्वाह पर विचार करते समय सबसे पहले तो यह देखना चाहिये कि प्रासंगिक कथाओं का जोड़ आधिकारिक वस्तु के साथ अच्छी तरह मिला हुआ है या नहीं अर्थात् उनका आधिकारिक वस्तु के साथ ऐसा सम्बन्ध है या नहीं जिससे उसकी गति में कुछ सहायता पहुँचती हो। जो वृत्तान्त इस प्रकार सम्बद्ध न होंगे वे ऊपर से व्यर्थ ठूँसे हुए मालूम होंगे चाहे उनमें कितनी ही अधिक रसात्मकता हो। हितोपदेश में एक कथा के भीतर कोई जो दूसरी कथा कहने लगता है या अलिफलैला में एक कहानी के भीतर का कोई पात्र जो दूसरी कहानी छेड़ बैठता है वह मुख्य कथा-प्रवाह से सम्बद्ध नहीं की जा सकती।

यह तो हुई प्रासंगिक कथा की बात जिसमें प्रधान नायक के अतिरिक्त किसी अन्य का वृत्त रहता है। अब आधिकारिक वस्तु की योजना पर आइए। सबसे पहले तो यह प्रश्न उठता है कि प्रबन्ध-काव्य में कथा जीवनचरित के समान उन बातों का विवरण होना चाहिए जो नायक के जीवन में हुई हों। संस्कृत के प्रबन्ध-काव्यों को देखने से पता चलता है कि कुछ में तो इस प्रकार का विवरण होता है और कुछ में नहीं, कुछ की दृष्टि तो व्यक्ति पर होती है और कुछ की किसी प्रधान घटना पर। जिनकी दृष्टि व्यक्ति पर होती है उनमें नायक के जीवन की सारी मुख्य घटनाओं का वर्णन—

गौरव-वृद्धि या गौरव-रक्षा के ध्यान से अवश्य कहीं-कहीं कुछ उलट-फेर के साथ होता है। जिनकी दृष्टि किसी मुख्य घटना पर होती है उनका सारा वस्तु-विन्यास उस घटना के उपक्रम के रूप में होता है। प्रथम प्रकार के प्रबन्धों को हम व्यक्ति-प्रधान कह सकते हैं जिसके अन्तर्गत रघुवंश, बुद्धचरित, विक्रमाकदेवचरित आदि हैं। दूसरे प्रकार के घटना प्रधान प्रबन्धों के अन्तर्गत कुमारसंभव, किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध आदि हैं। पद्मावत को इसी दूसरे प्रकार के अन्तर्गत समझना चाहिए।

कहने की आवश्यकता नहीं कि दृश्य काव्य का स्वरूप भी घटना-प्रधान ही होता है। अतः इस प्रकार के प्रबन्ध के वस्तु-विन्यास की समीक्षा बहुत-कुछ दृश्य-काव्य के वस्तु विन्यास के समान ही होनी चाहिए। जैसे दृश्य काव्य का वैसे ही प्रत्येक घटना-प्रधान प्रबन्ध-काव्य का एक 'कार्य' होता है जिसके लिये घटनाओं का सारा आयोजन होता है, जैसे, रामचरित में रावण का वध। अतः घटना प्रधान प्रबन्ध-काव्य में उन्हीं वृत्तान्तों का सन्निवेश अपेक्षित होता है जो उस साध्य 'कार्य' के साधन-मार्ग में पड़ते हैं अर्थात् जिनका उस कार्य से सम्बन्ध होता है। प्राचीन यवन आचार्य अरस्तू ने इसका विचार अपने 'काव्य सिद्धान्त' के आठवें प्रकरण में किया है और यह अब भी पाश्चात्य समालोचकों में 'कार्यान्वय' (यूनिटि आफ एक्शन) के नाम से प्रसिद्ध है।

(जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ ७०-७१)

१२—चमत्कार-पद्धति और रस-पद्धति

यहाँ पर चमत्कार-पद्धति और रस-पद्धति में जो भेद है उसे स्पष्ट करने का थोड़ा प्रयत्न करना चाहिए। किसी वस्तु के वर्णन या किसी तथ्य के कथन में बुद्धि को दौड़ाकर यदि ऐसी वस्तु या प्रसंग की योजना की जाय जिसकी ओर प्रस्तुत वस्तु या प्रसंग के सम्बन्ध में श्रोता का ध्यान पहले कभी न गया हो और जो इस कारण बिलकुल नया या विलक्षण लगे तो एक प्रकार का कुतूहल उत्पन्न होगा। यही कुतूहल उत्पन्न करना चमत्कार का उद्देश्य है। रस-संचार के निमित्त जो कथन किया जाता है उसमें भी कभी-कभी साधारण से कुछ और ढंग पकड़ना पड़ता है (क्या ढंग पकड़ना पड़ता है इस पर और कभी विचार किया जायगा) पर उसमें यह उद्देश्य मुख्य नहीं होता कि जिस वस्तु या प्रसंग की योजना की जाय वह श्रोता को नया, विलक्षण या अनूठा लगे बल्कि अपने मर्मस्पर्शी स्वरूप के कारण भाव की गहरी व्यंजना करे या श्रोता के हृदय में वासना रूप में स्थित किसी भाव को जाग्रत करे। इस प्रकार विचार करने से कवि की उक्ति तीन प्रकार की हो सकती है—(१) जिसमें केवल चमत्कार या वैलक्षण्य हो, (२) जिसमें केवल रस या भावुकता हो, (३) जिसमें रस और चमत्कार दोनों हों।

इनमें से प्रकृत काव्य हम केवल पिछली दो उक्तियों में ही मान सकते हैं, प्रथम में केवल काव्याभास मानेंगे। यहाँ पर हमें प्रयोजन प्रथम और द्वितीय प्रकार की उक्ति से है। ऊपर बिहारी और रहीम के जिन दोहों का उल्लेख हुआ है वे जनसमाज में स्वीकृत साधारण तथ्यों को एक अनूठे ढंग से सामने रखते हैं। अब यह देखिए कि इनमें काव्य का प्रकृत स्वरूप किसमें है, किसमें नहीं। किसी तथ्य का कथन जब काव्य-पद्धति द्वारा किया जाता है तब उसकी सत्यता का निश्चय कराना विवक्षित नहीं रहता, बल्कि उस तथ्य के प्रति किसी स्वाभाविक भाव के अनुभव को तीव्र करना—जैसे, 'कनक, कनक तें सौगुनी' वाले दोहे में कवि धन के बुरे प्रभाव के कारण उसके प्रति श्रोता की तिरस्कार-बुद्धि जाग्रत करना चाहता है इसलिये धतूरे का उल्लेख करता है। इसी प्रकार 'बड़े पेट के भरन में' वाले दोहे में असन्तोष-जन्य दीनता के प्रति जो जुगुप्सा विवक्षित है वह हाथी ऐसे बड़े जानवर का दाँत निकालना लेकर उत्पन्न हो सकती है। इन दोनों उक्तियों की तह में कुछ भाव निहित हैं अतः हम इन्हें चमत्कार-प्रधान काव्य कह सकते हैं। इस प्रकार का काव्य रस-प्रधान काव्य की कोटि तक तो नहीं पहुँच सकता पर काव्य कहला सकता है।

जिसमें भाव का पता देने वाला अथवा भाव जाग्रत करने वाला कोई शब्द या वाक्य अथवा प्रस्तुत प्रसंग के प्रति किसी प्रकार का भाव उत्पन्न कराने में समर्थ अप्रस्तुत वस्तु या व्यापार न हो, केवल दूर की सूझ या शब्द-साम्य मूलक विलक्षणता हो वह उक्ति काव्याभास होगी। जैसे, मिस्सी लगे काले दाँतों को देखकर यह कहना कि 'मनो खेलत हैं सरिता हबसी के', दूर की सूझ या अनूठापन चाहे सूचित करे पर सौन्दर्य का भाव उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। दूर की सूझ दिखाने के लिये लोगों ने 'भानु मनौ सनि अंक लिए' तक कह डाला है पर उनकी यह सूझ वास्तव में दूर की नहीं है—उन पोथियों तक की है जिनमें ग्रहों का रंग लिखा रहता है। ऐसी भद्दी उक्तियाँ भी सूक्ति कहलाती हैं। सूक्ति कहलाएँ, पर इनका उत्तम काव्य कहा जाना तो रोकना चाहिए।

तथ्य-वर्णन में अब रहीम का 'ज्यों रहीम गति दीप की' वाला दूसरा दोहा लीजिए। इसमें कही हुई बात यह है कि कुपुत्र जब तक बच्चा रहता है तभी तक अच्छा लगता है, जब बढ़ता है तब दुःखदायी हो जाता है। 'बारे' और 'बाढ़े' शब्दों के श्लेष के आधार पर ही कवि ने दीपक का उल्लेख किया है। पर इस दीपक के व्यापार की योजना कपूत के प्रति विरक्ति आदि के अनुभव में कुछ जोर नहीं पहुँचाती। अतः इस दोहे में कोरा चमत्कार ही कहा जा सकता है। इसी चमत्कार के कारण हम इस

उक्ति को कोरा तथ्य-कथन न कहकर काव्याभास कहेंगे। काव्य का बाहरी रूप-रंग इसमें पूरा है, पर प्राण नहीं है। रहीम के कुछ ही दोहे ऐसे मिलेंगे। उनके दोहे भावुकता से भरे हुए हैं। पर नीति के अधिकांश दोहे (जैसे वृन्द के) काव्याभास ही के अन्तर्गत आ सकते हैं। (जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ १६२ ६४)

१३—काव्य में कल्पना का प्रयोग

काव्य-जगत् की रचना करने वाली कल्पना इसी को कहते हैं। किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप गढ़कर या काट-छाँट कर सामने रखने लगती है तब हम उसे सच्ची कवि-कल्पना कह सकते हैं। यों ही सिरपच्ची करके बिना किसी भाव में मग्न हुए—कुछ अनोखे रूप खड़े करना या कुछ को कुछ कहने लगना या तो बावलापन है, या दिमागी कसरत, सच्चे कवि की कल्पना नहीं। वास्तव के अतिरिक्त या वास्तव के स्थान पर जो रूप सामने लाए गए हों उनके सबंध में यह देखना चाहिए कि वे किसी भाव की उमंग में उस भाव को सँभालने वाले या बढ़ाने वाले होकर आ खड़े हुए हैं या यों ही तमाशा दिखाने के लिये—कुतूहल उत्पन्न करने के लिए—जबरदस्ती पकड़ कर लाए गए हैं। यदि ऐसे रूपों की तह में उनके प्रवर्तक या प्रपक भाव का पता लग जाय तो समझिए कि कवि के हृदय का पता लग गया और वे रूप हृदय प्रेरित हुए। अंग्रेज कवि कालरिज ने, जिसने कवि-कल्पना पर अच्छा विवेचन किया है, अपनी एक कविता में ऐसे रूपावरण को आनन्द-स्वरूप आत्मा से निकला हुआ कहा है, जिसके प्रभाव से जीवन में रोचकता रहती है। जब तक यह रूपावरण (कल्पना का) जीवन में साथ लगा चलता है तब तक दुःख की परिस्थिति में भी आनन्द-स्वप्न नहीं टूटता। पर धीरे-धीरे यह दिव्य आवरण हट जाता है और मन गिरने लगता है। भावोद्रेक और कल्पना में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक काव्य-मीमांसक ने दोनों को एक ही कहना ठीक समझ कर कह दिया—"कल्पना आनन्द है" (इमेजिनेशन इज जॉय)।

(भ्रमर-गीत-सार, पृष्ठ २८-२६)

१४—काव्य का स्वरूप

काव्य के दो स्वरूप हमें देखने में आते हैं—अनुकृत या प्रकृत (इमिटेटिव और रियलिस्टिक) तथा अतिरंजित या प्रगीत (एक्सेजेरेटिव और लिरिकल) कवि की भावुकता की सच्ची झलक वास्तव में प्रथम स्वरूप में ही मिलती है। जीवन के अनेक मर्म पक्षों की वास्तविक सहानुभूति जिसके हृदय में समय-समय पर जगती रहती है उसी से ऐसे रूप-व्यापार हमारे सामने लाते बनेगा जो हमें किसी भाव में मग्न करते हैं और

उसी से उस भाव की ऐसे स्वाभाविक रूप में व्यंजना भी हो सकती है जिसको सामान्यत: सबका हृदय अपना सकता है। अपनी व्यक्तिगत सत्ता को अलग भावना से हटाकर, निज के योग-क्षेम के सम्बन्ध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय-समय पर रमता रहता है, वही सच्चा कवि-हृदय है। सच्चे कवि वस्तु-व्यापार का चित्रण बहुत बढ़ा-चढ़ा और चटकीला कर सकते हैं, भावों की व्यंजना अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा सकते हैं, पर वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ते। उनके द्वारा अंकित वस्तु-व्यापार योजना इसी जगत् की होती है, उनके द्वारा भाव उसी रूप में व्यंजित होते हैं जिस रूप में उनकी अनुभूति जीवन में होती है या हो सकती है। भारतीय कवियों की मूल प्रवृत्ति वास्तविकता की ओर ही रही है। यहाँ काव्य जीवन-क्षेत्र में अलग खड़ा किया गया केवल तमाशा ही नहीं रहा है।

काव्य का दूसरा स्वरूप—अतिरंजित या प्रगीत—वस्तु-वर्णन तथा भाव-व्यंजना दोनों में पाया जाता है। कुछ कवियों की प्रवृत्ति रूपों और व्यापारों की ऐसी योजना की ओर होती है जैसी सृष्टि के भीतर नहीं दिखाई पड़ा करती। उनकी कल्पना कभी स्वर्ण-कमलों से कलित सुधा-सरोवर के कूलों पर मलयानिल-स्पंदित पाटलों के बीच विचरती है, कभी मरकत भूमि पर खड़े मुक्ता खचित प्रवाल-भवनों में पुष्पराग और नीलमणि के खंभों के बीच हीरे के सिंहासनों पर जा टिकती है, कभी सान्ध्य-प्रभात के कनक मेखला-मण्डित विविध वर्णमय घन-पटलों के परदे डालकर किसी तारक-खचित घनों के बीच बहती आकाश-गंगा में अवगाहन करती है। इस प्रकार की कुछ रूप-योजनाएँ प्राचीन आख्यानों में रूढ़ होकर पौराणिक (माइथोलोजिकल) हो गई हैं और मनुष्य की नाना जातियों के विश्वास से सम्बन्ध रखती हैं, जैसे, सुमेरु पर्वत, सूर्य-चन्द्र के पहिया वाला रथ, समुद्र-मन्थन, समुद्र-लंघन, सिर पर पहाड़ लादकर आकाश मार्ग से उड़ना इत्यादि। इन्हें काव्यगत अत्युक्ति या कल्पना की उड़ान के अन्तर्गत हम नहीं लेंगे।

काव्य में उपर्युक्त ढंग की रूप-व्यापार-योजना प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) दोनों पक्षों में पाई जाती है। कुछ कवियों का झुकाव दोनों पक्षों में अलौकिक या अतिरंजित की ओर रहता है और कुछ का केवल अप्रस्तुत पक्ष में, जैसे—'मखतूल के झूल झुलावत केशव भानु मनो शनि अंक लिए।"

भाव-व्यंजना के क्षेत्र में काव्य का अतिरंजित या प्रगीत स्वरूप अधिकतर मुक्तक पद्यों में—विशेषतः शृंगार या प्रेम-सम्बन्धी—पाया जाता है। कहीं विरह-ताप से सुलगते हुए शरीर से उठे धुएँ के कारण ही आकाश नीला दिखाई पड़ता है, कौवे काले हो

जाते हैं। कहीं रक्त के आँसुओं की बूँदें टेसू के फूलों, नई कोपलों और गुंजा के दानों के रूप में बिखरी दिखाई पड़ती हैं। कहीं जगत् को डुबाने वाले अश्रु-प्रवाह के खारेपन से समुद्र खारे हो जाते हैं। कहीं भस्मीभूत शरीर की राख का एक एक कण हवा के साथ उड़ता हुआ प्रिय के चरणों में लिपटना चाहता है। इसी प्रकार कहीं प्रिय का श्वास मलयानिल होकर लगता है, कहीं उसके अंग का स्पर्श कपूर के कर्दम या कमल-दलों की खाड़ी में ढकेल देता है।

(गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ५७-५९)

१५—अलंकार-विधान

भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है। अतः अलंकारों की परीक्षा हम इसी दृष्टि से करेंगे कि वे कहां तक उक्त प्रकार से सहायक हैं। यदि किसी वर्णन में उनसे इस प्रकार की कोई सहायता नहीं पहुँचती है, तो वे काव्यालंकार नहीं, भार मात्र हैं। यह ठीक है कि वाक्य की कुछ विलक्षणता—जैसे श्लेष और यमक—द्वारा श्रोता या पाठक का ध्यान आकर्षित करने के लिये भी अलंकार की थोड़ी-बहुत योजना होती है, पर उसे बहुत ही गौण समझना चाहिए। काव्य की प्रक्रिया के भीतर ऊपर कही बातों में से किसी एक में भी जिस अलंकार से सहायता पहुँचती है, उसे हम अच्छा कहेंगे और जिससे कई एक में एक साथ सहायता पहुँचती है, उसे बहुत उत्तम कहेंगे।

अलंकार के स्वरूप की ओर ध्यान देते ही इस बात का पता चल जाता है कि वह कथन की एक युक्ति या वर्णन-शैली मात्र है। यह शैली सर्वत्र काव्यालंकार नहीं कहला सकती। उपमा को ही लीजिए जिसका आधार होता है सादृश्य। यदि कहीं सादृश्य-योजना का उद्देश्य बोध कराना मात्र है तो काव्यालंकार नहीं। "नीलगाय गाय के सदृश होती है" इसे कोई अलंकार नहीं कहेगा। इसी प्रकार "एकरूप तुम भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ।" में भ्रम अलंकार नहीं है। केवल "वस्तुत्व" या "प्रमेयत्व" जिसमें हो, वह अलंकार नहीं। अलंकार में रमणीयता होनी चाहिए। चमत्कार न कहकर रमणीयता हम इसलिये कहते हैं कि चमत्कार के अन्तर्गत केवल भाव, रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष ही नहीं, शब्द-कौतुक और अलंकार-सामग्री की विलक्षणता भी ली जाती है। जैसे, बादल के स्तूपाकार टुकड़े के ऊपर निकले हुए चन्द्रमा को देख यदि कोई कहे कि "मानो ऊँट की पीठ पर घण्टा रखा हुआ है" तो कुछ लोग अलंकार-सामग्री की इस विलक्षणता पर—कवि की इस दूर की सूझ पर—ही वाह-

वाह करने लगेंगे। पर इस उत्प्रेक्षा से ऊपर लिखे प्रयोजनों में से एक भी सिद्ध नहीं होता बादल के ऊपर निकलते हुए चन्द्रमा को देख हृदय में स्वभावतः सौंदर्य की भावना उठती है। पर ऊँट पर रखा हुआ घण्टा कोई ऐसा सुन्दर दृश्य नहीं जिसकी योजना से सौन्दर्य के अनुभव में कुछ और वृद्धि हो। भावानुभव में वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलंकार की रमणीयता है।

अब गोस्वामीजी के कुछ अलंकारों को हम इस क्रम से लेते हैं—

(१) भावों की उत्कर्ष-व्यंजना में सहायक, (२) वस्तुओं के रूप (सौन्दर्य, भीषणत्व आदि) का अनुभव तीव्र करने में सहायक, (४) क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक।

गोस्वामी तुलसीदास (पृष्ठ १२७-२८)

श्यामसुन्दर दास

[समय—सन् १८७५-१९४५]

ग्रन्थ——साहित्यालोचन

१—साहित्य का स्वरूप

अँगरेजी के 'लिटरेचर' शब्द की भाँति हिन्दी का 'साहित्य' शब्द भी अब दो विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लगा है। बोलचाल की भाषा में हम किसी भी छपी हुई पुस्तक को साहित्य की संज्ञा देते हैं, यहाँ तक कि दवाइयों के साथ आने वाले छपे हुए पर्चे भी साहित्य कहलाते हैं। किन्तु, दूसरे और अधिक उपयुक्त अर्थ में साहित्य से उन्हीं पुस्तकों का बोध होता है जिनमें कला का समावेश है।

अधिकतर पुस्तकें पाठकों की ज्ञान-वृद्धि के लिये लिखी जाती हैं। इन पुस्तकों के लेखक का उद्देश्य पढ़ने वालों की जानकारी बढ़ाने का होता है। इतिहास लिखने वाले का आशय होता है कि लोग विगत काल की घटनाओं और महापुरुषों के विषय में कुछ जान जाएँ, भूगोल-सम्बन्धी पुस्तकों का लेखक पाठकों को संसार के विविध देशों का परिचय कराना चाहता है, और ज्योतिष-शास्त्र की पुस्तकें हमें ग्रहों और नक्षत्रों की अवस्था का ज्ञान कराती हैं। इसी प्रकार विज्ञान की जितनी पुस्तकें हैं सभी मनुष्य की जानकारी से सम्बन्ध रखती हैं और उसके ज्ञान की सीमा अधिक विस्तृत करती हैं। ये पुस्तकें, जिनका सम्बन्ध मनुष्य के ज्ञान मात्र से है, साहित्य की गणना में नहीं आतीं। साहित्य का उद्देश्य केवल मनुष्य के मस्तिष्क को सन्तुष्ट करना नहीं है, वह तो मनुष्य जीवन को अधिक सुखी और अधिक सुन्दर बनाने की चेष्टा करता है। साहित्य के सहारे मनुष्य जीवन के दुःख और संकटों को क्षण भर के लिये भूल सकता है, वह आपदाओं से भरे हुए वास्तविक संसार को छोड़कर कल्पना और भावना के सुन्दर लोक में भ्रमण कर सकता है। वास्तव में साहित्य की सीमा के अन्तर्गत उन्हीं पुस्तकों की गणना हो सकती है जो इस महान् उद्देश्य की पूर्ति करती हैं या इस पूर्ति के आदर्श को सामने रख कर लिखी गई हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे बेकारी के क्षण काटने के लिये जो कुछ भी लिख दिया जाय वह साहित्य हो जायगा। साहित्य और सुरुचि का अभेद्य सम्बन्ध है और 'साहित्य' को हमारी उस रुचि को तृप्त करने में

समर्थ होना चाहिए जिसको हम अपने या किसी दूसरे के सामने प्रकट करने में लज्जित न हो।'

'काव्य' शब्द का वही अर्थ है जो साहित्य शब्द का वास्तविक अर्थ है। साहित्य-दर्पणकार ने काव्य को 'रसात्मक वाक्य' बताया है अर्थात् काव्य के द्वारा पाठक अथवा श्रोता के चित्त में रस की उत्पत्ति होती है। रस की उत्पत्ति का अर्थ है मानन्दपूर्ण एक विशेष मानसिक अवस्था का उत्पन्न हो जाना। 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है' यह परिभाषा 'रस गंगाधर' नामक ग्रंथ की है। 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादन' का आशय है सौन्दर्य की सृष्टि करके पाठक तथा श्रोता के मन में आनन्द उत्पन्न करना। काव्य के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी प्रकार के ज्ञान की अवगति करावे। उसके लिये सबसे आवश्यक और विशेष बात यही है कि वह अपने विषय तथा वर्णन-शैली से पढ़ने वालों के हृदय में उस आनन्द का प्रवाह बहाए जो रसानुभव या रस-परिपाक से उत्पन्न है। अथवा दूसरे शब्दों में इस तरह कह सकते हैं कि काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनन्द या चमत्कार की सृष्टि करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य कला है और 'काव्य' शब्द साहित्य का समानार्थक है। बहुत से लोग काव्य को कविता के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि कविता काव्य का एक अंग मात्र है। कविता के अतिरिक्त अनेक प्रकार की रचनाएँ काव्य अथवा साहित्य की श्रेणी में आती हैं। किसी पुस्तक को हम साहित्य या काव्य की उपाधि तभी दे सकते हैं जब जो कुछ उसमें लिखा गया है वह कला के उद्देश्यों की पूर्ति करता है। यही एक मात्र उचित कसौटी है। साहित्य के अन्तर्गत कविता, नाटक, चम्पू, उपन्यास, आख्यायिकाएँ आदि सभी आ जाते हैं। ज्योतिष, गणित, व्याकरण, इतिहास, भूगोल, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, आदि के ग्रंथ साहित्य में परिगणित नहीं हो सकते।

मनुष्य स्वभाव से ही क्रियाशील प्राणी है, उसके लिये चुपचाप बैठा रहना असम्भव है। वह कुछ करने और कुछ उत्पन्न करने के लिये व्याकुल रहता है। मनुष्य-स्वभाव की एक और विशेषता यह है कि वह अपने को प्रकट किए बिना नहीं रह सकता। असभ्य से असभ्य जंगली लोगों से लेकर संसार के अत्यन्त सभ्य लोगों तक में अपने विचारों और मनोभावों को प्रकट करने की प्रबल इच्छा प्रस्तुत रहती है। मानव-स्वभाव की इन्हीं दोनों विशेषताओं की प्रेरणा से साहित्य का निर्माण होता है। साहित्य मन और स्वभाव की उपज है। इसलिये, जिन बातों का प्रभाव मनुष्य के स्वभाव और मनुष्य के जीवन पर पड़ता है उनका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता है।

(साहित्यालोचन, पृष्ठ ४२-४५)

२—कला और आचार-शास्त्र

सृष्टि के आदि में चाहे जो अवस्था रही हो, पर सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य के भले-बुरे का ज्ञान दृढ़ हुआ और इस प्रकार आचार मानव प्रकृति का एक अभिन्न अंग बन गया। सम्पूर्ण कला और साहित्य में मनुष्य के आचार की छाप पड़ी हुई है। मनुष्य की विवेक बुद्धि उसकी इच्छाओं को संयमित रखती है, जिससे उसकी भावनाएँ परिमार्जित होती जाती हैं। इन परिमार्जित भावनाओं से सम्पन्न कलाएँ भी सदैव मनुष्य-समाज की सद्वृत्तियों की प्रतिकृति होती हैं। जो देश अथवा जाति जितनी अधिक परिष्कृत तथा सभ्य होगी उसकी कला-कृतियाँ भी उतनी ही अधिक सुन्दर और सुष्ठु होंगी। इससे स्पष्ट है कि कला-निर्माण में आचार का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इस सम्बन्ध में कुछ ऐसे प्रवादों की सृष्टि की है जिससे भ्रम बढ़ रहा है। एक प्रवाद तो उस विद्वद्वर्ग का खड़ा किया हुआ है जो मनोविज्ञान-शास्त्र की जानकारी का गर्व रखता है और यह घोषणा करता है कि कविता और कलाएँ मनुष्य की कल्पना से निस्सृत होती हैं। कल्पना का विश्लेषण करते हुए इस सम्प्रदाय के विद्वान् बतलाते हैं कि वास्तविक जगत् में सभ्यता और समाज-व्यवस्था के कारण हमारी जो इच्छाएँ दबी रहती हैं वे ही कल्पना में आती हैं और कल्पना द्वारा कलाओं में व्यक्त होती हैं। कलाओं में शृंगार-रस का आधिक्य इस बात का प्रमाण बतलाया जाता है। मनोविश्लेषण करने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने शेली की कविताओं, माइकेल एंजिलो की कला-सृष्टि और शेक्सपियर के काव्य में भी इन्हीं दबी हुई इच्छाओं का उद्रेक दिखाया है। इस वर्ग के आचार्य फ्रायड नामक विद्वान् हैं जिन्होंने स्वप्न-विज्ञान के निर्माण करने की चेष्टा की है और यह सिद्धान्त उपस्थित किया है कि स्वप्न में मनुष्य की कल्पना और भावना उन दिशाओं की ओर जाती है जिन दिशाओं में वे समाज की दृष्टि के सामने नहीं जा पाती। फ्रायड महोदय के इसी स्वप्न-सिद्धान्त को कुछ विद्वान् कविता तथा कलाओं में भी चरितार्थ करते हैं। परन्तु इस प्रकार के अनोखे सिद्धान्त अधिकांश में अर्द्ध-सत्य ही होते हैं और कलाओं का अनिष्ट करने में सहायक बन सकते हैं। यदि यह स्वप्न सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय और काव्य तथा अन्य कलाओं में भी इसका अधिकार हो जाय तब तो कलाओं से आचार का बहिष्कार ही समझना चाहिए। परन्तु इस सिद्धान्त के अपवाद इतने प्रत्यक्ष हैं कि यह किसी प्रकार निर्भ्रान्त नहीं माना जा सकता। यदि कोई कवि या कलाकार किसी सुन्दर रमणी का चित्र अंकित करता है तो इसका यही आशय नहीं होता कि वह कल्पना-जगत् में अपनी विलास-वासना की पूर्ति करता है। अथवा वह किसी साधु-सन्त का चित्र अंकित करता है तो उसका सर्वथा यही तात्पर्य नहीं है कि वह स्वयं साधु-प्रकृति का और सदाचारी

है। संसार के श्रेष्ठ कलाकारों ने अनेक प्रकार की कला-सृष्टियाँ की हैं। स्वप्न-सिद्धान्त के अनुसार उनकी मनोवृत्ति की छानबीन करना फल-प्रद नहीं हो सकता। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि संसार की अब तक की श्रेष्ठ कला-कृतियाँ अधिकांश में विवेकवान् और आचारनिष्ठ पुरुषों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं।

विद्वानों का एक दूसरा दल यथार्थवाद के नाम पर भी बहुत-कुछ ऐसी ही बात करता है। मनुष्य के शरीर-संघटन का विश्लेषण करके ये विद्वान् यह मान लेते हैं कि उसकी मूल-वृत्तियाँ आहार, निद्रा आदि शारीरिक आवश्यकताओं की तृप्ति के लिये ही होती हैं। इनके अतिरिक्त मनुष्यों की जो अन्य उदात्त वृत्तियाँ होती हैं वे इतमूल नहीं हैं, केवल सभ्यता के निर्वाह के लिये हैं। हमारे भारतीय मनीषियों ने इस सिद्धान्त का सर्वदा विरोध किया है। उन्होंने मनुष्य और पशु का अन्तर समझा है और वे उच्च धार्मिक वृत्तियों के उन्नतिशील विकास का सदैव प्रयास करते रहे हैं। यदि पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार मनुष्य की मूल मनोवृत्तियाँ केवल शरीरजन्य हैं और उसकी अन्य उदात्त वृत्तियाँ मौलिक नहीं हैं तो भी ये यह स्वीकार करते हैं कि सभ्यता की आवश्यकताओं के अनुसार इनकी सृष्टि हुई है। यदि उनका कथन स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी सभ्यता की आवश्यकताएँ क्या कुछ कम महत्त्वपूर्ण हैं ? फिर विकासशील सभ्यता के पालन की आवश्यकता समझकर मनुष्य सदाचार का अभ्यास करता है और अभ्यास-परम्परा से वह आचार उसके शारीरिक तथा मानसिक संघटन का अविच्छेद्य अंग बन जाता है। फिर तो जिस प्रकार पंक से पंकज की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार शारीरिक वृत्तियों से मनुष्य की उदात्त वृत्तियों का उन्मेष होता है और कालान्तर में वे परम शोभन रूप धारण करती हैं।

विद्वानों का एक तीसरा वर्ग 'कला के लिये कला' का सिद्धान्त उपस्थित करता है और आचार को कला के बाहर की वस्तु ठहराता है। 'कला के लिये कला' के सिद्धान्त का अर्थ स्पष्ट न होने के कारण इस सम्बन्ध में बहुत-सी भ्रान्ति फैली हुई है। कला के विवेचन में तो हम भिन्न भिन्न कला-वस्तुओं का एक एक करके विवेचन कर सकते हैं, अथवा दो या अधिक कला-सृष्टियों की अलग अलग तुलना कर सकते हैं। उन कला-सृष्टियों के स्रष्टा भिन्न मनुष्य होते हैं और सब मनुष्यों के विकास की परिस्थितियाँ भी भिन्न भिन्न होती हैं। मनुष्य स्वयं एक अज्ञेय प्राणी है। वह अपनी परिस्थिति, देश-काल की परिस्थिति, सभ्यता, आचार, मनःशक्ति आदि का एक जटिल संघटित रूप है। जब वही मनुष्य कला-सृष्टि करता है तब उसके द्वारा उत्पन्न कला का विवेचन करने में इन सम्पूर्ण जटिलताओं पर ध्यान रखना पड़ता है। जब एक व्यक्ति की एक कला-सृष्टि में इतनी जटिलताएँ हैं तब तो संसार की सम्पूर्ण कला-कृतियों को लेकर

उसकी और उनका सृजन करने वालो की अपार भाव-भिन्नता की कोई सीमा ही नही मिल सकती। उस अवस्था में 'कला के लिये कला' का हमारे लिए केवल इतना ही अर्थ रह जाता है कि कला एक स्वतन्त्र सृष्टि है। कला-सौन्दर्य और कला-अभिव्यंजना के कुछ अपने नियम हैं। उन नियमो का पालन ही 'कला के लिये कला' कहला सकता है। कला के विवेचन में उन नियमो के पालन-अपालन के सम्बन्ध की चर्चा की जाती है और कला तथा साहित्य सम्बन्धी शास्त्रो में उन्ही नियमो का कोटि-क्रम उपस्थित किया जाता है। इसे कलाओं की विन्यास-पद्धति कहना चाहिए। इन नियमों का निरूपण कला के व्यक्तित्व को स्पष्ट करता है और मनुष्य के अन्य क्रिया-कलापों से उसकी पृथक्ता दिखाता है। कलाकार की ओर से आँखें हटाकर केवल उसकी कला वस्तु की परीक्षा की जाती है और इस परीक्षा में व्यापक कला-तत्त्व ही सामने आते हैं। आचार, सभ्यता और ससार के प्रश्न कला के लिये तात्त्विक नहीं हैं। वे तो एक-एक कला-कृति की अलग अलग विवेचना करने पर उपस्थित होते हैं। हमारे देश के साहित्य-शास्त्रियो ने 'कला के लिये कला' की समस्या को व्यापक रूप में देखा था और उनकी शास्त्रीय समीक्षा की पुस्तको में ऐसा ही व्यापक विचार है। पश्चिम में इसे लेकर बहुत-सी व्यर्थ की खींच-तान हुई है। किन्तु तथ्य इतना ही है कि वस्तु-रूप में कलाओं का प्रत्यक्षीकरण करते हुए आचार आदि के प्रश्न वास्तव में अन्तर्हित हो जाते हैं। इसका यह आशय कदापि नही है कि कला का आचार से कोई सम्बन्ध ही नहीं। आशय यही है कि कला-सम्बन्धी शास्त्र आचार-सम्बन्धी शास्त्र से भिन्न है।

(साहित्यालोचन, पृष्ठ ६-१२)

३—आलोचना के प्रकार

आधुनिक समालोचना चार प्रकार की मानी जाती है।

(१) सैद्धान्तिक (स्पेक्युलेटिव) समालोचना जिसमें साहित्यक के विभिन्न रूपों के विवेचन के द्वारा साहित्यिक सिद्धान्तो की स्थापना होती है।

(२) व्याख्यात्मक (इन्डक्टिव) समालोचना जिसमें साहित्यिक रचनाओं का विश्लेषण और व्याख्या की जाती है। इससे रचनात्मक साहित्य की विभिन्न कृतियों के वर्गीकरण और विकास में सहायता पहुँचती है।

(३) निर्णयात्मक (जुडिशियल) समालोचना जिसमें सामान्य सिद्धांतों के आधार पर साहित्यिक रचनाओं के महत्त्व का निर्णय किया जाता है।

(४) स्वतन्त्र अथवा आत्म प्रधान (सी आर सबजेक्टिव) आलोचना जिसमें आलोचक आलोच्य विषय की विवेचना करता हुआ उसमें इतना तल्लीन या उसके इतना विमुख हो जाता है कि विवेचन को छोड़कर भाव-लहरी में बह चलता है। आलोच्य रचना या विषय उसके भावों का आलम्बन बन जाती है। ऐसी आलोचनाएँ रचनात्मक साहित्य की कृतियाँ हो जाती हैं।

यद्यपि समालोचना में इन चारों अथवा एक से अधिक का मिश्रण पाया जाता है फिर भी तिल-तडुलवत् इनका स्वरूप भेद स्पष्ट है। आधुनिक समालोचना की यह विशेषता है कि वह विस्तृत अथवा सार्वदेशिक और सर्वकालीन साहित्य को अपना आधार बनाती है। यह बात प्राचीन अथवा परम्परामुक्त समालोचना में नहीं मिलती है। फलतः साहित्य के विस्तार के साथ ही साथ साहित्याभिरुचि भी व्यापक और प्रगतिशील होगई है।

इस विभाजन में से समालोचना का एक और स्थूल विभाजन हो सकता है—(१) शुद्ध सिद्धान्त, (२) उसका प्रयोग। काव्य-मीमांसा, काव्य प्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि ग्रंथ पहली प्रकार की समालोचना के उदाहरण हैं और सूर, तुलसी, जायसी, कबीर आदि पर विद्वानों की लिखी हुई समालोचनाएँ दूसरे वर्ग के अन्तर्गत हैं।

हम पहले शुद्ध सैद्धांतिक समालोचना पर ही विचार करते हैं, क्योंकि यही समालोचना का सामान्य—विशेष नहीं—और चिरंतन स्वरूप है, और सर्वदा ही साहित्य के विषय में तो सिद्धान्त स्थापन होता ही रहेगा। यह साहित्य और उसकी समालोचना के लिये एक प्रकार से सामान्य मापदंड उपस्थित करती है। प्रमेय वस्तुओं पर विचार करने के लिये पहले मापदण्ड चाहिए। अतः पहले इसी का विचार करना उचित है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस प्रकार की समालोचना सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना करती है। इसका विषय है साहित्य या काव्य के स्वरूप का विश्लेषण। साहित्य क्या है ? उसका लक्ष्य क्या है ? प्रत्यक्ष सामग्री को कला किस रूप में और किन माध्यमों से ग्रहण करती है ? इन प्रश्नों पर विचार करके कला के विषय में कुछ सम्मति निर्धारित करना इस प्रकार की समालोचना का विषय है। रचनात्मक साहित्य के दो पक्ष होते हैं। एक कवि का पक्ष और दूसरा श्रोता या पाठक का पक्ष। अतः काव्य क्या है, केवल इसी पक्ष पर नहीं बल्कि काव्य का अनुशीलन किस दृष्टि से और कैसा होना चाहिए, पाठक की साहित्याभिरुचि कैसी होनी चाहिए, परम्परामुक्त साहित्याभिरुचि में काव्य का अनुशीलन करने में क्या त्रुटियाँ होती हैं, कैसे प्रगतिशील

या विकासमयी साहित्याभिरुचि ही काव्यानुशीलन के लिये आवश्यक है और काव्य के साथ पूर्ण न्याय कर सकती है, क्योंकि काव्य स्वयं प्रगतिशील है, नित्य नूतन सामग्री और साधनों की ओर उसकी प्रगति होती है, इस प्रकार के प्रश्नों को हल करना और फिर कुछ निष्कर्ष पर पहुँचना सैद्धांतिक समीक्षा की गवेषणा के विषय हैं। यह आलोचना एक प्रकार से आलोचना का शास्त्रीय पक्ष है, और शेष प्रकार की आलोचनाएँ भिन्न भिन्न दृष्टि कोणों से उसके प्रयोग। हाँ, इतना अपवाद अवश्य है कि व्याख्यात्मक आलोचना उतना ही सैद्धांतिक आलोचना का आधार भी है जितना प्रयोग। सैद्धांतिक आलोचना के इतिहास से भी विभिन्न युगों के इतिहास को समझने में सहायता मिलती है। सिद्धान्त का विचार करते समय केवल परम्परा प्राप्त रूढ़ि, कवि-समय और तर्क-पूर्ण नियमों के ही फेर में न पड़ जाना चाहिए। समालोचक को यह स्मरण रखना चाहिए कि इन सिद्धान्तों का आधार साहित्य है, साहित्य का अध्ययन करने के उपरांत ही सिद्धान्त निश्चित होते हैं। अतः जब सिद्धान्तों में कोई दोष अथवा कमी खटके तो तुरन्त मूल आधार अर्थात् साहित्य की ओर दृष्टि दौड़ानी चाहिए। ऐसे स्वतन्त्र अध्ययन में सिद्धान्त कसौटी पर कस जाते हैं। सच बात तो यह है कि कवि ही भाषा और भाव के शासक होते हैं और समालोचक तो उन्हीं कवियों, अपने पाठकों तथा अपनी सहायता के लिये अनुशासन करते हैं। अतः जब कहीं सन्देह हो तब अपने बड़ों से (कवि-कर्म करने वालों से) बात समझ लेनी चाहिए। ऐसा विद्या-विनय-सम्पन्न आलोचक वही हो सकता है जो स्वयं भी कवि हृदय हो, साहित्यिक रुचि का हो।

व्याख्यात्मक समालोचना

वास्तव में व्याख्या या विश्लेषण ही ऐसी प्रधान वस्तु है कि जिस पर चारों प्रकार की समालोचना अवलम्बित है। इसी व्याख्या से हम सामान्य सिद्धान्तों तक पहुँचते हैं। इसी व्याख्या के बल पर हम किसी कृति के महत्व का निर्णय कर सकते हैं। भावमयी समालोचना करने के लिये भी प्रस्तुत रचना का स्वरूप ज्ञान वांछनीय है, जो कि व्याख्या ही से प्राप्त होता है। इसी प्रकार की समालोचना व्यापक, समीचीन और श्रेष्ठ ठहराई जाती है। समालोचक किसी भी रचना का अध्ययन एक अन्वेषक के रूप में करता है, न्यायाधीश के रूप में नहीं। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों तक पहुँचता है तथा इस बात का पता लगाता है कि इसका विषय क्या है। रचयिता के ढंग, दृष्टि-कोण और मन से उदारतापूर्ण अपने मस्तिष्क का सामंजस्य स्थापित करके वह अपनी साहित्यिक अभिरुचि को अनुदारता से उदारता की ओर ले जाता है। तात्पर्य यह है कि वह पूर्ण व्याख्या करके उस रचना के प्रति एक सामान्य धारणा बना लेता

है। परन्तु साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि उसकी यह धारणा भी मात्र वाक्य का रूप धारण नहीं करती, वरन् उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पर्यवेक्षण के अनुसार वह भी अपने रूप में सुधार करती रहती है। अतः यह स्पष्ट है कि ऐसी आलोचना उदारता-पूर्ण तथा प्रस्तुत रचना के पूर्ण पर्यवेक्षण पर अवलम्बित होती है। अतः वह न्याय-पूर्ण और बुद्धिसात होती है। इसीलिये ऐसी समालोचना ही आजकल श्रेष्ठ और उपयुक्त मानी जाती है। इसका सबसे सरल और आरम्भिक स्वरूप टिप्पणियों और भाष्यों में मिलता है।

कुछ लोग आपत्ति कर सकते हैं कि व्याख्या की यह पद्धति निर्जीव यन्त्र की तरह चलती है। वह आलोच्य रचना के सौन्दर्य का संहार तथा कला की चीर-फाड़ करती है और उसको ऐसा सामान्य रूप देती है कि वह साहित्याभिरुचि-रहित प्राकृत मनुष्य की दृष्टि तक उतर आती है। परन्तु ऐसा विचार भ्रममूलक है। व्याख्या के लिये सूक्ष्म बुद्धि और पर्यवेक्षण की कुशलता तथा पूर्णता की आवश्यकता है। उसको मला कहकर उसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता। व्याख्या करते समय कुछ बातों का ध्यान रखना पड़ता है। एक तो रचना के अंग-प्रत्यंग को व्यष्टि रूप से न देखकर समष्टि रूप से देखना चाहिए, क्योंकि कला का रूप सदा सश्लेषात्मक ही होता है। पर साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समष्टि का आधार व्यष्टि ही है। इसलिये यह आलोचना भी आलोच्य रचना के भिन्न-भिन्न अंगों के शुद्ध और पूर्ण अध्ययन की अव-हेलना नहीं कर सकती। दूसरी बात यह है कि व्याख्या का तात्पर्य किसी रचना में केवल उपदेशों को ही ढूंढना नहीं है, अथवा किसी पात्र के चरित्र-चित्रण अथवा कथा-नक को आद्योपान्त न देखकर किसी एक कथन अथवा घटना के बल पर व्याख्या करते हुए काव्यकार पर सहसा असंगति का दोषारोपण कर देना नहीं है। कभी-कभी असंगति के मिलने का यह अर्थ हो सकता है कि आलोचक की गवेषणा अपूर्ण है। तीसरी बात यह है कि व्याख्या प्रस्तुत रचना में आए हुए साक्ष्य पर ही अधिकतर अवलम्बित होनी चाहिए, ऊहा के द्वारा बाहर से लाए हुए बेमेल या कृत्रिम साक्ष्य पर नहीं। ऊपर के दोष तो ऐसे हैं जो व्याख्याओं में बहुधा आ जाते हैं। पर कुछ अन्य दोष ऐसे भी हैं जो कि व्याख्याओं में साहित्य-सम्बन्धी अशुद्ध धारणाओं के कारण आते हैं, व्याख्या करते समय उनसे भी बचना चाहिए।

कवि के स्वभाव और प्रवृत्ति के ज्ञान से भी उसकी रचनाओं को समझने में सहायता मिल सकती है परन्तु इसको बहुत दूर नहीं ले जाना चाहिए। किसी भी रचना में रचना के बाह्य कारणों को नहीं ढूंढना चाहिए। कवि अपनी रचना का स्रष्टा है। उसे असमर्थ स्रष्टा नहीं समझना चाहिए। अपनी कृति को उसने जो रूप दिया है

वही उसका वास्तविक रूप है। उसके अतिरिक्त उसे दूसरा रूप देना अनुचित होगा। किसी कवि को जीवन में अधिक शृगार-प्रिय देखकर उसकी स्पष्टतया निर्वेदमयी उक्तियो को भी वस्तुत शृगार ही की कृतियाँ समझना अनधिकार चेष्टा है। सम्भवत अपने जीवन की विरल अनुभूतियो ने उसे साहित्य सृजन में प्रवृत्त किया हो, सामान्य अनुभूतियो ने नहीं। बहुधा विरल अनुभूतियो की तीव्रता सामान्य अनुभूतियो को नहीं मिलती। हमें रचना से चलकर रचयिता के आशय तक पहुँचना चाहिए। बाह्य साक्ष्य के आधार पर कल्पित अभिप्राय को ढूँढ निकालने के लिये रचना की व्याख्या नही करनी चाहिए।

समालोचना अन्तर या भेद को दिखाकर अपने उद्देश की ओर अग्रसर होती है। अत व्याख्या करते समय कुछ लोग सब अन्तरो को मात्रा का ही अन्तर समझते हैं और तुलना करते समय जब कोई भेद देखते हैं तो एक रचना को उच्च कोटि की और दूसरी को निम्न कोटि की कह देते हैं, या एक को शुद्ध और दूसरी को अशुद्ध बता देते हैं। परन्तु अन्तर प्रकार का भी हो सकता है और व्याख्यात्मक आलोचना का विषय प्रकार के भी भेदो को देखना है। उदाहरणार्थ यदि एक कवि ने बालकृष्ण को लिया है और दूसरे ने प्रौढ कृष्ण को तो हम इन दोनो के कृष्ण-काव्यों में एक को उच्च और दूसरे को निम्न नही कह सकते, उनमें मात्रा का अन्तर नही है, वरन् प्रकार का अन्तर है। बाल-कृष्ण काव्य उतना ही उत्तम हो सकता है जितना प्रौढ कृष्ण-काव्य।

अत' व्याख्या करते समय हमारे लिये यह कहना ही ठीक है कि इनके काव्यो में प्रकार का अन्तर है। दोनो के अपने-अपने दृष्टिकोण हैं और दोनों प्रकार आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं। दोनो की निजी विशेषताएँ हैं। विशेष रूप से तुलनात्मक समालोचना में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है। बाल्मीकि के राम और तुलसी के राम अपने अपने प्रकार के हैं एक में वे मनुष्य के रूप में गृहीत हैं, दूसरे में अवतार के रूप में। अत एक के राम-चरित्र चित्रण को श्रेष्ठ और दूसरे के राम-चरित्र-चित्रण को साधारण कहना भूल है। ऐसे समय में दोनो प्रकार के चरित्र-चित्रणो में प्रकार का भेद है। इतना दिखाना ही व्याख्यात्मक समालोचना का विषय है, उच्चकोटि, निम्न कोटि का फैसला देना नही।

किसी कवि की कृति की व्याख्या करते समय एक बात और ध्यान देने योग्य है। किसी कवि पर यह दोषारोपण नहीं किया जा सकता है कि उसने कानून या नियम का उल्लघन किया है। साहित्य के कानून या नियम राजनीतिक कानून की तरह किसी बाहरी प्रभु-शक्ति के बनाए हुए नही हैं जिनका उल्लघन अपराध ठहराया जाय।

साहित्य के ये नियम तो स्वयं विकसित होते हैं। अतः जब कोई कवि किसी गृहीत सिद्धान्त के विपरीत चलता है तो उसका सामान्यतया यह अर्थ लेना चाहिए कि वह किसी नए नियम का विकास कर रहा है। वह दोषी नहीं वरन् स्रष्टा है। नियमों के उल्लंघन के द्वारा कला का विकास होता है और वह सजीवन बनी रहती है। अतः साहित्य के नियमों के पालन-उल्लंघन और किसी राज्य के नियमों के पालन-उल्लंघन में क्या अन्तर है इस पर भी ध्यान देना व्याख्यात्मक समालोचना के अस्तित्व के लिये आवश्यक है।

एक और बात पर ध्यान देना आवश्यक है। कुछ लोग कहते हैं कि समालोचक किसी कृति पर विचार करते समय ऐसी बातें कह देते हैं या ऐसा अर्थ निकालते हैं जो उस रचना में शायद अभिप्रेत भी न हो वरन् जो केवल समालोचक के मस्तिष्क की उपज या खींचातानी मात्र है। वास्तव में यह दोषारोपण कुछ अंश तक सत्य भी है। व्याख्यात्मक समालोचक को इस प्रकार अपनी ओर से ऊहापोह करने में संयम से काम लेना चाहिए और किसी कृति में आए हुए साक्ष्य पर ही अवलम्बित रहना चाहिए। परन्तु उक्त दोषारोपण का तात्पर्य यह नहीं है कि इस प्रकार की समालोचना सर्वथा अग्राह्य या भ्रामक है, क्योंकि इस प्रकार की समालोचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस पद्धति के द्वारा निश्चित व्याख्या या सम्मति की अधिकाधिक गवेषणा और जाँच के अनुसार साहित्य में परिवर्धन, परिवर्तन तथा सुधार की ओर प्रवृत्ति होती है और उसे उदार दृष्टि मिलती है।

निर्णयात्मक समालोचना

इस प्रकार की समालोचना व्याख्यात्मक समालोचना के ठीक विपरीत होती है। व्याख्यात्मक समालोचना में समालोचक अन्वेषक के रूप में दिखाई भी देता है, उसका विषय व्याख्या करना है, उसकी जिज्ञासा होती है "इस काव्य में क्या है ?" वह उसके द्वारा अपनी साहित्याभिरुचि को विकसित करने का अवसर पाता है, नवीन-नवीन साहित्यिक शैलियों का अस्तित्व मानने की उदारता रखता है और अपने समालोचक स्वरूप को उस कृति के मेल में रखता है। परन्तु निर्णयात्मक समालोचना में समालोचक न्यायाधीश के रूप में आता है, फैसला देना उसका काम है उसकी जिज्ञासा 'यह काव्य कैसा होना चाहिए था' के रूप में होती है। वह देखता है कि काव्य एक निश्चित आदर्श के अनुरूप है या नहीं। अपनी निश्चित साहित्याभिरुचि के मापदंड से वह उस कृति को देखता है, नवीनता पर नियन्त्रण रखता है। कभी कभी उसका उनसे

विरोध भी हो जाता है। वह साहित्यिक कृतियों को अपनी विचार-पद्धति के मेल में रखने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार की समालोचना आजकल अधिक प्रचलित है। ऐसी समालोचना भले-बुरे का फैसला देने के कारण साहित्य की प्रगति को रोकने वाली होती है।

यह समालोचना एक भ्रम से पूर्ण है। अँगरेजी शब्दों का अनुकरण करते हुए हम इसको "मूल्य का भ्रम" कह सकते हैं। समालोचक कला के सम्पूर्ण स्वरूप—उपादान, उपकरण, माध्यम—का मूल्यनिर्धारित करना चाहता है, जो असंगत है, क्योंकि कला का एक ही अंग मूल्य निर्धारण का विषय बन सकता है, सब नहीं। जैसे किसी चित्रकार के द्वारा किया गया प्रकाश का प्रयोग विश्लेषण और मूल्य-निर्धारण का विषय हो सकता है, परन्तु स्वयं प्रकाश नहीं, अतः कला को जो रूप और अंश—(उदाहरणार्थ शैली)—इस प्रकार की समालोचना के लिये उपयुक्त है उतना ही इसका विषय होना चाहिए, सम्पूर्ण को एक ही मापदण्ड से नापना भ्रामक है। एक बात और विचारणीय है। फ़ैसला देने के लिये किसी प्रामाणिक माप-दण्ड की आवश्यकता है जिससे परख कर कोई फैसला किया जा सकता है। अतः समालोचना के क्षेत्र में साहित्यिक अभिरुचि का प्रामाणिक स्वरूप क्या हो सकता है यह देखना चाहिए। इसमें दो भिन्न मत हैं। एक तो किसी समालोचना संस्था को सम्मति को प्रामाणिक मानते हैं, जैसे फ्रांस की एकेडमी। आर्नल्ड ऐसी संस्था का समर्थन करते हैं। परन्तु इसको मान लेने पर भी यह देखना आवश्यक है कि कोई भी संस्था किसी कलाकार की मौलिकता और प्रतिभा को रोक नहीं सकती। अतः ऐसी संस्थाओं की सम्मति को आवश्यक परिवर्तनों के साथ स्वीकार करना चाहिए। दूसरा मत समालोचक कोर्टहोप का है। उसका कहना है कि ऐसी संस्था पर विश्वास करना भ्रम-रहित नहीं है। समालोचना में भी अन्तःकरण का ही अनुसरण करना चाहिए। ऐसा साहित्यिक अन्तःकरण, कलाकार की आत्मा और स्वयं अपनी आत्मा दोनों को विचार में रखकर साहित्याभिरुचि का ऐसा प्रामाणिक रूप बना लेता है जो निर्णय करने में सहायक होता है।

अन्त में इस प्रकार की समालोचना के विषय में दो बातें और कहनी हैं। पहले ऐसी समालोचना व्याख्या के बिना न्यायपूर्ण और उचित नहीं हो सकती। ऐसी समालोचनाओं में हम समालोच्य रचना के विषय में उतना अधिक परिचय नहीं पाते जितना कि फ़ैसला देने वाले समालोचक की आत्मा का। शेक्सपियर और मिल्टन पर फ़ैसले देने वालों राइमर, एडिसन, जानसन, वाल्टियर—के भिन्न भिन्न और कभी बिलकुल विपरीत निर्णयों को देखकर इन निर्णायकों की विचार धारा का ही पता लगता है,

शेक्सपियर और मिल्टन की कला का नहीं। शेक्सपियर तो शेक्सपियर ही है और रहेगा, परन्तु इन समालोचकों ने उसे और का और बना दिया है। और कदाचित् आगे भी समालोचक ऐसा ही करते जायें। निर्णय देने वाले आलोचक तीन प्रकार के होते हैं। पहले वे जो अपनी रुचि और भावानुभूति के अनुसार निर्णय करते हैं, वे नियम नहीं जानते। दूसरे वे जो केवल नियमों को मिलाकर सम्मति स्थिर करते हैं। तीसरे वे बड़े निर्णायक होते हैं जो नियमों के विशेषज्ञ तो होते हैं, पर रहते हैं नियमों के परे। ये तीसरे प्रकार के निर्णायक सबसे बड़े माने जाते हैं। दूसरी श्रेणी में आते हैं स्वमानुगामी आलोचक, पर केवल नियम के पीछे मरने वालों का कोई आदर नहीं होता। इन्हीं अन्ध नियम प्रेमियों की हँसी उड़ाते हुए लोकमान्य तिलक ने लिखा था कि कालिदास के जिन ग्रन्थों के आधार पर ही लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई है उन ग्रन्थों में लक्षण ग्रन्थों के अनुसार दोष देखना कैसी विचित्र बात है।

आत्म-प्रधान अथवा स्वतन्त्र आलोचना

जैसा कहा जा चुका है, इस प्रकार की आलोचना में भावावेश अधिक होता है, विवेचन की मात्रा इसमें कम रहती है। जब आलोचक विवेचन-पद्धति को छोड़कर केवल अपनी व्यक्तिगत रुचि या अरुचि को अपनी आलोचना का आधार बनाता है तब इस प्रकार की समालोचना का जन्म होता है। मनुष्य मनुष्य है, वह अपनी रुचि अथवा अरुचि को साहित्यिक आलोचना में से सर्वदा अलग नहीं कर सकता। इसी कारण उस समालोचना का उदय होता है जिसमें आलोच्य ग्रन्थ या ग्रन्थकार को प्रधानता नहीं प्राप्त होती, आलोचक के दृष्टि-कोण को प्रधानता मिलती है। जितनी एकपक्षी साहित्यिक निन्दाएं या प्रशंसाएँ हुआ करती हैं उन सबको भावात्मक आलोचना के अन्तर्गत समझना चाहिए। ऐसी आलोचनाओं को इसलिए नहीं पढ़ना चाहिए कि आलोच्य ग्रंथ कैसा है, उसमें क्या है, किन्तु इसलिये कि आलोच्य ग्रन्थ को वह आलोचक क्या और कैसा समझता है। उन आलोचनाओं से आलोच्य ग्रन्थ के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान-वर्धन होता है। ऐसी आलोचना चाहे आलोचना की दृष्टि से उपयुक्त न हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसका रचनात्मक साहित्य में स्थान है। ज्यों-ज्यों साहित्य में व्यक्ति-प्रधानता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों इस प्रकार की आलोचना का भी आधिक्य होता जायगा।

आलोचना की इतनी सामान्य चर्चा कर लेने पर अब मुख्य बातें केवल तीन रह जाती हैं—(१) आलोचना की वैज्ञानिक प्रक्रिया, (२) आलोचना की ऐतिहासिक समीक्षा और (३) उसकी वर्तमान गतिविधि (अर्थात् उसका अपने साहित्य में प्रयोग)। स्वरूप-निर्णय के बाद सहज ही प्रक्रिया का प्रश्न आता है और किसी भी

विषय की वैज्ञानिक प्रक्रिया का विवेचन बिना इतिहास के सहारे नहीं हो सकता। इन सब के अन्त में वाग्योगविद् अध्यापक और व्यवहार-चतुर विद्यार्थी के लिये यह भी आवश्यक हो जाता है कि कुछ तथ्यों को स्थिर करके उनका व्यवहार और प्रयोग जाना जाय। इस प्रकार यह किसी भी विषय की आलोचना की साधारण विधि है। यही आलोचना के आलोचन की भी विधि होनी चाहिए।

(साहित्यालोचन, पृष्ठ ३३६-३४६)

पद्मसिंह शर्मा

[समय—सन् १८७६-१९३२ ई०]

ग्रन्थ—बिहारी की सतसई

१—काव्य में शृंगार रस

बहुत से महापुरुष कविता की उपयोगिता को स्वीकार तो किसी प्रकार करते है, पर शृंगार रस उनके निर्मल नेत्रो में कुछ खार-सा या तेज तेजाब सा खटकता है, वह शृंगार की रसीली लता को विषैली समझकर कविता-वाटिका से एकदम जड से उखाड फैंकने पर तुले खडे हैं। उनकी शुभ सम्मति में शृंगार ही सब अनर्थों की जड है, शृंगार रस के 'अश्लील' काव्यो ने ही ससार में अनाचार और दुराचार का प्रचार किया है, शृंगार के साहित्य का ससार से यदि आज सहार कर दिया जाय तो सदाचार का सचार सर्वत्र अनायास हो जाय, फिर ससार में सदाचारी और ब्रह्मचारी बनने में कुछ भी देर न लगे।

कई महानुभाव तो भारतवर्ष की इस वर्तमान अधोगति के श्रेय का सेहरा भी शृंगार के सिर पर ही बांधते हैं। उनकी समझ में शृंगार रस ही की मूसलाधार अतिवृष्टि ने देश को डुबो कर रसातल पहुँचाया है।

ठीक है, अपनी अपनी समझ ही तो है, इस विचार के लोग भी तो हैं जो कहते हैं कि वेदान्त के विचार, उपनिषदो में वर्णित अध्यात्म भावों के प्रचार ने ही देश को अकर्मण्य, पुरुषत्वविहीन और जाति को हीन-दीन बनाकर वर्तमान दशा में पहुँचाया है। फिर वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के विरोधियों की भी कुछ कमी नही है, वह इस शिक्षा को ही सब अनर्थों की जननी जानकर धिक्कार रहे हैं, यदि यह पिछले मत ठीक हैं तो पहला भी ठीक हो सकता है। जब अन्तिम रस (शान्त) ससार की अशान्ति का कारण हो सकता है तो आदिम (शृंगार) भी अनर्थ का मूल सही! पर तनिक ध्यान देकर देखा जाय तो अपनी-अपनी जगह सब ठीक है—

> 'गुलहाय रंगारंग से है रौनके-चमन।
> ऐ 'जौक' इस जहां को है जेब इख्तलाफ से।'

पदार्थ-वैचित्र्य के साथ रुचि वैचित्र्य भी सदा से है और सदा रहेगा। यह विवाद कुछ आज का नहीं, बहुत पुराना है, पहले यहाँ शृंगाररस-प्राधान्य-वादियों का एक पक्ष था। उसका मत था कि शृंगार ही एक रस है, वीर, अद्भुत आदि में रस की प्रसिद्धि गतानुगतिकता की अन्ध परम्परा से यों ही हो गयी है। इस मत के समर्थन में सुप्रसिद्ध भोजदेव ने 'शृंगार प्रकाश' नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसका उल्लेख विद्याधर ने अपनी 'एकावली' के रस-प्रकरण में इस प्रकार किया है—

'राजा तु शृंगारमेकमेव 'शृंगारप्रकाशे' रसमुररीचकार।

(पृष्ठ ३-५)

इसी प्रकार एक दूसरा पक्ष था जो शृंगार रस को एकदम अव्यवहार्य समझता था, वह केवल शृंगार ही का नहीं, शृंगार-वर्णन के कारण काव्य-रचना ही का विरोधी था। उसकी आज्ञा थी—

'असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्।'

अर्थात्—असभ्य-अश्लील अर्थ का प्रतिपादक होने के कारण काव्य का उपदेश (काव्य-रचना) नहीं करना चाहिये।

इसके उत्तर में काव्य-मीमांसा के आचार्य कवि-कुल-शेखर 'राजशेखर' कहते हैं कि—

'प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः।'

अर्थात् प्रक्रम-प्राप्त ऐसे विषय विशेष का वर्णन अपरिहार्य है, वह होना ही चाहिए, वह काव्य का एक अंग है, प्रकरण में पड़ी बात कैसे छोड़ी जा सकती है? जो बात जैसी है कवि उसका वैसा वर्णन करने के लिये विवश है। शृंगार की सामग्री—तत्सम्बन्धी नाना प्रकार के दृश्य—जब जगत् में प्रचुर परिमाण में सर्वत्र प्रस्तुत हैं, तब कवि उनकी ओर से आँखें कैसे बंद कर लें? तद्विषयक वर्णन क्यों न करें? कवि ही ऐसा करते हों, केवल वही इस 'असभ्याभिधान' अपराध के अपराधी हों, यह बात भी तो नहीं, राजशेखर कहते हैं—

'तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते।'

इस प्रकार का वर्णन—जिसे तुम असभ्य और अश्लील कहते हो—श्रुतियों में और शास्त्रों में भी तो पाया जाता है।

इसके आगे कुछ श्रुतियाँ और शास्त्र-वचन उद्धृत करके राजशेखर ने अपने उक्त मत की पुष्टि की है। उनके उद्धृत वचनों के आगे कवियों के 'अश्लील' वर्णन भी लज्जा से मुँह छिपाते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो कवियों पर सभ्यता या अश्लीलता के प्रचार का दोषारोपण करना उनके साथ अन्याय करना है, कवियों ने अश्लीलता को स्वयं दोष मान कर उससे बचे रहने का उपदेश दिया है, काव्य-दोषों में 'अश्लीलता' एक मुख्य दोष माना गया है। फिर कवि अश्लीलता का उपदेश देने के लिये काव्य-रचना करें यह कैसे माना जा सकता है ?

शृंगार रस के काव्यों में परकीयादिका प्रसंग कुरुचि का उत्पादक होने से नितान्त निन्दनीय कहा जाता है, यह किसी अंश में ठीक हो सकता है, पर ऐसे वर्णनों से कवि का अभिप्राय समाज को नीति भ्रष्ट और कुरुचि-सम्पन्न बनाना नहीं होता, ऐसे प्रसंग पढ़ कर धूर्त विटों की गूढ़ लीलाओं के दाव-घात से परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके—इस विषय में सतर्क रहे—यही ऐसे प्रसंग-वर्णन का प्रयोजन है। काव्यालंकार के निर्माता रुद्रट ने भी यही बात दूसरे ढंग से कही है—

'न हि कविना परदारा, एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः।
कर्त्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः॥
किन्तु तदीयं वृत्तं, काव्यांगतया स केवलं वक्ति।
आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र॥'

रुचि-भेद और अवस्था-भेद से काव्यों के कुछ वर्णन किन्हीं विशेष व्यक्तियों को अनुचित प्रतीत हों, यह और बात है, इससे ऐसे काव्य की अनुपयोगिता सिद्ध नहीं होती। अधिकार-भेद की व्यवस्था सब जगह समान है, काव्य-शास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है। कौन कहता है कि वृद्ध जिज्ञासु, बाल ब्रह्मचारी, मुमुक्षु यति और जीवन्मुक्त सन्यासी भी काव्य के ऐसे प्रसंगों को अवश्य पढ़ें। ऐसे पुरुष काव्य के अधिकारी नहीं हैं। फिर यह भी कोई बात नहीं है कि जो चीज इनके लिये अच्छी न हो वह औरों के लिए भी अच्छी न हो, इनकी रुचि को सबकी रुचि का आदर्श मानकर संसार का काम कैसे चल सकता है !

काव्यों के विषय की आप लाख निन्दा कीजिये, अश्लील और गन्दे बतलाकर उनके विरुद्ध कितना ही आन्दोलन कीजिये, पर जब तक चटपटी भाषा का चटखारा सहृदय समाज से नहीं छूटता—जिसका छूटना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य

है—सहृदयता के साथ इसका बड़ा गहरा अटूट सम्बन्ध है—तब तक काव्यों का प्रचार रुक नहीं सकता। बड़े-बड़े सुरुचि-सचारक प्रचारकों और धार्मिक उपदेशकों तक को देखा गया है कि श्रोताओं पर अपनी वक्तृता का रंग जमाने के लिये उन्हें भी काव्यों की लच्छेदार भाषा और सुन्दर सूक्तियों, अनोखी अन्योक्तियों का बीच-बीच में सहारा लेना ही पड़ता है। अच्छी भाषा पढ़ने-सुनने का लोगों का 'दुर्व्यसन' भी हमारे सुधारकों के काव्य-विरोध-विषयक प्रयत्नों को अधिकांश में निष्फल कर देता है। ईश्वर करे यह 'दुर्व्यसन' बना रहे।

यह समझना एक भारी भ्रम है कि काव्यों के पढ़ने वाले अवश्य ही कुरुचि-सम्पन्न लोग होते हैं। शृंगार रस की चाशनी चखने की स्वाभाविक रुचि ही काव्यों की ओर पाठकों को नहीं खींचती, भाषा के माधुर्य की चाट भी कुछ कम नहीं होती।

चाहे अपने मत से इसे देश का 'दुर्भाग्य' ही समझिये कि हमारे कवियों ने 'प्रकाश के देवता से अन्धकार का काम' क्यों लिया, ऐसी सुन्दर भाषा का 'दुरुपयोग' ऐसे 'भ्रष्ट' विषय के वर्णन में क्यों कर गये? पर जो कर गये सो कर गये, जो हो गया सो हो गया, वह समय ही कुछ ऐसा था, समाज की रुचि ही कुछ वैसी थी और अब दुबारा ऐसे कवि यहाँ पैदा होने से रहे जो वर्त्तमान सभ्य समाज की सुरुचि के अनुसार सामयिक विषयों का ऐसी ललित, मधुर, परिष्कृत और फड़कती हुई, जानदार भावमयी भाषा में वर्णन करके मुर्दा दिलों में जान डाल जायें, सोते को जगा जायें और जागतों को किसी काम में लगा जायें! हमारी भाषा की बहार बीत गयी, अब कभी खत्म न होने वाली 'खिज़ाँ के दिन हैं, भाषा के रसिक भौंरे कान देकर सुने और आँख खोल कर देखें, कोई पुकार कर कह रहा है—

"जिन दिन देखे वे कुसुम, गयी सु बीत बहार।
अब अलि! रही गुलाब में अपत कटीली डार॥"

जिस भावहीन निर्जीव भाषा में नीरस कर्णकटु काव्यों की आज दिन सृष्टि हो रही है इससे सुरुचि का सचार हो चुका। यह सहृदय समाज के हृदयों में घर कर चुकी। यह सूखी टहनी साहित्य-क्षेत्र से बहुत दिन खड़ी न रह सकेगी। कोरे काम-चलाऊपन के साथ भाषा में सरसता और टिकाऊपन भी अभीष्ट है तो इसके निस्सार शरीर में प्राचीन साहित्य के रस का सचार होना अत्यावश्यक है। विषय की दृष्टि से न सही, भाषा के महत्त्व की दृष्टि से भी देखिये तो शृंगार रस के प्राचीन काव्यों की उपयोगिता कुछ कम नहीं है। यदि अपनी भाषा को अलंकृत करना है तो इसी पुरानी काव्य-

वाटिका से—जिसे हजारों चतुर मालियों ने सैकड़ों वर्ष तक दिल के खून से सींचा है—सदाबहार फूल चुनने ही पड़ेंगे। कांटों के डर से रसिक भौंरा पुष्पों का प्रेम नहीं छोड़ बैठता। मकरन्द के लिये मधुमक्षिकाओं को इस चमन में आना ही होगा, यदि वह इधर से मुँह मोड़कर 'सुरुचि' के ख्याल में स्वच्छ आकाश-पुष्पों की तलाश में भटकेंगी तो मधु की एक बूँद से भी भेंट न हो सकेगी ! हमारे सुशिक्षित समाज की 'सुरुचि' जब भाषा-विज्ञान के लिये उसी प्रकार का विदेशी साहित्य पढ़ने की आज्ञा खुशी से दे देती है तो मालूम नहीं अपने ही साहित्य से उसे ऐसा द्वेष क्यों है ? परमात्मा इस 'सुरुचि' से साहित्य की रक्षा करे !

(पृष्ठ ५-६)

२. काव्य में भाव-वक्रता

आजकल का सम्भ्रान्त शिक्षित समाज कोरी "स्वभावोक्ति" पर फ़िदा है, अन्य अलंकारों की सत्ता उसकी परिष्कृत रुचि की आँख में काँटा-सी खटकती है, और विशेषकर "अतिशयोक्ति" से तो उसे कुछ चिढ़-सी है। प्राचीन साहित्य-विधाताओं के मत में जो चीज़ कविता-कामिनी के लिये नितान्त उपादेय थी, वही इसके मत में सर्वथा हेय है। यह भी एक रुचि-वैचित्र्य का "दौरात्म्य" है। जो कुछ भी हो, प्राचीन काव्य वर्तमान "परिष्कृत सुरुचि" के आदर्श पर नहीं रचे गये, उन्हें इस नये गज़ से नहीं नापना चाहिये, प्राचीनता की दृष्टि से परखने पर ही उनकी खूबी समझ में आ सकती है। 'सतसई' भी एक ऐसा ही काव्य है, बिहारी उस प्राचीन मत के अनुयायी थे जिसमें अतिशयोक्ति-शून्य अलंकार चमत्कार-रहित माना गया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, पर्याय, और निदर्शना आदि अलंकार अतिशयोक्ति से अनुप्राणित होकर ही जीवन लाभ करते हैं। अतिशयोक्ति ही उन्हें जिला देकर चमकाती है, मनोमोहक बनाती है, उनमें चारुत्व लाती है—यह न हो तो वे कुछ भी नहीं, बिना नमक का भोजन, तार-रहित सितार और लावण्यहीन रूप हैं।

"अतिशयोक्ति" के विषय में आचार्य 'भामह' की यह शुभ सम्मति है—

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥"

अर्थात् काव्य में सर्वत्र 'वक्रोक्ति' (अतिशयोक्ति) ही का चमत्कार है, यही अर्थ को चमका कर दिखाती है, कवि को इसमें प्रयत्न करना चाहिये, सब अलंकारों में एक इसी की करामात तो काम कर रही है।

भामहाचार्य की इस सम्मति के सामने सबने सिर झुकाया है। आचार्य दण्डी, आनन्दवर्धनाचार्य और श्री मम्मट भट्ट ने एक स्वर से 'अतिशयोक्ति' की उपादेयता स्वीकार की है—भामह की उपर्युक्त उक्ति को इन आचार्यों ने उद्धृत करके इसका औचित्य स्वीकार किया है—भामह के मत की पुष्टि की है—साहित्य के सूक्ष्म परीक्षक 'रस-गंगाधरकार' पण्डितराज जगन्नाथ भी अतिशयोक्ति के परम प्रशंसक थे।

पुराने काव्यों में 'नेचुरल सादगी'—(जिसे कुछ लोग 'स्वभावोक्ति' भी कहते हैं) के उदाहरण कुछ कम नहीं हैं। पर उनमें भी कुछ निराला चमत्कार है। 'तेरे चेहरे पर भौंह के नीचे आँखें हैं, और मुँह के भीतर दाँत हैं'—इस किस्म की सादगी कविता की शोभा नहीं बढ़ा सकती—कविता का सिंगार या अलंकार नहीं कहला सकती, यह आँख और दाँत वाली बात साफ, सीधी और सच हो सकती है, कोई सादगी-पसन्द सज्जन अपनी परिभाषा में इसे 'स्वभावोक्ति' भी कह सकते हैं, पर यह साहित्य-सम्मत 'स्वभावोक्ति' नहीं है।

नवीन आदर्श के अनुयायी काव्य-विवेचक प्राचीन काव्यों का विवेचन करते समय इसे न भूलें, और यह भी याद रक्खें कि सब जगह 'सादगी' ही आदर नहीं पाती, 'कविता' की तरह और भी कुछ चीजें ऐसी हैं जहाँ 'वक्रता' (बाँकपन, बकई) ही कदर और कीमत पाती है।

(पृष्ठ २१७-१६)

कृष्णविहारी मिश्र

[जन्म—सन् १८९०]

ग्रन्थ—देव और विहारी

१. भाषा का माधुर्य

'मधुर' शब्द लाक्षणिक है। मधुरता-गुण की पहचान जिह्वा से होती है। शक्कर का एक कण जीभ पर पहुँचा नहीं कि उसने बतला दिया, यह मीठा है। पर शब्द तो चक्खा जा नहीं सकता, फिर उसकी मिठाई से क्या मतलब ? यहाँ पर मधुरता गुण का आरोप शब्द में करने के कारण 'सारोपा लक्षणा' है। कहने का मतलब यह कि जिस प्रकार कोई वस्तु जीभ को एक विशेष आनन्द पहुँचाने के कारण मीठी कहलाती है, उसी प्रकार कोई ऐसा शब्द, जो कान में पड़ने पर आनन्दप्रद होता है, 'मधुर शब्द' कहा जायगा।

शब्द-मधुरता का एकमात्र साक्षी कान है। कान के बिना शब्द मधुरता का निर्णय हो ही नहीं सकता। अतएव कौन शब्द मधुर है और कौन नहीं, यह जानने के लिये हमें कानों की शरण लेनी चाहिए। ईश्वर का यह अपूर्व नियम है कि इस इन्द्रिय-ज्ञान और विवेचन में उसने सब मनुष्यों में एकता स्थापित कर रक्खी है। अपवादों की बात जाने दीजिए, तो यह मानना पड़ेगा कि मीठी वस्तु संसार के सभी मनुष्यों को अच्छी लगती है। उसी प्रकार सुगन्ध दुर्गन्ध आदि का हाल है। कानों से सुने जाने वाले शब्दों का भी यही हाल है। अफ्रीका के एक हबशी को जिस प्रकार शहद मीठा लगेगा, उसी प्रकार आयर्लैंड के एक आइरिश को भी। ठीक यही दशा शब्दों की है। कैसा ही क्यों न हो, बालक का तोतला बोल मनुष्य-मात्र के कानों को भला लगता है। पुरुष की अपेक्षा स्त्री का स्वर विशेष रमणीय है। कोयल का शब्द क्यों अच्छा है, और कौवे का क्यों बुरा, इसका कारण तो कान ही बतला सकते हैं। जंगल में जो वायु पोले बाँसों में भर कर अद्भुत शब्द उत्पन्न करती है, उसी वायु से प्रकम्पायमान वृक्ष भी हहर-हहर शब्द करते हैं, फिर क्या कारण है, जो बाँसों वाला स्वर कानों को सुखद है, और दूसरे स्वर में वह बात नहीं है ? हमें प्रकृति में ऐसे ही नाना भाँति के शब्द मिला करते हैं। इन प्रकृति वाले शब्दों में से जो हमें मीठे लगते हैं, उनको ही

मिलते-जुलते शब्द भाषा के भी मधुर शब्द जान पड़ते हैं। बालक से कठिन, मुँह के मिले हुए शब्द आसानी से नहीं निकलते, और जिस प्रकार के शब्द उसके मुँह से निकलते हैं, वे बहुत ही प्यारे लगते हैं। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि प्राग मीलित वर्णों वाले शब्द कान को पसन्द नहीं आते। इसके विपरीत सानुस्वार, अमीलित वर्ण वाले शब्दों से कर्णेन्द्रिय की तृप्ति-सी हो जाया करती है।

जिस प्रकार बहुत-से शब्द मधुर हैं, उसी प्रकार कुछ शब्द कर्कश भी हैं। इनको सुनने से कानों को एक प्रकार का क्लेश-सा होता है। जिस भाषा में मधुर शब्द जितने ही अधिक होंगे, वह भाषा उतनी ही मधुर कही जायगी। इसके विपरीत वाली कर्कश। परन्तु सदा अपनी ही भाषा बोलते रहने से, अभ्यास के कारण, उस भाषा का कर्कश शब्द भी कभी-कभी वैसा नहीं जान पड़ता, और उसके प्रति अनुराग और हठ भी कभी-कभी इस प्रकार के कर्कशत्व के प्रकट कहे जाने में बाधा डालता है। अतएव यदि भाषा की मधुरता या कर्कशता का निर्णय करना हो, तो वह भाषा किसी ऐसे व्यक्ति को सुनाई जानी चाहिए, जो उसे समझता न हो। वह पुरुष तुरन्त ही उचित बात कह देगा, क्योंकि उसके कानों का पक्षपात से अभी तक बिलकुल लगाव नहीं होने पाया है।

मिष्ट-भाषी का लोक पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस बात को भी यहाँ बता देना अनुचित न होगा। जब कोई हमी में से मधुर स्वर में बात करता है, तो हमको अपार आनन्द आता है। एक सुन्दर स्वरूपवती स्त्री मिष्ट-भाषण द्वारा अपने प्रिय पति को और भी वश में कर लेती है। मधुर स्वर न होना उसके लिये एक त्रुटि है। एक गुणी अनजान आदमी को कर्कश स्वर में बोलते देख कर लोग पहले उसको उजड्ड समझने लगते हैं। ठीक इसके विपरीत एक निर्गुणी को भी मधुर स्वर में भाषण करते देख-कर एकाएक वे उसे तिरस्कृत नहीं करते। सभा-समाज में वक्ता अपने मधुर स्वर से श्रोताओं का मन कुछ समय के लिये अपनी मुट्ठी में कर लेता है, और यदि वह वक्ता प० मदनमोहन जी मालवीय के समान पंडित भी हुआ, तो फिर कहना ही क्या ? सोने में सुगंध वाली कहावत चरितार्थ होने लगती है।

घोर कलह के समय भी एक मधुर-भाषी का वचन अग्नि पर पानी के छींटे का काम करता देखा गया गया है। निदान समाज पर मधुर भाषा का खूब प्रभाव है। लोगों ने तो इस प्रभाव को यहाँ तक माना है कि उसकी वशीकरण मंत्र से तुलना की है। कोई कवि इसी अभिप्राय को लेकर कहता है—

काग्रा कासों लेत है ? कोयल काको देत ?
मीठे बचन सुनाय के जग बस में कर लेत ।

(देव और विहारी, पृष्ठ १५-१७)

+　　　　+　　　　+

यहाँ तक तो यह प्रतिपादित हो चुका कि शब्दों में भी मधुरता है, इस मधुरता के साक्षी कान हैं, जिस भाषा में अधिक मधुर शब्द हो, उसे मधुर भाषा कहना चाहिए, कविता के लिए मधुर शब्द आवश्यक हैं एवं व्रज भाषा बहु सम्मति से मधुर भाषा है, और माधुरी के वश उसने 'सत्यच-पीयूष के प्रलय स्रोत प्रवाहित किए हैं ।' अब इस सम्बन्ध में हमें एक बात और कहनी है । कविता के लिये तन्मयता की बड़ी जरूरत है । प्रिय वस्तु के द्वारा अभीष्ट-साधन आसानी से होता है । मधुर शब्दावली सभी को प्रिय लगती है । इसलिये यह बात उचित ही जान पड़ती है कि मधुर वाक्यावली में बद्ध कवि-विचार मधुर के समान सब प्रकार से अच्छे लगेंगे । अच्छे वस्त्रों में कुरूप भी अनेकानेक दोष छिपा लेता है, पर सुन्दर की सुन्दरता तो और भी बढ़ जाती है । इसी प्रकार अच्छे भाव किसी भाषा में हों, अच्छे लगेंगे । पर यदि वे मधुर भाषा में हों, तो और भी हृदय-ग्राही हो जायेंगे । भाव की उत्कृष्टता जहाँ होती है, वहीं पर सत्काव्य होता है, और भाषा की मधुरता इस भावोत्कृष्टता पर पालिश का काम देती है ।

भाषा की चमचमाहट भाव को तुरन्त हृदयगम कराती है ।

(देव और विहारी, पृष्ठ २५)

२. समालोचना

निष्पक्षपात भाव से किसी वस्तु के गुण-दूषणों की विवेचना करना समालोचना है । इस प्रथा के अवलम्बन से उत्तम विचारों की पुष्टि तथा वृद्धि होती रहती है ।

भारतवर्ष में समालोचना की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आती है, यहाँ तक कि 'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि' यह नीति-वाक्य भारतवासियों को साधारण-सा जँचता है । संस्कृत पुस्तकों की अनेकानेक टीकाएँ ऐसी हैं, जिन्हें यदि उन पुस्तकों की समालोचनाएँ कहें, तो कुछ अनुचित नहीं है । आजकल महाकवियों के काव्यों में छिद्रान्वेषण-सम्बन्धी जो लेख निकलते हैं, वे प्रायः इन्हीं टीकाकारों के 'निर-

कुशल कवय:,' 'कवि-प्रमाद' आदि के आधार पर हैं। जिस समय भारतवर्ष में छापे का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, और न आजकल के ऐसे समाचार-पत्रों ही का प्रचार था, उस समय किसी पुस्तक का प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेना बहुत कठिन कार्य था। निदान यदि एक प्रान्त में एक पुस्तक का प्रचार होता था, तो दूसरे में दूसरी का। ग्रंथ विशेष का पूर्णतया प्रचार हो, उसमें लोगों की श्रद्धा-भक्ति बढ़े, इस अभिप्राय से उस समय प्रचलित नाना ग्रन्थों के माहात्म्य बन गए। रामायण-माहात्म्य, भागवत-माहात्म्य आदि पुस्तकों को पढ़कर भला रामायण और भागवत पढ़ने की किसे इच्छा न होती होगी? ऐसी अवस्था में यदि इन्हें हम प्रशंसात्मक समालोचनाएँ मानें, तो कुछ अनुचित नहीं जान पड़ता। संभव है, इसी प्रकार निन्दा विषयक भी अनेकानेक पुस्तकें बनी हों, और जिन ग्रन्थों का प्रचार रोकने का उनका आशय रहा हो, उनके नष्ट हो जाने पर वे विशेष उपयोगी न रहने के कारण प्रचलित न रही हों। जो हो, हमारे पूर्वजों के ग्रंथों में उनकी सत्यवादिता स्पष्ट झलकती है—ऐसा जान पड़ता है कि वे लोग समालोचना-सम्बन्धी लाभों से भली भाँति परिचित थे। श्रीपति जी ने केशव जैसे महाकवि के काव्य में निर्भीक होकर दोष दिखलाने में केवल अपना पाण्डित्य ही प्रदर्शित नहीं किया वरन् अंधपरम्परानुसरण करने वाले अनेक लोगों को वैसी ही भूलों में पड़ने से बचा लिया, एतदर्थ हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए।

आजकल जिस प्रकार की समालोचना प्रचलित है, वह अँगरेजी चाल के आधार पर है। जैसी जिस समय लोगों की रुचि होती है, वैसी ही उस समय समालोचनाएँ भी निकला करती हैं, इस कारण समालोचना भी भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं। आजकल सम्पादक लोग किसी पुस्तक के अनुकूल या प्रतिकूल अपनी सम्मति प्रकाश कर देने ही से अपने को उत्तम समालोचक समझने लगते हैं, मानो निज अनुमति अनुमोदनार्थ कतिपय पंक्तियों का उद्धृत करना, उसी के आधार पर कुछ कारणों की सृष्टि कर देना तथा अपने माने हुए गुण दूषणों की पूर्ण तालिका दे देना ही समालोचना है। जो समालोचक क्लिष्ट कल्पनाओं की सहायता से किसी स्पष्टार्थ वाक्य के अनेकार्थ कर दे, उसकी वाहवाही होने लगती है—लोग उसे सम्मान की दृष्टि से देखने लगते हैं। (देव और बिहारी, पृष्ठ २८–३०)

× × ×

परन्तु अब सरसरी तौर से अनुकूल या विरुद्ध सम्मति दे देने से काम न चलेगा—अब हमको केवल इस बात ही के जानने की आवश्यकता नहीं है कि यह ग्रंथ उत्तम है या त्रिदोष-पूर्ण। हमें तो अब उस ग्रंथ के विषय का पूर्ण विवरण चाहिए।

इन सब बातों का सम्यक् उल्लेख होना चाहिए कि किन कारणों से वह ग्रंथ उत्तम कहा गया। ग्रंथकर्त्ता को लेखकों या कवियों में कौन-सा स्थान मिलना चाहिये ? उस विषय के जो अन्य लेखक हों, उनके साथ मिलान करके दिखलाना चाहिए कि उनसे वह किस बात में उच्च या न्यून है, और-और ग्रंथों की अपेक्षा इस प्रकार के ग्रंथों का विशेष आदर होना चाहिए या नहीं ? यदि होना चाहिए, तो किन कारणों से ? लोगों की रुचि, हृदय-ग्राहकता, पात्रों के चरित्रादि कैसे दिखलाए गए हैं ? आजकल दार्शनिक रीति की जितनी समालोचनाएँ प्रकाशित होती हैं, उन सबमें विवाद को बहुत स्थान मिल सकता है। पहले इतने कम ग्रंथ प्रकाशित होते थे कि उन सबका पढ़ा जाना बहुत सम्भव था, और ग्रंथ का नाम और मिलने का पता जान लेने पर लोग उसे पढ़ डालते थे। अतएव उस समय सूक्ष्म समालोचनाओं ही की आवश्यकता थी। परन्तु आजकल के लोगों को पुस्तकें चुन-चुनकर पढ़नी हैं। इस कारण अब दूसरे ही प्रकार की समालोचनाओं की आवश्यकता है।

हमारी समझ में किसी ग्रंथ की समालोचना करते समय तद्गत विषय का प्रत्येक ओर से निरीक्षण होना चाहिए। ग्रंथ का गौण विषय क्या है तथा प्रयोजनीय क्या है, वास्तविक वर्णन क्या है तथा भराव क्या है, आदि बातों का जिस समालोचना में विचार किया जाता है, उससे पुस्तक का हाल वैसे ही विदित हो जाता है, जैसे किसी मकान के मानचित्रादि से गृह का विवरण ज्ञात हो जाता है। अब तक जो समालोचनाएँ अच्छी मानी गई हैं, उनमें कथानक-मात्र का उल्लेख कर दिया गया है। काल-भंग, क्रमभंग आदि दूषणों के निरूपण में, पात्रों के शील-सम्बन्धादि के विषय में या वर्णन-शैली की नीरसता पर कुछ टिप्पणी कर दी गई है। इस प्रकार की समालोचनाओं से पुस्तक के मुख्य भाव, रस-निरूपण, कवि-कौशल, वर्णन शैली तथा लेखक की मनोवृत्तियों के विषय में कुछ भी विदित नहीं होता। गज़ट या वक्तावली से जो हाल मिलता है, वही ऐसी समालोचनाओं से। ग्रंथ की ओजस्विनी भाषा हृदय की कली-कली को किस भाँति खिला देती है, करुणोत्पादक वर्णन दुःखसागर में कैसे मग्न कर देते हैं, लेख-शैली से लेखक की योग्यता के सम्बन्ध में कैसे विचार उत्पन्न होते हैं—आदि बातों का आभास इनमें कुछ नहीं मिलता। ग्रंथ में काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म नियमों का उल्लंघन कहाँ-कहाँ हुआ है, इसके दिखलाने में समालोचक यथासाध्य प्रयत्न करता है, परन्तु वह भिन्न-भिन्न लोगों की रुचि के अनुसार है या नहीं, इसका समालोचना में कहीं कुछ पता नहीं लगता। सारांश यह कि ऐसी समालोचनाओं द्वारा ग्रंथ के विषय में सब हाल जानते हुए भी यदि यह कहें कि कुछ नहीं जानते, तो अत्युक्ति न होगी।

ग्रंथ लिखने से ग्रंथकर्ता का क्या अभिप्राय है, यह लिखने का समालोचक बहुत कम कष्ट स्वीकार करता है। कुछ समालोचनाओं की भाषा ऐसी निर्जीव-सी होती है कि उनमें अनेकानेक गुणों का उल्लेख होते हुए भी समालोच्य पुस्तकें पढने की इच्छा ही नही होती, और कुछ समालोचनाएँ ऐसे जोरदार शब्दो में होती हैं कि पुस्तक मँगा-कर पढे बिना कल ही नही पडती। कुछ समालोचक ऐसे होते हैं, जिन्हें दोषो के अति-रिक्त और कुछ नही देख पडता। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी हैं, जो गुण-गान मात्र ही किया करते हैं। गुण-गायक समालोचकों की समालोचनाएँ वैसी ही हैं, जैसे नदी का बहता हुआ जल। चाहे जो वस्तु गिर पडे,नदी सब कुछ बहा ले जाती है, ऐसे ही चाहे जैसा ग्रंथ हो, वह उनकी दृष्टि में प्रशसनीय बन जाता है। दोष-दर्शक समालोचकों के कारण हमारी किसी भी ग्रंथ पर श्रद्धा नही होने पाती। पुस्तक की अनुचित प्रशसा प्राय मित्र-भाव के कारण होती है, और निन्दा दलबन्दी के अनुसार। प्रत्येक भिन्न दल वाला अपने प्रतिद्वन्द्वी दल की लिखी हुई पुस्तकों की इतनी निन्दा करता है, मानो उनके कर्ता पूर्णतया मूर्ख ही हो। ग्रंथ की अशुद्धियाँ बता कर लिखने की कौन कहे, कभी तो अनुमान से ऐसी ऐसी विचित्र बातें गढ ली जाती है, जिनका कही सिर-पैर ही नही होता।

कभी-कभी समालोचक किसी कारण विशेष से विवश होकर किसी प्रसिद्ध लेखक या कवि को आदर्श-स्वरूप मान लेता है, और अपने उसी आदर्श से समालोचना करता है। ऐसी दशा में यदि आदर्श कवि या लेखक के विपरीत कुछ भी भाव हुए, तो नवीन लेखक के ऊपर उसे क्रोध आ जाता है, और फिर लेखक की वास्तविक योग्यता का विचार होने से रह जाता है। भूषण को वीर-रस के तथा बिहारी या देव को शृगार रस के वर्णन में आदर्श-स्वरूप मानकर समालोचना होते समय किसी नवीन लेखक को न्याय की कभी आशा नही रखनी चाहिए। इसी प्रकार प्राचीन काल के प्रसिद्ध कवियों में से किसी के कवि-कौशल विशेष का लक्ष्य करके समालोचना करने से वास्तविक निर्णय नही हो सकता। जैसे इतिहास-सम्बन्धी सच्चो घटनाओं के वर्णन, जातीय जागृति कराने के उद्योग, वीर-रस-सचार करने की शक्ति आदि बातो का लक्ष्य रखने से समालोचक को भूषण, चद आदि के आगे और सब फीके देख पडेंगे, वैसे ही धार्मिक विचारो की प्रौढता, निष्कपट भक्ति-मार्ग-प्रदर्शन, अपूर्व शान्ति-सागर के हिलोरों आदि का लक्ष्य रखने से तुलसी, सूर आदि ही, उसकी राय में, सर्वोच्च पदो पर जा विराजेंगे। पुन यौवनोचितोपभोगादिक, मूर्ति चित्रण-चातुरी निष्कपट तथा शुद्ध प्रेमो-द्घाटन, शृगार-रसाप्लावित काव्य का लक्ष्य रखने से केशव, देव आदि ही बडे-बडे आसनो को सुशोभित करने में समर्थ होंगे। भिन्न भिन्न रस निरूपण करने में एक दूसरा

किसी से कम नहीं है। यदि तुलसीदास और सूर शान्त में अग्रगण्य हैं, तो देव और बिहारी शृंगार शिरोमणि हैं, वैसे ही वीरोचित प्रबन्धोपकथन में भूषण और चन्द ही प्रधान हैं। शान्त में आनन्द पाने वाला तुलसी को, शृंगार वाला देव को और वीर वाला भूषण को श्रेष्ठ मानेगा। इस प्रकार भिन्न भिन्न रुचि के अनुकूल भिन्न-भिन्न कवि श्रेष्ठ हैं। इसका निर्णय करना कि इनमें क्रमानुसार कौन श्रेष्ठ है, बहुत ही कठिन है। ऐसे अवसर पर विद्वानों में मतभेद हुआ ही करता है, और ऐकमत्य स्थापित होना एक प्रकार से असम्भव ही हो जाता है।

(देव और बिहारी, ३३-३७)

३—तुलनात्मक समालोचना

आइए पाठक, अब आप तुलनात्मक समालोचना के बारे में भी हमारा वक्तव्य सुन लीजिए। इस ग्रन्थ में हमने देव और बिहारी पर तुलनात्मक समालोचना लिखी है। इसीलिये इस विषय पर भी कुछ लिखना हम आवश्यक समझते हैं।

कविता विशेष के गुण समझने के लिये उसमें आए हुए काव्योत्कर्ष की परीक्षा करनी पड़ती है। यह परीक्षा कई प्रकार से की जा सकती है—जाँच के अनेक ढंग हैं। कभी उसी कविता को सब ओर से उलट-पलटकर देख लेने में ही पर्याप्त आनन्द मिल जाता है—कविता के यथार्थ जौहर खुल जाते हैं, पर कभी इतना श्रम पर्याप्त नहीं होता। ऐसी दशा में अन्य कवियों की उसी प्रकार की, उन्हीं भावों को अभिव्यक्त करने वाली सूक्तियों से पद्य विशेष का मुकाबला करना पड़ता है। इस मुकाबले में विशेषता और हीनता स्पष्ट झलक जाती है। यही क्यों, ऐसी अनेक नई बातें भी मालूम होती हैं, जो अकेले एक पद्य के देखने से ध्यान में भी नहीं आतीं। जरा-सा फर्क कवि की मर्मज्ञता की गवाही देने लगता है। उदाहरण के लिए महाकवि बिहारीलाल का निम्नलिखित दोहा लीजिए—

> लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाँहि,
> ये मुँहजोर तुरंग-लौं, ऐंचत हूँ चलि जाँहि।

मतिरामजी ने इस दोहे को इसी रूप में अपनाया है। केवल जरा-सा हेर-फेर कर दिया है। देखिए—

> मानत लाज-लगाम नहिं, नैंक न गहत मरोर,
> होत लाल लखि, बाल के, दृग-तुरग मुँह जोर।

बिहारीलाल के दोहे में 'लौं' (समान) वाचक पद आया है। वह शब्द मतिराम को बहुत खटका। उन्होंने इसी के कारण दोहे में पूर्ण निर्वाह हो सकने वाले रूपक को भंग होते देखा। अतएव लौं' के निर्वासन पर उन्होंने कमर कसी। इस प्रयत्न में वह सफल भी हुए। उनका दोहा अविकलांग रूपक से अलंकृत है। मतिराम की इस मार्मिकता का रहस्य इस मुकाबले से ही खुलता है—इस तुलना से बिहारी के दोहे की *सुकुमारता और व्याकुलता और साथ ही मतिराम के दोहे में अलंकार-निर्वाह* का दर्शन हो जाता है। कविता की जो परीक्षा इस प्रकार एक या अनेक कवियों की उक्तियों की तुलना करके की जाती है, उसीको 'तुलनात्मक समालोचना' कहते हैं।

(देव और *बिहारी*, पृष्ठ १८-१६)

४—रस-राज

कविता का उद्देश हमारी राय में, आनन्द-प्रदान है। कविता-शास्त्र के प्रधान आचार्यों ने देववाणी संस्कृत में भी कविता का मुख्य उद्देश्य यही माना है। कविता लोकोत्तर आनन्ददायिनी है। राजभाषा अँगरेजी के प्रसिद्ध कविता-समालोचकों की सम्मति भी यही है। तत्काल आनन्द (इमीजियेट प्लेज़र) प्रदान कर देना कविता का कर्त्तव्य है।

यह आनन्द-प्रदान रस के परिपाक से सिद्ध होता है। यों तो नीरस कविता भी मानी गई है, और चित्र-काव्य का भी कविता के अन्तर्गत वर्णन किया गया है, पर वास्तव में रसात्मक काव्य ही काव्य है। रस मनोविकारों के सम्पूर्ण विकास का रूप है। किसी कारण विशेष से एक मनोविकार उत्थित होता है, फिर परिपुष्ट होकर वह सफल होता है, इसीको रस परिपाक कहते हैं। मनोविकार के कारण को विभाव, स्वयं *मनोविकार को स्थायी भाव, उसके अन्य पोषक भावों को व्यभिचारी भाव एवं तज्जन्य* कार्य को अनुभाव कहते हैं। सो 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव की सहायता से जब स्थायी भाव उत्कट अवस्था को प्राप्त हो मनुष्य के मन में अनिर्वचनीय आनन्द को उपजाता है, तब उसे रस कहते हैं' (रस-वाटिका, पृष्ठ ७)। हमारे प्राचीन साहित्य-शास्त्र-प्रणेताओं ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की सहायता से स्थायी भावों के पूर्ण विकास का खूब मनन किया है। इसी के फलस्वरूप उन्होंने नव रस निर्धारित किए हैं, और इन नव रसों में भी शृंगार, वीर और शान्त को प्रधानता दी है। फिर इन तीनों में भी, उनकी राय के अनुसार, शृंगार ही सर्वश्रेष्ठ है।

शृंगार-रस में ही सब अनुभाव, विभाव, व्यभिचारी भाव-पूर्ण प्रकाश प्राप्त कर पाते हैं, अन्य रसों में वे विकलांग रहते हैं। शृंगार-रस का स्थायी भाव 'रति' और सभी रसों के स्थायियों से अच्छा है। रति (प्रेम) में जो व्यापकता, सुकुमारता, स्वाभाविकता, सग्राहकत्व, सृजन शक्ति और आत्म-त्याग के भाव हैं, वे अन्य स्थायियों में नहीं हैं। नर-नारी की प्रीति में प्रकृति और पुरुष की प्रणय-लीला का प्रतिबिंब झलकता है। रति स्थायी के आलम्बन विभावों में परस्पर समान आकर्षण रहता है। अन्य स्थायियों में परस्पर आकर्षण की बात आवश्यक नहीं है। शृंगार-रस के उद्दीपन विभाव भी परम मेध्य, सुन्दर और प्राकृतिक सुखमा से मंडित हैं। इस रस के जो मित्र हैं, उनके साथ-साथ और सब रस भी शृंगार की छत्रच्छाया में आ सकते हैं। सो शृंगार सब रसों का राजा ठहरता है।

(देव और बिहारी, पृष्ठ ७३-७५)

× × ×

प्रत्येक वस्तु का सदुपयोग भी होता आया है, और दुरुपयोग भी। अतएव स्त्री-पुरुष की पवित्र प्रीति पर भी दुराचारियों ने कलंक-कालिमा पोती है, परन्तु इससे उस प्रीति की महत्ता तथा स्थायित्व नष्ट नहीं हो सकता।

(देव और बिहारी, पृष्ठ ७६)

+ + +

कविता में 'आदर्शवाद' का जो विवाद उठाया गया है, वह भी स्वकीया के प्रेम के आगे फीका है। इस विषय पर हम कुछ अधिक विस्तार के साथ लिखना चाहते हैं, पर और कभी लिखेंगे। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि स्वकीयाओं के प्रेम में सराबोर जो कविताएँ उपलब्ध हैं, वे 'कवित्व' के लिये अपेक्षित सभी गुणों से परि-पूर्ण हैं। कदाचित् शृंगारी कविता पर आधुनिक आदर्श-वादियों का एक यह भी अभि-योग है कि वे दुश्चरित्रता की जननी होती हैं। इस अभियोग में सत्यता का कुछ अंश अवश्य है, पर इसके साथ ही अनेक ऐसे वर्णन भी इस श्रेणी में गिन लिए गए हैं, जो इस अभियोग से सर्वथा मुक्त हैं। बात यह है कि शृंगार-रस से परिपूर्ण किसी भी ऐसे वर्णन को, जिसमें बात कुछ खुलकर कही गई हो, ये लोग दुश्चरित्रता-जनक मान बैठे हैं। ऐसे लोगों को ही लक्ष्य करके एक प्रसिद्ध अंगरेज लेखक ने लिखा है—'जो लोग नग्न वर्णन को ही दुश्चरित्रता मान बैठे हैं, उनके ऐसे विचारों का तीव्र प्रतिवाद होना चाहिए, विशेष करके जब ऐसी धारणा उन लोगों की है जो शिक्षित कहे जाते हैं।'

सारांश यह कि दाम्पत्य-प्रेम,से परिपूर्ण कविताओं को हम, आदर्शवाद के विद्रोह की उपस्थिति में भी, बड़े आदर की दृष्टि देखते हैं, जिन प्राचीन तथा नवीन कवियों ने ऐसे उच्च और विशुद्ध वर्णन किए हैं, उनकी भूरि-भूरि सराहना करते हैं, और मनुष्यता के विकास में उनका भी हाथ मानते हैं।

(देव और बिहारी, पृष्ठ ८०-८१)

× × ×

सो शृंगार-रस को रस-राज कहने में भाषा-कवियों को दोष न देना चाहिए। मनोविकारों के स्थायित्व और विकास की दृष्टि से शृंगार-रस सचमुच सब रसों का राजा है। हम कुरुचि-प्रवर्तक कविता के समर्थक नहीं हैं, परन्तु शृंगार-कविता के विरुद्ध जो आजकल धर्मयुद्ध-सा जारी ,कर रक्खा गया है, उसकी घोर निन्दा करने से भी नहीं हिचकते हैं। कविता और नीति किसी भी प्रकार एक नहीं हैं। जैसे चित्रकार जाह्नवी का पवित्र चित्र खींचता है, वैसे ही वह श्मशान का भीषण दृश्य भी दिखलाता है। वेश्या और स्वकीया के चित्र खींचने में चित्रकार को समान स्वतन्त्रता है। ठीक इसी प्रकार कवि प्रत्येक भाव का, चाहे वह कितना ही घृणित अथवा पवित्र क्यों न हो, वर्णन करने के लिये स्वतन्त्र है। कवि लोकोत्तर आनन्द-प्रदान करते हुए नीति भी कहता है, उपदेश भी देता है। पर उपदेश-हीन कविता कविता ही न हो, यह बात नितांत भ्रम-पूर्ण है। कविता के लिये केवल रस-परिपाक चाहिए। उपयोगितावाद के चक्कर में डालकर ललित कला का सौंदर्य नष्ट करना ठीक नहीं।

(देव और बिहारी, पृष्ठ ८१)

५. भाव-सादृश्य

प्रायः देखा जाता है कि कवि लोग अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों का समावेश अपने काव्य में करते हैं। संसार के बड़े-से-बड़े कवियों ने भी अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को निस्संकोच अपनाया है। कवि-कुल-मुकुट कालिदास ने संस्कृत में, महामति शेक्सपियर ने अंगरेजी में, तथा भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी ने हिन्दी भाषा में अपना जो अनोखा काव्य रचा है, उसमें अपने पूर्ववर्ती कवियों के भाव अवश्य लिए हैं। अध्यात्मरामायण, हनुमन्नाटक, प्रसन्न राघव नाटक, वाल्मीकीय रामायण, श्रीमद्भागवत तथा ऐसे ही अन्य और कई ग्रन्थों के साथ श्री तुलसीदास की रामायण पढ़िए, तो शंका होने लगती है कि इन सुकवि शिरोमणि ने कुछ अपने दिमाग से भी लिखा है या नहीं ? एक अंगरेज समालोचक ने महामति शेक्सपियर के कई नाटकों की पंक्तियाँ गिन डाली हैं कि कितनी मौलिक हैं, कितनी यथातथ्य, उसी रूप में, पूर्ववर्ती कवियों की हैं,

तथा कितनी कुछ परिवर्तित रूप में पूर्व में होने वाले कवियों की कविता से ली गई है। शेक्सपियर का 'हेनरी षष्ठ' बहुत प्रसिद्ध नाटक है। इसमें कुल ६०४३ पंक्तियाँ हैं। इनमें से १८९९ पंक्तियाँ ऐसी हैं, जो शेक्सपियर की रचना हैं। पर शेष या तो सर्वथा दूसरों की रचना हैं या शेक्सपियर ने उनमें कुछ काट-छाँट कर दी है। हिन्दी के किसी समालोचक ने ठीक ही कहा है कि "अपने से पूर्व होने वाले कवियों के भाव अपनाने का यदि विचार किया जाय, तो हिन्दी का कोई भी कवि इस दोष से अछूता न छूटेगा। कविता-आकाश के सूर्य और चन्द्रमा को ग्रहण लग जायगा। तारे भी निष्प्रभ हो खद्योत की भाँति टिमटिमाते देख पड़ेंगे।"

कहने का तात्पर्य यह कि कविता-संसार में अपने पूर्ववर्ती कवियों की कृति से लाभान्वित होना एक साधारण-सी बात हो गई है। पर एक बात का विचार आवश्यक है। वह यह कि पूर्ववर्ती कवि की कृति को अपनाने वाला यथार्थ गुणी होना चाहिए। अपने से पहले के साहित्य-भवन से जो ईंट उसे निकालनी चाहिए, उसे नूतन भवन में कम-से-कम वैसे ही कौशल से लगानी चाहिए। यदि वह ईंट को अच्छी तरह न बिठाल सका, तो उसका साहस व्यर्थ प्रयास होगा। उसकी सराहना न होगी, वरन् वह साहित्य का चोर कहा जायगा। पर यदि वह ईंट को पूर्ववर्ती कवि से भी अधिक सफाई के साथ बिठालता है, तो वह ईंट भले ही उसकी न हो, पर वह निन्दा का पात्र नहीं हो सकता। उसे चोर नहीं कह सकते। यह मत हमारा ही नहीं है—संस्कृत और अँगरेजी के विद्वान समालोचकों की भी यही राय है।

कविता के भाव-साहरण के सम्बन्ध में ध्वन्यालोककार कहते हैं—

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किंचित्।
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ॥
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्।
सुकविरुपनिबध्नन् निन्द्यतां नोपयाति ॥

—कि जिस कविता में सहृदय भावुक को यह सूझ पड़े कि इसमें कुछ नूतन चमत्कार है, फिर चाहे उसमें पूर्व कवियों की छाया ही क्यों न दिखलाई पड़े—भाव अपनाने में कोई हानि नहीं है—उस कविता का निर्माता सुकवि, अपनी वर्ण्य छाया से पुराने भाव को नूतन रूप देने के कारण, निंदनीय नहीं समझा जा सकता।

यह तो संस्कृत के आदर्श समालोचक की बात हुई, अब अँगरेजी के परम प्रतिभावान् समालोचक महामति इमर्सन की राय भी सुनिए। वह कहते हैं—

"साहित्य में यह एक नियम-सा हो गया है कि यदि एक कवि यह दिखला सके

कि उसमें मौलिक रचना करने की प्रतिभा है, तो उसे अधिकार है कि वह औरों की रचनाओं को इच्छानुसार अपने व्यवहार में लावे। विचार उसी की संपत्ति है, जो उसका आदर-सत्कार कर सके—ठीक तौर से उसकी स्थापना कर सके। अन्य के लिए हुए विचारों का व्यवहार कुछ भद्दा सा होता है, परन्तु यदि हम यह भद्दापन दूर कर दें, तो फिर वे विचार हमारे हो जाते हैं।"

उपर्युक्त दो सम्मतियाँ इस बात को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त हैं कि भाव-सादृश्य के विषय में विद्वान् समालोचकों की क्या राय रही है। वर्तमान समय में हिन्दी कविता की समालोचना की ओर लोगों की प्रवृत्ति हुई है। भिन्न भिन्न कवियों की कविता में आए हुए सदृश भावों पर भी विवेचन प्रारम्भ हुआ है। जिस समालोचक का अनुराग जिस कवि विशेष पर होता है, वह स्वभावतः उसका पक्षपात कभी-कभी अनजान में कर डालता है। पर कभी कभी विद्वान् समालोचक, हठ-वश अपनी सारी योग्यता एक कवि को बड़ा तथा दूसरे को छोटा दिखाने में लगा देते हैं। यह बात अनजान में न होकर समालोचक की पूरी-पूरी जानकारी में होती है। इससे यथार्थ बात छिपाई जाती है, जिससे समालोचना का मुख्य उद्देश्य नष्ट हो जाता है। ऐसी समालोचनाओं को तो "पक्षपात-परिचय" कहना चाहिए। इस "पक्षपात परिचय" में जब समालोचक आलोच्य कवि को खरी-खोटी भी सुनाने लगता है, तो वह पक्षपात-परिचय भी न रहकर 'अनुचित उद्गार'—मात्र रह जाता है। ऐसी समालोचनाओं में यदि कोई महत्त्वपूर्ण बात रहती भी है, तो वह छिप जाती है। समालोचक का सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है। दुःख है कि वर्तमान हिन्दी-साहित्य में कभी-कभी ऐसी समालोचनाएँ निकल जाती हैं।

यदि किसी कवि की कविता में भाव-सादृश्य आ जाय, तो समालोचना करते समय एकाएक उसे 'गुनचड' या 'चोर' न कह बैठना चाहिए, वरन् उस प्रसंग पर इमर्सन और ध्वन्यालोककार की सम्मति देख कर कुछ लिखना अधिक उपयुक्त होगा। कितने ही समालोचक ऐसे हैं, जो कवि की कविता में भाव-सादृश्य पाते ही कलम-कुल्हाड़ा लेकर उसके पीछे पड़ जाते हैं, और समालोच्य कवि को गालियाँ भी दे बैठते हैं। अतएव काव्य में चोरी क्या है, इस बात को हिन्दी-समालोचकों को अच्छी तरह हृदयंगम कर लेना चाहिए।

(देव और बिहारी, पृष्ठ ८४-८७)

गुलाबराय

[जन्म—सं० १९४४ वि०]

ग्रन्थ – सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप

१—काव्य का सौन्दर्य

सौन्दर्य की जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य के अनुकूल हो वही सुन्दर है। 'सुधा सराहिय अमरता गरल सराहिय मीचु' यह भी उपयोगिता का ही रूप है। क्रोचे ने अभिव्यक्ति को ही कला या सौन्दर्य माना है। वह सफल विशेषण भी नहीं जोड़ना चाहता क्योंकि असफल अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति नहीं है। यह परिभाषा कला-कृतियों पर ही अधिक लागू होती है। इन परिभाषाओं से हम इस तथ्य पर आये हैं कि सौन्दर्य का गुण किसी अंश में वस्तुगत है और उसका निर्णय तद्गत गुणों, रेखाओं आदि के सामञ्जस्य पर निर्भर है। इन गुणों, रूपों आदि का जितना सामञ्जस्य पूर्ण बाहुल्य होगा उतनी वह वस्तु सुन्दर होगी (क्रोचे ने सौन्दर्य में श्रेणी-भेद नहीं माना है, वह असुन्दर की ही श्रेणियाँ मानता है)। उसकी विषयगतता ही लोक-रुचि का निर्माण करती है। वैयक्तिक रुचि यदि विरुद्ध हो तो उसकी सराहना नहीं की जाती।

> सीतलताऽ सुगन्ध की, महिमा घटी न मूर।
> पीनस वारे जो तज्यो, सोरा जानि कपूर॥

इसी के साथ सौन्दर्य का विषयीगत पक्ष भी है जिसके कारण उसकी ग्राहकता आती है। सौन्दर्य का प्रभाव भी विषयी पर ही पड़ता है, इसीलिए उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

सौन्दर्य बाह्य रूप में ही सीमित नहीं है वरन् उसका आन्तरिक पक्ष भी है। उसकी पूर्णता तभी आती है जब आकृति गुणों की परिचायक हो। सौन्दर्य का आन्तरिक पक्ष ही शिव है। वास्तव में सत्य, शिव और सुन्दर भिन्न भिन्न क्षेत्रों में एक दूसरे के अथवा अनेकता में एकता के रूप हैं। सत्य ज्ञान की अनेकता में एकता है, शिव कर्म-क्षेत्र की अनेकता की एकता का रूप है। सौन्दर्य भाव क्षेत्र का सामञ्जस्य है। सौन्दर्य को हम वस्तुगत गुणों का रूपों के ऐसे सामञ्जस्य को कह सकते हैं जो हमारे भावों में साम्य उत्पन्न कर हमको प्रसन्नता प्रदान करे तथा हमको तन्मय कर ले। सौन्दर्य रस का वस्तुगत पक्ष है। रसानुभूति के लिए जिस सतोगुण की अपेक्षा रहती

है वह सामंजस्य का ही आन्तरिक रूप है। सतोगुण एक प्रकार से रजोगुण और तमोगुण का सामंजस्य ही है। उसमें न तमोगुण की सी निष्क्रियता रहती है और न रजोगुण की-सी उत्तेजित सक्रियता। सन्तुलनपूर्ण सक्रियता ही सतोगुण है। इसी प्रकार के सौन्दर्य की सृष्टि करना कवि और कलाकार का काम है। संसार में इस सौन्दर्य की कमी नहीं। कलाकार इस सौन्दर्य पर अपनी प्रतिभा का आलोक डालकर इसे जनता के लिए सुलभ और ग्राह्य बना देता है।

कवि जहाँ पर सामंजस्य का अभाव देखता है वहाँ वह थोड़ी काट-छाँट के साथ सामंजस्य उत्पन्न कर देता है। वही सामंजस्य पाठक या श्रोता के मन में समान प्रभाव उत्पन्न कर उसके आनन्द का विधायक बन जाता है। सौन्दर्य की इतनी विवेचना करने पर भी उसमें कुछ अनिर्वचनीय तत्त्व रहता है जिसके लिए बिहारी के शब्दों में कहना पड़ता है—'वह चितवन औरै कछू जिहि बस होत सुजान' इसी अनिर्वचनीयता के कारण प्रभाववादी आलोचना और रुचि को महत्त्व मिलता है।

(सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ८२-८३)

२—काव्य और साहित्य

साहित्य शब्द अपने व्यापक अर्थ में सारे वाङ्मय का द्योतक है। वाणी का जितना प्रसार है वह सब साहित्य के अन्तर्गत है। इस अर्थ में औषधियों के विज्ञापन और बीमा कम्पनियों के सूचना-पत्र भी साहित्य में आ जाते हैं। वैज्ञानिक साहित्य, गणित-शास्त्र अथवा अर्थ शास्त्र सम्बन्धी साहित्य—ऐसे प्रयोग तो हमारी भाषा में प्रचलित हैं ही। साहित्य का शब्दार्थ भी संग्रह के ही निकट है। अपने संकुचित अर्थ में साहित्य काव्य का पर्याय हो जाता है। जहाँ हम साहित्य का प्रश्न पत्र कहते हैं वहाँ साहित्य से काव्य ही अभिप्रेत होता है। यही हाल अँग्रेजी शब्द 'लिट्रेचर' का है। व्यापक अर्थ में जितना अक्षरों (लेटर्स) का आयोजन है वह सब लिट्रेचर है। लिट्रेचर शब्द 'लेटर्स' से ही बना है। संकुचित अर्थ में लिट्रेचर काव्य का पर्याय है। काव्य में गद्य और पद्य दोनों ही आते हैं। कविता शब्द यद्यपि पद्यात्मक काव्य में रूढ़ हो गया है तथापि कभी-कभी उसका व्यापक अर्थ में भी प्रयोग होने लगता है, जैसे जब कोई मनुष्य अधिक भावुकतापूर्ण वार्तालाप करने लगता है तब हम उससे कहते हैं 'भाई, तुम तो कविता करने लगे'। कविता से पद्यात्मक साहित्य का बोध होता है किन्तु काव्य शब्द पूरे भाव प्रधान साहित्य का बोधक होता है। साहित्य के व्यापक अर्थ में काव्य और शास्त्र दोनों ही आ जाते हैं। रस प्रधान साहित्य काव्य कहलाता है और ज्ञान-

प्रधान साहित्य में, जिसमें बुद्धि और नियम का शासन अधिक रहता है, वह शास्त्र (साइंस) कहलाता है। जीवन की पूर्णता दोनों के अनुशीलन में है—'काव्य-शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'। (सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ २३)

३—प्रगीत-काव्य

प्रगीत काव्य में कवि जो कुछ कहता है अपने निजी दृष्टिकोण से कहता है। उसमें निजीपन के साथ रागात्मकता रहती है। यह रागात्मकता आत्म निवेदन के रूप में प्रकट होती है। रागात्मकता में तीव्रता बनाये रखने के लिए उसका अपेक्षाकृत छोटा होना आवश्यक है। आकार की इस संक्षिप्तता के साथ भाव की एकता और अन्विति लगी रहती है। छोटेपन की सार्थकता भाव की अन्विति में है। गीत-काव्य में विविधता रहती है किन्तु वह प्रायः एक ही केन्द्रीय भाव की पुष्टि के लिए होती है। वह केन्द्रीय भाव प्रायः टेक या स्थायी में रहता है और वह बार-बार दुहराया जाता है। इस प्रकार प्रभाव घनीभूत होता रहता है और भाव की अन्विति भी होती जाती है। संक्षेप में प्रगीत-काव्य के तत्त्व इस प्रकार हैं— संगीतात्मकता और उसके अनुकूल सरस प्रवाह-मयी कोमल-कान्त पदावली, निजी रागात्मकता (जो प्रायः आत्म निवेदन के रूप में प्रगट होती है), संक्षिप्तता और भाव की एकता। यह काव्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक अन्त प्रेरित (स्पॉन्टेनियस) होता है और इसी कारण इसमें कला होते हुए भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।

प्रगीत-काव्य के कई रूप हो सकते हैं (सवैये आदि भी गेय हैं) किन्तु गीत इसका मुख्य रूप है। श्रीमती महादेवी वर्मा ने, जिनका स्थान आजकल के गीत-काव्य लिखने वालों में बहुत ऊँचा है, गीत की परिभाषा इस प्रकार दी है —

साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके। अनुभूति को तीव्र बनाये रखने में तथा उसको दूसरों तक पहुँचाने के लिए भाव की अभिव्यक्ति पर थोड़ा संयम भी आवश्यक हो जाता है। जल बँधी हुई नाली में ही गति के साथ बह सकता है। यह नियन्त्रण और संयम बाहर से नहीं वरन् स्वयं ही प्राप्त हो जाता है।

गीत और इतिवृत्त

गीत या प्रगीत काव्य के लिए यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जब उसमें रागात्मक आत्म-निवेदन एक आवश्यक तत्त्व है तब गीतावली में या सूरसागर के कथा-सम्बन्धी पदों का क्या स्थान है? क्या वे प्रगीत-काव्य की संज्ञा से बाहर हो जाते हैं?

जहाँ पर भक्त अपने निजी उल्लास के साथ अपने इष्टदेव की लीला का वर्णन करता है वहाँ उसमें रागात्मक आत्म-निवेदन आ ही जाता है। सूर और तुलसी के पदों में यह रागात्मक निजीपन पूर्ण रूप में पाया जाता है। सूर तो पद के अन्त में 'सूर के प्रभु' 'सूर के ठाकुर' कहकर निजी सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा के शब्दों में हम कह सकते हैं कि *'मिट्टी के भरे पात्र में जैसे रजकण ही अपने भीतर पानी के लिए जगह बना देते हैं वैसे ही यथार्थ के लिए भाव में ऐसी स्वाभाविक स्थिति चाहिए जो भाव ही से मिल सके। इससे अधिक इतिवृत्त गीत में नहीं समा पाता।'* इसीलिए गीतकार को बहुत-सी बातें छोड़ देनी पड़ती हैं। रौद्र, भयानक, बीभत्स रस गीत-काव्य के कोमल हार्द (स्प्रिट) के कारण त्याज्य हो जाते हैं। इसी कारण तुलसी-दास जी की गीतावली में युद्ध का वर्णन नहीं है।

लोकगीत और साहित्यिक गीत

गीत लोक-गीत भी होते हैं और साहित्यिक भी। लोक-गीतों के निर्माता प्रायः अपना नाम अव्यक्त रखते हैं और कुछ में वह व्यक्त भी रहता है। (बुन्देलखण्डी कवि ईसुरी की फागों में उसके नाम की छाप मिलती है)। वे लोक-भावना में अपने भाव मिला देते हैं। लोक-गीतों में होता तो निजीपन ही है किन्तु उनमें साधारणीकरण और सामान्यता कुछ अधिक रहती है, तभी वे वैयक्तिक रस की अपेक्षा जनरस उत्पन्न कर सकते हैं। इन गीतों में प्रत्येक गायक और श्रोता का तादात्म्य हो जाता है। इनका सम्बन्ध प्रायः अवसर विशेष, (होली, विवाह, जन्मोत्सव आदि) से रहता है। साहित्यिक गीतों में निर्माता का निजीपन अधिक रहता है। लोक-गीतों में भी साहित्यिक गीतों की-सी कल्पना रहती है। प० रामनरेश त्रिपाठी ने एक लोक-गीत अपने संग्रह में दिया है। उसका भाव यह है कि एक हरिनी जिसके पति को राजा दशरथ ने आखेट में मार डाला था माता कौशल्या के पास जाती है। वे पीढ़ा पर बैठी थीं और वह उनसे उसकी खाल माँगती हुई कहती है कि *मांस तो रसोई में रँध रहा है, मुझे खाल दे दो, मैं उसे पेड़ पर टाँग कर देखा करूँगी और समझूँगी कि मानो हिरन जीता है।* माता कौशल्या कहती है कि इससे मेरे राम के लिए खजरी बनेगी। जब-जब खजरी बजती थी तब-तब हरिनी कान उठाकर उसका शब्द सुनती थी और उसी ढाक के नीचे खड़ी होकर हिरन के लिए रोती थी :—

मचिये बैठी कौशल्या रानी हरिनी अरज करइ।
रानी! मसवा त सिझहि रसोइयाँ खलरिया हमें देतिउ॥

पेड़या से टँगतिउँ खलरिया त हेरिफेरि देखितिउँ ।
रानी देखि-देखि मन समझाइत जनुक हरिना जीतइ ॥
जाहु हरिनी घर आपने खलरिया नहीं देवइ ।
हरिनी ! खलरीक खझड़ी मिढ़ऊवइ त राम मोर खेलिहँइ ॥
जब जब बाजइ खँजड़िया सबद सुनि अनकइ ।
हरिनी ठाढ़ि ढँकुलिया के नीचे हरिन का बिसूरइ ॥

इस गीत के अज्ञात कवि की कल्पना में करुण रस पराकाष्ठा को पहुँच गया है।

एक विरहिरणी नायिका की, जिसका पति रात को प्रवास से लौटने वाला था, उत्साहमयी मनोदशा का चित्रण नीचे की पंक्तियों में देखिए —

"आजु उगो मोरे चन्दा जुन्हैया आगन सोवै,
झिलमिल होंहि तरइयाँ तो मोतिन चौक भरै।"

लोक गीत भी जातीय साहित्य से सामग्री ग्रहण करते रहते हैं। रामायण और महाभारत से सम्बन्धित अनेको लोक गीत हैं।

साहित्यिक गीत कई प्रकार के होते हैं। इनमें हम दो मुख्य भेद देखते हैं। कुछ तो शुद्ध संवेदनात्मक होते हैं, जैसे—कबीर तथा मीरा के गीत अथवा तुलसी के विनय-पत्रिका के पद और कुछ कथाश्रित होते हैं, जैसे—सूर के लीला-सम्बन्धी पद। उनमें भी कवि आत्म निवेदन करता है। किन्तु किसी दूसरे पात्र द्वारा। शुद्ध संवेदनात्मक गीतों में कवि स्वयं ही अपना निवेदन करता है। उसके निवेदन में और लोग भी भाग लें तो दूसरी बात है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि तुलसी अपने विनय के पदों में भी लोक का प्रतिनिधित्व करते हैं। साहित्यिक गीतों का उदय लोक गीतों से ही हुआ है। मेरी समझ में तो महाकाव्य भी लोक-गीतों के विकसित और संगठित रूप हैं। बहुत से साहित्यिक गीत भी लावनी आदि लोक-गीतों के अनुकरण में बने हैं।

(काव्य के रूप, पृष्ठ १०७-११०)

४. दुःखान्त नाटक

पाश्चात्य देशों में नाटकों का विभाजन दुःखान्त और सुखान्त रूप में किया जाता था। दुःखान्त नाटक प्रारम्भ में गम्भीर नाटक होते थे। दुःख में गाम्भीर्य अधिक रहता है। इसीलिए गम्भीर नाटकों ने दुःखान्त का रूप धारण किया। आजकल

दु:खान्त-सुखान्त का ऐसा कटा-छँटा विभाजन नहीं रहा जैसा पहले था। भारतवर्ष में तो सब नाटक सुखान्त ही होते थे। किन्तु उनमें थोड़ा-बहुत दु:ख का तत्त्व भी रहता था। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि दु:खान्त नाटकों के देखने से क्यों सुख होता है ? यदि सुख नहीं मिलता है तो हम पैसा देकर क्यों आँसू बहाने जाते हैं ? इस सम्बन्ध से अरस्तू ने तो अपना रेचन का सिद्धान्त चलाया था। उनका कथन है कि हमारे मन में जो करुणा और भय की मात्रा रहती है, यदि वह इकट्ठी होती रहे तो हानिकारक हो जायेगी। जिस प्रकार वैद्य हमारे मलों को निकालकर हमारे शरीर को शुद्ध कर देता है, उसी प्रकार दु:खान्त नाटक में कृत्रिम रूप से हमारी करुणा और भीति (भय) को निकास मिल जाता है।

यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है। अँगरेजी के आलोचक (एफ० एल० लूकास) का कथन है कि हम इन भावों को निकालना नहीं चाहते हैं वरन् उनका उपभोग करना चाहते हैं। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि कथानक के दु:खात्मक होते हुए भी शैली की सरसता उसमें आनन्द की सृष्टि कर देती है।

इस सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि दु:खान्त नाटक अथवा दु:खात्मक नाटक, नाटक तो होते ही हैं और जिस प्रकार और कोई नाटक या काव्य हमको प्रसन्नता देते हैं। उसी प्रकार और उन्हीं कारणों से दु:खान्त नाटक भी प्रसन्नता देते हैं। काव्य या नाटक से हम को क्यों प्रसन्नता होती है ? इसके भी कई उत्तर हो सकते हैं। उनमें से एक यह भी है कि काव्य के द्वारा हमारी आत्मा का विस्तार होता है। हम शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध में आते है। नाटक चाहे दु:खान्त हो, चाहे सुखान्त, उसके पात्र हमारे जैसे हाड़, मांस, चाम के पुतले होते हैं और वे हमारी तरह ही इच्छा द्वेष और प्रयत्न कर सुख या दु:ख के भागी बनते हैं। मनुष्य स्वभाव से सहानुभूतिशील है। वह अपने कुल और गात की वृद्धि चाहता है।

मनुष्य सामाजिक जीव है। वर्तमान सभ्यता का जटिल जीवन अथवा संसार में जीवन के सीमित उपादान उसको प्रतिद्वन्द्विताशील और असामाजिक बना देते हैं। यद्यपि ऐसे भी लोग हैं जो 'बिन काज दाहिने बाएँ' होते हैं तथापि वे विरले हैं और यदि उनका इतिहास देखा जाय तो ज्ञात होगा कि वे भी जीवन के किसी अभाव या निराशा के कारण ऐसे बने होंगे। नाटक देखने या उपन्यास पढ़ने से हमारे सामाजिक भाव की तृप्ति होती है। नाटक या उपन्यासों के पात्रों से हमारा सम्बन्ध किसी प्रकार से दूषित भाव का नहीं होता। वे हमारे प्रतिद्वन्द्वी नहीं होते और न उनसे हमारा जमीन-जायदाद का कोई झगड़ा होता है। उनके प्रति हमको ईर्ष्या और मात्सर्य भी नहीं होता और न उनकी विभूति देखकर हमको जूड़ी आती है क्योंकि ज्यादातर हमको

अपने पड़ोसी को मोटर में जाते देखकर ईर्ष्या होती है, दुनिया-भर से नहीं। जिनका ईर्ष्या-भाव अधिक व्यापक हो जाता है, उनको नाटक या सिनेमा में भी आनन्द न मिलेगा। इस प्रकार नाटक, सिनेमा, उपन्यास, प्रबन्ध-काव्य सभी हमारे सामाजिक भाव की तृप्ति करते हैं। काव्य के द्वारा लौकिक जीवन की कटुता, रुखाई और दाहकता, माधुर्य, स्निग्धता और शीतलता का रूप धारण कर लेती है और काव्य के आलम्बनों से हमारा निजी सम्बन्ध न रह कर मानवता का नाता हो जाता है। हमारे लौकिक सम्बन्ध कभी-कभी मानवता से हटे रहते हैं। काव्य के सम्बन्ध मानवता के सम्बन्ध होने के कारण सत्व गुण-प्रधान होते हैं। इसी सत्व-गुण की अभिवृद्धि से जिज्ञासा-वृत्ति से उत्पन्न चित्त की एकाग्रता द्वारा आत्मा का स्वाभाविक आनन्द प्रस्फुटित हो उठता है। यही ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानन्द है। हिन्दू शास्त्रों का कुछ ऐसा ही मत है।

दुःखान्त नाटकों का दुःख क्या इस आनन्द में बाधक होता है? इसके लिए हमको दुःख का कारण जानना चाहिए। वास्तविक जीवन में दुःख का कारण निजीपन ही तो है। इसी से ज्ञानी मुक्त होना चाहता है। काव्य द्वारा हम लौकिक जीवन के निजीपन को तो खो देते हैं। ऐसा करने में कुछ नुकसान अवश्य होता है क्योंकि सुखानुभूति की तीव्रता कुछ कम हो जाती है। (यदि दर्शक को स्वयं लाटरी मिल जाय तो उसको नाटक के नायक को लाटरी या सम्पत्ति मिलते देखने से कहीं अधिक प्रसन्नता होगी) लेकिन उसी के साथ अनुभूति की व्यापकता बढ़ जाती है। तीव्रता के स्थान में व्यापकता आती है।

नाट्य का आनन्द सहानुभूति का आनन्द है। वह वैसा ही आनन्द है, जैसा कि एक परोपकारी जीव को दुःखित और पीड़ितों की सहायता से मिलता है। दुःखान्त नाटकों के देखने के कारण रस की उत्पत्ति होती है। हम शोक नहीं चाहते किन्तु करुण रस में मग्न होना चाहते हैं। भाव सुख दुःखमय होते हैं, रस आनन्दमय है।

दुःखान्त या दुःखात्मक नाटकों का दुःख आनन्द में बाधक नहीं वरन् सहायक होता है। दुःखान्त नाटक (ट्रेजडी) का मूल अर्थ गम्भीरता-प्रधान (सीरियस) नाटक था। दुःखान्त नाटकों में जीवन का गाम्भीर्य अधिक होने के कारण उनमें सुखान्त नाटकों की अपेक्षा सहानुभूति की मात्रा अधिक होती है। इस सहानुभूति से हमारी आत्मा का विस्तार हो सुख है। सुखान्त नाटकों में ईर्ष्या आदि के बुरे भाव भी जागरित हो सकते हैं किन्तु दुःख की अतिशयता का भी हमारे ऊपर बुरा प्रभाव पड़ता है इसीलिए हमारे यहाँ दुःखात्मक नाटक होते हैं, दुःखान्त नहीं।'

दुःखान्त नाटकों में मनुष्य की सहनशीलता को देखकर हम में गर्व की भावना जाग्रत होती है और कभी-कभी हम अपने अपेक्षाकृत तुच्छ दुःखों को भूल जाते हैं। सुख में तो विलास की उन्मत्तता आती है और दुःख में सात्त्विकता का उदय होता है। इस दृष्टि से दुःखान्त नाटकों का महत्त्व अवश्य है फिर भी उनके द्वारा हमारी ईश्वरीय न्याय की भावना में ठेस लगती है। भारतीय नाटककार इस भावना को ठेस नहीं पहुँचाते।

(काव्य के रूप, पृष्ठ ३३-३६)

५. साहित्य में चरित्र-चित्रण

सौन्दर्य-वर्णन के साथ चरित्र-चित्रण का भी प्रश्न उपस्थित हो जाता है। आलम्बन के भाषे या आत्म-भाव (परसनैलिटि) में उसका रूप और चरित्र सभी कुछ आ जाता है। यद्यपि हमारे यहाँ नायक और विशेषकर नायिकाओं का वर्गीकरण हास्यास्पद कोटि तक पहुँच गया है और उनमें नायकों और नायिकाओं के सामान्य या ढाँचे (टाइप्स) उपस्थित करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है तथापि हमारे यहाँ व्यक्तित्व की अवहेलना नहीं की गई है। नाटकों में तो व्यक्तित्व काफी निखरा हुआ रहता है। धीरोदात्त नायक एक सामान्य (टाइप) अवश्य है किन्तु राम और युधिष्ठिर का व्यक्तित्व भिन्न है, इसी प्रकार दुष्यन्त और अग्निमित्र दोनों ही धीर-ललित हैं किन्तु उनका व्यक्तित्व एक नहीं है।

सामान्य और व्यक्ति का समन्वय ही चरित्र-चित्रण की मूल समस्या है। यदि पात्र अधिक सामान्य की ओर जाता है तो उसका अस्तित्व नहीं रहता है और यदि वह सामान्य से बहुत हट जाता है तो पागल या विक्षिप्त कहलाने लगता है, इसलिए सफल पात्र वे ही हैं जो सामान्य से दूर न होते हुए भी अपनी विशेषता बनाये रखते हैं और उसके कारण वे पहचाने जा सकते हैं। एक सफल पात्र में दोनों ही अंश होते हैं। उसको जो कुछ समाज से मिलता है वह उसका सामान्य अंश होता है और जो व्यक्ति स्वयं अपनी गाँठ का लाता है वह उसका वैयक्तिक भाग होता है। फिर भी कुछ पात्र सामान्य की ओर अधिक झुके होते हैं और कुछ व्यक्तित्व की ओर। सामान्य की ओर झुके हुए पात्र सरल होते हैं और व्यक्तित्व की ओर झुके हुए पात्र अपेक्षाकृत पेचीदा। किन्तु यह बात नियम रूप से नहीं स्वीकृत हो सकती है। आचार्य शुक्लजी ने मथरा को सामान्य (टाइप) पात्र ही माना है। अपनी मालकिन की हित-कामना तथा इधर की उधर लगाने की प्रवृत्ति उसमें अन्य नौकरानियों की सी ही है किन्तु इन दो प्रवृत्तियों की साधना का प्रकार सब में एक-सा नहीं होता है। इसी में व्यक्ति की विशेषता आ जाती है।

हमारे यहाँ उपन्यासो में प्रेमचन्दजीके पात्र सामान्य की ओर अधिक झुके रहते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनमें व्यक्तित्व नहीं है। कुछ का तो व्यक्तित्व बड़ा स्पष्ट है जैसे कर्मभूमि में सलीम का। वह अपने वर्ग के मजिस्ट्रेटों से भिन्न है किन्तु वैसे लोग भी जीवन में मिल जाते हैं। जैनेन्द्रजी तथा इलाचन्द्र जोशी के पात्र साधारण से हटे हुए होते हैं। कुछ तो इतने हटे होते हैं (जैसे जैनेन्द्र जी के हरिप्रसन्न और और सुनीता) कि विक्षिप्तता की कोटि को पहुँच जाते हैं। इलाचन्द्र जोशी के 'प्रेत और छाया' का नायक मानसिक विकृतियों का शिकार होने के कारण साधारण से हटा हुआ है। पात्र जितना पचीदा होता है उतनी ही उसके मनोवैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता होती है। शेखर ऐसा ही पात्र है। कुछ पात्रों में एक गुण ऐसा होता है जो साधारण से विलक्षण होता है वही उनके चरित्र की कु जी होती है और उसी के कारण वे सदा याद रहते हैं, जैसे स्कन्दगुप्त की देवसेना अपने समय-कुसमय के संगीत-प्रेम के लिए सदा याद रहेगी।

चरित्र चित्रण महाकाव्य, खण्डकाव्य, कथात्मक मुक्तक, नाटक, उपन्यास, कहानी सभी में थोड़ी-बहुत मात्रा में होता है किन्तु सब में अलग-अलग प्रकार से। महाकाव्य में वैयक्तिक गुण तो रहते हैं किन्तु वे जाति के सामान्य गुणों की छाया-रूप होते हैं। नाटक, उपन्यास, कहानी आदि में व्यक्तित्व की मात्रा अधिक रहती है। उपन्यास में विश्लेषणात्मक के (जिसमें लेखक स्वयं चरित्र का विश्लेषण कर देता है) अतिरिक्त अभिनयात्मक पद्धति की भी (जिसमें पात्र स्वयं अपने बारे में कहता है या दूसरे उसके बारे में अपनी राय जाहिर करते हैं अथवा उसके कार्यों द्वारा चरित्र पर प्रकाश पड़ता है) गु जाइश रहती है। नाटक में केवल अभिनयात्मक पद्धति से ही काम लिया जाता है। एकांकियों और कहानियों में चरित्र का विकास तो दिखाने की गु जाइश नहीं होती किन्तु उनमें प्राय बने-बनाये चरित्र पर एक साथ प्रकाश डाला जाता है या यदि परिवर्तन होता है तो एक साथ होता है, जैसा कि डा० रामकुमार वर्मा के रेशमी टाई या अट्ठारह जुलाई की शाम में अथवा प्रेमचन्द जी की 'शतरंज' अथवा कौशिक जी की 'ताई' नाम की कहानी में। हमारे देश के प्राचीन काव्य और नाटकों में पात्र आदर्श की ओर अधिक झुके हुए थे किन्तु उनमें व्यक्तित्व की कमी न थी—हाँ उनमें विकास और परिवर्तन की गु जाइश कम रहती थी। यह बात राम-कृष्ण आदि अवतारी पुरुषो पर अधिक लागू होती थी। मनुष्य के अन्त करण का परिचायक या तो उसका वार्तालाप होता है या उसका काम, यदि दिखावटी न हो। ये सब विभाव के ही अंग हैं। (सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ८७-९०)

६—साधारणीकरण का स्वरूप

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं (उसकी मुख्य विशेषताओं की सम्पन्नता अक्षुण्ण रहती है) वरन् उसके सम्बन्धों का होता है। जल, वायु, नीलाकाश की भाँति उस पर किसी का विशेषाधिकार नहीं रहता। उसमें न ममत्व-जन्य दुःख और परत्व-जन्य ईर्ष्यादि भावों की गुंजाइश रहती है। कवि भी अपने निजी व्यक्तित्व से ऊँचा उठकर साधारणीकृत हो जाता है। वह लोक का प्रतिनिधि होकर (जब वह निजी भावों की अभिव्यक्ति करता है तब वह भी लोक में शामिल हो जाता है) भावाभिव्यक्ति करता है। पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि वह अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बन्धनों को तोड़कर लोक-सामान्य की भाव-भूमि में आ जाता है, उसका हृदय कवि और लोक-हृदय (जिसमें विशेष परिस्थितियों को छोड़कर काव्य का आश्रय भी आ जाता है) के साथ प्रति-स्पन्दित होने लगता है। अपने व्यक्तित्व की अनुभूति रसास्वाद में बाधा मानी गई है।

भावों का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि उनसे भी 'अयं निजः परो वा' की भावना जाती रहती है और इस कारण उनमें लौकिक अनुभव की स्थूलता, कटुता, तीक्ष्णता और रूक्षता नहीं रहती है। एकात्मवाद के अधिक प्रचार के कारण भारतीय मनोवृत्ति सामान्य की ओर अधिक झुकी हुई है। एकात्मवाद के कारण अनुभवों और प्रवृत्तियों की एकता और भावों के तादात्म्य को दृढ़ भित्ति मिल जाती है किन्तु साधारणीकरण के प्रवाह में वैयक्तिक विशेषताओं को न बहा देना चाहिए। कवि की विशेषताएँ ही जनता की मनोवृत्ति को बदलती हैं। पाश्चात्य देशों में व्यक्ति का मान है। हमको भी उसे भूलना न चाहिए।

प्राचीन आदर्शों और वर्तमान आदर्शों में इस बात का अन्तर हो गया है कि पहले नायक प्रख्यात और उच्चकुलोद्भव होता था और अब होरी किसान भी उपन्यास का नायक बन जाता है। पहले प्रख्यात नायक इसीलिए रहता था जिससे कि सहृदय पाठकों का सहज में तादात्म्य हो जाय, अब लोगों की मनोवृत्तियाँ कुछ बदल गई हैं। आभिजात्य का अब उतना मान नहीं रहा है। इसीलिए होरी के सम्बन्ध में पाठकों का सहज में ही तादात्म्य हो जाता है। पात्र के कल्पित होने से भी उसके साधारणीकरण में बाधा नहीं पड़ती क्योंकि वह प्रायः अपनी जाति का प्रतिनिधि होता है।

साधारणीकरण की उपयोगिता काव्यानुशीलन की उपयोगिता है। उससे द्वारा हमारी सहानुभूति विस्तृत हो जाती है। हम दूसरे के साथ भाव-तादात्म्य करना सीखते हैं। हमारे भावों का परिष्कार होकर उनका पारस्परिक सामञ्जस्य भी होने

लगता है। शृंगार, जो लौकिक अनुभव में विषयानन्द का रूप धारण कर लेता है, काव्य में परिष्कृत हो आत्मानन्द के निकट पहुँच जाता है। काव्यानुशीलन करने वाले की रति भी सात्विकोन्मुखी हो जाती है। काव्य के अनुशीलन से व्यक्ति ऊंचा उठ जाता है और उसके जीवन में सन्तुलन आ जाता है।

(सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ १७५–१७६)

जयशंकर प्रसाद

[समय—सन् १८८९-१९३७ ई०]

ग्रन्थ—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध

१—काव्य

सत्य की अभिव्यक्ति हमारे वाङ्मय में दो प्रकार से मानी गई है—काव्य और शास्त्र। शास्त्र में श्रेय का आज्ञात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है और काव्य में श्रेय और प्रेय दोनो का सामञ्जस्य होता है। शास्त्र मानव-समाज में व्यवहृत सिद्धान्तों के संकलन हैं। उपयोगिता उनकी सीमा है। काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है, क्योंकि आत्मा को मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय माना गया है। 'अयमात्मा वाङ्मय, मनोमय, प्राणमय' (बृहदारण्यक) उपविज्ञात प्राण, विज्ञात वाणी और विजिज्ञास्य मन है।

इसीलिए कवित्व को आत्मा की अनुभूति कहते हैं। मनन-शक्ति और मनन से उत्पन्न हुई अथवा ग्रहण की गई निर्वचन करने की वाक् शक्ति और इनके सामञ्जस्य को स्थिर करने वाली सजीवता अविज्ञात प्राणशक्ति ये तीनों आत्मा की मौलिक क्रियाएँ हैं। + + + + काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निःसन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनो से परिपूर्ण होती है।

इसी कारण हमारे साहित्य का आरम्भ काव्यमय है। वह एक द्रष्टा कवि का सुन्दर दर्शन है। संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है। कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण होती हैं, इसमें क्या प्रमाण है? किन्तु इसीलिए साथ ही-साथ असाधारण अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। असाधारण

अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है, क्योंकि सत्य अथवा श्रेय-ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर यह आलोक को सुन्दर और ऊर्जस्वित बनाती है।

२—कला

कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या मानने का जो प्रसङ्ग आता है उससे यह प्रकट होता है कि यह विज्ञान से अधिक सम्बन्ध रखती है। उसकी रेखाएँ निश्चित सिद्धान्त तक पहुँचा देती हैं। सम्भवतः इसीलिए काव्य समस्या-पूरण इत्यादि भी छन्द-शास्त्र और पिङ्गल के नियमों के द्वारा बनने के कारण उपविद्या-कला के अन्तर्गत माना गया है। छन्द-शास्त्र काव्योपजीवी कला का शास्त्र है। इसलिए यह भी विज्ञान का अथवा शास्त्रीय विषय है। वस्तु-निर्माण, मूर्त्ति और चित्र शास्त्रीय दृष्टि से शिल्प कहे जाते हैं और इन सबकी विशेषता भिन्न भिन्न होने पर भी, ये सब एक ही वर्ग की वस्तु हैं।

× × × × सब को कलन करने का उपयोग, आत्म-अनुभूति की व्यञ्जना में प्रतिभा के द्वारा तीन प्रकार से किया है—अनुकूल, प्रतिकूल और अद्भुत। ये तीन प्रकार के प्रतीक विधान काव्य जगत में दिखाई पड़ते हैं। अनुकूल, अर्थात् ऐसा ही। यह आत्मा के विज्ञात अंश का गुणनफल है। प्रतिकूल, अर्थात् ऐसा नहीं। यह आत्मा के अविज्ञात अंश की सत्ता का ज्ञान न होने के कारण हृदय के समीप नहीं। अद्भुत—आत्मा का विजिज्ञास्य रूप, जिसे हम पूरी तरह समझ नहीं सके हैं, कि वह अनुकूल है या प्रतिकूल। इन तीन प्रकार के प्रतीक विधानों से आदर्शवाद, यथार्थ्यवाद और व्यक्तिवाद इत्यादि साहित्यिक वादों के मूल सन्निहित हैं जिसकी विस्तृत आलोचना की यहाँ आवश्यकता नहीं। कला को तो शास्त्रों में उपविद्या माना है। फिर उसका साहित्य में या आत्मानुभूति में कैसा विशेष अस्तित्व है, इस प्रश्न पर विचार करने के समय यह बात ध्यान में रखनी होगी कि कला की आत्मानुभूति के साथ विशिष्ट भिन्न सत्ता नहीं, अनुभूति के लिए शब्द विन्यास कौशल तथा छन्द जाति भी प्रयत्न आवश्यक नहीं।

व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है। क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम में अभिव्यक्त देखते हैं। उस अनुभूति और अभिव्यक्ति के अन्तरालवर्ती सम्बन्ध को जोड़ने के लिए हम चाहें तो कला का नाम ले सकते हैं, और कला के प्रति अधिक पक्षपात-

पूर्ण विचार करने पर यह कोई कह सकता है कि अलंकार, वक्रोक्ति और रीति और कथानक इत्यादि में कला की सत्ता मान लेनी चाहिये, किन्तु मेरा मत है कि यह सब समय समय की मान्यता और धारणाएँ हैं। प्रतिभा का किसी कौशल विशेष पर कभी अधिक झुकाव हुआ होगा। इसी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को कला के नाम से काव्य में पकड़ रखने की साहित्य में प्रथा सी चल पड़ी है।

३—यथार्थवाद

यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख। × × × × दुरुपयोग से मानवता के प्रतिकूल होने पर अपराध कहे जाने वाले कर्मों से जिस युग के लेखक समझौता कराने का प्रयत्न करते हैं, वे ऐसे कर्मों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। व्यक्ति की दुर्बलता के कारण की खोज में व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था और सामाजिक रूढ़ियों को पकड़ा जाता है। और इस विषमता को ढूंढने पर वेदना ही प्रमुख होकर सामने आती है। साहित्यिक न्याय की व्यावहारिकता में वह सदिग्ध होता है। तथ्यवादी पतन और स्खलन का भी मूल्य जानता है। और वह मूल्य है, स्त्री नारी है और पुरुष नर है; इनका परस्पर केवल यही सम्बन्ध है।

वेदना से प्रेरित होकर जन-साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दिशा में प्रायः सिद्धान्त बन जाता है कि हमारे दुःख और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और प्राचीन सामाजिक रूढ़ियाँ हैं। फिर तो अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि वे सब समाज के कृत्रिम पाप हैं। अपराधियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर सामाजिक परिवर्तन के सुधार का आरम्भ साहित्य में होने लगता है। इस प्रेरणा में आत्म-निरीक्षण और शुद्धि का प्रयत्न होने पर भी व्यक्ति के पीड़न, कष्ट और अपराधों से समाज को परिचित कराने का प्रयत्न भी होता है और यह सब व्यक्ति-वैचित्र्य से प्रभावित होकर पल्लवित होता है। स्त्रियों के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख होकर, मातृत्व से उत्पन्न हुए सब सम्बन्धों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप में मनुष्यता पहुँच जाती है, तब उन्हीं सामाजिक बन्धनों को बाधा धातक समझ पड़ती है और इन बन्धनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगता है। यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं अपितु महानों का भी है। वस्तुतः यथार्थवाद का मूल भाव है वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन्न भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है, तब वेदना की विवृत्ति आवश्यक हो जाती है।

४—छायावाद

कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से—जिसमें बाह्य वर्णन की प्रधानता थी—इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। × × × × बाह्य उपाधि से हटकर आन्तर-हेतु की ओर कवि-कर्म प्रेरित हुआ। इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिये जिन शब्दों की योजना हुई, हिन्दी में पहले वे कम समझे जाते थे, किन्तु शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने में सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है।

× × अभिव्यक्ति का यह निराला ढंग अपना स्वतन्त्र लावण्य रखता है। इसके लिए प्राचीनों ने कहा—

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।

मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। कुन्तक ने वक्रोक्ति-जीवित में कहा है—

प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते।

शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। 'वैदग्ध्य भंगी भणिति' में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थित होती है। (शब्दस्यहि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्—लोचन २०८) कुन्तक के मत में ऐसी भणिति (शास्त्रादि प्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्ध व्यतिरेकी) होती है। यह रम्यच्छायान्तरस्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में होती है। कुन्तक के शब्दों में यह (उज्ज्वलच्छायातिशय रमणीयता—१३३) वक्रता की उद्भासिनी है।

परस्परस्य शोभायै बहव: पतिता: क्वचित् ।
प्रकारा जनयन्तेतां चित्रच्छायामनोहराम् ॥ ३४ ॥
(२ उन्मेष व० जी०)

कभी-कभी स्वानुभव संवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिये सर्वनामादिकों का सुन्दर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण होता है।

× × × × कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि यह साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है वह नहीं है, किन्तु यौवन के भीतर रमणी-सुलभ श्री की बहिन ही है, घूँघट वाली लज्जा नहीं। संस्कृत साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है। अभिनवगुप्त ने लोचन में एक स्थान पर लिखा है—

परां दुर्लभां छाया आत्मरूपतां याति।

इस दुर्लभ छाया का संस्कृत काव्योत्कर्ष-काल में अधिक महत्व था। आवश्यकता इसमें शाब्दिक प्रयोगों की भी थी, किन्तु आन्तर अर्थ वैचित्र्य को प्रकट करना भी इसका प्रधान लक्ष्य था। इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं। उन्होंने उपमाओं में भी आन्तर सारूप्य खोजने का प्रयत्न किया था। × × प्राचीनों ने भी प्रकृति की निर-तिशयता का अनुभव किया था—

शुचिशीतलचन्द्रिकाप्लुताश्चिरनि:शब्दमनोहरा: दिशा: ।
प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि तस्याप्यथ हेतुतां ययु: ॥

इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलंकार के भीतर आने पर भी ये उनसे कुछ अधिक हैं। कदाचित् ऐसे प्रयोगों के आधार पर जिन अलंकारों का निर्माण होता था, उन्हीं के लिये आनन्दवर्धन ने कहा है —

तेऽलंकारा: परां छाया यान्तिध्वन्य गतां गता: । (२-२९)

प्राचीन साहित्य में यह छायावाद अपना स्थान बना चुका है। हिन्दी में जब इस तरह के प्रयोग आरम्भ हुए तो कुछ लोग चौंके सही, परन्तु विरोध करने पर भी अभिव्यक्ति के इस ढंग को ग्रहण करना पड़ा। कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्मस्पर्श काव्य-जगत के लिये अत्यन्त आवश्यक थे। वाक् या श्लेष की तरह यह सीधी वक्रोक्ति भी न थी। बाह्य से हट कर काव्य की प्रवृत्ति आन्तर की ओर चल पड़ी थी।

× × × छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।

५—नाटकों में रस का प्रयोग

भाव ही आत्म-चैतन्य में विश्रान्ति पा जाने पर रस होते हैं। जैसे विश्व के भीतर से विश्वात्मा की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह नाटकों से रस की। आत्मा के निजी अभिनय में भाव-सृष्टि होती है। जिस तरह आत्मा की और इद की भिन्नता मिटाने में अद्वैतवाद का प्रयोग है, उसी प्रकार एक ही प्रत्यगात्मा के भाववैचित्र्यों का—जो नर्तक आत्मा के अभिनय मात्र हैं—अभेद या साधारणीकरण भी रस में है। इस रस में आस्वाद का रहस्य है। × × × इधर एक निम्न कोटि की रसानुभूति की भी कल्पना हुई है। कुछ लोग कहते हैं कि 'जब किसी अत्याचारी के अत्याचार को हम रंगमंच पर देखते हैं, तो हम उस नट से अपना साधारणीकरण नहीं कर पाते। फलतः उसके प्रति रोष-भाव ही जागृत होता है, यह तो स्पष्ट विषमता है।' किन्तु रस में फलयोग अर्थात् अन्तिम सन्धि मुख्य है, इन बीच के व्यापारों में जो संचारी भावों के प्रतीक हैं रस को खोज कर उसे छिन्न भिन्न कर देना है। ये सब मुख्य रस वस्तु के सहायक मात्र हैं। अन्वय और व्यतिरेक से, दोनों प्रकार से वस्तु निर्देश किया जाता है। इस लिए मुख्य रस का आनन्द बढ़ाने में ये सहायक मात्र ही हैं, वह रसानुभूति निम्न कोटि की नहीं होती।

× × × आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और उसके चरित्र-वैचित्र्य को ले कर ही अपनी सृष्टि करती है। भारतीय दृष्टिकोण रस के लिए इन चरित्र और व्यक्ति-वैचित्र्यों को रस का साधन मानता रहा, साध्य नहीं। रस में चमत्कार ले आने के लिए इनको बीच का माध्यम सा ही मानता आया। सामाजिक इतिहास में, साहित्य-सृष्टि के द्वारा, मानवीय वासनाओं को संशोधित करने वाला पश्चिम का सिद्धान्त व्यापारों में चरित्र-निर्माण का पक्षपाती है। यदि मनुष्य ने कुछ भी अपने को कला के द्वारा सम्हाल पाया, तो साहित्य ने संशोधन का काम कर लिया। दया और सहानुभूति उत्पन्न कर देना ही उसका ध्येय रहा और है भी। वर्तमान साहित्यिक प्रेरणा—जिसमें व्यक्ति-वैचित्र्य और यथार्थवाद मुख्य हैं—मूल में संशोधनात्मक ही है। कहीं व्यक्ति से सहानुभूति उत्पन्न कर के समाज का संशोधन है, और कहीं समाज की दृष्टि से व्यक्ति का

किन्तु दया और सहानुभूति उत्पन्न करके भी वह दुख को अधिक प्रतिष्ठित करता है, निराशा को अधिक आश्रय देता है। भारतीय रसवाद में मिलन, अभेद सुख की सृष्टि मुख्य है। रस में लोक-मङ्गल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित है। सामाजिक स्थूल रूप से नहीं, किन्तु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर। वासना से ही क्रिया सम्पन्न होती है और क्रिया के सङ्कलन से व्यक्ति का चरित्र बनता है। चरित्र में महत्ता का आरोप हो जाने पर, व्यक्तिवाद का वैचित्र्य उन महती लीलाओं से विद्रोह करता है। यह है पश्चिम की कला का दुष्परिणाम। रसवाद में वासनात्मक तथा स्थित मनोवृत्तियाँ, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं, इसलिए वह वासना का संशोधन न करके उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रस-सृष्टि वह करता है, उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है, और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक दूसरे के पूरक बन कर, चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बना कर, रस की सृष्टि करते हैं। रसवाद की यही पूर्णता है।

६—रंगमंच

अनुकरण में फैशन की तरह बदलते रहना, साहित्य में ठोस अपनी वस्तु का निमन्त्रण नहीं करता। वर्तमान और प्रतिक्षण का वर्तमान सदैव दूषित रहता है, भविष्य के सुन्दर निर्माण के लिये। कलाओं को अकेले प्रतिनिधित्व करने वाले नाटक के लिये तो ऐसी 'जल्दबाजी' बहुत ही अवाञ्छनीय है। यह रस की भावना से असपृष्ट व्यक्ति-वैचित्र्य की यथार्थवादिता ही का आकर्षण है, जो नाटक के सम्बन्ध में विचार करने वालों को उद्विग्न कर रहा है। प्रगतिशील विश्व है, किन्तु अधिक उछलने में पदस्खलन का भी भय है। साहित्य में युग की प्रेरणा भी आदरणीय है, किन्तु इतना ही अलम् नहीं। जब हम यह समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाये रखने के लिये हमको वर्तमान सभ्यता का—जो सर्वोत्तम है—अनुसरण करना चाहिये, तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है, इसलिए हमको साहित्य में एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिये। जिस तरह हम स्वाभाविक या प्राचीन शब्दों में लोकधर्मी अभिनय की आवश्यकता समझते हैं ठीक उसी प्रकार से नाट्य-धर्मी अभिनय को भी, देश, काल, पात्र के अनुसार रंगमंच में संगृहीत रहना चाहिए। पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़ कर नये को नहीं पाया है।

थी भारतेन्दु ने रंगमंच की अव्यवस्थाओं को देखकर जिस हिन्दी रंगमंच की स्वतन्त्र स्थापना की थी, उसमें इन सब का समन्वय था। उस पर सत्य-हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, नीलदेवी, चंद्रावली, भारत-दुर्दशा, प्रेमयोगिनी सब का सहयोग था। हिन्दी रंगमंच को इस स्वतन्त्र चेतना को सजीव रख कर रंगमंच की रक्षा करनी चाहिए। केवल नई पश्चिमी प्रेरणाएँ हमारी पथ प्रदर्शिका न बन जायें। हाँ, उन सब साधनों से जो वर्तमान विज्ञान द्वारा उपलब्ध हैं, हमको वंचित भी न होना चाहिये।

आलोचकों का कहना है कि "वर्तमान युग की रंगमंच की प्रवृत्ति के अनुसार भाषा सरल हो और वास्तविक भी हो।" वास्तविक का प्रच्छन्न अर्थ इब्सेनिज्म के आधार पर कुछ और भी है। वे छिपकर कहते हैं, हमको अपराधियों से घृणा नहीं, सहानुभूति रखनी चाहिये। इसका उपयोग चरित्र चित्रण में व्यक्ति वैचित्र्य के समर्थन में भी किया जाता है। रंगमंच पर ऐसे वस्तु-विन्यास समस्या बनकर रह जायेंगे। प्रभाव का असम्बद्ध स्पष्टीकरण भाषा की क्लिष्टता से भयानक है।

× × × रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिये लिख जायें। प्रयत्न तो यह होना चाहिये कि नाटक के लिए रंगमंच हों, जो व्यावहारिक है। हाँ, रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है। देश-काल की प्रवृत्तियों का समुचित अध्ययन भी आवश्यक है। फिर तो पात्र रंगमंच पर अपना कार्य सुचारु-रूप से कर सकेंगे। इन सब के सहयोग से ही हिन्दी रंगमंच का अभ्युत्थान संभव है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

[जन्म—सन् १८९६]

ग्रन्थ—पन्त और पल्लव, परिमल

१. कवित्त छन्द

कवित्त-छंद के संबंध में पंत जी का जान पड़ना आर्यों के आदि आवास पर की गई आर्यों ही के सृष्टि-तत्व के प्रतिकूल अँग्रेजों की भिन्न-भिन्न कल्पनाओं की तरह बुद्धि का वयन-शिल्प प्रदर्शन करने के अतिरिक्त और कोई सग्राह्य सार पदार्थ नहीं रहता। हिन्दी के प्रचलित छंदों में जिस छंद को एक विशाल भू-भाग के मनुष्य कई शताब्दियों तक गले का हार बनाए रहे, जिसमें उनके हर्ष-शोक, संयोग वियोग और मैत्री-शत्रुता की समुद्गत विपुल भाव-राशि आज साहित्य के रूप में विराजमान हो रही है—आज भी जिस छंद की आवृत्ति करके ग्रामीण सरल मनुष्य अपार आनन्द अनुभव करते हैं, जिसके समक्ष कोई दूसरा छंद उन्हें जँचता ही नहीं, करोड़ों मनुष्यों के उस जातीय छंद को—उनके प्राणों की जीवनी-शक्ति को परकीय कहना कितनी दूरदर्शिता का परिचायक है, पंतजी स्वयं समझें। पंतजी की रुचि तमाम हिंदी-संसार की रुचि नहीं हो सकती। जो वस्तु उनकी अपनी नहीं, उसके संबंध में विचार करते समय, वह जिनकी वस्तु है, उन्हीं की रुचि के अनुकूल उन्हें विचार करना था। मैं समझता हूँ, जो वस्तु अपनी नहीं होती, उस पर किसी की ममता भी नहीं होती, वह किसी के हृदय पर विजय प्राप्त नहीं कर सकती। जिस दिन कवित्त-छंद की सृष्टि हुई थी, उस दिन वह भले ही हिंदी-भाषी अगणित मनुष्यों की अपनी वस्तु न रहा हो, परन्तु समय के प्रवाह में हिंदी के अन्यान्य प्रचलित छंदों की अपेक्षा अधिक बल उसे ही दिया, उसी की तरंग में हिंदी-जनता को अपने मनोमल के धोने और सुभाषित रत्नों की प्रशंसा में बहुत कुछ कहने और सुनने की आवश्यकता पड़ी। पंतजी ने जो कवित्त छंद को हिंदी के उच्चारण संगीत के प्रतिकूल, अस्वाभाविक गति से चलने वाला बतलाया, इसका कारण पंतजी के स्वभाव में है, जिसका पता शायद वह अभी नहीं सके। उनकी कविता में (Female graces) स्त्रीत्व के चिह्न अधिक होने के कारण उनके स्वभाव का स्त्रीत्व कवित्त-जैसे पुरुषत्व-प्रधान काव्य के समझने में बाधक हुआ है। रही संगीत की बात, सो संगीत में भी स्त्री-पुरुष भेद हुआ करता है—राग और रागिनियों के नाम ही उनके उदाहरण हैं।

अक्षर-मात्रिक स्वर-प्रधान राग स्त्री-भेद में और व्यंजन प्रधान पुरुष भेद में होंगे। पंतजी ने कवित्त की लड़ी को १६ मात्राओं से जो अपने अनुकूल कर लिया, वह स्त्री-भेद में जा नहीं सकती, उसके स्त्रीत्व का परिवर्तन नहीं हो सकता, परन्तु कवित्त में यह बात नहीं। इस छंद में एक ऐसी विशेषता है, जो संसार के किसी छंद में न होगी। निर्गुण आत्मा की तरह यह पुरुष भी बनता है और स्त्री भी। यों पंतजी ने तो इसे नपुंसक सिद्ध कर ही दिया है। चौताल में इस छंद के पुरुषत्व का कितना प्रसार होता है, स्वर किस तरह परिपुष्ट उच्चरित होते हैं, आनन्द कितना बढ़ता है।

यही कवित्त छंद जिसे आप ४८ मात्राओं में चौताल के वर्गीकृत चार चरणों में अलग अलग देखते हैं, जब ठुमरी के सुकोमल-स्वरूप में आता है, उस समय न वह उदात्त भाव रहता है, न वह पुरुष पुरातन तक ले जानेवाला उसका पौरुष। उस समय के परिवर्तित स्वरूप में इस समय के उनके लक्षण बिलकुल नहीं मिलते।

पंतजी की कविताओं में स्वच्छंद छंद की एक लड़ी भी नहीं, परन्तु वह कहते हैं, 'पल्लव' में मेरी अधिकांश रचनाएँ इसी छंद में हैं, जिनमें 'उच्छ्वास', 'आँसू' तथा 'परिवर्तन' विशेष बड़ी हैं।" यदि गीति-काव्य और स्वच्छंद छंद का भेद, दोनों की विशेषताएँ पंतजी को मालूम होतीं तो वह ऐसा न लिखते।

यदि यथार्थ तत्त्व की दृष्टि से उनकी पंक्तियों की जाँच की जाय, तो कहना होगा कि उनकी इस तरह की पंक्तियाँ—

"दिव्य स्वर का आँसू का तार
बहा दे हृदयोद्गार।"

जिनकी संख्या उनकी अब तक की प्रकाशित कविताओं में बहुत थोड़ी है—विषम-मात्रिक होने पर भी गीति काव्य की परिधि को पार कर स्वच्छंद छंद की निरापार नंदन भूमि पर पैर नहीं रख सकती। उद्धृत प्रथम पंक्ति में चार आघात हैं और दूसरी में तीन। इस तरह की पंक्तियों में छंद की मात्राओं से पहले संगीत की मात्राएँ सूझ जाती हैं। छंद भी संगीत प्रधान है, अतएव वह अपनी प्रधानता को छोड़ कर एक दूसरे छंद के घेरे में, जो इसके लिये अप्रधान है, नहीं जा सकता। दूसरे स्वच्छंद छंद में 'तार' और 'गार' के अनुप्रासों की कृत्रिमता नहीं रहती—वहाँ कृत्रिम तो कुछ है ही नहीं। यदि कारीगरी की गई, मात्राएँ गिनी गईं, लड़ियों के बराबर रखने पर ध्यान रक्खा गया, तो इतनी बाह्य विभूतियों के गर्व में स्वच्छंदता का सरल सौंदर्य, सहज प्रकाशन, निश्चय है कि, नष्ट हो जाता है। पंतजी ने जो लिखा है कि स्वच्छंद छंद ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर चल सकता है, यह एक बहुत बड़ा भ्रम है। स्वच्छंद छंद में (Art of music) नहीं मिल सकता, वहाँ है (Art of Reading), वह

स्वर-प्रधान नहीं, व्यंजन-प्रधान है। वह कविता की स्त्री-सुकुमारता नहीं, कवित्व का पुरुष-गर्व है। उसका सौंदर्य गाने में नहीं, वार्तालाप करने में है। उसकी सृष्टि कवित्त से हुई है, जिसे पंतजी विदेशी कहते हैं, जो उनकी समझ में नहीं आया। मेरे—

"देख यह कपोत-कंठ—
बाहु-वल्ली-कर-सरोज—
उन्नत उरोज पीन-क्षीण कटि—
नितंब-भार—चरण सुकुमार—
गति मंद-मंद
छूट जाता धैर्य ऋषि मुनियों का,
देवों भोगियों की तो बात ही निराली है।"

इस छंद को, जिसे मैं हिन्दी का मुक्त-काव्य समझता हूँ, पंतजी ने रवीन्द्रनाथ की—

"हे सम्राट कवि,
एइ तव हृदयेर छवि,
एइ तव नव मेघदूत,
अपूर्व अद्‌भुत"—आदि—

पंक्तियों के उद्धरण से बँगला से लिया गया सिद्ध करने की चेष्टा की है। वह कहते हैं, निरालाजी का यह छंद बँगला के अनुसार चलता है। उनका यह रवीन्द्रनाथ के छंद से समता दिखाने का प्रयत्न शायद उनके कृत कार्यों का संस्कार-जन्य फल हो, परन्तु वास्तव में इस छंद की स्वच्छन्दता उनकी समझ में नहीं आई। यदि वह कवित्त-छंद को कुछ महत्व देते तो शायद समझ भी लेते।

'देख यह कपोत-कंठ' के 'ह' को निकाल दीजिए। अब देखिए, कवित्त-छंद के एक चरण का टुकड़ा बनता है या नहीं। इसी तरह 'बाहु-वल्ली कर-सरोज' के 'र' को निकालकर देखिए। लिखे हुए संपूर्ण चरणों की धारा कवित्त छंद की है, नियमों की रक्षा नहीं की गई, न स्वच्छंद में की जा सकती है। कहीं-कहीं बिना किसी प्रकार का परिवर्तन किए ही मेरे मुक्त-काव्य में कवित्त छंद के बद्ध लक्षण प्रकट हो जाते हैं। अवश्य इस तरह की लड़ी मैं जान-बूझकर नहीं रक्खा करता। पंतजी द्वारा उद्धृत मेरे उस अंश की तीसरी लड़ी—

"उन्नत उरोज पीन।"

इसका प्रमाण है। यदि कोई महाशय यह पूछें कि कहीं-कहीं तो कवित्त-छंद का सच्चा स्वरूप प्रकट होता है, और कहीं-कहीं नहीं हो पाता, ऐसा क्यों?—यह तो

छंद की कमजोरी है, ऐसा न होना चाहिए, उत्तर में निवेदन मुझे जो कुछ करना था, एक बार संक्षेप में कर चुका हूँ, यहां फिर कहता हूँ। मुक्त-काव्य में बाह्य समता दृष्टि-गोचर नहीं हो सकती, बाहर केवल पाठ से उसके प्रवाह में जो सुख मिलता है, उच्चारण से मुक्ति की जो अबाध धारा प्राणों को सुख-प्रवाह-सिक्त निर्मल किया करती है, वही इसका प्रमाण है। जो लोग उसके प्रवाह में अपनी आत्मा को निमज्जित नहीं कर सकते, उसकी विषमता की छोटी-बड़ी तरंगों को देख कर ही डर जाते हैं, हृदय खोल कर उससे अपने प्राणों को मिला नहीं सकते, मेरे विचार से यह उन्हीं के हृदय की दुर्बलता है।

(पन्त और पल्लव, पृष्ठ ४४)

२. मुक्त काव्य और मुक्त छन्द

मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना। जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी तरह भी दूसरे के प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके तमाम कार्य औरों को प्रसन्न करने के लिये होते हैं—फिर भी स्वतन्त्र, इसी तरह कविता का भी हाल है। मुक्त-काव्य कभी साहित्य के लिये अनर्थ-कारी नहीं होता, किन्तु उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है। जैसे बाग की बँधी और वन की खुली हुई प्रकृति। दोनों ही सुन्दर हैं, पर दोनों के आनन्द तथा दृश्य दूसरे-दूसरे हैं। जैसे आलाप और ताल की रागिनी। इसमें कौन अधिक आनन्द-प्रद है, यह बतलाना कठिन है। पर इसमें सन्देह नहीं कि आलाप, वन्य प्रकृति तथा मुक्त काव्य स्वभाव के अधिक अनुकूल हैं।

(परिमल, पृष्ठ १४)

× × ×

वैदिक साहित्य-काव्य में इस प्रकार की स्वच्छन्द सृष्टि को देखकर हम तत्का-लीन मनुष्य-स्वभाव की मुक्ति का अन्दाजा लगा लेते हैं। परवर्ती काल में ज्यों-ज्यों चित्र-प्रियता बढ़ती गई है, साहित्य में स्वच्छन्दता की जगह नियन्त्रण तथा अनुशासन प्रबल होता गया है, यह जाति त्यों-त्यों कमजोर होती गई है। सहस्रों प्रकार के साहित्यिक बन्धनों से यह जाति स्वयं भी बँध गई जैसे मकड़ी आप ही अपने जाल में बंध गई हो, जैसे फिर निकलने का एक ही उपाय रह गया हो कि उस जाल की उल्टी परिक्रमा कर वह उससे बाहर निकले। उस ऊर्णनाभ ने जितनी जटिलता दूसरे जीवों को फाँसने के लिये उस जाल में की थी, वह उतने ही दृढ़ रूप से बँधा हुआ है, अब उसे अपनी मुक्ति

के लिये उन तमाम बन्धनों को पार करना होगा। यही हाल वर्तमान समय में हमारे काव्य-साहित्य का है। इस समय के और पराधीन काल के काव्यानुशासनों को देखकर हम जाति की मानसिक स्थिति को भी देख ले सकते हैं। अनुशासन के समुदाय चारो तरफ़ से उसे जकड़े हुए हैं—साहित्य के साथ साथ राज्य, समाज, धर्म, व्यवसाय, सभी कुछ पराधीन हो गए हैं। चित्र स्वयं ससीम है, इसलिये उन्हे प्यार करवाने वाली वृत्ति भी एक सीमा के अन्दर चक्कर लगाया करती है, और इस तरह उस वृत्ति को धारण करने वाला मनुष्य भी चाहे पहले का स्वतन्त्र हो, पर पीछे से सीमा में बँध कर पराधीन हो जाता है। नियम और अनुशासन भी सीमा के ही परिचायक होते हैं, और क्रमश मनुष्य जाति को क्षुद्र से क्षुद्रतर तथा गुलाम से गुलाम कर देने वाले।

साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में देख पड़ती है। इस तरह जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है। धीरे-धीरे चित्र-प्रियता छूटने लगती है। मन एक खुली हुई प्रशस्त भूमि में विहार करना चाहता है। चित्रों की सृष्टि तो होती है, पर वहाँ उन तमाम चित्रों को अनादि और अनन्त सौन्दर्य में मिलाने की चेष्टा रहती है। बर्फ़ में जैसे तमाम वर्णों की छटा, सौन्दर्य आदि दिखला कर उसे फिर किसी ने वाष्प में विलीन कर दिया हो या असीम सागर से मिला दिया हो। साहित्य में इस समय यही प्रयत्न जोर पकड़ता जा रहा है, और यही मुक्ति-प्रयास के चिह्न भी हैं। अब लीलाम्बरी ज्योतिर्मूर्ति की सृष्टि कर चतुर साहित्यिक फिर उसे अनन्त नील-मण्डल में लीन कर देते हैं। पल्लवों के हिलने में किसी अज्ञात चिरन्तन अनादि सर्वज्ञ को हाथ के इशारे से अपने पास बुलाने का इंगित प्रत्यक्ष करते हैं। इस तरह चित्रों की सृष्टि असीम सौन्दर्य में पर्यवसित की जाती है। और यही जाति के मस्तिष्क में विराट् हृदयों के समावेश के साथ-ही साथ स्वतन्त्रता की प्यास को भी प्रखरतर करते जा रहे हैं।

यही बात छन्दों के सम्बन्ध में भी है। छन्द भी जिस तरह कानून के अन्दर सीमा में मुख में आत्म-विस्मृत हो सुन्दर नृत्य करते, उच्चारण की शृंखला रखते हुए श्रवण-माधुर्य के साथ-ही-साथ श्रोताओं को सीमा के आनन्द में भुला रखते हैं, उसी तरह मुक्त छन्द भी अपनी विषम गति में एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य देता है, जैसे एक ही अनन्त महासमुद्र के हृदय की सब छोटी-बड़ी तरंगें हों, दूर-प्रसरित दृष्टि में एकाकार, एक ही गति में उठती और गिरती हुई।

(परिमल, पृष्ठ १६-१८)

× × ×

इस तरह की (प्रियप्रवास, ग्रन्थि आदि की छन्दोबद्ध) कविता अनुकान्त काव्य का गौरव-पद अपने ही अधिकृत करती हो, वह मुक्त-काव्य या स्वच्छन्द छन्द कदापि

नहीं। जहाँ मुक्ति रहती है, वहाँ बन्धन नहीं रहते। न मनुष्यों में, न कविता में। मुक्ति का अर्थ ही है बन्धनों से छुटकारा पाना। यदि किसी प्रकार का शृंखलाबद्ध नियम कविता में मिलता गया, तो वह कविता उस शृंखला से जकड़ी हुई ही होती है, अतएव उसे हम मुक्ति के लक्षणों में नहीं ला सकते, न उस काव्य को मुक्त काव्य कह सकते हैं। ऊपर जितने प्रकार के अतुकान्त काव्य के उदाहरण दिए गए हैं, सब एक-एक सीमा में बँधे हुए हैं, एक-एक प्रधान नियम सबमें पाया जाता है। गण-वृत्तों में गणों की शृंखला, मात्रिक वृत्तों में मात्राओं का साम्य, वर्ण-वृत्तों में अक्षरों की समानता मिलती है। कहीं भी इस नियम का उल्लंघन नहीं किया गया। इस प्रकार के दृढ़ नियमों में बँधी हुई कविता कदापि मुक्त छन्द नहीं हो सकती। मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है। इस पुस्तक के तीसरे खण्ड में जितनी कविताएँ हैं, सब इस प्रकार की हैं। उनमें नियम कोई नहीं। केवल प्रवाह कवित्त छन्द का-सा जान पड़ता है। कहीं-कहीं आठ अक्षर आप ही-आप आ जाते हैं। मुक्त-छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।

"विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी
स्नेह स्वप्न-मग्न अमल-कोमल-तनु तरुणी
जुही की कली
दृग बन्द किए—शिथिल पत्राक में।"

यहाँ 'सोती थी सुहाग-भरी' आठ अक्षरों का एक छन्द आप-ही-आप बन गया है। तमाम लड़ियों की गति कवित्त छन्द की तरह है। हिन्दी में मुक्त काव्य कवित्त-छन्द की बुनियाद पर सफल हो सकता है। कारण, यह छन्द चिर-काल से इस जाति के कण्ठ का हार हो रहा है। दूसरे, इस छन्द में एक विशेष गुण यह भी है कि इसे लोग चौताल आदि बड़ी तालों में तथा ठुमरी की तीन तालों में भी सफलतापूर्वक गा सकते हैं, और नाटक आदि के समय इसे काफी प्रवाह के साथ पढ़ भी सकते हैं। आज भी हम रामलीलाओं में लक्ष्मण-परशुराम संवाद के समय, वार्तालाप में इस छन्द का चमत्कार प्रत्यक्ष कर लेते हैं। यदि हिन्दी का कोई जातीय छन्द चुना जाय, तो वह यही होगा। आजकल के मार्जित कानों को कवित्त-छन्द का नाटक में प्रयोग ज़रा खटकता है, और वह इसलिये कि बार-बार अन्त्यानुप्रास का आना वार्तालाप की स्वाभाविकता को बिगाड़ देता है। बाबू मैथिलीशरणजी को इस विचार से विशेष सफलता मिली है। कारण, कवित्त-छन्द की गति पर उनके अमित्र छन्द में अन्त्यानुप्रास मिटा दिया गया है। नाटकों में सबसे अधिक रोचकता इसी कवित्त-छन्द की बुनियाद पर

लिखे गए स्वच्छन्द छन्द द्वारा आ सकती है। इस अपने छन्द को मैं अनेक साहित्यिक गोष्ठियों में पढ़ चुका हूँ, और हिन्दी के प्रसिद्ध अधिकांश सज्जन सुन चुके हैं। एक बार कलकत्ता पब्लिक स्टेज पर भी इस छन्द में नाटक लिखकर खेल चुका हूँ। लोगों से मुझे अब तक उत्साह ही मिलता रहा है। पर दूसरों की पठन अक्षमता के आक्षेप भी अक्सर सुनता रहा हूँ। मेरा विचार है कि अनभ्यास के कारण उन्हें पढ़ने में असुविधा होती है। छन्द की गति का कोई दोष नहीं। आजकल हिन्दी के दो-चार और लेखकों तथा कवियों ने इस छन्द में रचना प्रयास किया है, और उन्हें सफलता भी मिली है। इससे मेरा विश्वास इस पर और भी दृढ़ हो गया है। इस छन्द में Art of Reading का आनन्द मिलता है, और इसीलिये इसकी उपयोगिता रंगमंच पर सिद्ध होती है। कहीं-कहीं मिल्टन और शेक्सपियर ने सर्वत्र अपने अतुकान्त काव्य का उपयोग नाटकों में ही किया है। बँगला में माइकेल मधुसूदन द्वारा अतुकान्त कविता की सृष्टि हो जाने पर नाट्याचार्य गिरीशचन्द्र ने अपने स्वच्छन्द-छन्द का नाटकों में ही प्रयोग किया है। स्वच्छन्द छन्द नाटक पात्रों की भाषा के लिये ही है, यों उसमें चाहे जो कुछ लिखा जाय। अब इसके समर्थन में अधिक कुछ नहीं लिखना। कारण, समर्थन की अपेक्षा अधिकाधिक रचना इसके प्रचार तथा प्रसार का योग्य उपाय है।

(परिमल, पृष्ठ २१-२३)

३—मुक्त-छन्द

अलंकार-लेश-रहित, श्लेष-हीन
शून्य विशेषणों से—
नग्न नीलिमा-सी व्यक्त
भाषा सुरक्षित वह वेदों में आज भी—
मुक्त छन्द,
सहज प्रकाशन वह मन का—
निज भावों का प्रकट अकृत्रिम चित्र।

(परिमल, पृष्ठ २६४, 'जागरण' शीर्षक कविता)

सुमित्रानन्दन पन्त

[समय—सन् १९००]

ग्रन्थ—पल्लव, ग्राम्या, आधुनिक कवि, उत्तरा

१. काव्य-भाषा

भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय-स्वरूप है। यह विश्व के हृत्तन्त्री की झंकार है, जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है। विश्व की सभ्यता के विकास तथा ह्रास के साथ वाणी का भी युगपद् विकास तथा ह्रास होता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं की विशेषताएँ, भिन्न भिन्न जातियों तथा देशों की सभ्यता की विशेषताएँ हैं। संस्कृत की देव-वीणा में जो आध्यात्मिक-संगीत की परिपूर्णता है वह संसार की अन्य शब्द-तन्त्रियों में नहीं, और पाश्चात्य-साहित्य के विशद यन्त्रालय में जो विज्ञान के कल-पुर्जों की विचित्रता, बारीकी तथा सजधज है, वह हमारे भारती-भवन में नहीं।

प्रत्येक युग की विशेषता भी संसार की वाणी पर अपनी छाप छोड़ जाती है। एक नित्य सत्य है, एक अनित्य, अनित्य-सत्य के क्षणिक पद-चिह्न संसार की सभ्यता के राज पथ पर बदलते जाते, पुराने मिटते, नवीन उनके स्थान पर स्थापित होते रहते हैं। नित्य सत्य उसके शिलालेखों में गहरा अंकित हो जाता है, उसे कालानिल के झोंके नहीं मिटा सकते। प्रत्येक युग इस अखण्डनीय सत्य के अपरिमेय वृत्त का एक छोटा-सा खण्ड-मात्र, इस अनन्त सिन्धु की एक तरंग-मात्र है, जिसका अपना विशेष-स्वरूप, विशेष आकार-प्रकार, विशेष विस्तार एवं विशेष ऊँचाई होती है, जो अपने संघ-स्वर में सनातन के एक विशेष अंश को वाणी देता है। वही नाद उस युग के वायु-मण्डल में गूंज उठता, उसकी हृत्तन्त्री से नवीन छन्दों, तालों में नवीन रागों, स्वरों में प्रतिध्वनित हो उठता, नवीन युग अपने लिए नवीन वाणी, नवीन जीवन, नवीन रहस्य, नवीन स्पन्दन-कम्पन, तथा नवीन साहित्य ले आता, और पुराना जीर्ण-पतझड़ इस नवजात वसन्त के लिए बीज तथा खाद-स्वरूप बन जाता है। नूतन-युग संसार की शब्द-तन्त्री में नूतन-ठाट जमा देता, उसका विन्यास बदल जाता, नवीन युग की नवीन आकांक्षाओं, क्रियाओं, नवीन इच्छाओं, आशाओं के अनुसार उसकी वीणा से नये गीत, नये छन्द, नये राग, नई रागिनियाँ, नई कल्पनाएँ तथा भावनाएँ फूटने लगती हैं।

इस प्रकार भाषा का कुछ परिवर्तनशील अंश उसके लिए खाद्य-सामग्री बन,

भारती की नाड़ियों में नवीन रक्त का सचार, हृदय में नवीन स्फूर्ति तथा स्पन्दन पैदा कर, उसके शरीर को सुन्दर, सुडौल, विकसित तथा पुष्ट बनाता रहता है। यह अचिर-प्रदा हमारे हृद्गत-सस्कारों, विचारो, हमारी प्रवृत्तियो, मनोवेगो, हमारी इन्द्रियों तथा दैनिक क्रिया-कलापो से ऐसा एकाकार हो जाता, इतनी अधिक प्रीति तथा घनिष्ठता स्थापित कर लेता है कि वास्तव में जो अतिविश्वास मात्र है उससे हम अपने को पृथक् नही कर सकते, वह हमारा जीवन ही बन जाता, हमारे प्राणो का स्पन्दन उसी की लय में ध्वनित होने लगता, दोनों अभिन्न तथा अभेद्य हो जाते हैं।

(पल्लव पृष्ठ १६-२१)

× × ×

भाषा का, और मुख्यत कविता की भाषा का, प्राण राग है। राग ही के पखों की अबाध उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर कविता सान्त को अनन्त से मिलाती है। राग ध्वनि-लोक निवासी शब्दो के हृदय में परस्पर स्नेह तथा ममता का सम्बन्ध स्थापित करता है। ससार के पृथक्-पृथक् पदार्थ पृथक्-पृथक् ध्वनियो के चित्र मात्र हैं। समस्त-ब्रह्माण्ड के रोम्रो में व्याप्त यही राग, उसकी शिरोपशिराओ में प्रधावित हो, अनेकता में एकता का सचार करता, यही विश्व-वीणा के अगणित तारों से जीवन की अंगुलियो के कोमल कर्कश घात-प्रतिघातो, लघु-गुरु सम्पर्कों, ऊँच-नीच प्रहारों से अनन्त झकारो, असख्य स्वरो में फूट कर हमारे चारों ओर आनन्दाकाश के स्वरूप में व्याप्त हो जाता, यही ससार के मानस-समुद्र में अनेकानेक इच्छाओं आकाक्षाओ, भावनाओ-कल्पनाओ की तरगों में प्रतिफलित हो, सौन्दर्य के सौ-सौ स्वरूपो में अभिव्यक्ति पाता है। प्रेम के अक्षय मधु में सने, सृजन के बीजरूप पराग से परिपूर्ण ससार के मानस शतदल के चारों ओर यह चिर प्रसुप्त स्वर्ण भृ ग एक अनन्त गु जार में मँडराता रहता है।

राग का अर्थ आकर्षण है, यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिचकर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते हैं। हमारा हृदय उनके हृदय में प्रवेश कर एक-भाव हो जाता है। प्रत्येक शब्द एक सकेत-मात्र, इस विश्व-व्यापी सगीत की अस्फुट झकार-मात्र है। जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक दूसरे पर अवलम्बित है, ऋणानुबन्ध है, उसी प्रकार शब्द भी, ये सब एक विराट् परिवार के प्राणी हैं। इनका आपस का सम्बन्ध, सहानुभूति, अनुराग विराग जान लेना, कहाँ कब एक की साड़ी का छोर उड़ कर दूसरे का हृदय रोमांचित कर देता, कैसे एक की ईर्ष्या अथवा क्रोध दूसरे का विनाश करता, कैसे फिर दूसरा बदला लेता; कैसे ये गले लगते, बिछुड़ते, कैसे जन्मोत्सव मनाते तथा एक दूसरे की मृत्यु से शोकाकुल होते,—इनकी पारस्परिक प्रीति-मैत्री, शत्रुता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है? प्रत्येक शब्द एक-एक कविता है, लता और मन ग्रीप की तरह कविता भी अपने बनाने वाले शब्दों की कविता का सा-साकार बनती है।

जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमों से बद्ध होते, उसी प्रकार दूसरी ओर राग के आकाश में पक्षियों की तरह स्वतन्त्र भी होते हैं। जहाँ राग की उन्मुक्त-स्नेहशीलता तथा व्याकरण की नियम-बद्धता में सामंजस्य रहता है, वहाँ कोमल माँ तथा कठोर पिता के घर में लालित-पालित सन्तान की तरह, शब्दों का भरण-पोषण, अंग विन्यास तथा मनोविकास स्वाभाविक और यथेष्ट रीति से होता है। कौन जानता है, कब, कहाँ और किस नदी के किनारे, न जाने कौन, एक दिन साँझ या सुबह के समय वायु-सेवन कर रहा था, शायद बरसात बीत गई थी, शरद की निर्मलता कलरव की लहरों में उच्छ्वासित हो, न जाने, किस ओर बह रही थी। अचानक, एक अप्सरा जल से बाहर निकल, मुँह से घूँघट हटा, अपने सुनहले-रुपहले पंख फैला, क्षण भर चंचल-लहरों की ताल पर मधुर नृत्य कर, अन्तर्धान हो गई। जैसे उस परिस्फुट-यौवना सरिता ने अपने मीन-लोचन से कटाक्षपात किया हो। तब मीन आँखों का उपमान भी न बना होगा, न जाने, हर्ष तथा विस्मयातिरेक से उस अज्ञात-कवि के हृदय से क्या कुछ निकल पड़ा—"मत्स्य।" उस कवि का समस्त आनन्द, आश्चर्य, भय, प्रेम, रोमांच तथा सौन्दर्यानुभूति जैसे सहसा "मत्स्य" शब्द के रूप में प्रतिध्वनित तथा संगृहीत हो साकार बन गई। अब भी यह शब्द उसी चटुल मछली की तरह पानी में छप्-छप् शब्द करता हुआ एक बार क्षिप्रगति से उछल कर फिर अपनी ही चंचलता में जैसे डूब जाता है। शकुन्तला-नाटक के 'पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्' मृग की तरह इस शब्द का पूर्वार्ध भी जैसे अपने पश्चार्ध में प्रवेश करना चाहता है।

भिन्न भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः, संगीत-भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे, 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चंचलता, 'भौंहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल-कम्पन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठ कर गिर पड़ना, 'बढ़ो-बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है, 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में होले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल-कल्लोल से ऊँची ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है। 'पंख' शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिए भारी लगता है; जैसे किसी ने पक्षी के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटा कर बार-बार नीचे गिर पड़ता हो, अँगरेजी का 'विंग' जैसे उड़ान का जीता जागता चित्र है। उसी तरह 'टच' में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती। 'स्पर्श', जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो उठता है, उसका चित्र है, व्रज-भाषा के 'परस' में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है, 'जोंक' से जिस प्रकार मुँह भर

जाता है, 'हर्ष' से उसी प्रकार आनन्द का विद्युत्-स्फुरण प्रकट होता है। अँगरेजी के 'एअर' में एक प्रकार की ट्रान्सपेअरेन्सी मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखाई पड़ती हो, 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छन कर आ रही हो, 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फीते की तरह खिचकर फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है, 'प्रभजन' 'विंड' की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्तो को उखाड़ता हुआ बहता है, 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नही सकती, 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है जैसे हवा रुक गई हो, 'प' और 'न' की दीवारो से घिर सा जाता है, 'समीर' लहराता हुआ बहता है।

कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिये, जो बोलते हो, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखो के सामने चित्रित कर सकें, जो झकार में चित्र, चित्र में झकार हो, जिनका भाव सगीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके, जिनका सौरभ सूँघते ही साँसों द्वारा अन्दर पैठ कर हृदयाकाश में समा जाय, जिसका रस मदिरा की फेन-राशि की तरह अपने प्याले से बाहर छलक उसके चारो ओर मोतियों की झालर की तरह झूलने लगे, छत्ते में न समा कर मधु की तरह टपकने लगे, अर्धनिशीथ की तारावली की तरह जिनकी दीपावली अपनी मौन-जड़ता के अन्धकार को भेदकर अपने ही भावो की ज्योति में दमक उठे, जिनका प्रत्येक चरण प्रियगु की डाल की तरह अपने ही सौन्दर्य के स्पर्श से रोमांचित रहे, जापान की द्वीप मालिका की तरह जिनकी छोटी-छोटी पक्तियाँ अपने अन्तस्तल में सुलगी ज्वालामुखी को न दबा सकने के कारण अनन्त श्वासोच्छ्वासो के भूकम्प में काँपती रहे।

भाव और भाषा का सामञ्जस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गये हो, निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव बन गये हों, छुड़ाये न जा सकते हो, कवि का हृदय जैसे नीड़ में सुप्त पक्षी की तरह किसी अज्ञात स्वर्ण-रश्मि के स्पर्श से जग कर, एक अनिर्वचनीय आकुलता से, सहसा अपने स्वर की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता में फूट उठा हो, एक रहस्यपूर्ण सगीत के स्रोत में उमड़ चला हो, अन्तर का उल्लास जैसे अपने फूट पड़ने के स्वभाव से बाध्य होकर, वीणा के तारों की तरह, अपने आप झकारो में नृत्य करने लगा हो, भावनाओं की तरुणता, अपने ही आवेश से अधीर हो, जैसे शब्दो के चिरालिंगन पाश में बँध जाने के लिए, हृदय के भीतर से अपनी बाँहें बढ़ाने लगी हों, यही भाव और स्वर का मधुर मिलन, सरस-सन्धि है। हृदय के कुज में छिपी हुई भावना मानो चिरकाल तक प्रतीक्षा

करने के बाद अपने प्रियतम से मिली हो, और उसके रोएँ-रोएँ आनन्दोद्रेक से झनझना उठे हों।

जहाँ भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के 'बटु-समुदाय' ही, दादुरों की तरह, इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा साम ध्वनि करते सुनाई देते हैं। ब्रज भाषा के अलंकृत काल की अधिकांश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासों की ऐसी अराजकता तथा अलंकारों का ऐसा व्यभिचार और कहीं देखने को नहीं मिलता। स्वस्थवाणी में जो एक सौन्दर्य मिलता है उसका कहीं पता ही नहीं। उस 'सूधे पाँय न धरि परत शोभा ही के भार' वाली ब्रज की बालक-सज्जा का सुकुमार शरीर अलंकारों के अस्वाभाविक बोझ से ऐसा दबा दिया गया, उसके कोमल अंगों में कलम की नोक से अलंकृत रुचि की स्याही का ऐसा गोदना भर दिया गया कि उसका प्राकृतिक रूप रंग कहीं दीख ही नहीं पड़ता, उस बालिका के अविच हीन अंग खींच-खींच, तोड़ मरोड़ कर, प्रोक्रस्टीज की तरह, किसी प्रकार छन्दों की चारपाई में बाँध दिये, फिट कर दिये गये हैं। प्रत्येक पद्य, मेसर्स व्हाइटवे, लेडलो एण्ड कं० के केटलाग में दी हुई नर-नारियों की तस्वीरों की तरह, जिनकी सत्ता संसार में और कहीं-न-कहीं, एक नये फैशन के गौन या पेटी-कोट, नई हैट या अण्डर वियर, नये विन्यास के अलंकार आभूषण अथवा वस्त्रों के नये नये नमूनों का विज्ञापन देने के लिए ही जैसे बनाया गया हो।

(पल्लव, पृष्ठ २२-२८)

२—अलंकार

अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न भिन्न हैं। जैसे वाणी की झंकारें विशेष घटना से टकरा कर फेनाकार हो गई हों, विशेष भावों के झोंके खाकर बाल-लहरियों, तरुण-तरंगों में फूट गई हों, कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवर्तों में नृत्य करने लगी हों। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता, शब्दों की कृपण-जड़ता में बँध कर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।

जिस प्रकार संगीत में सात स्वर तथा उनकी श्रुति-मूर्छनाएँ केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए होती हैं, और विशेष स्वरों के योग, उनके विशेष प्रकार के आरोह-अवरोह से विशेष राग का स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार कविता में भी विशेष

अलंकारों, लक्षणा व्यंजना आदि विशेष शब्द-शक्तियों तथा विशेष छन्दों के सम्मिश्रण और सामंजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है। जहाँ उपमा उपमा के लिए, अनुप्रास के लिए, श्लेष, अपह्नुति, गूढ़ोक्ति आदि अपने-अपने लिए हो जाते—जैसे पक्षी का प्रत्येक पंख यह इच्छा करे कि मैं भी पक्षी की तरह स्वतन्त्र रूप से उड़ूँ, वे अभीप्सित स्थान में पहुँचने के मार्ग न रह कर स्वयं अभीप्सित-स्थान, अभीप्सित विषय बन जाते हैं, वहाँ बाजे के सब स्वरों के एक साथ चिल्ला उठने से राग का स्वरूप अपने ही तत्त्वों के प्रलय में लुप्त हो जाता है, काव्य के साम्राज्य में अराजकता पैदा हो जाती है, कविता साम्राज्ञी हृदय के सिंहासन से उतार दी जाती है, और उपमा, अनुप्रास यमक, रूपक आदि उसके अमात्य, सचिव, शरीर रक्षक तथा राजकर्मचारी, शब्दों की छोटी मोटी सेनाएँ संगृहीत कर, स्वयं शासक बनने की चेष्टा में विद्रोह खड़ा कर देते, और सारा साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

(पल्लव, पृष्ठ २८-२९)

३—कविता और छन्द

कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट पर अपने बंधन से धारा की गति को सुरक्षित रखते—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन-हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है,—उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित साँसें नियन्त्रित हो जाती, ताल-युक्त हो जाती, उसके स्वर में प्राणायाम, रोओं में स्फूर्ति आ जाती, राग की असम्बद्ध झंकारें एक वृत्त में बँध जाती, उनमें परिपूर्णता आ जाती है। छन्द बद्ध शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोहचूर्ण की तरह, अपने चारों ओर एक आकर्षण-क्षेत्र (मैगनेटिक फील्ड) तैयार कर लेते, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक-रूप, एक-विन्यास आ जाता, उनमें राग की विद्युत् धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।

(पल्लव, पृष्ठ ३०-३१)

+ + +

संस्कृत का संगीत जिस तरह हिल्लोलाकार में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं। वह लोल-लहरों का चंचल कलरव, बाल झंकारों का छेकानुप्रास है। उसमें प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र हृत्स्पन्दन, स्वतन्त्र अंग भंगी, स्वाभाविक साँसें हैं। हिन्दी

का संगीतस्वरों की रिमझिम में बरसता, छनता-छनकता, बुदबुदों में उबलता, छोटे-छोटे उत्सों के कलरव में उछलता किलकता हुआ बहता है। उसके शब्द एक दूसरे के गले पड़कर, पगों से पग मिलाकर सेनाकार नहीं चलते, बच्चों की तरह अपनी ही स्वच्छन्दता में थिरकते-कूदते हैं। यही कारण है कि संस्कृत में संयुक्ताक्षर के पूर्व अक्षर को गुरु मानना आवश्यक-सा हो जाता है, वह अच्छा भी लगता है, हिन्दी में ऐसा नियम नहीं है, और वह कर्ण-कटु भी हो जाता है।

हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के द्वारा उसमें सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्ण-वृत्तों की नहरों में उसकी धारा अपना चंचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कल्-कल्, छल्-छल्, तथा अपने क्रीड़ा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती, उसकी हास्य दृप्त सरल मुख-मुद्रा गम्भीर मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती, उसका चंचल भृकुटि-भंग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उसके चंचल-पदों से स्वाभाविक नृत्य छीन कर किसी ने, बलपूर्वक, उन्हें सिपाहियों की तरह गिन गिन कर पाँव उठाना सिखला कर, उनकी चंचलता को पद-चालन के व्यायाम की बेड़ी से बाँध दिया है। हिन्दी का संगीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पद-क्षेप के लिए वर्ण-वृत्त पुराने फैशन के चाँदी के कड़ों की तरह बड़े भारी हो जाते हैं, उसकी गति शिथिल तथा विकृत हो जाती है, उसके पदों में वह स्वाभाविक नूपुर-ध्वनि नहीं रहती।

बँगला के छन्द भी हिन्दी कविता के लिए सम्यक् वाहन नहीं हो सकते, बँगला का संगीत आलाप प्रधान होने से अनियन्त्रित-सा है। उसकी धारा पहाड़ी नदी की तरह मोड़ों के तटों से टकराती, कुञ्चित-कुञ्चित चक्कर काटती, मन्द-क्षिप्र गति बदलती, स्वरपात के रोड़ों का आघात पाकर फेनाकार शब्द करती, उड़ती, पड़ती हुई आगे बढ़ती है। उसके अक्षर हिन्दी की रीति से ह्रस्व-दीर्घ के पलड़ों में सूक्ष्म रूप से नहीं तुले मिलते, उनका मात्रा-काल उच्चारण की सुविधानुसार न्यूनाधिक होता जाता है। अँगरेजी की तरह बँगला में भी स्वरपात (एक्सेन्ट) अधिक परिस्फुट रूप में मिलता है। यदि अँगरेजी तथा बँगला के शब्द हिन्दी के छन्दों में कम्पोज कर कस दिये जायें, तो वे अपना स्वर खो बैठें। संस्कृत के शब्द जैसे नपे-तुले, कटे-छँटे (डायमण्ड-कट के) होते हैं वैसे बँगला और अँगरेजी के नहीं, वे जैसे लिखे जाते वैसे नहीं पढ़े जाते, बँगला के शब्द, उच्चारण की धारा में पड़ स्पंज के टुकड़े की तरह स्वर से फूल उठते; और अँगरेजी के शब्दों का कुछ नुकीला भाग, उच्चारण करते समय, विलायती मिठाई की तरह, मुँह के भीतर ही गलकर रह जाता, वे चिकने-चुपड़े, गोल तथा कोमल होकर बाहर निकलते हैं।

बँगला में, अधिकतर, अक्षर मात्रिक छन्दों में कविता की जाती है। पुराने वैष्णव-कवियों के अतिरिक्त, जिन्होंने संस्कृत और हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ का ढंग अपनाया, अन्यत्र, ह्रस्व दीर्घ के नियमों पर बहुत कम कविता मिलती है, इस प्रणाली पर चलने से बँगला का स्वाभाविक संगीत निष्ट भी हो जाता है, रवीन्द्रिक ह्रस्व-दीर्घ में बँगला का प्रकृतिगत राग अधिक प्रस्फुटित तथा परिपूर्ण मिलता है, उसके अनुसार 'ऐ' 'औ' तथा संयुक्ताक्षर के पूर्व-वर्ण को छोड़कर और सर्वत्र—आ, ई, ऊ, ऋ, ए, ओ में—एक ही मात्रा-काल माना जाता, और वास्तव में, बँगला में इनका ठीक-ठीक दीर्घ उच्चारण होता भी नहीं। पर हिन्दी में तो सोने की तौल है, उसमें आप रत्ती भर भी किसी मात्रा को, उच्चारण की सुविधा के लिए, घटा-बढ़ा नहीं सकते, उसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती, इसलिए बँगला-छन्दों की प्रणालियों में ढालने से उसके संगीत की रक्षा नहीं हो सकती।

ब्रज-भाषा के अलंकृत काल में 'सवैया' और 'कवित्त' का ही बोल बाला रहा, दोहा-चौपाई महात्मा तुलसीदासजी ने इतने ऊँचे उठा दिये, ऐसे चमका दिये, तुलसी की प्रगाढ भक्ति के उद्गारों को बहाते-बहाते उनका स्वर ऐसा सध गया, ऐसा उज्ज्वल, पवित्र तथा परिणत हो गया था कि एक-दो को छोड़, अन्य कवियों को उन पवित्र-स्वरों को अपनी शृंगार की तन्त्री में चढ़ाने का साहस ही नहीं हुआ, उनकी लेखनी द्वारा वे अधिक परिपूर्ण रूप पा भी नहीं सकते थे। इसके अतिरिक्त सवैया तथा कवित्त छन्दों में रचना करना आसान भी होता है, और सभी कवि सभी छन्दों में सफलतापूर्वक रचना कर भी नहीं सकते। छन्दों को अपनी अँगुलियों में नचाने के पूर्व, कवि को छन्दों के संकेतों पर नाचना पड़ता है, सरकस के नवीन अदम्य अश्वों की तरह उन्हें साधना, उनके साथ घूमना, दौड़ना, चक्कर खाना पड़ता है, तब कहीं वे स्वेच्छानुसार, इंगित-मात्र पर वर्तुलाकार, अण्डाकार, आयताकार बनाये जा सकते हैं। जिस प्रकार सा रे ग म आदि स्वर एक होने पर भी पृथक्-पृथक् वाद्य-यन्त्रों में उनकी पृथक्-पृथक् रीति से साधना करनी पड़ती है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न छन्दों के तारों, परदों तथा तन्तुओं से भावनाओं का राग जागृत करने के पूर्व भिन्न भिन्न प्रकार से निहित प्रत्येक की स्वर-योजना से परिचय प्राप्त कर लेना पड़ता है, तभी छन्दों की तन्त्रियों से कल्पना की सूक्ष्मता, सुकुमारता, उसके बोल-तान, आलाप, भावों की मुरकियाँ तथा मींड़ें स्वच्छन्दता तथा सफलतापूर्वक झंकारित की जा सकती हैं।

(पल्लव, पृष्ठ ३३-६६)

१—काव्य का सत्य

नहीं जानता, कैसे इस संक्रांति काल की
नित्य बदलती हुई वास्तविकता के पट में
मूर्तित करूँ चिरंतन सत्य मनुज आत्मा का।
परिवर्तित होती जग की वास्तवता प्रतिदिन,
किंतु नहीं आदर्श बदलता है उस गति से,
उसका दिन, कहते हैं, ब्रह्मा का दिन होता!
बाह्य क्रांति ही मात्र नहीं यह भौतिक युग की,
बदल रहा अंतर का भी आदर्श साथ ही,
आज कला को अभिनय को कल्पित करना है,
मिट्टी की जड़ता में फूँक सके जो जीवन।
हार गया मैं खोंट खोंट पाषाण शिला को
पर आदर्श नहीं भेंट पाता रेखाओं में,
सूक्ष्म सत्य, छाया सा खिसक, दूर हट जाता।..
विस्मित हूँ मैं!

(शिल्पी पृष्ठ १७)

५—काव्य और सौन्दर्य

क्या है यह सौन्दर्य चेतना? जग जीवन की
अंतरतम स्वर संगति: जो अब अंतर्नभ के
शिखरों से है उतर रही स्वर्णिम प्रवाह सी
स्वप्नों से शोभा उर्वर करने वसुधा को!
जीवन का आनन्द स्वत: हो मूर्तिमान हो
देख रहा निज रत्नच्छाया स्मित वैभव को।
मानव के अपलक हृत् शतदल में सुख दोलित
दिव्य प्रेम का अमर स्वप्न प्रस्फुटित हुआ जब
अंतर्मन की प्रथम उषा में, शांत सौम्य स्मित,
यह जीवन सौन्दर्य चेतना में लिपटा था।
ज्योति प्रीति आनन्द मधुरिमा,—अब मानव का
जीवन भी पर्याय बन रहा उसी सत्य का!
अंतरैक्य में, बाह्य साम्य में संयोजित हो
भू जीवन नव शोभा का प्रतिमान बन रहा।

(शिल्पी, पृष्ठ १०७)

६—काव्य और सिद्धि

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

भव कर्म आज युग की स्थितियों से है पीड़ित,
जग का रूपान्तर भी जनैक्य पर है अवलंबित,

तुम रूप कर्म से मुक्त, शब्द के पंख मार,
कर सको सुदूर मनोनभ में जन के विहार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

चित शून्य—आज जग, नवनिनाद से हो गुंजित,
मन जड़, उसमें नवस्थितियों के गुण हों जागृत,

तुम जड़ चेतन की सीमाओं के आर पार,
झंकृत भविष्य का सत्य कर सको स्वराकार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

युग कर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द,
शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक अब्द,

ज्योतित कर जन मन के जीवन का अंधकार,
तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

(ग्राम्या)

७—काव्य में सत्य, शिव और सुन्दर

× × × सत्य शिव में स्वयं निहित है। जिस प्रकार फूल में रूप रंग है, फल में जीवनोपयोगी रस, और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों ही द्वारा होती है, उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिवम् में सत्य ही द्वारा हो सकती है। यदि कोई वस्तु उपयोगी (शिव) है तो उसके आधारभूत कारण उस उपयोगिता से सम्बन्ध रखने वाले सत्य में अवश्य होने चाहिए, नहीं तो वह उपयोगी नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनुभूति की तीव्रता भी सापेक्ष है × × × × × × सत्य के दोनों रूप हैं,—शराबी शराब पीता है यह सत्य है, उसे शराब नहीं पीना चाहिये यह भी सत्य है। एक उसका वास्तविक (फैक्चुअल) रूप है, दूसरा परिणाम से सम्बन्ध रखने वाला। × × × ×

× × अनुभूति की तीव्रता का बोध बहिर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) स्वभाव अधिक करवा सकता है, मगर का बोध अन्तर्मुखी स्वभाव (इन्ट्रोवर्ट)। क्योंकि दूसरा कारण रस अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त न कर उसके फलस्वरूप कल्याणमयी अनुभूति को वाणी देता है।

(आधुनिक कवि, भूमिका)

८—काव्य के नवीन आदर्श

प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श समय के प्रवाह में अपनी उपयोगिता के साथ अपना सौन्दर्य संगीत भी खो बैठते हैं, उन्हें सजाने की जरूरत पड़ती है। नवीन आदर्श और विचार अपनी ही उपयोगिता के कारण संगीतमय एवं अलंकृत होते हैं। क्योंकि उनका रूप चित्र अभी सद्य होता है और उनके रस का स्वाद नवीन। × × × × × × जिन विचारों की उपयोगिता नष्ट हो गई है, जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि खिसक गई है, वे पथराए हुए मृत विचार भाषा को बोझिल बनाते हैं। नवीन विचार और भावनाएँ, जो हृदय की रस पिपासा को मिटाते हैं, उड़ने वाले प्राणियों की तरह, स्वयं हृदय में घर कर लेते हैं। आने वाले काव्य की भाषा अपने नवीन आदर्शों के प्राणत्व से रसमयी होगी, नवीन विचारों के ऐश्वर्य से सालंकार और जीवन के प्रति नवीन अनुराग की दृष्टि से सौन्दर्यमयी होगी। इस प्रकार काव्य के अलंकार विकसित और सांकेतिक हो जाएंगे।

(आधुनिक कवि)

६—कला और जन-जीवन

यही प्रश्न है आज कला के सम्मुख निश्चय,
जो दुःसाध्य प्रतीत हो रहा कलाकार को,
बहिरंतर की जटिल विषमताओं में उसको
नव समत्व भरना होगा, सौन्दर्य संतुलित!—
मानव उर की वंशी में नव स्वर संगति भर,
भावपूर्ण कर निखिल अभावों के जीवन को!
नव्य सृजन की दुःसह व्यथा से पीड़ित कब से
कलाकार का हृदय विकल है नव जीवन की
प्रतिमा अंकित करने को सर्वांग पूर्णतम—
जनयुग की निर्मम पाषाण शिला [redacted] उर में!—
महत् प्रेरणा का आकांक्षी है युग मानव!

(शिल्पी, पृष्ठ ३४)

१०—आदर्श और वस्तुवाद

मैं केवल आदर्शवाद का ही पक्ष नहीं ले रहा हूँ, वस्तुवादियों के दृष्टिकोण की भी उपयोगिता स्वीकार करता हूँ। वास्तव में आदर्शवाद, वस्तुवाद, जड-चेतन, पूर्व-पश्चिम आदि शब्द उस युग चेतना के प्रतीक अथवा उस सभ्यता के विरोधाभास हैं जिसका सचरण वृत्त अब समाप्त होने को है। आदर्शवाद द्रष्टा या ज्ञाता का दृष्टिबिन्दु है, जो आदर्श को प्रधान तथा सत्य मानता है और वास्तविकता या यथार्थ को उसका बिम्ब रूप, जिसे आदर्श की ओर अग्रसर या विकसित होना है। यह स्पष्ट ही है कि गतिविधि या विकास के पथ को निर्धारित करने के लिए आदर्श का बोध या ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। तयोक्त वस्तुवाद कर्ता या कर्म का दृष्टिकोण है जिसके लिए गोचर वस्तु ही यथार्थ तथा प्रधान है, आदर्श उसी का विकास या परिणति। वस्तु से उसका विधायक या निर्माता का सम्बन्ध होने के कारण वह उसकी यथार्थता को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देता एवं उसी को सत्य मानता है। किन्तु यदि हम आदर्श तथा वस्तु को एक ही सत्य का, जो अव्यक्त तथा विकासशील होने के कारण दोनों से अतिशय तथा ऊपर भी है,—सूक्ष्म स्थूल रूप या बिम्ब प्रतिबिम्ब मान लें तो दोनों दृष्टिकोणों में सहज ही सामजस्य स्थापित किया जा सकता है, और आदर्श तथा वस्तु-वादी, अपनी अपनी उपयोगिता तथा सीमाओं को मानते हुए, विश्व-कर्म में परस्पर सहायक की तरह हाथ बँटा सकते हैं। विनय, आत्म-त्याग, सच्चाई, सहानुभूति, अहिंसा आदि व्यावहारिक आदर्शों को अपना कर—जो मनुष्यत्व की परिचायक, सनातन सामाजिक विभूतियाँ हैं—दोनों शिविरों का सयुक्त कर्म भू-निर्माण के कार्य को अधिक परिपूर्ण रूप से आगे बढ़ा सकता है।

(उत्तरा, भूमिका)

महादेवी वर्मा

[जन्म—सन् १६०७]

ग्रन्थ—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य

१—काव्य-कला

काव्य में कला का उत्कर्ष एक ऐसे बिन्दु तक पहुँच गया, जहाँ से वह ज्ञान को भी सहायता दे सका, क्योंकि सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त; इसी से साधन के परिचय-स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की चिस्मयमरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।

(पृष्ठ १)

२—बुद्धि-तत्त्व और हृदय-तत्त्व

मस्तिष्क और हृदय परस्पर पूरक रहकर भी एक ही पथ से नहीं चलते। बुद्धि में समानान्तर पर चलनेवाली भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं और अनुभूति में एकतारता लिये गहराई। ज्ञान के क्षेत्र में एक छोटी रेखा के नीचे उससे बड़ी रेखा खींचकर पहली का छोटा और भिन्न अस्तित्व दिखाया जा सकता है। इसके असंख्य उदाहरण, विज्ञान जीवन की स्थूल सीमा में और दर्शन जीवन की सूक्ष्म असीमता में दे चुका है। पर अनुभूति के क्षेत्र में एक की स्थिति से नीचे और अधिक गहराई में उतरकर भी हम उसके साथ एक ही रेखा पर रहते हैं। एक वस्तु को एक व्यक्ति अपनी स्थिति-विशेष में अपने विशेष दृष्टि-बिन्दु से देखता है, दूसरा अपने धरातल पर अपने से और तीसरा अपनी सीमा रेखा पर अपने से। तीनों में वस्तु-विशेष को जिन विशेष दृष्टिकोणों से जिन विभिन्न परिस्थितियों में देखा है वे उनके तद्विषयक ज्ञान को भिन्न रेखाओं में घेर लेंगी। इन विभिन्न रेखाओं के नीचे ज्ञान के एक सामान्य धरातल की स्थिति है अवश्य, परन्तु वह अपनी एकता के परिचय के लिए ही इन अनेकता को सँभाले रहती है।

अनुभूति के सम्बन्ध में यह कठिनाई सरल हो जाती है। एक व्यक्ति अपने दुःख को बहुत तीव्रता से अनुभव कर रहा है, उसके निकट आत्मीय की अनुभूति में तीव्रता की मात्रा कुछ घट जायगी और साधारण मित्र में उसका और भी न्यून हो जाना सम्भव है, पर जहाँ तक दुःख के सामान्य संवेदन का प्रश्न है वे तीनों एक ही रेखा

पर, निकट, दूर, अधिक दूर, की स्थिति में रहेंगे। हाँ जब उनमें से कोई उस दुःख को, अनुभूति के क्षेत्र से निकालकर बौद्धिक धरातल पर रख लेगा तब कथा ही दूसरी हो जायगी। अनुभूति अपनी सीमा में जितनी सबल है उतनी बुद्धि नहीं। हमारे स्वयं जलने की हल्की अनुभूति भी दूसरे के राख हो जाने के ज्ञान से अधिक स्थायी रहती है।

बुद्धि वृत्ति अपने विषय को ज्ञान के अनन्त विस्तार के साथ रखकर देखती है, अतः व्यष्टिगत सीमा में उसका संदिग्ध हो उठना स्वाभाविक ही रहेगा। 'अमुक ने धूम देखकर अग्नि पाई' की जितनी आवृत्तियाँ होंगी हमारा धूम और अग्नि की सापेक्षता विषयक ज्ञान उतनी ही निश्चित स्थिति पा सकेगा। पर अपने विषय पर केन्द्रित होकर उसे जीवन की अनन्त गहराई तक ले जाना अनुभूति का लक्ष्य रहता है, इसी से हमारी व्यक्तिगत अनुभूति जितनी निकट और तीव्र होगी दूसरे का अनुभूत सत्य हमारे समीप उतना ही असन्दिग्ध होकर आ सकेगा। 'तुमने जिसे पानी समझा वह बालू की चमक है,' 'तुमने जिसे काला देखा वह नीला है,' 'तुमने जिसे कोमल पाया वह कठोर है,' आदि आदि कहकर हम दूसरे में, स्वयं उसी के इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के प्रति, अविश्वास उत्पन्न कर सकते हैं, परन्तु 'तुम्हें जो काँटा चुभने की पीड़ा हुई वह भ्रान्ति है' यह हमसे असंख्य बार सुन कर भी कोई अपनी पीड़ा के अस्तित्व में सन्देह नहीं करेगा।

जीवन के निश्चित बिन्दुओं को जोड़ने का कार्य हमारा मस्तिष्क कर लेता है, पर इस क्रम से बनी परिधि में सजीवता के रंग भरने की क्षमता हृदय में ही सम्भव है। काव्य या कला मानो इन दोनों का सन्धि-पत्र है जिसके अनुसार बुद्धि-वृत्ति झीने वायुमण्डल के समान बिना भार डाले हुए ही जीवन पर फैली रहती है और रागात्मिका वृत्ति उसके धरातल पर, सत्य को अनन्त रंग-रूपों में चिर-नवीन स्थिति देती रहती है। अतः काव्य कला का सत्य जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है।

(पृष्ठ ६-८)

\+ \+ \+

कवि में दार्शनिक की खोजना बहुत साधारण हो गया है। जहाँ तक सत्य के मूल रूप का सम्बन्ध है वे दोनों एक दूसरे के अधिक निकट हैं अवश्य, पर साधन और प्रयोग की दृष्टि से उनका एक होना सहज नहीं। दार्शनिक बुद्धि के निम्न स्तर से अपनी खोज आरम्भ करके उसे सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचा कर सन्तुष्ट हो जाता है—उसकी सफलता यही है कि सूक्ष्म सत्य के उस रूप तक पहुँचने के लिए वही बौद्धिक दिशा सम्भव रहे। अन्तर्जगत् का सारा वैभव परख कर सत्य का मूल्य आँकने का उसे अवकाश नहीं, भाव की गहराई में डूब कर जीवन की थाह लेने का उसे अधिकार नहीं। वह तो चिन्तन-जगत का अधिकारी है। बुद्धि, अन्तर का बोध करा कर एकता का

निर्देश करती है और हृदय एकता की अनुभूति देकर अन्तर की ओर संकेत करता है। परिणामतः चिन्तन की विभिन्न रेखाओं का समानान्तर रहना अनिवार्य हो जाता है। सांख्य जिस रेखा पर बढ़कर लक्ष्य की प्राप्ति करता है वह वेदान्त को अंगीकृत न होगी और वेदान्त जिस क्रम से चलकर सत्य तक पहुँचता है उसे योग स्वीकार न कर सकेगा।

काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है इसीसे उसका दर्शन न बौद्धिक तर्क-प्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचाने वाली विशेष विचार-पद्धति। वह तो जीवन को, चेतना और अनुभूति के समस्त वैभव के साथ, स्वीकार करता है। अतः कवि का दर्शन, जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है। दर्शन में, चेतना के प्रति नास्तित्व की स्थिति भी सम्भव है, परन्तु काव्य में अनुभूति के प्रति अविश्वासी कवि की स्थिति असम्भव हो रहेगी। जीवन के अस्तित्व को शून्य प्रमाणित करके भी दार्शनिक बुद्धि के सूक्ष्म बिन्दु पर विश्राम कर सकता है परन्तु यह अस्वीकृति कवि के अस्तित्व को, डाल से टूटे पत्ते की स्थिति दे देती है।

(पृष्ठ २०-२१)

३—सौन्दर्य

सौन्दर्य सम्बन्धी समस्या भी कुछ कम उलझी हुई नहीं है। बाह्य जगत अनेक-रूपात्मक है और उन रूपों का सुन्दर तथा कुरूप में एक व्यावहारिक वर्गीकरण भी हो चुका है। क्या कला इस वर्गीकरण की परिधि में आने वाले सौन्दर्य को ही सत्य का माध्यम बनाकर शेष को छोड़ दे? केवल बाह्य रेखाओं और रंगों का सामंजस्य ही सौन्दर्य कहा जावे तो प्रत्येक भू-खण्ड का मानव-समाज ही नहीं प्रत्येक व्यक्ति भी अपनी रुचि में दूसरे से भिन्न मिलेगा। किसके रुचि-वैचित्र्य के अनुसार सामंजस्य की परिभाषा बनाई जावे यह प्रश्न सत्य से भी अधिक जटिल हो उठेगा।

सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है, केवल बाह्य रूपरेखा पर नहीं। प्रकृति का अनन्त वैभव प्राणिजगत की अनेकात्मक गतिशीलता, अन्तर्जगत की रहस्य-मयी विविधता सब कुछ इनके सौन्दर्य-कोष के अन्तर्गत है और इसमें से क्षुद्रतम वस्तु के लिए भी ऐसे भारी मुहूर्त आ उपस्थित होते हैं जिनमें वह पर्वत के समकक्ष खड़ी होकर ही सफल हो सकती है और गुरुतम वस्तु के लिए भी ऐसे लघु क्षण आ पहुँचते हैं जिनमें वह तृण के साथ बैठ कर ही कृतार्थ बन सकती है

जीवन का जो स्पर्श विकास के लिए अपेक्षित है उसे पाने के उपरान्त छोटा, बड़ा, लघु, गुरु, सुन्दर, विरूप, आकर्षक, भयानक, कुछ भी कला जगत से बहिष्कृत नहीं किया जाता।

(पृष्ठ ८-९)

४—उपयोगी और ललित कला

कला शब्द से किसी निर्मित पूर्ण खण्ड का ही बोध होता है और कोई भी निर्माण अपनी अन्तिम स्थिति में जितना सीमित है आरम्भ में उतना ही फैला हुआ मिलेगा। उसके पीछे स्थूल जगत का अस्तित्व, जीवन की स्थिति किसी अभाव की अनुभूति, पूर्ति का आदर्श, उपकरणों की खोज, एकत्रीकरण की कुशलता आदि का जो इन्द्रजाल रहता है उसके अभाव में निर्माण की स्थिति शून्य के अतिरिक्त कौन सी सज्ञा पा सकेगी। चिड़िया का कलरव कला न होकर कला का विषय हो सकेगा पर मनुष्य के गीत को कला कहना होगा। एक में वह सहज प्रवृत्ति मात्र है। पर दूसरे ने सहज प्रवृत्ति के आधार पर अनेक स्वरों को विशेष सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति में रखकर एक विशेष रागिनी की सृष्टि की है जो अपनी सीमा में जीवन-व्यापी सुख दुखों की अनुभूति को अक्षय रखती है। इस प्रकार प्रत्येक कला-कृति के लिए निर्माण-सम्बन्धी विज्ञान की भी आवश्यकता होगी और उस विज्ञान की सीमित रेखाओं में व्यक्त होने वाले जीवन के व्यापक सत्य की अनुभूति की भी। जब हमारा ध्यान किसी एक पर ही केन्द्रित हो जाता है तब दोनों को जोड़ने वाली कड़ियाँ स्पष्ट होने लगती हैं।

एक कृति को ललित कहकर चाहे हम जीवन के, दृष्टि से ओझल शिखर पर प्रतिष्ठित कर आवें और दूसरी को उपयोगी का नाम देकर चाहे जीवन के धूल भरे प्रत्यक्ष कणों पर रख दें, परन्तु उन दोनों ही की स्थिति जीवन से बाहर सम्भव नहीं। उनकी दूरी हमारे विकास-क्रम से बनी है कुछ उनकी तात्त्विक भिन्नता से नहीं। नीचे की पहली सीढ़ी से चढ़कर जब हम ऊपर की अन्तिम सीढ़ी पर खड़े हो जाते हैं तब उन दोनों की दूरी हमारे आरोह-क्रम की सापेक्ष है—स्वत एक एक तो न वे नीची हैं, न ऊँची।

(पृष्ठ ९-१०)

+ + +

सत्य तो यह है कि जब तक हमारे सूक्ष्म अन्तर्जगत का बाह्य जीवन में पग-पग पर उपयोग होता रहेगा तब तक कला का सूक्ष्म उपयोग सम्बन्धी विवाद भी विशेष महत्व नहीं रख सकता। हमारे जीवन में सूक्ष्म और स्थूल की जैसी समन्व-

यात्मक दिया है वही कला को, केवल स्थूल या केवल सूक्ष्म में निर्वासित न होने देगी। जब हम एक व्यक्ति के कार्य को स्वीकार करेंगे तब उसकी पट भूमिका बने हुए वायवी स्वप्न, सूक्ष्म आदर्श, रहस्यमयी भावना आदि का भी मूल्य आँकना आवश्यक हो जायगा और कला यदि उस वातावरण का ऐसा परिचय देती है जो कार्य से न दिया जा सकेगा तो जीवन को उसके लिए भीतर बाहर के सभी द्वार खोलने पड़ेंगे।

उपयोग की ऐसी निम्नोन्नत भूमियाँ हो सकती हैं जो अपने बाह्य रूपों में एक दूसरी से सर्वथा भिन्न जान पड़ें, परन्तु जीवन के व्यापक धरातल पर उनके मूल्य में विशेष अन्तर नहीं रहता।

(पृष्ठ ११)

५—बुद्धि-तत्त्व और राग-तत्त्व

साहित्य में मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जाती है जैसे धूप-छाहीं वस्त्र में दो रंगों के तार, जो अपनी अपनी भिन्नता के कारण ही अपने रंगों से भिन्न एक तीसरे रंग की सृष्टि करते हैं। हमारी मानसिक वृत्तियों की ऐसी सामंजस्य पूर्ण एकता साहित्य के अतिरिक्त और कहीं सम्भव नहीं। उसके लिए न हमारा अन्तर्जगत त्याज्य है और न बाह्य क्योंकि उसका विषय सम्पूर्ण जीवन है, आंशिक नहीं है।

मनुष्य के बाह्य जीवन में जो कुछ ध्वंस और निर्माण हुआ है, उसकी शक्ति और दुर्बलता की जो परीक्षाएँ हुई है, जीवन संघर्ष में उसे जितनी हार-जीत मिली है केवल उसी का ऐतिहासिक विवरण दे देना साहित्य का लक्ष्य नहीं। उसे यह भी खोजना पड़ता है कि इस ध्वंस के पीछे कितनी विरोधी मनोवृत्तियाँ काम कर रही थी। निर्माण मनुष्य की किस सृजनात्मक प्रेरणा का परिणाम था, उसकी शक्ति के पीछे कौन-सा आत्मबल अक्षय था, दुर्बलता उसके किस अभाव से प्रसूत थी, हार उसकी किस निराशा की संज्ञा थी और जीत में उसकी कौन सी कल्पना साकार हो गई।

जीवन का वह असीम और चिरन्तन सत्य जो परिवर्तन की लहरों में अपनी क्षणिक अभिव्यक्ति करता रहता है अपने व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रूपों की एकता लेकर साहित्य में व्यक्त होता है। साहित्यकार जिस प्रकार यह जानता है कि बाह्य-जगत में मनुष्य जिन घटनाओं को जीवन का नाम देता है वे जीवन के व्यापक सत्य की गहराई और उसके आकर्षण की परिचायक है, जीवन नहीं, उसी प्रकार यह भी

उससे छिपा नहीं कि जीवन के जिस अव्यक्त रहस्य की वह भावना कर सकता है उसी की छाया इन घटनाओं को व्यक्त रूप देती है। इसी से देश और काल की सीमा में बँधा साहित्य रूप में एक-देशीय होकर भी अनेक-देशीय और युग-विशेष से सम्बद्ध रहने पर भी युग-युगान्तर के लिए संवेदनीय बन जाता है।

(पृष्ठ ४६-४७)

६—कविता की परिभाषा

कविता हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि में बाँधती है। साहित्य के अन्य अंग भी ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु न उसमें सामंजस्य की ऐसी परिणति होती है न आयास हीनता। जीवन की विविधता में सामंजस्य को खोज लेने के कारण ही कविता उन ललित कलाओं में उत्कृष्टतम स्थान पा सकी है जो गति की विभिन्नता, स्वरों की अनेकरूपता या रेखाओं की विषमता के सामंजस्य पर स्थित हैं।

कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है परन्तु अब तक उसकी कोई ऐसी परिभाषा न बन सकी जिसमें तर्क-वितर्क की सम्भावना न रही हो। धुँधले अतीत भूत से लेकर वर्तमान तक और 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' से लेकर आज के शुष्क बुद्धिवाद तक जो कुछ काव्य के रूप और उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा जा चुका है वह परिमाण में कम नहीं, परन्तु अब तक न मनुष्य के हृदय का पूर्ण परितोष हो सका है और न उसकी बुद्धि का समाधान। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्याएँ लेकर आता है जिनके समाधान के लिए नई दिशाएँ खोजती हुई मनोवृत्तियाँ उस युग के काव्य और कलाओं को एक विशिष्ट रूपरेखा देती रहती हैं। मूल तत्त्व न जीवन के कभी बदले हैं और न काव्य के, कारण वे उस शाश्वत चेतना से सम्बद्ध हैं जिसके तत्वत एक रहने पर ही जीवन की अनेक-रूपता निर्भर है।

अतीत युगों के जितने संचित ज्ञानकोष के हम अधिकारी हैं उसके आधार पर कहा जा सकता है कि कविता मानव ज्ञान की अन्य शाखाओं की सदैव अग्रजा रही है।

(पृष्ठ ४८-४६)

७—छायावाद

मनुष्य का जीवन चक्र की तरह घूमता रहता है। स्वच्छन्द घूमते-घूमते थक कर वह अपने लिए सहस्र बन्धनों का आविष्कार कर डालता है और फिर बन्धनों से ऊब

कर उनको तोड़ने में अपनी सारी शक्तियां लगा देता है। छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव में छिपा हुआ है। उसके जन्म से प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव-अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।

उन छाया चित्रों को बनाने के लिए और भी कुशल चितेरों की आवश्यकता होती है, कारण, उन चित्रों का आधार छूने या चर्म-चक्षु से देखने की वस्तु नहीं। यदि वे मानव-हृदय में छिपी हुई एकता के आधार पर उसकी संवेदना का रंग चढ़ाकर न बनाये जायें तो वे प्रेतछाया के समान लगने लगें या नहीं इसमें कुछ ही सन्देह है।

प्रकाश-रेखाओं के मार्ग में बिखरी हुई बदलियों के कारण जैसे एक ही विस्तृत आकाश के नीचे हिलोरें लेने वाली जल-राशि में कहीं छाया और कहीं आलोक का आभास मिलने लगता है उसी प्रकार हमारी एक ही काव्यधारा अभिव्यक्ति की भिन्न शैलियों के अनुसार भिन्न वर्णी हो उठी है।

आज तो कवि धर्म के अक्षयवट और दरबार के कल्प-वृक्ष की छाया बहुत पीछे छोड़ आया है। परिवर्तनों के कोलाहल में काव्य जब से मुकुट और तिलक से उतर कर मध्य वर्ग के हृदय का अतिथि हुआ तब से आज तक वहीं है और सत्य कहे तो कहना होगा कि उस हृदय की साधारणता ने कवि के नेत्रों से वैभव की चकाचौंध दूर कर दी और विषाद ने कवि को धर्मगत संकीर्णताओं के प्रति असहिष्णु बना दिया।

छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिला कर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख दुखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्म-वाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी।

छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीनकाल से बिम्ब प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छाया-वाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एक-रूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई, अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जल-कण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।

(पृष्ठ ५९-६१)

८—गीति-काव्य

सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का, गिने चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। इसमें कवि को संयम की परिधि में बँधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है वह सहज प्राप्त नहीं, कारण हम प्रायः भाव की अतिशयता में कला की सीमा लाँघ जाते हैं और उसके उपरान्त, भाव के संस्कार-मात्र में मर्मस्पर्शिता का शिथिल हो जाना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ—दुःखातिरेक की अभिव्यक्ति आर्त-क्रन्दन या हाहाकार द्वारा भी हो सकती है जिसमें संयम का नितान्त अभाव है, उसकी अभिव्यक्ति नेत्रों के सजल हो जाने में भी है जिसमें संयम की अधिकता के साथ आवेग के भी अपेक्षाकृत संयत हो जाने की सम्भावना रहती है, उसका प्रकाशन एक दीर्घ निःश्वास में भी है जिसमें संयम की पूर्णता भावातिरेक को पूर्ण नहीं रहने देती और उसका प्रकटीकरण निःस्तब्धता द्वारा भी हो सकता है जो निष्क्रिय बन जाती है।

वास्तव में गीत के कवि को आर्त्तक्रन्दन के पीछे छिपे हुए भावातिरेक को, दीर्घ निःश्वास में छिपे हुए संयम से बाँधना होगा तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा।

गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दुःख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है इसमें सन्देह नहीं।

(पृष्ठ १४१-१४२)

९—आदर्श और यथार्थ

आदर्श का सत्य निरपेक्ष है, परन्तु यथार्थ की सीमा के लिए सापेक्षता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य रहेगी, इसी से एक की भावना जितनी कठिन है दूसरे की अभिव्यक्ति उससे कम नहीं। आदर्श का भावन मनुष्य के हृदय और बुद्धि के परिष्कार पर निर्भर होने के कारण सहज नहीं, परन्तु एक बार भावन हो जाने पर उसकी अभिव्यक्ति यथार्थ के समान कठिन बन्धन नहीं स्वीकार करती। पूर्ण और सुन्दर स्वप्न देख लेना किसी असुन्दर हृदय और विकृत मस्तिष्क के लिए सहज सम्भाव्य नहीं रहता, पर जब हृदय और मस्तिष्क की स्थिति ने इसे सहज कर दिया तब केवल अभिव्यक्ति-सम्बन्धी प्रश्न उसे व्यक्त होने से नहीं रोक पाते। विश्व के स्थूल से सूक्ष्मतम अनेक रूपकों के भरोसे, भाषा की कोमल से कठोर तक असंख्य रेखाओं की सहायता से और भावों के हल्के से गहरे तक असंख्य रंगों के सहारे वह बार-बार व्यक्त होकर सुन्दर से सुन्दरतम, पूर्ण से पूर्णतम होता रह सकता है। आदर्श के सम्बन्ध में अभिव्यक्ति की समस्या नहीं, परन्तु अभिव्यक्ति के ग्रहण का प्रश्न रहता है, क्योंकि व्यक्त होने ही

वह यथार्थ की परिधि में आ जाता है और इस रूप में, उसे अपना पूर्ण परिचय देने के लिए, दूसरे की सामञ्जस्य-भावना की अपेक्षा होगी।

(पृष्ठ १९१-९२)

+ + +

आदर्श हमारी दृष्टि की मलिन सकीर्णता धोकर उसे, बिखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामञ्जस्य को देखने की शक्ति देता है, हमारी व्यष्टि में सीमित चेतना को, मुक्ति के पंख देकर समष्टि तक पहुँचने की दिशा देता है और हमारी खण्डित भावना को, अखण्ड जागृति देकर उसे जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देता है। जब आदर्श जलभरे बादल की तरह आकाश का असीम विस्तार लेकर पृथ्वी के असंख्य रंगों और अनन्त रूपों में नहीं उतर सकता, तब शरद् के सूने मेघ-खण्ड के समान शून्य का धब्बा बना रहना ही उसका लक्ष्य हो जाता है।

आदर्श और यथार्थ की कला स्थिति के सम्बन्ध में एक समस्या और भी है। आदर्श हमारे सत्य की भावना होने के कारण अन्तर्जगत की परिधि में मुक्त हो सकता है और बाह्य जगत में केवल व्यापक रेखाओं का बन्दी रह कर अपनी अभिव्यक्ति कर सकता है। परन्तु यथार्थ हमारी भावना से बाहर भी, कठिन स्थूल बन्धनों के भीतर एक निश्चित स्थिति रखता है, अतः उसे इस प्रकार व्यक्त करना कि वह हमारा भी रहे और अपनापन भी न खोये सहज नहीं।

(पृष्ठ १९५-९६)

१०—यथार्थवाद

यथार्थ का काव्यगत चित्रण सहज होता है यह धारणा भ्रान्तिमूलक ही प्रमाणित होगी। वास्तव में यथार्थ के चितेरे को अपनी अनुभूतियों के हल्के से-हल्के और गहरे से-गहरे रंगों के प्रयोग में बहुत सावधान रहना पड़ता है, क्योंकि उसका चित्र आदर्श के समान न अस्पष्ट होकर अग्राह्य हो सकता है और न व्यक्तिगत भावना में बहुरंगी। वह प्रकृत न होने पर विकृत के अनेक रूप-रूपान्तरों में से किसी एक में प्रतिष्ठित होगा ही। यथार्थ की कविता को जीवन के उस स्तर पर रहना पड़ता है जहाँ से वह हमें जीवन के भिन्नवर्णी चित्र ही नहीं देती, प्रत्युत उनमें व्यक्त जीवन के प्रति एक प्रतिक्रियात्मक संवेदन भी देती है। घृणित कुत्सित के प्रति हमारी करुण संवेदना की प्रगति और क्रूर कठोर के विरुद्ध हमारी कोमल भावना की जागृति यथार्थ का ही वरदान है। परन्तु अपनी विकृति में यथार्थवाद ने हमें क्या दिया है इसे जानने के लिए हम अपने नैतिक पतन के नग्न रूप पर आश्रित साहित्य को देख सकते हैं।

(पृष्ठ २१४)

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

[जन्म सन् १९०८]

ग्रन्थ—अभिभाषण-विशेष, जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, काव्य में अभिव्यंजनावाद

१. काव्य में आदर्श और यथार्थ

पाप का पर्यवसान दुःख में होना चाहिये और पुण्य की परिणति सुख में। यदि जीवन में सामान्यतः ऐसा नहीं होता है तो कम से-कम साहित्य में ऐसा होना चाहिए। आदर्शवादी साहित्य की ऐसी मान्यता है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि जीवन की बहुत-सी मार्मिक घटनाएँ भी हमारे चित्त पर उतना प्रभाव नहीं डाल सकतीं जितना वे ही घटनाएँ काव्य या साहित्य के माध्यम से हमारे चित्त पर डालती हैं। मुख्यतः यह विषय साहित्य शास्त्र का नहीं है और मानस शास्त्र भी इस पर स्पष्ट नहीं है। काव्य या साहित्य के प्रति हमारी उन्मुख मनोदशा के विश्लेषण से इस रहस्य पर कुछ प्रकाश पड सकता है। अपने स्वार्थ या सुख-दुःख की वैयक्तिक परिधि से बाहर जाने पर ही अहंकार का तिरोभाव होता है। जब तक अहं की सत्ता वर्तमान रहती है तब तक रसानुभूति के लिए अनुकूल मुक्त दशा की कल्पना ही नहीं की जा सकती। मुक्त दशा में हमारी वैयक्तिक सत्ता अपने अहं को लेकर डूब जाती है, हृदय एकांत रूप से स्वच्छ और निर्मल हो जाता है। यही अवस्था सत्वोद्रेक की है जिससे रस-दशा लाई जाती है। अपने क्रोध, घृणा, शोक, भय के अनुभव को रसानुभूति नहीं कहते। जो भाव वैयक्तिक परिधि से मुक्त होकर बृहत्तर रूप से समष्टिगत होता है उसी की निष्पत्ति साहित्य में रस के रूप में हो सकती है। जो अपना शोक नहीं है, जो अपना भय नहीं है, या जो कुछ अपना दुःखात्मक या सुखात्मक भाव नहीं है उसके प्रति हमारे हृदय में संवेदन की तीव्रता नहीं रहती, केवल लोक-सामान्य सहृदयता के कारण हृदय की सामान्य वृत्तियों को ग्रहण करने की क्षमता बनी रहती है। सुख और दुःख को उपाधि रूप से ग्रहण करना और तदनुकूल हृदय की वृत्तियों को संकुचित तथा विकसित करना अहं का धर्म है। जब अहं की सत्ता का तिरोभाव हो जाता है तभी हम अपनी व्यक्तिगत परिधि से बाहर समष्टि के सुख-दुःख को अनुभव करने की क्षमता प्राप्त करते हैं। अहं के प्राबल्य से हमारा हृदय जो एक ग्राहक-यन्त्र की तरह है, बिगड़ा रहता है, और

अपनी वैयक्तिक सत्ता के अतिरिक्त बाह्य जगत को आत्मसात् नहीं कर सकता। इसी-लिए प्रत्यक्ष जीवन की घटनाएँ, जिनके साथ मह की सत्ता किसी-न-किसी रूप से रहती है हमारी चित्त-वृत्ति पर शेष प्रभाव नहीं डाल सकतीं।

आदर्शवादी मान्यता के विपरीत यदि यथार्थवादी दृष्टिकोण से इस पर विचार किया जाय तो जीवन की वस्तु-स्थिति के समान साहित्य में भी निर्दोष तथा पुण्यात्मा मात्र के लिये यह कोई आवश्यक नहीं कि वे अन्ततः अपने दुःखों से मुक्त ही चित्रित किये जावें। पश्चिमी साहित्य-शास्त्रियों ने भी इस सम्बन्ध में जो नियम बनाये उनका ठीक-ठीक परिपालन सर्वत्र नहीं किया जा सका। सुखान्त तथा दुःखान्त काव्यों के द्वारा पाठकों तथा दर्शकों के हृदय में आनन्द, उल्लास, शोक, वेदना, पीड़ा रोमांच का ही अनुभव कराना अभिप्रेत रहता है, लेकिन एक ही निश्चित नियम का यदि सर्वत्र अनुगमन किया जाय तो रस-सिद्धान्त की दृष्टि से उसकी उद्देश्य-सिद्धि सम्भव नहीं। यदि पुण्यात्मा व्यक्ति को अन्त में सुखी और पापात्मा को दुःखी बनाने का नियम निश्चित मान लिया जाय तो उनके सुख दुख के प्रति हमारे हृदय में उतनी अनुकम्पा उत्पन्न नहीं हो सकती जितनी सुख-दुःख के अनिश्चय में हो सकती है। काव्य-साहित्य में अनिश्चय का भाव आकर्षण के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है। जब हम यह मान लेंगे कि पुण्यात्मा अन्त में विजयी होगा ही तब फिर उसकी क्षणिक विपत्ति या उसके दुख से छुटकारा पाने के प्रयत्न को आशंका या समवेदना की दृष्टि से देखने की स्वाभाविकता नहीं रह जायगी। रसोद्रेक के सम्बन्ध में भी हमारी भावना कुछ ऐसी शिथिल पड़ जायगी कि हम अपने भावों की संश्लिष्टता का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकेंगे। प्रकृति का नियम, तर्क तथा अनुभव, इन सबसे भी यह प्रमाणित नहीं होता कि पुण्य से सुख तथा पाप से दुःख प्राप्त करने का परिणाम अटल है। इस दृष्टिकोण ने पश्चिमी साहित्यकारों को यथार्थवाद की जैसी प्रेरणा दी उससे उनके साहित्य में निर्दोष तथा पुण्यात्मा पात्रों को भी अपनी विपत्ति से मुक्ति नहीं मिल सकी। पूर्वीय साहित्य के दृष्टिकोण ने साहित्य की नैतिकता का प्रधान आधार मान कर इस प्रकार का विपरीत तथा पूर्वापर विरोधी परिणाम दिखलाने की अनुमति नहीं दी। इसके मूल में कौन-सा दार्शनिक रहस्य है, इस पर हमें विचार करना चाहिये।

आदर्शवाद भारतीय जीवन के सदा अनुकूल रहा है। इस सम्बन्ध में आदर्श की प्रकृति के सम्बन्ध में विचार कर लेना आवश्यक है। किसी व्यक्ति का आदर्श आरोपित नहीं रहता। व्यक्ति से पृथक् उसकी सत्ता भी नहीं है। हमारे हृदय में जो संस्कार हैं वे ही हमारे लिये अपना आदर्श चुनते हैं। हम अपने संस्कार से अन्यथा आदर्श को ग्रहण करने की प्रवृत्ति ही नहीं रखते। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श उसके संस्कार के अनुकूल रहता है। यही बात व्यक्ति से आगे बढ़कर जाति का

राष्ट्र के सम्बन्ध में कही जा सकती है। आदर्श के साथ साहित्य का सम्बन्ध इसी सीमा पर आरम्भ होता है। व्यक्ति-कल्याण, समाज-कल्याण, विश्व-कल्याण ही भारतीय साहित्य का मूल मन्त्र है। कुछ समीक्षक यह तर्क करते हैं कि भारतीय साहित्य ने भारतीय जीवन के स्वास्थ्य को पुष्ट करने का उद्देश्य तो रखा, किन्तु उसके रोग को पहचानने की तरफ ध्यान नहीं दिया। इसी कारण भारतीय समाज में ऐसे कितने रोग हैं जिनकी चिकित्सा नहीं हो सकती। स्वस्थ साहित्य के ऊपर इसका उत्तरदायित्व होना चाहिये कि वह समाज के रोगों का निराकरण करे और ऐसे वातावरण की सृष्टि करे जिससे रोग को उत्पन्न होने का अवसर ही नहीं मिले। यह बहुत महत्वपूर्ण बात है, लेकिन इतना बड़ा उत्तरदायित्व केवल साहित्य के ऊपर लादना उचित नहीं माना जा सकता।

धर्म-शास्त्र हमें काम, क्रोध, मद, लोभ से निर्लिप्त रहने का आदेश देता है। किन्तु उस आदेश के साथ दंड भय लगा रहता है। आदर्शवादी साहित्य प्रतीति के मार्ग से हमें बुरे भावों से विरत कर सद्भावों की ओर प्रेरित करता है।

(काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हीरक जयन्ती समारोह पर ६ मार्च १९५४ ई० को सभापति पद से दिये गये अभिभाषण से उद्धृत, पृष्ठ ४-८)

२—काव्य की प्रेरणा

प्रेरणा की दृष्टि से कवियों की प्रवृत्तियाँ भी भिन्न भिन्न हुआ करती हैं। जीवन की प्रत्येक मनोदशा या स्थिति में काव्य रचना नहीं हो सकती। कोई ऐसे भावुक कवि हों भी, जो हर समय काव्य-रचना का दम्भ रखते हों, तो उनकी रचनाएँ किसी महत्व की नहीं हो सकतीं। प्रत्येक कलाकार, काव्य, चित्र, शिल्प आदि जो कुछ भी विषय हो, अपनी मनोदशा को कला प्रवृत्त बनाने के लिए किसी-न किसी विधि का अवलम्बन करता पाया जाता है। किसी को सौंदर्योपासना से काव्य-प्रवृत्ति होती है, तो किसी को संगीत की मीठी स्वर-लहरी से। किसी को विजया की तरंग से, तो किसी को शराब की बोतलों से। किसी को प्रकृति के हरे-भरे दृश्य, जंगल, पहाड़, झरने को देखने से नई सूझ होती है, तो किसी को एकान्त में ही गति मिलती है। शायद ही ऐसा कोई कलाकार होगा, जो किसी-न किसी प्रकार के वैध, अवैध, पूत, अपूत कारण से अपनी कला प्रवृत्ति का सम्बन्ध न रखता हो। ऐसे अनेक कवि हैं, जिनको स्त्री-दर्शन के प्रभाव

में काव्य दर्शन होता ही नहीं। पश्चिमी कलाकारों में अधिकांश ऐसे हैं, जिन्होंने अपनी कलाभिमुख प्रवृत्ति की रक्षा अवैध प्रेम तथा मदिरा के बल पर की। प्रकृति के रमणीय दृश्य, संगीत की स्वर-लहरी से काव्य के मनोभाव जगते हैं, किन्तु उन सब में अनुराग ही प्रधान तत्त्व है। प्रेम के संयोग तथा वियोग, दोनों अवस्थाओं में, काव्य-प्रेरणा होती है, लेकिन वियोग-काल में जितनी मार्मिक कविताएँ लिखी गई हैं उतनी संयोग काल में नहीं। प्रेम-दशा भाव-योग की दशा है, इसीलिए अपने प्रेम को व्यक्त करने या उसके आधार पर जगत् के प्रति अपने जीवन के अनुराग को प्रदर्शित करने में हृदय को जो उल्लास मिलता है, वह दूसरी स्थिति में नहीं। अपनी घृणा को व्यक्त करने के लिए काव्य की रचना नहीं हो सकती। प्रेम ने जितने कवि उत्पन्न किए, उतने किसी अन्य भाव ने नहीं। यही कारण है कि प्रेम काव्य की प्रेरणा का एक मौलिक आधार है।

अवस्था-भेद से काव्य-प्रेरणा

काव्य-रचना के लिए जीवन में अनुकूल परिस्थिति तो चाहिए ही, अवस्था भेद का प्रभाव भी उस पर पड़ता है। काव्य की प्रेरणा किस अवस्था में होती है, इस पर भी विचार किया जा सकता है। प्रतिभा के उदित होने के लिए न कोई निश्चित परिस्थिति अनुकूल होती है और न कोई खास अवस्था ही उपयुक्त होती है। प्रतिभा किसी भी अवस्था में उत्पन्न हो सकती है। जो बाल्यावस्था में मन्द रहा, वह युवावस्था में तेज हो गया है और जो बचपन में प्रतिभा-सम्पन्न रहा, वह जवानी में शिथिल पड़ा है। बहुतों की बुद्धि वृद्धावस्था में तीव्र होते पाई गई है। बुद्धि की सीमा को पार कर ही प्रतिभा का उदय होता है। इस प्रकार उसकी उद्भावना का कोई निश्चित समय नहीं बताया जा सकता। ऐसे भी कुछ कलाकार पैदा हो गए हैं, जिनकी प्रतिभा आरम्भ से अन्त तक एकरस बनी रही है। किन्तु इतनी सत्यता रहने पर भी, काव्य-रचना के सम्बन्ध में साधारण ढंग से, अवस्था-भेद के अनुसार, प्रेरणा शक्ति का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। क्वेटेलेट ने अवस्था-क्रम के अनुसार काव्य-रचना की शक्ति की एक तालिका बनाई है। नाटक के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि इक्कीस वर्ष की अवस्था से नाटक लिखने की प्रवृत्ति होती है और पचीस से तीस वर्ष की अवस्था तक वह पूरे जोर पर रहती है। पचास या पचपन वर्ष की उम्र तक उसका सिलसिला बना रहता है। उसके बाद इस प्रवृत्ति का प्रायः अन्त हो जाता है। संयोगान्त की अपेक्षा वियोगान्त नाटक लिखने की प्रेरणा विशेष होती है। क्वेटेलेट ने स्वभावतः अपनी तालिका बनाते समय पाश्चात्य लेखकों पर ही दृष्टि रखी है। इसमें सन्देह नहीं कि क्वेटेलेट के अनुसन्धान में जितना सत्य है, उतना उसका अपवाद भी है। आरम्भ में जीवन और

जगत में जो उल्लास दिखाई पड़ता है, वह बाद की अवस्था में उसी रूप में नहीं रहता। साधारणत. किशोर, युवा तथा वृद्धावस्था में क्रमश भावना, क्रिया तथा स्मृति की प्रबलता रहती है। किन्तु इसके अनुक्रम की कोई तालिका नहीं बनाई जा सकती। देश, काल, पात्र के अनुसार एक ही तथ्य का बहुधा रूपान्तर हो जाता है। युवावस्था में अनुभूति-मूलक प्रेमोच्छ्वास को व्यक्त करने की जैसी प्रवृत्ति होती है, वैसी बाद में सदैव नहीं रहती, किन्तु ऐसी प्रवृत्ति किसी नियम के अन्तर्गत नहीं लाई जा सकती। रीतिकाल के बूढ़े हिन्दी-कवियों ने अपनी वृद्धावस्था में भी यौवन के रस-प्रसग को न भुलाया और जब तक प्राण रहे, प्रणय ने भी पिण्ड न छोड़ा।

× × ×

प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों के मत से काव्य-प्रेरणा

काव्य की प्रेरणा के मूल में, सस्कृत के प्राचीन साहित्याचार्यों के मतानुसार, कई कारण पाये जाते हैं। यश, द्रव्य, व्यवहार ज्ञान, दुःख-नाश आदि कई ऐसी बातें काव्य-रचना के मूल में पायी जाती हैं, जिनका विवरण उन्होंने दिया है। सब कारणों का एक ही मूल है और वह है सुख। यश, कीर्ति, प्रशसा के आवरण के नीचे मनुष्य की सुख लिप्सा ही छिपी हुई है।

यथार्थ की अतिव्याप्ति ही प्रशसा है। अपनी प्रशसा से कवियों को जो प्रेरणा मिलती है, वह आत्म विस्तार के परितोष से खाली नहीं रहती। दूसरों द्वारा निर्व्याज रूप से अपनी वाणी के अवतरण तथा अनुश्रवण की अपेक्षा कवियों को कोई अन्य भाव अधिक सुख नहीं पहुँचा सकता। दूसरों के कण्ठ में वाणी के व्याज से अपनी भावात्मक सत्ता की प्रतिष्ठा करना एक बड़ी साधना है। द्रव्य लाभ की प्रेरणा में भी सुख-लाभ ही अन्तर्हित है। काव्य-रचना कर जो धन प्राप्त करने की कामना होती है, वह धन के वस्तुगत सौन्दर्य से प्रेरित होकर नहीं, प्रत्युत उस धन की क्रय-शक्ति में जीवन की जो सुख-सुविधा लगी हुई है, *वही भावना काव्य-रचना की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है।* द्रव्य-लाभ की प्रेरणा से जो काव्य रचना की जाती है, उसमें कवि की अनन्यता विशेष मात्रा में नहीं रहती। इसी कारण ऐसी रचनाएँ कवि को द्रव्य-लाभ का सुख जिस मात्रा में दे सकती हैं, उस मात्रा में यश का सुख नहीं। किसी भी स्थिति में, अपने सुख की कामना के अतिरिक्त मनुष्य को आत्म-विस्तार का कोई लक्ष्य दृष्टिगत नहीं होता।

कुछ लोग 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' की पुकार उठा कर काव्य साहित्य के उद्देश्य को निश्चित करना चाहते हैं। ऐसे प्रश्न के उत्तर में कोई 'स्वान्तः सुखाय', कोई 'जन-हिताय' और कोई कुछ कहते हैं। *काव्य की रचना अपने अन्तःकरण के सुख-सन्तोष*

के लिए की जाय या जन-समाज के हित-विचार से, दोनों ही अपनी-अपनी स्थिति में सत्य हैं। मानव ज्ञान इतना सीमित है कि वह अपनी सारी संवेदनाओं को शायद ही जान सके। प्रकट रूप में हम प्रत्येक कर्म का कोई-न-कोई हेतु, उसकी प्रेरणा बतला दिया करते हैं, किन्तु प्रत्येक स्थिति में वह यथार्थ ही होता हो, यह कहना भ्रम से खाली नहीं है। हमारी चेतना में जो हेतु प्रत्यक्ष रहता है, उसका उल्लेख कर देते हैं, पर उस प्रत्यक्ष हेतु को उपस्थित करने वाला कौन-सा अप्रत्यक्ष कारण है, इस सम्बन्ध में हमारा मौन ही उत्तर है। अपने हित को जनता के हित से भिन्न देखने की दृष्टि कवि को नहीं होती। संसार में जितने काम होते हैं, प्राय सब स्वांत:सुखाय ही किये जाते हैं। कर्म-प्रवर्तन में इच्छा का योग एक आवश्यक प्रतिबन्ध है। यदि भीतरी प्रवृत्ति न हो, तो बाहर की पुकार पर दौड़ने वाला शायद ही कोई मिले। अपने अन्तःकरण की किसी प्रेरणा के परितोष के लिए भी काव्य-रचना करना वस्तुत जीवन और जगत से निरपेक्ष होकर नहीं होता। गोस्वामी तुलसीदास ने 'स्वांत सुखाय' ही रघुनाथ-गाथा लिखी, यह सच है, पर दो-तीन दर्जन पंक्तियों में देव, ऋषि यहाँ तक कि 'बन्दौं सन्त असज्जन चरणा' की गुहार करने की क्या आवश्यकता पड़ गयी? वस्तु स्थिति यह है कि जीवन और जगत से निरपेक्ष रहना मनुष्य के लिए एक कठिन व्यापार है, कवि के लिए असम्भव। तुलसी के हृदय में लोक-कल्याण की भावना थी, यही उनकी प्रेरणा है। अपने आत्म-प्रकाश को प्रत्यक्ष करने का रामायण एक प्रयत्न मात्र है। हम दूसरों पर दया करते हैं, करुणा करते हैं, उपकार करते हैं, दूसरों के दुख के साथ अपनी सहानुभूति रखते हैं, यह सब स्वान्त:सुखाय ही होता है। दूसरों के दुख को देखकर जब तक हृदय में संवेदना उत्पन्न नहीं होती, तब तक कोई दया, करुणा, उपकार कर ही नहीं सकता। वस्तुतः हम अपनी संवेदना के ही कष्ट से मुक्ति पाने के लिए दूसरों का उपकार आदि करते हैं। अपने अन्तःकरण को जब तक परितोष न हो, तब तक जन हिताय भी कुछ नहीं किया जा सकता।

स्वान्त:सुखाय और जन-हिताय दोनों तत्त्वत एक ही हैं। प्रत्यक्ष में नहीं, तो कल्पना में भी यदि लोक-समुदाय का ग्राहक-रूप उपस्थित न रहे, तो कवि को तदनुरूप काव्य-रचना की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। मनोभाव का यह तथ्य केवल दार्शनिक ही नहीं, ऐतिहासिक भी है। प्रत्येक भाव का बाह्य अभिनन्दन उसकी प्रकृति तथा विकास पर निर्भर करता है। कोयल की स्वान्त:सुखाय कूक पर हम आनन्दमत्त हो जाते हैं, पर कौवे के स्वान्त:सुखाय काँव-काँव-टाँय पर फिदा होने वाले कितने मिलेंगे? केवल स्वान्त:सुखाय होने से ही किसी का कोई कर्म अभिनन्दनीय नहीं माना जा सकता, उससे लोक-रंजन या लोक-कल्याण किस सीमा तक हो सकता है, यह भी उसका एक मापदण्ड है।

(जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, पृष्ठ १२०-१२३ तथा १२५-१२८)

३—काव्य में प्रतीक-योजना

प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनसे केवल अर्थ की व्यक्ति ही नहीं होती, वरन् भावनाओं का उद्बोधन भी होता है। जिन वस्तुओं में तनिक भी निजी विशेषतापूर्ण आकर्षण है तथा जिन पर दीर्घ सांस्कृतिक वासना का प्रभाव पड़ा है वे शब्द हमारे काव्य में प्रतीक का काम करते हैं। प्रतीकों के स्वरूप में कुछ-न-कुछ ऐसी व्यंजना रहती है जिससे भावनाओं को विकास के संकेत मिल जाते हैं। ऐसे प्रतीक मुख्यतः दो तरह के होते हैं। वे हैं भावोत्पादक (इमोशनल सिम्बल्स) तथा विचारोत्पादक (इन्टलेक्चुअल सिम्बल्स), पर दोनों में से किसी एक का भी शुद्ध उदाहरण चुनना कुछ कठिन है। प्रायः सब भावोत्पादक प्रतीकों में विचार मिले रहते हैं और उसी प्रकार प्रायः सब विचारोत्पादक प्रतीकों में भाव की स्थिति बनी रहती है। दो भेद करने का तात्पर्य भाव और विचार की प्रधानता तथा गौणता से है। 'कमल' से सौंदर्य का जैसा कोमल भाव जागरित होता है वैसा 'साँप' से क्रूरता तथा कुटिलता का भाव उद्बुद्ध नहीं होता। साँप में भाव से अधिक विचार का सम्पर्क है। इसी प्रकार सब प्रतीकों में मनोविकारों की थोड़ी-बहुत जटिलता बनी रहती है।

प्रत्येक देश की परिस्थिति तथा संस्कृति के विचार से प्रतीक भी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। जल-वायु, रहन-सहन, सभ्यता शिष्टाचार, विचार परम्परा के अनुकूल ही काव्य में आदर्श का विधान होता है। एक देश के काव्य के जो प्रतीक हैं वे दूसरी जगह भी सम्मानित होंगे, यह कुछ आवश्यक नहीं। प्रतीक की उद्भावना के लिए किसी जाति की धार्मिक संस्कृति तथा परम्परागत विचार-श्रृंखला को भुला नहीं दिया जा सकता। फारस में प्रणय की मधुरता को दिखाने के लिए शराब का प्रतीक व्यवहृत होता है, पर धार्मिक भावना ने जब शराब के प्रतीकत्व का विरोध किया तब काव्य में नाम-मात्र का ही उल्लेख कर शायर मजा लूटने लगे। हमारे वैदिक साहित्य में सोमरस-पान की बड़ी अधिकता है। उसके परवर्ती साहित्य में सुरा-पान का वर्णन भी है, किन्तु भारतीय काव्य में न तो सोमरस का प्रतीकत्व मान्य रहा और न सुरा का। सुधा उन दोनों से बाजी मार ले गई। काव्य के प्रतीक बनने का सौभाग्य सुधा को ही प्राप्त हुआ। सुधा को किसी ने देखा नहीं, लेकिन उसके स्वरूपगत आकर्षण तथा अद्भुत शक्ति की जो धारणा परम्परा से हमारे मन में बँध गई है वह काव्य की भावव्यंजना में बल प्रदान करती है। यूरोपीय काव्य में थोड़ी देर तक उगने वाली धूप से आनन्द तथा जाड़े की सन्ध्या से उदासी का संकेत मिलता है, पर भारत की भौगोलिक स्थिति में अन्तर रहने के कारण यहाँ के ये प्रतीक यहाँ मान्य नहीं। बहुत ही थोड़े प्रतीकों को सार्वभौमिक महत्ता प्राप्त हो सकती है।

प्रतीक और उसकी विशेषताएँ

प्रतीक के लिए यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वह कोई गोचर वस्तु ही हो। गोचर हो या अगोचर, प्रतीक में सब से बड़ी बात भाव या विचार को जगाने की क्षमता होनी चाहिये। ब्रह्मा, विष्णु, शिव को हमने देखा नहीं, किन्तु उनके नाम से ही मन में स्वरूपगत विशेषताएँ आ जाती हैं। कल्प-वृक्ष के अस्तित्व को कोई प्रमाणित नहीं कर सकता, पर हमारी धार्मिक संस्कृति से सम्बन्ध रहने के कारण हम भाव-जगत में उसकी स्थिति मानते हैं। कल्प वृक्ष के नाम-मात्र से हमारी आँखों के सामने एक ऐसी वस्तु आ जाती है जिससे जब जो चीज माँगी जाय देने को सदा तैयार है। यह तो हुई अगोचर प्रतीकों की बात, लेकिन जो गोचर प्रतीक हैं वे काव्य में कुछ विशेष प्रयोजन भी सिद्ध करते हैं। चन्द्र, कुमुदिनी, आकाश, समुद्र, हंस, पतंग आदि हमारे मन में विशिष्ट भावनाएँ जागरित करते हैं। चन्द्र से स्निग्धता, आह्लाद तथा शीतल ज्योत्स्ना का, कुमुदिनी से शुभ्र हास का, आकाश से उच्चता, अनन्तता, सूक्ष्मता का, समुद्र से अगाधता, गम्भीरता, प्रचुरता का, हंस से विवेक, पक्षपात हीनता का और पतंग से लगन तथा एकनिष्ठा के भाव-संकेत मिलते हैं।

हमारे काव्यों में प्रतीकों के प्रतीकवत् व्यवहार बहुत ही कम हुआ करते हैं। वे प्रायः अलंकार-प्रणाली के भीतर उपमान के रूप में प्रयुक्त किये गये हैं। प्रतीक और उपमान में सब से बड़ा अन्तर यही है कि प्रतीक के लिए सादृश्य के आधार की आवश्यकता नहीं बल्कि उसमें भावोद्बोधन की शक्ति रहनी चाहिये, पर उपमान में सादृश्य के आधार का रहना आवश्यक है। वर्तमान कविताओं में अभिव्यंजनावाद के प्रभाव के कारण उपमान का आधार विशेषतः प्रभाव साम्य तथा रमणीयता है।

(काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ १२४-१२७)

× × ×

प्रतीक-स्वरूप उपमान

सादृश्य-मूलक अलंकारों के उपमानों में बहुत थोड़े ऐसे हैं जिनमें प्रतीकत्व है। काव्य में अप्रस्तुत योजना का मुख्य उद्देश्य है भावोत्तेजना। केवल आकार-प्रकार [redacted] नाप-जोख से मिले हुए उपमान भाव-बोध चाहे करा भी सकें, किन्तु भावोत्तेजन के विचार [redacted] वे सदा असमर्थ रहेंगे। जो उपमान प्रतीक-स्वरूप हैं वे काव्य का बड़ा मार्मिक विधान कर सकते हैं। यहाँ यह बात भूल न जानी चाहिये कि प्रत्येक देश के साहित्य में ऐसी कम ही वस्तुएँ रहती हैं जिनमें प्रतीकत्व मिलता है, लेकिन काव्य की अप्रस्तुत-योजना को इसी सीमा में रखने से उसका व्यापार आगे नहीं बढ़ सकेगा। प्रकृति के

भिन्न भिन्न व्यापार, तरह-तरह के दृश्यों से कवि अपनी सामग्री का संचय करता है। उस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उसे प्रकृति को देखने के लिए मार्मिक अन्तर्दृष्टि चाहिए। इसी एक से उसका काम पूरा हो जायगा।

जिस अप्रस्तुत में जितना ही प्रतीकत्व रहेगा उस पर की गई अन्योक्ति उतनी ही मार्मिक होगी। भ्रमर, कमल, हंस आदि के ऊपर अप्रस्तुतत्व का बोझ बहुत दिनों से लदा हुआ है, किन्तु उनमें प्रतीकत्व है, इसी कारण अब तक वे हमारी काव्याभिरुचि के बहुत बड़े बोझ नहीं बन सके हैं। रुचि पर बोझ पड़ते ही काव्य की सरसता नष्ट हो जाती है। अन्योक्ति पर विचार करते समय यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिए कि केवल सादृश्य से उसका काम नहीं चलने का, अथवा यही कहा जा सकता है कि रूप-सादृश्य का उसमें कुछ प्रयोजन ही नहीं। जैसे—

'काल कराल परै कितनो
पै मराल न ताकत तुच्छ तलैया'

इस अन्योक्ति का तात्पर्य यह है कि विवेकी पुरुष विपन्न होने पर भी अनुचित कार्य की ओर नहीं झुकते। अब यहाँ यह स्पष्ट है कि मराल हंस और विवेकी पुरुष में कुछ भी रूप-साम्य नहीं है, बल्कि इसके विपरीत केवल भिन्नता ही भिन्नता है। हंस के प्रति विवेक की जो धारणा हमारे चित्त में बद्धमूल है वही उसमें और विवेकी पुरुष में साम्य की स्थापना करती है।

अन्योक्ति में समता का उल्लेख दोष माना जाता है अतएव अप्रस्तुत और प्रस्तुत के साम्य की भावना ऐसी व्यापक होनी चाहिए जिससे अन्योक्ति सुनते ही अप्रस्तुत का आरोप प्रस्तुत पर किया जा सके। इस प्रकार साम्य-स्थापन केवल उपमान या रूढ़ उपमान के बल पर नहीं किया जा सकता। प्रतीकत्व के बिना यह सम्भव नहीं, प्रतीक में साम्य की क्षमता स्वभावतः रहती है।

लाक्षणिकता के बल पर आधुनिक कविताओं में कुछ ऐसे उपमान भी रखे जाते हैं जिनमें उपमान के गुण तो पूरे नहीं रहते, किन्तु प्रतीकत्व मिलता है। ऐसे उपमानों के विधान में प्रायः लाक्षणिक चमत्कार दिखाने के लिए धर्म के स्थान में धर्मी का उल्लेख कर दिया जाता है। इस प्रकार के प्रयोग शुद्ध प्रतीक नहीं, बल्कि लाक्षणिक प्रतीक हैं।

(काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ ११८-१२०)

४—काव्य में छन्द-प्रयोग

छन्द भी कवि के अन्तर्जगत की वह अभिव्यक्ति है जिस पर नियम का बन्धन डाल दिया गया है। भिन्न भिन्न स्वाभाविक अभिव्यक्तियों के लिये कोई आदर्श साँचा तैयार नहीं किया जा सकता। जितने प्रकार की अभिव्यक्तियाँ लय के सामंजस्य के साथ हो सकती थी, उनका विधान छन्द शास्त्र में कर दिया गया है। पर, इसका तात्पर्य यह न ो कि भावों को प्रकाशित करने के लिए जो विधान छन्द-शास्त्र में कर दिया गया है, उससे अधिक के लिए अब गुंजाइश नहीं। छन्दों की संख्या बढ़ायी जा सकती है, किन्तु इस धारणा से नहीं कि पुराने छन्द आधुनिक जीवन के उल्लास विषाद को व्यक्त करने में अनुपयुक्त हो गए हैं। यदि छन्दों का नया पुराना होना सम्भव हो, तो पुरानी वर्णमाला को भी हटाकर नयी ध्वनियाँ निश्चित कर लेनी चाहिये। इस दृष्टि से मनुष्य के मनोविज्ञान में भी कुछ मूल व्यतिक्रम होना चाहिये। किन्तु, मनुष्य यहाँ अपनी पराजय समझता है। वर्ण के चिह्न में हम भले ही स्वर-व्योत करते रहें, लेकिन उच्चारण की ध्वनियाँ कुछ ऐसी निश्चित जैसी हैं, जो सम्मेलनों के प्रस्तावों से तनिक भी प्रभावित नहीं हो सकती। मनोविज्ञान के विषय में भी यही बात है। यदि काव्य रचना के लिए नये छन्द विधान की अनिवार्यता प्रमाणित करने की चेष्टा की जाय, तो उससे पहले इसी प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिए—क्या पुराने छन्द-विधान में आबद्ध कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी, देव, बिहारी को हम भूल सकते हैं ? क्या हम शाकुन्तल, उत्तर रामचरित, रामायण, सूरसागर, प्रियप्रवास, साकेत, यशोधरा, कामायनी, कुरुक्षेत्र में वर्णित जीवन-वृत्त की उपेक्षा कर सकते हैं ? यदि नहीं, तो फिर काव्य में न छन्द पुराना है, और न जीवन का उल्लास-विषाद। सच्ची बात यह है कि प्रत्येक छन्द, जिसकी कुछ मर्यादा निश्चित कर दी गई है, विषय तथा कवि के व्यक्तित्व के साथ एकान्त रूप से बदल जाता है। भाषा की अर्जित शक्ति के साथ कवि के व्यक्तित्व की शक्ति मिल जाने से छन्दगत अभिव्यक्ति का सौंदर्य बढ़ जाता है। प्राचीन और नवीन का भेद, काव्य की सौन्दर्य वृद्धि की आवश्यकता से अधिक, कवि की अपनी क्षमता को व्यक्त करने से ही सम्बन्ध रखता है।

+ + +

प्राचीन और नवीन छन्द

यह कहना बहुत ही भ्रमपूर्ण है कि पुराने छन्दों में नवीन जीवन का उल्लास व्यक्त नहीं किया जा सकता। छन्द कभी पुराना नहीं होता, नवीन उल्लास भरते ही वह स्वतः नवीन हो जाता है। यदि छन्दों का पुराना और अनुपयुक्त होना सम्भव है,

तो पुरानी वर्णमाला को भी हटाकर नयी वर्णमाला का निर्माण करना उचित है। किन्तु मनुष्य के उच्चारण की ध्वनियाँ इतनी निश्चित हैं कि इसका निराकरण नहीं हो सकता। एक ही प्रकार के मानव-शरीर में हम भिन्न-भिन्न आत्माएँ, तरह-तरह के जीवन देखते हैं। तब क्या यह सम्भव नहीं है कि एक ही प्रकार के छन्द में हम भिन्न-भिन्न उच्छ्वास, तरह तरह की संवेदनाएँ देख सकें? यदि काव्य-रचना के नये कला-विधान की अनिवार्यता प्रमाणित करने की चेष्टा की जाय, तो सबसे पहले इसी बात का उत्तर मिलना चाहिए कि कला के पुराने कहे जाने वाले आवरण में बँधे हुए कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट, तुलसी, सूर या बिहारी को हम क्या भूल सकते हैं? क्या नयी रचनाएँ हमें पुरानी रचनाओं के पढ़ने में विराम उत्पन्न करा सकती हैं? यदि नहीं, तो नये कला विधान की आवश्यकता बहुत दूर तक प्रमाणित नहीं की जा सकती। आधुनिक जीवन का जो आत्मभाव है, वह यदि शक्ति-सम्पन्न है, तो काव्य के किसी भी आवरण में अपनी नवीनता अवश्य प्रतिपादित करेगा। सम्प्रति ■ जीवन का एक नया उल्लास अवश्य रहता है, परन्तु इस नये उल्लास में इतनी क्षमता नहीं कि वह पुराने उल्लास पर कोई आवरण डाल सके। पिछला उल्लास भी तो मानव जीवन का उल्लास है, पिछला विषाद भी तो मानव-जीवन का ही विषाद है। जब तक मनुष्य-जीवन के समान तत्त्व वर्तमान हैं, तभी तक काव्य स्थिर है। यदि जीवन नया या पुराना नहीं होता, तो काव्य भी नया या पुराना नहीं हो सकता।

+ + +

छन्द का विधान

हमारे यहाँ के छन्द, 'घुणाक्षर न्याय' के अनुसार, अटकल पर ही नहीं बनाए गए। उनके भीतर कुछ तथ्य है, और वह तथ्य जीवन के रक्षणात्मक और मनोरंजनात्मक तत्त्वों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। प्रचलित छन्दों का विधान नाद-सौंदर्य की विशेषता पर अवलम्बित है। उनके भीतर लय की जो स्थिति है, वह कोई बाहरी चीज़ नहीं, प्रत्युत जीवन के ही तत्त्वों के अनुसार निर्माण किया हुआ भाषा का बन्धन है। लय-सौंदर्य के अनुरूप ही ये बन्धन बनाए गए हैं और इनसे काव्य को दीर्घायु प्राप्त होती है। चलते हुए झरने का जो स्वर है, उससे, आधारभूमि को एक व्यवस्थित क्रम से उच्च, निम्न तथा समतल और विस्तृत तथा संकुचित, बनाकर कई प्रकार के स्वर निकाले जा सकते हैं। प्रत्येक भाषा का भी एक स्वाभाविक स्वर है और इसके, कई प्रतिबन्धों से, भिन्न भिन्न स्वर उत्पन्न किये जा सकते हैं। भाषा-प्रयोग के ये प्रतिबन्ध वस्तुतः बन्धन नहीं, प्रत्युत् धनुष की चढ़ी हुई प्रत्यंचा की तरह उसकी शक्ति को बढ़ाने

जाते हैं। नदी की स्वाभाविक धारा से जो काम न चल पाता, वह उसकी गति के क्षेत्रों को कम कर, बाँध कर, अधिक तेज बना कर किया जाता है और इस प्रकार शक्ति पैदा करने का वह एक अद्भुत् साधन बन जाती है। साधारण वाक्य में जो प्रवाह और क्षमता लक्षित नहीं होती, वह छन्द-व्यवस्था से पैदा कर ली जाती है। परस्पर की बातचीत में बिना पूछे ही 'दाल भात में मूसरचन्द बनना' और उपदेश दे बैठना कितनी अशिष्टता है, पर छन्दों की ओट में यह कहना—"बिन पूछे ही कहत हैं सज्जन हित के बैन"—दोष का कितना परिहार कर देता है।

काव्य और छन्द का सम्बन्ध

काव्य और छन्द में जो सम्बन्ध है, वह अविच्छिन्न और अनिवार्य नहीं है। काव्य का साधारण अर्थ उसके पद्यात्मक रूप से माना जाता है, किन्तु काव्यत्व इसी रूप में आबद्ध नहीं, वह गद्यात्मक भी हो सकता है। गद्य और पद्य का मौलिक भेद बुद्धि और हृदय की क्रिया का है। किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि दोनों एक-दूसरे के प्रभाव से सर्वथा अलग रहकर ही क्रिया-तत्पर होते हैं। गद्य बुद्धि-प्रधान होता है और पद्य हृदय प्रधान। यहाँ काव्यत्व की सीमा को हमने विवेचन की सुविधा के लिए पद्य में ही सीमित कर दिया है। गद्य-रचना के लिए छन्द का कोई प्रतिबन्ध नहीं, बल्कि छन्द से भिन्न रहकर ही उसकी रचना होती है। पद्य की रचना के लिए छन्द एक आवश्यक प्रतिबन्ध है, अनिवार्य भी हम कह सकते हैं, यदि दो-एक वर्तमान क्रांतिकारी कवि को इसमें विशेष आपत्ति न हो। काव्यत्व का क्षेत्र गद्य और पद्य दोनों हैं, किंतु पद्य की तरह सर्वांगत काव्यत्व की पहुँच गद्य में नहीं होती, क्योंकि उसमें अनेक ऐसे विषयों का विवेचन या वर्णन तर्क-संयुक्त रहता है, जो बुद्धि की प्रधानता से ही सम्भव है।

+ + +

मुक्त छन्द का श्रीगणेश

वर्णिक तथा मात्रिक के अतिरिक्त एक प्रकार का और छन्द है, जिसे पूर्वापर विरोध के रूप में मुक्त छन्द कहा जाता है। यह एक पद्य-हीन व्यवस्था है। एक क्रांतिकारी योजना के रूप में हिन्दी में यह प्रविष्ट कराया गया है। शुरू-शुरू हिन्दी में जयशंकर प्रसाद ने मुक्त-वृत्त के अनुसार रचना की थी, किंतु अब निराला इसके मुख्य पुरोहित माने जाते हैं। यह पश्चिमी बीज का पूर्वी अंकुर है। अमेरिकन कवि वाल्ट ह्विटमैन ने छन्द बद्धता की प्रतिक्रिया से छन्द-हीन कविता का श्रीगणेश अंग्रेजी में

किया और अपनी प्रारम्भिक कविताओं का एक संग्रह 'घास की पत्तियाँ' (Leaves of grass) के नाम से प्रकाशित कराया। 'घास की पत्तियाँ' जैसे सब बराबर नहीं होतीं, कोई बड़ी और कोई छोटी, वैसे ही ऐसी कविताओं की पंक्तियाँ सब समान नहीं होतीं, कोई बड़ी और कोई छोटी होती हैं। इस संग्रह के प्रकाशन के बाद भी उनकी काव्य-रचना अपने ढंग पर चलती रही। स्वेज-नहर खुल जाने पर उन्होंने 'भारत का पथ' (Passage to India) शीर्षक एक लम्बी पद्यहीन कविता रची। अंग्रेज़ी-साहित्य के सम्पर्क से इस स्वच्छन्दता की हवा बँगला को लगी और फिर उसकी पड़ोसिन हिन्दी भी प्रभावित हुई।

छन्द-विधान में क्रान्ति की सापेक्ष्यता

जीवन में प्रतिक्षण क्रांति होती रहती है। काव्य का क्षेत्र भी इससे भिन्न नहीं। मनुष्य में साधारणतः दो तरह की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। कुछ लोग भले-बुरे से निरपेक्ष रहकर प्राचीनतावादी होते हैं और किसी भी प्रकार के परिवर्तन का विरोध करते हैं, क्योंकि उनकी समझ से परिवर्तन अतीत का अपमान है। दूसरे ढंग के लोग नवीनता के नाम पर विवेक-शून्य होकर सर्वग्राही बनते हैं। इनकी समझ में नवीनता ही जीवन है। इन दोनों से भिन्न एक तीसरी प्रवृत्ति के लोग भी हैं, जो हिताहित के विचार से ही प्राचीनता तथा नवीनता का स्वागत करते हैं। हमारे जीवन में कुछ क्रांतियाँ ऐसी होती हैं, जो धीरे-धीरे परिवर्तन करती जाती हैं और हम उनका तीव्र विरोध नहीं करते, कुछ कर भी नहीं सकते। इच्छा या अनिच्छा से अपने सामने वैसा ही वातावरण देखकर उसमें प्रवाहित हो जाते हैं। वैज्ञानिक सभ्यता ने हमारे रहन-सहन, वेश-भूषा, खान पान—यहाँ तक कि कुछ अंशों में भाव-विचार की बाह्य अभिव्यक्ति में भी इतनी क्रांति कर दी है कि परम्परागत प्राचीन मानव के साथ जब हम अपने आधुनिक जीवन की तुलना करते हैं, तब अन्तर स्पष्ट हो जाता है। परम्परा या परिपाटी को अधिक दिनों तक यथासम्भव एकरस चलाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके नियमों का विधान कर उस पर धार्मिकता का आवरण चढ़ा दिया जाय। धर्म की स्थिति सत्य पर है, और सत्य चिरन्तन है, अतः धार्मिकता जिस परम्परा या नियम के साथ लिपटेगी, उसे अपनी शक्ति से बहुत दूर तक वह खींचती चली जायगी। पिंगल ने छंद-शास्त्र का विधान किया और उस पर धर्म की मुहर लगाकर कवि समाज के सामने रख दिया। जिस वस्तु में कुछ तथ्य रहता है, उसी को धर्म अपनी शक्ति के साथ खींचकर बढ़ा सकता है, किंतु तथ्यहीन वस्तु को धर्म रूढ़ि बनाकर भले ही खींचता चला जाय, उसमें जीवन की प्रांजलता नहीं झलकेगी। छंद, जहाँ तक लय तत्व का सम्बन्ध है, वहाँ तक रूढ़िग्रस्त नहीं माना जा सकता। वह जीवन की चिरन्तन उद्-

भावना है। क्रांति वही सफल होती है और समझी जाती है जो जीर्ण रूढ़ि के स्थान में नवीन जीवन अनुप्राणित करने में समर्थ हो। मनुष्य की कृति में परिवर्तन करना सम्भव है और समयानुसार उसमें संशोधन, परिवर्द्धन या परिवर्तन करना भी आवश्यक हो जाता है, किंतु इसी अभ्यास के अनुसार यदि प्रकृति के क्षेत्र में भी क्रांति का शंख फूँका जाय तो, प्रकृति की विभूति को भस्म करने की क्षमता के अभाव में, मानव-प्रयत्न ही नष्ट हो जायगा। जीवन में जो तत्त्व प्राकृतिक है, उसे कोई क्रांतिकारी आंदोलन हिला नहीं सकता, लेकिन जो बाह्य और प्रक्षिप्त है, उसमें क्रांति सफल हो सकती है।

(जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत, पृष्ठ १३०-१३४, ४६-४७, १३४-१३६ तथा १४८-१५२)

हजारीप्रसाद द्विवेदी

(जन्म सन्—१६०७)

ग्रन्थ—अशोक के फूल, विचार और वितर्क, हिन्दी साहित्य

१—भाषा की सहजता

सहज भाषा पाने के लिये कठोर तप आवश्यक है। जब तक आदमी सहज नहीं होता तब तक भाषा का सहज होना असम्भव है। स्वदेश और विदेश के वर्तमान और अतीत के समस्त वाङ्मय का रस निचोड़ने से वह सहज भाव प्राप्त होता है। हर अदना आदमी क्या बोलता है यह क्या नहीं बोलता, इस बात से सहज भाषा का आदर्श नहीं स्थिर किया जा सकता। क्या कहने या क्या न कहने से मनुष्य उस उच्चतर आदर्श तक पहुँच सकेगा जिसे संक्षेप में 'मनुष्यता' कहा जाता है, यही मुख्य बात है। सहज मनुष्य ही सहज भाषा बोल सकता है। दाता महान् होने से दान महान् होता है।

जिन लोगों ने गहन साधना करके अपने को सहज नहीं बना लिया है, वे यह सहज भाषा नहीं पा सकते। व्याकरण और भाषा-शास्त्र के बल पर यह भाषा नहीं बनाई जा सकती, कोषों में प्रयुक्त शब्दों के अनुपात पर इसे नहीं गढ़ा जा सकता। कबीरदास और तुलसीदास को यह भाषा मिली थी, महात्मा गांधी को भी यह भाषा मिली, क्योंकि वे सहज हो सके। उनमें दान करने की क्षमता थी। शब्दों का हिसाब लगाने से यह दातृत्व नहीं मिलता, अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर महासहज को समर्पण कर देने से प्राप्त होता है। जो अपने को निःशेष भाव से दे नहीं सका वह दाता नहीं हो सकता। आप में अगर देने लायक वस्तु है तो भाषा स्वयं सहज हो जायगी। पहले सहज भाषा बनेगी फिर उसमें देने योग्य पदार्थ भरे जायँगे, यह गलत रास्ता है। सही रास्ता यह है कि पहले देने की क्षमता उपार्जन करो। इसके लिये तप की जरूरत है, साधना की जरूरत है, अपने को निःशेष भाव से दान कर देने की जरूरत है।

(अशोक के फूल, पृष्ठ १८३-१८४)

× × ×

निस्सन्देह मैं सहज भाषा का पक्षपाती हूँ। परन्तु सहज भाषा मैं उसे समझता हूँ जो सहज ही मनुष्य को आहार-निद्रा आदि पशु सामान्य धरातल से ऊँचा उठा सके। सहज भाषा का अर्थ है, सहज ही महान् बना देने वाली भाषा। वह भाषा, जो मनुष्य को उसकी सामाजिक दुर्गति, दरिद्रता, अन्धसंस्कार और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, किसी काम की नहीं है, भले ही उसमें प्रयुक्त शब्द बाजार में विचरने वाले अत्यन्त निम्न-स्तर के लोगों के मुख से संग्रह किए गए हों। अनायास लब्ध भाषा को मैं सहज भाषा नहीं कहता। तपस्या, त्याग और आत्म-बलिदान के द्वारा सीखी हुई भाषा सहज भाषा है। बाजार की भाषा को, छोटे प्रयोजनों की भाषा को, मैं छोटी नहीं कहता परन्तु मनुष्य को उन्नत बनाने के लिये जो भाषा प्रयोग की जायगी वह उससे भिन्न होगी। कबीरदास ने बड़ी व्यथा के साथ कहा था कि 'सहज' 'सहज' तो सभी कहते फिरते हैं परन्तु सहज क्या है, यह विरले ही जान पाते हैं। सहज वे हैं जो सहज ही विषय त्याग कर सके हैं—

सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोई।
जिन सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोई॥

सहज ही विषय त्याग करना सहज काम नहीं। कबीरदास ने इस रहस्य को समझा था। वे जानते थे कि सहज वस्तुतः व्यक्ति हुआ करता है, वस्तु नहीं, दाता के सहज होने से ही दान सहज होता है। जो लोग सहज भाषा लिखना चाहते हैं उन्हें स्वयं सहज बनना पड़ेगा। तपस्या और त्याग से मनुष्य 'सहज' होता है और उसी हालत में वह सहज भाषा का प्रयोग कर सकता है। भाषा तो साधन मात्र है। साध्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास है। सड़क पर चलने वाला आदमी क्या बोलता है यह बात भाषा का आदर्श नहीं होना चाहिए। देखना चाहिए कि क्या बोलने या न बोलने से मनुष्य उस उच्चतर आदर्श को प्राप्त कर सकता है जिसे संक्षेप में 'मनुष्यता' कहा जाता है। केवल संस्कृत या अरबी बोलने से वह उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा और केवल अशिक्षित या अपढ़ लोगों की बोलियों से बटोरे हुए शब्दों से भी नहीं होगा। ये सभी आवश्यक हो सकते हैं, ये सभी अनावश्यक हो सकते हैं। जो व्यक्ति मनुष्य रूपी भगवान् के हाथों अपने आपको निःशेष भाव से दान नहीं कर सका उसे सहज भाषा के विषय में कोई सिफारिश करने का हक नहीं है। यह बात हम रोषवश नहीं कह रहे हैं। हमारा विश्वास है कि ऐसा करने वाले मनुष्य का कोई उपकार नहीं कर सकते, क्योंकि वे बाहरी ज्ञान उगला करते हैं। शास्त्र वे नहीं जानते यह बात मैं नहीं कहता, पर शास्त्रगत सत्य उनका अपना सत्य नहीं होता।

(विचार और वितर्क, पृष्ठ १९४-१९६)

२—साहित्य और सामंजस्य

साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम सारे बाह्य जगत को असुन्दर छोड़ कर सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। सुन्दरता सामंजस्य का नाम है। जिस दुनिया में छोटाई और बड़ाई में, धनी और निर्धन में, ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश-पाताल का अन्तर हो, वह दुनिया सामंजस्यमय नहीं कही जा सकती और इसीलिए वह सुन्दर भी नहीं है। इस बाह्य असुन्दरता के ढूह में खड़े होकर आन्तरिक सौन्दर्य की उपासना नहीं हो सकती। हमें उस बाह्य असौन्दर्य को देखना ही पड़ेगा। निरन्न निर्वसन जनता के बीच खड़े होकर आप परियों के सौन्दर्य लोक की कल्पना नहीं कर सकते। साहित्य सुन्दर का उपासक है, इसीलिए साहित्यिक को असामंजस्य को दूर करने का प्रयत्न पहले करना होगा, अशिक्षा और कुशिक्षा से लड़ना होगा, भय और ग्लानि से लड़ना होगा। सौन्दर्य और असौन्दर्य का कोई समझौता नहीं हो सकता। सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है। उसे पाने का सीधा और एकमात्र रास्ता उसकी कीमत चुका देना ही है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है। हमारे देश का बाह्य रूप न तो आँखों को प्रीति देने लायक है, न कानों को, न मन को, न बुद्धि को। यह सचाई है।

यदि किसी देश का बाह्य रूप सम्मान योग्य तथा सुन्दर नहीं बन सका है तो समझना चाहिए कि उस राष्ट्र की आत्मा में एक उच्च जगत का निर्माण किया जाना शुरू नहीं हुआ है, अर्थात् वहाँ सच्चे साहित्य के निर्माण का श्रीगणेश नहीं हुआ है। साहित्य ही मनुष्य को भीतर से सुसंस्कृत और उन्नत बनाता है और तभी उसका बाह्य रूप भी साफ़ और स्वस्थ दिखाई देता है। और साथ ही बाह्य रूप के साफ और स्वस्थ होने से आन्तरिक स्वास्थ्य का भी आरम्भ होता है। दोनों ही बातें अन्योन्याश्रित हैं। जब कि हमारे देश में नाना भाँति के कुसंस्कार और गंदगी वर्तमान है, जब कि हमारे समाज का आधा अंग पर्दे में ढँका हुआ है, जब कि हमारी नब्बे फीसदी जनता अज्ञान के मलबे के नीचे दबी हुई है तब हमें मानना चाहिए कि अभी दिल्ली बहुत दूर है। हम साहित्य के नाम पर जो कुछ कर रहे हैं और जो कुछ दे रहे हैं उसमें कहीं बड़ी भारी कमी रह गई है। हमारा भीतर और बाहर अब भी साफ स्वस्थ नहीं है। साहित्य की साधना तब तक बन्ध्या ही रहेगी जब तक हम पाठकों में एक ऐसी अदमनीय आकांक्षा जागृत न कर दें जो सारे मानव-समाज को भीतर से और बाहर से सुन्दर तथा सम्मान-योग्य देखने के लिए सदा व्याकुल रहे। अगर यह आकांक्षा जागृत हो सकी तो हममें से प्रत्येक अपनी अपनी शक्ति के अनुसार उन सामग्रियों को जरूर संग्रह कर लेगा जो उक्त इच्छा की पूर्ति की सहायक है। अगर यह आकांक्षा जागृत नहीं हुई है तो कितनी भी विद्या क्यों न पढ़ी हो, वह एक जंजाल मात्र सिद्ध होगी और दुनिया-

दारी और चालाकी का ढकोसला ही बनी रहेगी। जो साहित्यिक निष्ठा के साथ इस इच्छा को लेकर रास्ते पर निकल पड़ेगा वह स्वयं अपना रास्ता खोज निकालेगा। साधन की अल्पता से कोई महती इच्छा आज तक नहीं रुकी है।

(अशोक के फूल, पृष्ठ १८६-१६०)

३—यथार्थवाद

साहित्य में यथार्थवाद शब्द का प्रयोग नये सिरे से होने लगा है, यह अंग्रेजी साहित्य के 'रियलिज्म' शब्द के तौल पर गढ़ लिया गया है। यथार्थवाद का मूल सिद्धांत है वस्तु को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करना। न तो उसे कल्पना के द्वारा विचित्र रंगों से अनुरंजित करना, और न किसी धार्मिक या नैतिक आदर्श के लिये उसे काट-छाँटकर उपस्थित करना। यूरोपियन साहित्य में 'रियलिज्म' का व्यवहार 'रोमेण्टिसिज्म' (स्वच्छन्दतावाद) और 'आईडियलिज्म' (आदर्शवाद) के विरुद्ध अर्थ में हुआ। यथार्थवाद के विरोधी लेखकों ने इस दृष्टि से लिखे हुए उपन्यासों और काव्यों को 'फोटोग्रेफिक' चित्रण कहा है। अर्थात् जिस प्रकार कैमरा वस्तु के प्रत्येक अवयव और वातावरण को ज्यों-का-त्यों उपस्थित कर देता है, न घटाता है, न बढ़ाता है, उसी प्रकार लेखक वक्तव्य-वस्तु को ज्यों-का-त्यों उपस्थित करता है, अपने राग-विराग से उसे कुछ-का-कुछ बनाकर नहीं उपस्थित करता। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये यथार्थवादी लेखक कुछ कौशलों का आश्रय लेता है। वह (१) वक्तव्यवस्तु के इर्द-गिर्द की प्रत्येक बात का ब्यौरेवार विवरण उपस्थित करता है, और गन्दी और घिनौनी समझी जाने वाली चीजों का विशेष रूप से उल्लेख करता है, (२) समसामयिक घटनाओं और रीति-रस्मों का विस्तारपूर्वक उल्लेख करता है, (३) वक्तव्य वस्तु के साथ अत्यन्त क्षीण सूत्र से सम्बद्ध नगण्य व्यक्तियों की भी चर्चा करता है, (४) भिन्न भिन्न पात्रों की बोलियों का हू-ब-हू लेखन करता है, और उनमें यदि जुगुप्सित अश्लील गालियाँ भी हों, तो उन्हें ज्यों-का त्यों रख देने में नहीं हिचकता, (५) विभिन्न व्यवसाय और पेशे के लोगों की पारिभाषिक शब्दावली को चुन-चुन कर संग्रह और व्यवहार करता है, (६) घटना की सचाई का वातावरण उपस्थित करने के लिये चिट्ठियों, सनदों और अन्य प्रामाणिक समझी जाने योग्य बातों को उपस्थित करता है।

रोमांस के पक्षपातियों ने यथार्थवादी चित्रण पर बड़ा कठोर आघात किया है, कभी-कभी इसे प्रकृतिवाद (नेचुरलिज्म) के साथ घुला दिया गया है। प्रकृतिवाद भी उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के साहित्य में बहुत प्रसिद्ध मतवाद था। इसके अनुसार मनुष्य प्रकृति का उसी प्रकार से क्रमशः विकसित जन्तु है, जिस प्रकार संसार के अन्य

प्राणी। उसमें पशु-सुलभ सभी आकर्षण-विकर्षण ज्यों के त्यों वर्तमान हैं। प्रकृतिवादी लेखक मनुष्य को काम, क्रोध आदि मनोरोगों का गट्ठर मात्र समझता है, और उसके अर्थ-हीन आचरणों, कामासक्त चेष्टाओं और अहंकार से उत्पन्न धार्मिक वृत्तियों का विशेष भाव से उल्लेख करता है। यथार्थवादी लेखक ठीक इन्हीं सिद्धान्तों को नहीं मानता, परन्तु मनुष्य की ब्योरेवार चेष्टाओं के चित्रण करते समय कभी-कभी प्रकृतिवादी लेखक के समानान्तर चलने लगता है। वस्तुतः यथार्थवाद का उल्टा शब्द आदर्शवाद है और प्रकृतिवाद का उल्टा शब्द मानवतावाद, क्योंकि मानवतावादी लेखक मनुष्य को पशु-सामान्य धरातल से ऊपर का प्राणी मानता है। वह त्याग और तप को मनुष्य का वास्तविक धर्म मानता है। वह विश्वास करता है कि यद्यपि मनुष्य में बहुत पशु-सुलभ वृत्तियाँ रह गई हैं, तथापि वह पशु नहीं है। वर्षों की साधना से उसने अपने भीतर त्याग, तप, सौन्दर्य प्रेम और पर-दुःख कातरता जैसे गुणों का विकास किया है। ये गुण ही मनुष्य की मनुष्यता की निशानी हैं। इस प्रकार मानवतावादी लेखक प्रकृतिवादी लेखक के ठीक उल्टे रास्ते पर चल सकता है। यथार्थवाद सब समय मानवतावाद का विरोधी नहीं, परन्तु ऐसे अवसर आते हैं जब यथार्थवादी लेखक मानवतावाद के विरुद्ध चला जाता है।

(हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ४२७-२६)

४. मानवतावाद

उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में प्रबल ज्ञान-पिपासा जागृत हुई थी। उन दिनों वहाँ के मनीषियों में दो बातों के बारे में विशेष मतभेद नहीं था। (१) प्रथम तो यह कि इस संसार में सब कुछ क्रमशः विकसित होता आ रहा है, कुछ भी जैसा है वैसा ही बनके नहीं आया था। मनुष्य का मन, बुद्धि, संस्कार, धर्म-मत, सब कुछ क्रमशः विकसित हुए हैं। उनके धार्मिक विश्वास का भी विकास क्रमशः ही हुआ है। सृष्टि परम्परा में मनुष्य का विकास अद्भुत बात है। वह इस सृष्टि-प्रक्रिया का फल मानते हैं। यह ऐतिहासिक दृष्टि आज के शिक्षित व्यक्ति की निजी दृष्टि हो गई है। (२) दूसरा प्रधान विश्वास यह था कि मनुष्य को सुखी बनाना, उसे सब प्रकार की आर्थिक और राजनीतिक गुलामी से मुक्त करना और उसे रोग-शोक के चंगुल से छुड़ाना ही सब प्रकार के शास्त्रों और विद्याओं का प्रधान लक्ष्य है। मनुष्य को किसी परलोक में अनन्त सुखों का अधिकारी बनाना दूसरी बात है और उसे इसी नश्वर जगत् में इसी मर्त्यकाया में सुखी बनाना बिलकुल दूसरी बात है। इस मनुष्य को इसी मर्त्यकाया में इसी दुनिया में सुखी बनाने का लक्ष्य क्या है? उत्तर यह है कि मनुष्य अद्भुत शक्तियों

का भण्डार है। उसने अनेक त्याग और आत्म-दमन के बाद अपने भीतर अनेक सद्गुणों का विकास किया है, वह पशु-सामान्य धरातल से जो ऊपर उठ सका है, इसका कारण यह है कि उसने अपने भीतर त्याग की, तपस्या की और आत्म-संयम की बुद्धि विकसित की है। उसके भीतर संभावनाएँ अनेक हैं। इसी मर्त्यलोक को अद्भुत अपूर्व शान्ति-स्थल बनाने की क्षमता इस मनुष्य में है। इसी दृष्टि को उन दिनों मानवतावादी कहा गया था। यह सिद्धान्त केवल लोकप्रिय ही नहीं हुआ, वह आधुनिक संस्कृति का मेरुदण्ड सिद्ध हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के मानवतावादी विचारक बहुत आशावादी थे। उस समय जो शिक्षा-पद्धति सोची गई उसके केन्द्र में यह मानवतावादी विचारधारा थी। उस काल की सभी व्यवस्थाओं के केन्द्र में मानवतावादी दृष्टि का हाथ था। भारतवर्ष में भी वही शिक्षा-पद्धति आई। इस शिक्षा-पद्धति में जो लोग शिक्षित हुए वे मनुष्य की महिमा में अपार विश्वास लेकर विद्यालयों से निकले। प्राचीन धर्म-भावना में मनुष्य को परलोक में सुखी बनाने का संकल्प था। स्पष्ट रूप से पुरानी धर्म-भावना का विरुद्धगामी दृष्टिकोण विकसित हुआ। फलस्वरूप आचारों, विश्वासों और क्रियाओं के मूल्यों में बड़ा अन्तर आ गया। ईश्वर और मोक्ष को मानना, न मानना, गौण बात हो गई, मनुष्य को इसी लोक में सुखी बनाना मुख्य। प्रेमचन्द ने अपने एक मौजी पात्र से कहलवाया है—"जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इस पर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीडा है, चहक है, प्रेम है वहीं ईश्वर है, और जीवन को सुखी बनाना ही मोक्ष और उपासना है। ज्ञानी कहता है होंठों पर मुस्कुराहट न आवे, आँखों में आँसू न आवें। मैं कहता हूँ, अगर तुम हँस नहीं सकते, रो नहीं सकते, तो तुम मनुष्य नहीं पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नहीं कोल्हू है।" इस उद्धरण में आधुनिक मानवतावादी दृष्टि बहुत स्पष्ट हुई है। बीसवीं शताब्दी के सभी हिन्दी लेखक इस मानवतावादी दृष्टि से प्रभावित थे पर सबके विचारों में फिर भी ऐक्य नहीं था क्योंकि मानवतावाद भी विभिन्न लेखकों की रुचि और संस्कारों से प्रभावित होकर कुछ भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट हुआ।

यूरोप में भी मनुष्य को इसी जीवन में सुखी बनाने की दृष्टि ने स्वदेशी राष्ट्रीयतावाद के आन्दोलन को बल दिया। व्यवहार में उसे अपने देश के मनुष्यों तक ही संकुचित बनना पड़ा और मशीनों के नवीन साधनों से सम्पन्न व्यवसायियों के लिए अपनी सम्पत्ति बढ़ाने और दूसरे देशों का शोषण करने का अस्त्र सिद्ध हुआ। इस देश में समस्या दूसरी थी। यहाँ राष्ट्रीयता का विकास हो रहा था परन्तु वह शोषण से मुक्ति पाने का प्रयासी था। इसलिए शुरू-शुरू में मानवतावादी दृष्टि के साथ राष्ट्रीयतावादी दृष्टि का कोई संघर्ष नहीं हुआ। उस काल के सभी लेखकों और कवियों में दोनों

ही दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं। परन्तु साहित्य क्षेत्र में मूल चालक मनोवृत्ति मानवतावाद ही थी। इस मानवतावादी दृष्टि के पेट से ही काव्य में छायावाद का जन्म हुआ और कहानियों के क्षेत्र में सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक शोषण से विद्रोह करने वाली स्वच्छदतावादी प्रेमधारा का भी जन्म हुआ। बीसवीं शताब्दी के उपन्यासों, कहानियों और काव्यों का प्रधान स्वर शोषित के प्रति सहानुभूति का है। इस साहित्य में शोषित के प्रति केवल सहानुभूति ही नहीं मिलती बल्कि यह विश्वास भी काम करता है कि जो शोषित है वह यदि शोषण से मुक्त हो जाय तो उसमें सब प्रकार के सद्गुणों का विकास हो जाता है।

(हिन्दी साहित्य पृष्ठ ४३०-४३३)

५—समालोचना और अध्ययन

समालोचना की दुनिया निराली होती है। अन्य वैज्ञानिक ठोस वस्तुओं की माप-जोख करते रहते हैं, पर समालोचक अनिन्द्रिय-ग्राह्य अलौकिक रस-वस्तु की जाँच करता है। इसलिए पहले उसे अपने मनोभावों को ही प्रधानता देनी चाहिए। अर्थात् छूटते ही उसे जो काव्यादि अपील कर जाएँ, 'पदझंकार मात्रेण' उसका मन हर जायें उसी को उसे बुद्धि-परक विवेचना का रूप देना चाहिए। मुझे इस बात की शिकायत नहीं है। ऐसी हालत में आप समालोचक को जज या द्रष्टा या और कुछ कहें तो मुझे जरूर शिकायत होगी, क्योंकि ऐसा करके आलोचक वस्तुतः कवि बनता है। अन्तर यही होता है कि कवि फूल-पत्ता को देखकर भावोन्मत्त होता है और आलोचक उसकी कविता को। मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि कवि के चित्त के अन्तस्तल में या उसके (सबकांशियस माइन्ड) में ऐसी बहुत-सी चीजें होती हैं जो अनजान में उसकी कविता में आ जाती है और आलोचक का दावा बिल्कुल ठीक है कि वह उन अनजान प्रवृत्तियों से सहृदयों को परिचित कराता है। परन्तु जब वह कहता है कि उससे किसी अनिर्वचनीय हेतु या फल का सधान उसे मिलता है तो मुझे ऐसा लगता है कि वह मानव-बुद्धि का अपमान करता है। कोई चीज हमें सौ-दो-सौ कारणों से प्रभावित करती है। वैज्ञानिक को आज शायद दस-पाँच का ही ज्ञान है। बाकी अज्ञात हैं। किन्तु वैज्ञानिक का यह धर्म है कि उसे जितना मालूम है उतना कह कर बाकी के लिए भावी पीढ़ियों में कुतूहल और उत्सुकता का भाव जगा जाय, यह नहीं कि वह दे कि बाकी किसी अज्ञात और अज्ञेय उत्स से आ रही हैं। समालोचक से हमारी यह भी शिकायत है।

लेकिन मुझे केवल इन्हीं दो कारणों से आलोचना-कार्य के प्रति संदाय का भाव

नहीं उदित हुआ है। यह जो बात मैं अब तक कहता आया हूँ वह इस दृष्टि से कि काव्य या नाटक अथवा अन्य किसी साहित्यांग को साध्य मान लिया गया है। आदि काल से अब तक हम इसी दृष्टि से देखते रहे हैं। पर अगर साध्य रूप में ही साहित्य को पढ़ना-पढ़ाना हो तो कम-से-कम हिन्दी के प्राचीन साहित्य का ढेर हमें यथा-शीघ्र फेंक देना चाहिए और भविष्य में पाण्डुलिपियों के पीछे भागते फिरने के श्रम से भी छुट्टी ले लेनी चाहिए। वस्तुत साहित्यिक अध्ययन-तथापि साहित्य के अध्ययन-साध्य रूप में नहीं, बल्कि साधन रूप में ही अधिक लेना चाहिए। उसे अपनी आधुनिक समस्याओं के वर्तमान जटिल रूप के समझने में सहायक के रूप में ही अधिक देखना चाहिये। प्रधान बात है हमारी आधुनिक समस्याएँ। साहित्य अगर उसके लिए उपयुक्त अध्ययन-सामग्री नहीं उपस्थित करता तो वह बेकार है। और इतना तो आप भी मानेंगे कि केवल बिहारी, भूषण और देव को घोटकर कण्ठाग्र कर रखने वाले पंडित भी आधुनिक युग में केवल निकम्मे ही नहीं, समाज के भार हो जाएँगे। मैं आशा करता हूँ कि पाठक मुझे गलत नहीं समझेंगे। आखिर बिहारी या मतिराम हमारी कौन-सी राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक या वैयक्तिक समस्याओं का जवाब हैं? उनके अध्ययन से हम केवल एक ही फायदा उठा सकते हैं। वह यह कि इनको पढ़कर, इनका क्रम-बद्ध विकास देखकर हम अपनी नित्य-प्रति की उन समस्याओं का असली कारण और स्वरूप समझ सकते हैं जो हमें रोज ही जूझने को ललकारती रहती है। इसी को मैं साधन-रूप में साहित्य का अध्ययन कहता हूँ। मैं जानता हूँ कि आप मेरे साथ निश्चय ही सहमत होंगे कि हिन्दी-साहित्य को इस रूप में अध्ययन करने की चेष्टा बहुत कम हुई है।

(अशोक के फूल, पृष्ठ १५३-१५४)

६—साहित्य में शव-साधना और शिव-साधना

कई बार मेरे मन में यह बात आई है कि प्राचीन युग के अध्येता जिस महान् तान्त्रिक साधना में लगे हैं उसका रहस्य क्या हमें मालूम है? कुछ को जरूर मालूम होगा, सब तो शायद नहीं जानते।

जड़ तत्त्वों का सर्वाधिक सामञ्जस्य-पूर्ण संघात मनुष्य का शरीर है। जब तक उसमें जीवात्मा का संयोग वर्तमान रहता है तब तक वह विशुद्ध जड़ तत्त्व नहीं कहा जा सकता, परन्तु जब जीव उसमें से निकल जाता है तो साथ-ही-साथ मन, बुद्धि आदि तत्त्व भी उसमें से निकल जाते हैं, यहाँ तक कि प्राण-वायु के दस भेदों में से केवल एक धनंजय को छोड़ कर बाकी नौ भी निकल जाते हैं। उस समय शव सम्पूर्ण क्रिया-

हीन, राग-विराग से रहित, इच्छा द्वेष से विनिर्मुक्त, धर्म-अधर्म से परे हो जाता है। वह साक्षात् आनन्द-भैरव का प्रतीक होता है। साधक जब शिवानन्द और परमानन्द की अवस्था में होता है तब वह इसी प्रकार इच्छा-द्वेष, राग-विराग, धर्म-अधर्म से परे एक अनुभवैकगम्य अवस्था में होता है। उस साधक से इस शव का भेद है, परन्तु जो शक्ति में विश्वास करते हैं वे जानते हैं कि उचित संघात ही नई-नई शक्तियों का जन्मदाता है। शव में वह संघात प्रायः पूर्ण है, इसीलिये शाक्त साधक शव को साधना का उत्तम साधन मानते हैं। इस शव का परिपूर्ण जड़-संघात होना आवश्यक है। रोग से, व्याधि से, जहर खाकर और मानसिक सन्ताप से कातर होकर जिसने प्राण खोए हैं, उसका शव ग्रहणीय नहीं होता। युद्ध लड़ते-लड़ते जो मरा, उल्लास के साथ जिसने अपने को बलि कर दिया है, जीवितावस्था में जिसके चेहरे पर कभी शिकन नहीं पड़ी, उसी का शव-साधना में ग्रहणीय माना गया है। यह शव निष्क्रिय शिव का उत्तम प्रतीक है, साधक चण्डिका के सचार से उसे सक्रिय बनाता है। शुरू में ही वह शव की स्तुति करता है—

वीरेश परमानन्द शिवानन्द कुलेश्वर
आनन्दभैरवाकार देवीपर्यंक शंकर
वीरोऽहंत्वा प्रपद्यामि उत्तिष्ठ चण्डिकार्चने।

(भावचूडामणि)

मुझे एक तान्त्रिक साधक ने बताया है कि शव का मुँह नीचे कर दिया जाता है और साधक उसकी पीठ पर बैठकर विविध मन्त्रों का जप करता है। सिद्धि प्राप्त होने के पहले अनेक विघ्न होते हैं। जो साधक डर जाता है वह नष्ट हो जाता है, परन्तु जो विचलित नहीं होता वह अन्त में विजयी होता है। जब शव देह में चण्डिका का आवेश होता है तो उसका मुँह घूम कर साधक की ओर हो जाता है और साधक से वह बातचीत करने लगता है, उस शव के मुख से ही चण्डिका साधक को वर देती हैं। परन्तु तान्त्रिक ग्रन्थों में बताया गया है कि शव जैसे का तैसा पड़ा रहता है, आकाश में देवता नाना भाँति के प्रलोभन के वाक्य उच्चारण करते हैं। साधक अविचलित रहकर उन्हें प्रतिज्ञापाश में बद्ध करता है और तब कहीं जाकर सिद्धि प्राप्त होती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जो साधक जड़-संघात के सर्वोत्तम मूर्तरूप इस शव के गठन को ठीक-ठीक जानता है वही सिद्धि पाता है। शव जीवित नहीं होता परन्तु तन्त्र ग्रंथ में बताया गया है कि प्रसन्न होने पर शव जो कुछ दे सकता है वह कोई जीवित व्यक्ति नहीं दे सकता, क्योंकि शव साक्षात् निष्क्रिय शिव का स्वरूप है। वह इच्छा-द्वेष से परे, परमानन्दस्वरूप है। वह उस शंकर (निष्क्रिय) का प्रतीक है जो देवी के विकराल ताण्डव के पादपीठ हैं।

शव-साधना का महान् साधन

मैं जब जब अपने देश के प्राचीन आचार-विचार और क्रिया-कलाप के अवशेषों को देखता हूँ तब तब मुझे इस तान्त्रिक शव साधना की बात याद आती है। शव साधक शव को ही अपना लक्ष्य नहीं मानता, परन्तु फिर भी शव का कितना आदर उसके चित्त में होता है ! मरे हुए जमाने की पीठ पर बैठकर जो पण्डित आज ज्ञान की साधना कर रहे हैं वे भी उस प्राचीन मरे हुए काल को उतना ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वह युग हमें दण्ड नहीं दे सकता, उस युग का उदार नरेश किसी पण्डित को प्रति अक्षर पर लक्ष-लक्ष का दान नहीं दे सकता, उस युग की कोई सुन्दरी अपने विच्छित्ति-शेष वर्णों से, सिन्दूरदान के बचे हुए रंगों से, अपने अचल पर हमारी यशोगाथा नहीं लिखती, उस युग का कोई दूत हमारे नगरों और शस्य-क्षेत्रों को आग में नहीं झुलस देता, वस्तुतः उस युग का ईर्ष्या-द्वेष, राग विराग, धर्म-अधर्म हमें स्पर्श नहीं कर सकता। और फिर भी वह युग हमें आनन्द के अद्भुत लोक में उपस्थित कर देता है, हमारी नस-नस में एक अपूर्व भाव-सौन्दर्य उज्जीवित कर देता है। उस युग में कोई क्रिया नहीं है। बड़े-बड़े विशाल मन्दिर, जयस्तम्भ, राजप्रासाद और दुर्गप्राकार इस प्रकार खड़े हुए हैं मानो हँसते-खेलते उन्हें बिजली मार गई हो, मानो सम्मुख युद्ध में उन्हें किसी ने काट डाला हो। शव-साधना का इतना बड़ा साधन कहाँ मिलेगा ?

साधना का लक्ष्य

परन्तु हमारे प्राचीन ज्ञान का लक्ष्य क्या सभी साधकों को मालूम है ? प्राचीन युग मर चुका है, वह जी नहीं सकता, फिर भी उसकी अच्छी जानकारी हुए बिना हमें सिद्धि नहीं मिल सकती। जितना ही हम उसे समझेंगे उतना ही स्पष्ट होगा कि वह निष्क्रिय शिव आनन्द-भैरवाकार है, परमानन्द-स्वरूप है क्योंकि इसके भीतर से हम जो आनन्द पाते हैं वह इच्छा द्वेष से परे, राग-विराग से विनिर्मुक्त है। परन्तु वह समूचा युग एक साधन है। यदि इस युग का लक्ष्य वह युग ही हैं तो साधना अधूरी है। पुराने युग के मृत शव पर बैठा हुआ ज्ञानी साधक आकाश से सिद्धि पाएगा। शास्त्र-ज्ञान का लक्ष्य शास्त्र ज्ञान नहीं है। इस प्राचीन युग के आचार-विचार के अध्ययन का लक्ष्य वह आचार-विचार ही नहीं है, लक्ष्य है भविष्य का युग। यदि हमारे समूचे प्राक्तन तत्वों का ज्ञान हमारे भविष्य के निर्माण में सहायक नहीं होता तो वह बेकार है। शव-देह में शक्ति-संचार होने से ही भावी सिद्धि प्राप्त होती है। शव देह की अच्छी जानकारी हर हालत में अपेक्षित है। इसी प्रकार हमारे प्राचीन शास्त्रों, रीतियों, क्रियाओं, आचारों के अध्ययन का लक्ष्य भविष्य में होना चाहिए। यदि कोई पण्डित समझता है

कि पुराना जमाना जी जायगा, पुराने आचार फिर से प्रचलित हो जायँगे, पुराना गौरव फिर पनप उठेगा तो उसने अपनी साधना का रहस्य नहीं समझा है। इन सब-कुछ का लक्ष्य है इस युग के कोटि-कोटि मनुष्यों को परमुखापेक्षिता, दरिद्रता, अज्ञान, और शोषण से मुक्त करना। यह क्या सम्भव है ?

युग पर अधिकार

शव की पीठ पर मन्त्र-तन्त्र से चाहे जितनी साधना की जाय, जब तक उसका मुख साधक की ओर नहीं होता, तब तक समझना चाहिए कि साधक सिद्धि के निकट नहीं आया है, शव तब भी शव ही है, उसमें शक्ति का सचार नहीं हुआ है। शव की साधना तभी पूर्ण होती है जब उसका मुख साधक के सामने होता है, वह उससे जीवित मनुष्य की भाँति बात करता है। प्राचीन ज्ञान विज्ञान के साधक को यह बात याद रखनी होती है। हम ऐसे साधकों को जानते हैं जिन्होंने अपने गम्भीर अध्यवसाय से प्राचीन युग का मुख अपनी ओर फेर लिया है। तुलसीदास ऐसे ही साधक थे। उन्होंने जो कुछ पढ़ा, गुना, उसे निःशेष भाव से भविष्य के निर्माण में लगा दिया। केवल ज्ञान भार है यदि वह मुक्ति की ओर नहीं ले जाता। वह भी बाह्याचार मात्र है, मृत है। ज्ञान का फल मुक्ति है। प्राचीन ज्ञान के उपासकों में से थोड़े ही इस रहस्य को समझ पाते हैं। मुक्ति किससे ? जड़ता से, अज्ञान से, परमुखापेक्षिता से, दम्भ से, अहंकार से, दासत्व से। ज्ञान का लक्ष्य यही है।

उत्तम शव-साधना

हमारा यह देश नौसिखुआ नहीं है। उसके ज्ञान विज्ञान का इतिहास विशाल है। उसके खोहों और भग्नावशेषों में प्रेरणा का समुद्र लहरा रहा है। यह हमारा परम सौभाग्य है कि जड़ तत्त्वों के इतने परिपूर्ण सघात हमारी साधना के लिये देश के कोने-कोने में बिखरे पड़े हैं। अन्य किसी भी देश को शायद ही इतनी परिपूर्ण साधन-सामग्री प्राप्त हो। हम यदि निष्ठा और प्रेम के साथ इन सम्पूर्ण सामग्री का उपयोग भविष्य निर्माण के लिये करें, तभी कल्याण है। केवल इन सामग्रियों को ही लक्ष्य मान लेना गलती है। इनके ज्ञान मात्र से सिद्धि नहीं मिलेगी, यद्यपि इनकी सूक्ष्म और ठीक-ठीक जानकारी परमावश्यक है। प्राचीनता का अध्ययन उत्तम शव-साधना है। उसमें पद-पद पर सावधानी की आवश्यकता है, प्रतिक्षण अपने लक्ष्य को याद रखने की आवश्यकता है और सदा सर्वदा कठोर सयम और अपार साहस का होना जरूरी है।

(विचार और वितर्क, पृष्ठ १४४-१४८)

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

[जन्म सन्—१९०६ ई०]

ग्रन्थ—आधुनिक साहित्य, हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी

१. कविता का स्वरूप

कविता क्या है—यह प्रश्न अब यहाँ उपस्थित है। काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य-मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्य-संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहते हैं, यद्यपि यह स्वीकार करना होगा कि 'रस' का हमारे यहाँ दुरुपयोग भी कम नहीं किया गया। ऊपर की व्याख्या से हम काव्य या साहित्य मात्र के सम्बन्ध में कतिपय निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं। प्रकृत मानव अनुभूति एक सार्वजनिक वस्तु है, इसमें वे कृत्रिम अनुभूतियाँ सम्मिलित नहीं हैं, जिनकी शिक्षा कुछ विशेष व्यक्तियों या वर्गों को दी जाती है, जिससे साम्प्रदायिक काव्य का निर्माण होता है। इन अनुभूतियों का चित्रण जिस नैसर्गिक कल्पना के सहारे होता है, उसकी उद्भाविका कवि की प्रतिभा होती है। यह कल्पना जितनी ही नैसर्गिक और प्रशस्त होगी, उतने ही उन्नत काव्य का सृजन करेगी, उतना ही चित्रण की सौन्दर्यमयता बढ़ जायगी और उतना ही समुन्नत और प्रगाढ़ उसका संवेदन होगा। सार्वजनीन होने के कारण ही यह सौन्दर्य-तत्त्व नित्य और शाश्वत है। एक ही कविता सैकड़ों हजारों वर्ष के बाद भी वही सौन्दर्य-चेतना उत्पन्न करती है जो उसने आरम्भ में उत्पन्न की थी।

अवश्य कविता सार्वजनीन और शाश्वत वस्तु है, किन्तु कवि के व्यक्तिगत विकास और संस्कार के अनुसार उसकी सौन्दर्यानुभूति की शक्ति मात्रा और कोमलतापन में अन्तर हुआ करता है, और अनुभूतियों को व्यक्त करने का सामर्थ्य या योग्यता भी कम या अधिक हुआ करती है। इन सारी वस्तुओं का परिचय हमें कवि की उस रचना से ही प्राप्त होता है, इसलिये काव्य विवेचन में रचना या अभिव्यक्ति ही सब कुछ है। वास्तव में काव्य के उत्कर्ष या अपकर्ष की परीक्षा इन्हीं विशेषताओं के आधार पर की जा सकती है। यों, व्यावहारिक विभाग के लिये हम महाकाव्य, गीति-काव्य, उपन्यास, आख्यायिका और नाटक आदि के विभाग करते हैं। उनके विभिन्न तत्त्वों का इतिहास और सामाजिक विकास क्रम में उनके परिवर्तित स्वरूपों का अध्ययन करते हैं। किन्तु काव्य-साहित्य का तात्त्विक मूल्य तो प्रथम वर्गीकरण में ही है।

अब यह पूछा जा सकता है कि कविता यदि शाश्वत वस्तु है तो उस पर देश-काल आदि बदलती हुई स्थितियों और विचार-धाराओं का क्या कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता ? यह पहेली ऊपर से जितनी संदिग्ध जान पड़ती है, वास्तव में उतनी है नहीं। देश, *काल और वातावरण का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति और समाज पर पड़ता है।* कवि की दृष्टि तो और भी तीव्र और ग्राहिका शक्ति सजग रहती है। इसलिये सच्चे कवि और साहित्यकार प्रायः प्रगतिशील ही हुआ करते हैं। किन्तु कवि का कार्य प्रगतिशील होना ही नहीं है, प्रगतिशील सामाजिक प्रेरणाओं, स्वरूपों और प्रवृत्तियों को शाश्वत सौन्दर्य-संवेदन का स्वरूप देना उसका कार्य है। आज का प्रगतिशील व्यक्ति कल पिछड़ सकता है, किन्तु हृदय के चिरन्तन सौन्दर्य-तारों को स्पर्श करने वाला कवि कभी पिछड़ता नहीं। कालिदास और शेक्सपियर, होमर और मिल्टन, वाल्मीकि और व्यास, सूर, तुलसी और कबीर शताब्दियों पुराने हैं, किन्तु उनका काव्य उतना ही मनोरम आज है जितना वह अपने निर्माण के दिन रहा होगा।

(आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ४०७-४०९)

अन्तिम प्रश्न काव्य में वादों की स्थिति का है। वाद तो वास्तव में जीवन-सम्बन्धिनी धारणाओं और प्रवृत्तियों के बौद्धिक निरूपण हैं। प्रत्येक वाद की एक सीमा-रेखा होती है। प्रत्येक वाद के अन्तर्गत समय समय पर ऐसी जीवन-दृष्टियाँ संघटित होती हैं, जिनमें सामाजिक उन्नति और ह्रास दोनों के संयोग इकट्ठे हो सकते हैं। प्रत्येक वाद में शक्तिमत्ता और दुर्बलता के परमाणु समयानुसार घटते-बढ़ते रहते हैं। किसी भी वाद के साथ न्याय करने के लिये उसकी पारिभाषिक शब्दावली का उसके अभिप्रेत अर्थ में, युग की ऐतिहासिक प्रगति को ध्यान में रखकर, अध्ययन करना आवश्यक है। बिना इसके वाद के साथ न्याय नहीं हो सकता।

वाद एक स्थूल और परिवर्तनशील जीवन दृष्टि है। काव्य जीवन-व्यापी अनुभूति है। काव्य और वाद दोनों के स्वरूपों और प्रक्रियाओं में अन्तर है। सामाजिक जीवन से दोनों का निष्क्रमण होता है, काव्य का भी और वाद का भी। किन्तु एक की प्रणाली हार्दिक और व्यक्तिमुखी है, दूसरे की सैद्धान्तिक और समूहमुखी। काव्य का कार्य है संवेदना की सृष्टि करना, वाद का कार्य है ज्ञान-विस्तार करना। वाद का स्वरूप एकदेशीय है, काव्य का सार्वभौम। वाद की सार्थकता सामाजिक विकास के साथ अग्रसर होने में है, काव्य का सौन्दर्य चिर-नवीन रहने में है। काव्य का लक्ष्य मानव स्वभाव और मानवीय भावना के मार्मिक और स्थायी रूपों का चित्रण है। वाद का लक्ष्य है *तथ्य-विशेष की बौद्धिक व्याख्या करना।* काव्य सूक्ष्म और असाधारण परिस्थितियों में मानव-चरित्र और आचरण की भावमयी झाँकी दिखाता है, वाद साधारण और असाधारण समस्त परिस्थितियों का सामूहिक आधार लेकर चलता है और उसी

पर अपना नियम-निरूपण करता है। काव्य-कल्पना एक बार कवि की वाणी का आश्रय लेकर जो रूप-निर्माण करती है, उसकी अनुरूप अनुभूति प्रत्येक सहृदय को सभी देशों और सभी समयों में अनायास हो होगी, किन्तु वाद के द्वारा जिस सत्य का एक बार निरूपण होता है, वह नया ज्ञान उपलब्ध होने पर फीका पड जाता है—कभी-कभी अर्ध-सत्य या असत्य भी बन जाता है, और तब उस वाद को नए व्यक्तियों द्वारा नया जीवन देने की आवश्यकता होती है, नए सिरे से समझाना होता है, नया संशोधन और नई उपपत्तियाँ रखनी पड़ती है। और इतना करने पर भी वह सदैव पुनरुज्जीवित नहीं हो पाता। अस्तु, हम कह सकते हैं कि काव्य और वाद मानव-जीवन से सम्बद्ध होते हुए भी दोनों का क्षेत्र पृथक् है। सहकारी होते हुए भी दोनों की कार्य-शैली भिन्न है।

(आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ४१०-४११)

२—साहित्य का प्रयोजन—आत्मानुभूति

साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति है, यहाँ 'प्रयोजन' और 'आत्मानुभूति' शब्दों पर पहले विचार कर लेना आवश्यक है। 'प्रयोजन' शब्द कभी निमित्त के अर्थ में आता है और कभी उद्देश्य के अर्थ में व्यवहृत होता है। इससे कभी हेतु या कारण का अर्थ लिया जाता है और कभी फल या कार्य का। विशेषकर हिन्दी में इसके प्रयोगों में बड़ी विभिन्नता है। यहाँ हम इसका प्रयोग हेतु या प्रेरक के अर्थ में ही कर रहे हैं। आत्मानुभूति साहित्य का प्रयोजन है, इसका अर्थ हम यह लेते हैं कि आत्मानुभूति की प्रेरणा से ही साहित्य की सृष्टि होती है।

'आत्मानुभूति' शब्द भी निश्चयार्थक नहीं है। इसके प्रयोग में भी बड़ा मतभेद है। यह दर्शन-शास्त्र का शब्द है, परन्तु कुछ दार्शनिक तो इस शब्द को ही स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि आत्मा के साथ अनुभूति का सम्बन्ध ही नहीं है, अतः ये दोनों शब्द एक साथ नहीं रह सकते। आत्मा निरपेक्ष तत्त्व है और अनुभूति गुण है। निरपेक्ष तत्त्व का सापेक्ष वस्तु से कोई योग नहीं हो सकता। अखण्ड, अज, अव्यय, नित्य, अविकारी, आत्मा से योमित, व्यक्तिगत अथवा समूहगत अनुभूति का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। 'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाय भूत्वा भविता वा न भूय'। त्रिकाल में भी न उत्पन्न होने वाली और न मरने वाली आत्मा से देश-काल परिच्छिन्न अनुभूतियों की क्या संगति ?

जहाँ एक ओर यह धारणा या मत है, वहीं दूसरी ओर आत्मा और अनुभूति का परस्पर सम्बन्ध मानने वाले दार्शनिक और विचारक भी हैं। यदि पहला तत्त्व ज्ञान उपनिषद् और गीता का है, तो दूसरे मत की प्रतिष्ठा भी उपनिषद् और गीता से ही

की जाती है। भारतीय तत्त्व-चिन्तन में पुरुष और प्रकृति के साथ-साथ आत्मा और अनुभूति का सापेक्ष सम्बन्ध स्थिर करने वाले अनेक आचार्य हैं। विशेषकर द्वैतवादी दर्शनों में इस प्रकार की विचार-भूमिकाएँ मिलती हैं। शक्ति-सिद्धान्त को मानने वाले सम्प्रदाय जो अपने मत-चिन्तन को शक्ति-अद्वैत के नाम से घोषित करते हैं, आत्मा को शक्ति-रूप ही स्वीकार करते हैं। उनके विचार में शक्ति ही आत्मा है, अनुभूति शक्ति है, अतः अनुभूति ही आत्मा है।

इस प्रकार आत्मा और अनुभूति के सम्बन्ध की अनेकरूपता का आभास हमें भारत की विभिन्न चिंता-धाराओं से प्राप्त होता है। हम यहाँ किसी एक मत को स्वीकार करने या दूसरे मत का तिरस्कार करने की दृष्टि से इस दार्शनिक चर्चा में नहीं पड़े हैं। हमारा प्रयोजन केवल आत्मानुभूति शब्द और उसके अर्थ पर दृष्टिपात करना है, और हम देखते हैं कि इस शब्द को लेकर दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। मतैक्य तो दूर, आत्मा और अनुभूति के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर सभी सम्भव दृष्टियों के स्थापन की चेष्टाएँ की गई हैं, जिनमें साम्य या समन्वय ढूंढने का प्रयास हम यहाँ नहीं कर सकेंगे। एक ओर निरपेक्ष और स्वाधीन आत्म तत्त्व के साथ त्रिकाल में भी अनुभूति का कोई सम्बन्ध न मानने वाले अद्वैत दार्शनिक हैं, दूसरी ओर अनुभूति के बिना आत्मा की सत्ता ही न स्वीकार करने वाले शक्ति तन्त्र के संस्थापक आचार्य हैं, और इन दोनों के मध्य आत्मा और अनुभूति का बहुरूपी सम्बन्ध स्थिर करने वाले सापेक्षवादी द्वैत चिंतक हैं। हम इस अन्तहीन विचार-व्यूह में प्रवेश करने में अभिमन्यु की भाँति ही शंकित हैं, अतएव हम इससे विरत रह कर ही सन्तोष करेंगे।

सच तो यह है कि हमें इस दार्शनिक ऊहापोह में जाने की आवश्यकता ही नहीं है। हमारा प्रस्तुत विषय इसकी अपेक्षा नहीं करता। आत्मानुभूति के स्थान पर हमारा काम केवल अनुभूति से चल सकता है। अतः हम आत्मानुभूति के शब्द-प्रपंच में न पड़ कर 'अनुभूति' से ही काम निकालेंगे।

काव्य की प्रेरणा अनुभूति से मिलती है, यह स्वतः एक अनुभूत तथ्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस का निर्माण करते समय लिखा था—स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबंधमति मंजुल मातनोति। यहाँ 'स्वांत सुखाय' से उनका तात्पर्य आत्मानुभूति या अनुभूति से ही है। रस-सिद्धान्त का निरूपण करने वाले शास्त्रज्ञों ने काव्य का उपादान विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि को बताया है। साहित्य-मात्र के मूल में अनुभूति या भावना कार्य करती है, यह रस-सिद्धान्त की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है।

हम एक नाटक का अभिनय देखते हैं जिसमें अनेक पात्र भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में उपस्थित होकर परस्पर वार्तालाप करते हैं और अनेक परिस्थितियों का दिग्दर्शन

कराते हुए नाटकीय व्यापार को आगे बढ़ाते हैं। इसमें हमें नाटककार की अनुभूति प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती, परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रत्येक पात्र की अनुभूति के रूप में रचयिता की अनुभूति काम करती रहती है। हम कोई उपन्यास पढ़ते हैं, जिसमें विविध व्यक्तियों की दैनिक घटनावली का चित्रण रहता है। पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि हम जीवन के वास्तविक रूप को ही देख रहे हैं और उन घटनाओं का परिचय पा रहे हैं जो वास्तव में घटित हुई हैं। हम इस ऊपरी जीवन-व्यापार में रचयिता की सत्ता को भूल जाते हैं, पर क्या उसकी अनुभूति के बिना वह रचना किसी प्रकार सम्भव है ? क्या स्रष्टा की अनुभूति से रहित काव्य-सृष्टि की कल्पना भी की जा सकती है ?

काव्य में अनुभूति की इस व्यापकता का निर्देश करने में भारतीय साहित्य-शास्त्र का ध्वनि-सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। वह प्रमुख रूप से इसी तत्त्व पर प्रकाश डालता है कि काव्य और साहित्य की बाहरी रूप-रेखा के मर्म में आत्मानुभूति या विभावन व्यापार ही काम करता है। काव्य की सम्पूर्ण विविधता [redacted] भीतर ऐकात्म्य स्थापित करने वाली यही शक्ति है। सम्पूर्ण काव्य किसी रस को अभिव्यक्त करता है, और वह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है और वह स्थायी भाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है।

यहाँ कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनकी ओर हमें आवश्यक रूप से ध्यान देना पड़ता है। काव्य-साहित्य में अनुभूति की व्यापकता को स्वीकार करते हुए भी क्या हम उसे सम-रस या सम-रूप कह सकते हैं ? क्या समस्त कवियों और रचनाकारों की अनुभूति एकरूप या समान होती है ? यदि नहीं तो क्या अनुभूति में स्वरूप-गत भेद होते हैं ? इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह है कि साधारण अनुभूति और काव्यानुभूति एक ही हैं या उनमें भी अन्तर है ? अन्तर है, तो किस प्रकार का ? साधारणतः हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ-न-कुछ अनुभूति होती है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में काव्य की शक्ति नहीं होती। उसमें अपनी अनुभूतियों के प्रकाशन की क्षमता नहीं होती। तो क्या ये दोनों वस्तुएँ—अनुभूति और काव्यानुभूति, स्वरूपतः भिन्न हैं ?

यहाँ सुविधा के लिए हम दूसरे प्रश्न को पहले लेंगे। यह सम्भव है कि प्रत्येक व्यक्ति कवि नहीं होता, उसमें अपनी अनुभूतियों के प्रकाशन की योग्यता नहीं होती। पर इतने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि साधारण अनुभूति और काव्यगत अनुभूति दो भिन्न वस्तुएँ हैं। इस सम्बन्ध में वर्तमान युग के प्रसिद्ध कला शास्त्री बेनिडिटो क्रोचे का मत ध्यान देने योग्य है। क्रोचे का कथन है कि अनुभूति वही है जो काव्य या कलाओं के रूप में अभिव्यक्त होती है। जिस अनुभूति में यह अभिव्यक्ति-क्षमता नहीं है, वह वास्तव में अनुभूति न होकर कोरी इन्द्रियता या मानसिक जमुहाई मात्र है।

वह अनुभूति जो आत्मिक व्यापार का परिणाम है, सौन्दर्य-रूप में अभिव्यक्त हुए बिना रह ही नही सकती। उसे काव्य-स्वरूप ग्रहण करना ही पडेगा। क्रोचे के मत में अनुभूति अभिव्यक्ति ही है और अभिव्यक्ति ही काव्य है। यह तीनो अन्वर्थ या समानार्थी शब्द हैं, इनमें परस्पर पूर्ण तादात्म्य है।

यदि क्रोचे के इस निर्देश को हम स्वीकार कर लें, तो पहले प्रश्न का उत्तर भी हमें आप ही-आप मिल जाता है। वह प्रश्न अनुभूति की समरूपता या समरसता का [redacted]। क्रोचे के निरूपण के अनुसार अनुभूति का सम-रस या सम-रूप होना अनिवार्य है। एक ही अखड अनुभूति समस्त कवियो और रचनाकारो में होती हैं। काव्य मात्र में उसकी अखडता स्वय-सिद्ध है। समस्त कवि एक हैं, उनमें परस्पर भेद नही। अनुभूतिशील मानवता ही सर्वत्र और सब काल में एक है। काव्य और कला की अजस्र धारा देश और काल का भेद नहीं जानती। भेद वास्तविक नही है, उसका यथार्थ रूप हमें समझना होगा।

काव्यगत अनुभूति के सम्बन्ध में यह क्रोचे की स्थापना है। भारतीय विचार भी इससे भिन्न नही है। अभी मैंने विभाव, अनुभाव आदि रस के प्रमुख उपादानो में भावना या अनुभूति की व्याप्ति का उल्लेख किया है। काव्य के आस्वादन के निमित्त 'सहृदय' की योग्यता बता कर और शब्दो पर उलझने वाले न्याय-शास्त्रियों तथा वैयाकरणों को काष्ठ कुड्य की उपमा देकर हमारे विनोदप्रिय पूर्वजो ने काव्यगत अनुभूति की विशेषता सिद्ध की थी। उन्होने काव्य के विविध प्रकारो, शैलियो और पद्धतियो के बीच कोई ऐसी विभेदक रेखा नही खीची है जिससे उसके सर्व-सामान्य स्वरूप पर किसी प्रकार का व्याघात या विक्षेप आए। समस्त काव्य शैलियो और काव्य-स्वरूपो में अनुभूति की अखड एकरूपता का अनवरत प्रवाह दिखा कर भारतीयो ने काव्य की सार्वजनीनता और सार्वभौमिकता सिद्ध की थी।

आत्माभिव्यजक रचना से कभी-कभी उन कृतियो का अर्थ लिया जाता है जिसमें रचनाकार की व्यक्तिगत अनुभूति अधिक प्रत्यक्ष होकर आती है। परन्तु इसी कारण दूसरी रचनाओ को अनुभूति-रहित नही कहा जा सकता। कुछ समीक्षकों ने 'सब्जेक्टिव' (व्यक्तिगत) और 'आब्जेक्टिव' (वस्तुगत) काव्य के दो भेद कर आत्मानुभूति की प्रधानता 'सब्जेक्टिव' काव्य में मानी है, परन्तु इस भेद को हम वास्तविक नहीं कह सकते। यह तो केवल प्रकार-भेद है। 'व्यक्तिगत अनुभूति' से प्रेरित रचनाएँ कभी-कभी तो वास्तविक अनुभूति के स्तर पर पहुँचती ही नही, अतएव उन्हे तो काव्य की सज्ञा भी नही दी जा सकती। वास्तव में अनुभूति के व्यक्तिगत और वस्तुगत भेद किए ही नहीं जा सकते, उसकी तो अखड सत्ता है। आत्मानुभूति तो काव्यमात्र की विशेषता है। किसी एक प्रकार की रचना को आत्माभिव्यजक कह कर दूसरी काव्य-

रचनाओं को आत्माभिव्यंजना से रहित मानना कोरी भ्रान्ति है।

इसी प्रकार हम कभी किसी रस-विशेष की रचना को दूसरे रसों की रचना से श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं और कभी महाकाव्य, खण्डकाव्य, प्रगीत आदि काव्य भेदों की निरपेक्ष रूप में तुलना करने लगते हैं। उदाहरण के लिए, प्रायः शृंगार रस को रस-राज घोषित किया जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई भी शृंगारिक रचना किसी भी अन्य रस की रचना से स्वतः श्रेष्ठ है। सभी रसों में एक ही अनुभूति-धारा प्रवाहित रहा करती है, अतएव यह भेद कृत्रिम है। महाकाव्य इसलिए महाकाव्य नहीं है कि उसमें 'काव्य' की सत्ता किसी लघुगीत या प्रगीत की काव्य-सत्ता से प्रकृत्या भिन्न है, दोनों काव्यत्व की भूमि पर समान हैं। आकार-प्रकार और परिमाण आदि में अतर भले ही हो।

किसी प्रचण्ड बुद्धिवादी समस्या-नाटक में और किसी अतितरल गीति नाट्य में, सहस्रों पृष्ठों के समाहित उपन्यास में और चार या दस पंक्तियों के गद्य-गीत में भी अनुभूति की समानता रहती है। इसी समता के बल पर वह समस्या-नाटक भी काव्य है, वह विशाल उपन्यास भी और अतिलघु गद्य-गीत भी। यदि अनुभूति की सत्ता में अन्तर होता तो इनमें से किसी एक, दो या सबको काव्य की पदवी ही न मिलती। यदि ये सभी काव्य-साहित्य के अंग हैं, तो इनमें अनुभूति की अजस्र एकरूपता है ही।

एक ओर सूर, तुलसी और मीरा आदि कवियों में और दूसरी ओर देव, बिहारी और मतिराम आदि रचनाकारों में क्या अन्तर है? क्या यह कि वे भक्त और संत थे और उनकी रचनाओं से भक्ति और ईश्वर-प्राप्ति की शिक्षा मिली और ये संसारी और दरबारी व्यक्ति थे और इनकी कृतियों से लोक-कल्याण न हो सका? परन्तु भक्ति और ईश्वर-प्राप्ति के सदेशवाहक सभी तो कवि नहीं हुए और न सभी संसारी और दरबारी व्यक्तियों ने कलम हाथ में ली। ऐसी अवस्था में तुलना की भूमि भक्ति, ईश्वर प्राप्ति या लोक-कल्याण नहीं हो सकती। तुलना का आधार होगा कवित्व या काव्यत्व जिससे ऊपर गिनाई वस्तुओं का कोई सम्बन्ध नहीं और जिसका एकमात्र मानदण्ड है अनुभूति। सम्भव है हम यह कहें कि देव-बिहारी आदि में अनुभूति थी ही नहीं, वे कवि ही नहीं थे। यह कहने का हमें अधिकार है, पर इस कारण हम यह कहने के अधिकारी नहीं हो जाते कि सूर और तुलसी पहुँचे हुए भक्त थे, अतएव वे श्रेष्ठ कवि भी थे। इस प्रकार का तर्क करने वाले व्यक्ति ही भक्ति को स्वतन्त्र काव्य रस सिद्ध करना चाहते हैं, पर उनकी यह उपपत्ति सच्चे काव्य प्रेमियों को मान्य नहीं हो सकती।

अनुभूति को काव्य का प्रयोजन मानने वालों के सम्मुख यह प्रश्न भी आता है कि अनुभूति के प्रकाशन का माध्यम क्या हो। कभी कागज और कूची की सहायता से, कभी स्वर-ताल-लय के योग से, कभी पत्थर को काट-छाँटकर और कभी शब्दों की

अर्थ व्यंजक शक्ति का आश्रय लेकर अनुभूति प्रकाशित होती है। इन विभिन्न माध्यमों का उपयोग भिन्न भिन्न कलाकार अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार करते हैं। इन माध्यमों में कौन अधिक उपयुक्त और कौन कम उपयुक्त होगा, यह तो रचयिता की योग्यता पर अवलंबित है। इस सम्बन्ध में नियम निर्देश करना सम्भव नहीं। परन्तु एक ही माध्यम द्वारा प्रकाशित होने वाली अनुभूति के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रत्येक अनुभूति एक ही उत्कृष्ट अभिव्यक्ति पा सकती है। हम एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द अथवा एक छन्द के स्थान पर दूसरा छन्द रखकर आदर्श अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। आदर्श अभिव्यक्ति सदैव एक ही होगी।

यदि प्राचीन वन्य कलाकार के सम्मुख आज के समृद्ध साधन नहीं थे तो इसका अर्थ नहीं कि उसकी अनुभूति अपनी आदर्श अभिव्यंजना नहीं प्राप्त कर सकी। वन्य कलाकार की वही आदर्श अभिव्यंजना है जो उसने अपने मोटे साधनों से की है। महात्मा कबीर के पास शुद्ध परिष्कृत शब्द राशि नहीं थी, किन्तु उन्होंने जिस प्रकार से अपने भाव व्यक्त किये, वही उनका आदर्श प्रकार है। अनुभूति और अभिव्यक्ति में ऊपरी सापेक्षता रहते हुए दोनों की अंतरंग अनन्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

वह काव्य भी काव्य ही है जिसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति की पूर्ण एकरूपता न स्थापित हो पाई हो, जिसमें कवि अपनी अनुभूति के प्रकाशन का उपयुक्त और आदर्श माध्यम प्राप्त करने में असफल रहा हो। पर वह रचना काव्य नहीं है जिसमें वास्तविक अनुभूति का ही अभाव हो। भारतीय समीक्षा के अनुसार ऐसी रचना ध्वन्यात्मक या रसात्मक काव्य के अन्तर्गत नहीं आती, उसे गुणीभूत व्यंग्य या चित्र-काव्य मात्र कहते हैं। अनुभूति की अस्पष्टता अथवा उसका अभाव ही इन दोनों प्रकार की रचनाओं के मूल में रहा करता है।

(आधुनिक साहित्य पृष्ठ ४१२-४१८)

३. छायावाद का स्वरूप

मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किंतु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। इस व्याख्या में आये 'सूक्ष्म' और 'व्यक्त' इन अर्थ-गर्भ शब्दों को हम अच्छी तरह समझ लें। यदि यह सौंदर्य सूक्ष्म नहीं है, साकार होकर स्वतन्त्र क्रियाशील है और किसी कथा या आख्यायिका का विषय बन गया है तो हम उसे छायावाद के अन्तर्गत नहीं ले सकेंगे। छायावाद के इस सीमांत पर हम स्काट और बाइरन जैसे अँगरेजी के कवियों को पाते हैं जिन्होंने विमोहक और तल्लीनताकारी नारी सौन्दर्य को लम्बी कथाओं के सूत्र में ताना है, और

प्रकृति की अनिर्वचनीय सुषमा को पृष्ठभूमि बनाकर चित्रित किया है। वे प्रकृत छाया-वादी नहीं कहे जा सकते। और छायावाद के दूसरे सीमान्त पर वह सब को देखते हैं जिसकी प्रकृति के प्रति इतनी सार्वनिक प्रीति है कि वह व्यक्त सौन्दर्य के प्रति निरानन्द, बेपहचान, निमूढ़ सी मालूम देती है, सब कुछ तो सुन्दर ही है, ऐसी भाव-मयता में मग्न-सी हो गई है। वह भी प्रकृत-छायावादी नहीं है। प्रकृत छायावादी तो अँगरेजी में प्राकृतिक सूक्ष्म सौन्दर्य भावना का एकमात्र अधिष्ठाता 'शैली' ही हुआ है जो एक ओर कुछ समीक्षकों द्वारा (जो सूक्ष्म के विरोधी हैं) हवाई और आसमानी बताया गया है किन्तु दूसरी ओर जिसे नास्तिक (अव्यक्त सत्ता का विरोधी) कहे जाने का श्रेय भी प्राप्त है। आशा है, छायावाद की इस मध्यवर्तिनी भूमि पर पाठकों की दृष्टि गई होगी।

(हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १६३-६४)

× × ×

नई छायावादी काव्य-धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। भारतीय परम्परा-गत आध्यात्मिक दर्शन की नवप्रतिष्ठा का वर्तमान अनिश्चित परिस्थितियों में यह एक सक्रिय प्रयत्न है। इसकी एक नवीन और स्वतन्त्र काव्य-शैली बन चुकी है। आधुनिक परिवर्तनशील समाज व्यवस्था और विचार जगत में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की, नवीन परिस्थिति के अनुरूप, स्थापना करता है। जिस प्रकार मध्ययुग का जीवन भक्तिकाल में व्यक्त हुआ, उसी प्रकार आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति इस काव्य में हो रही है। अन्तर है तो इतना ही कि जहाँ पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य में जीवन के लौकिक और व्यावहारिक पहलुओं को गौण स्थान देकर उनकी उपेक्षा की गई थी, वहाँ छाया-वादी काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य और सामयिक जीवन-परिस्थितियों से ही मुख्यतः अनु-प्राणित है। इस दृष्टि से वह पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य की प्रकृति निरपेक्षता और संसार-मिथ्या की सैद्धान्तिक प्रक्रियाओं का विरोधी भी है। छायावाद मानवजीवन-सौन्दर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न स्वरूप मानता है, उसे अन्यत्र की वेदी पर बलिदान नहीं कर देता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन-काव्य की सीमा में मानव-चरित्र और दृश्य जगत, अपने प्रकृत रूप में उपेक्षित हो रहे जब कि नवीन काव्य में समस्त मानव अनुभूतियों की व्यापकता पूरा स्थान पा सकी।

(आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३१६-३२०)

× × ×

छायावाद-काव्य मध्ययुग की काव्य-धारा से प्रमुखतः इस अर्थ में भिन्न है कि

वह किसी क्रमागत साम्प्रदायिकता या साधना-परिपाटी का अनुगमन नहीं करता। अध्यात्मवादी काव्य का अधिष्ठान देशकालातीत परम पवित्र सत्ता हुआ करती है। व्ययशील सांसारिक आदर्शों और स्थितियों आदि से उनका मुख्य सम्बन्ध नहीं होता। वह विकास जो समय का आश्रित है, वह विज्ञान जो व्यक्त द्रव्य तथा उसकी परिणतियों पर अधिष्ठित है, मध्यकालीन आध्यात्मिक काव्य के विषय नहीं हैं। प्रत्यक्ष वस्तु का मानवजीवन के सुख-दुःख, विकास ह्रास आदि की अवस्थाओं से जो सम्बन्ध है, वह काव्य उसकी उपेक्षा कर गया है। किन्तु आधुनिक छायावादी काव्य उसकी उपेक्षा नहीं करता। अध्यात्मवादी परम्परा दृश्य मात्र को विनाशी कह कर चुप हो रहती है, अथवा उसे व्यावहारिक बता कर मुँह मोड़ लेती है। छायावादी काव्य में यह परम्परा स्वीकृत नहीं है। दैन्य से पीड़ित और प्रताड़ित तथा भोगैश्वर्य से प्रसक्त और परिवेष्टित व्यक्ति, समुदाय, देश, राष्ट्र या सृष्टि-चक्र के विभेदों में अध्यात्मवाद नहीं जा सका। समय और समाज को आन्दोलित करने वाली शक्तियों का आकलन उसमें कम ही है। वह तो उस शाश्वत सत्ता से ही सर्वथा संपृक्त है जिसमें परिवर्तन का नाम नहीं। उस सत्ता का स्वरूप सगुण है या निर्गुण, विश्वमय है या विश्वातीत, ये प्रश्न ही उस अध्यात्म में आते हैं। छायावाद की काव्य-सरणी इन अध्यात्मवादी सीमा-निर्देशों से आबद्ध नहीं है, वह भावना के क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करती।

आधुनिक छायावादी काव्य किसी क्रमागत अध्यात्म-पद्धति को लेकर नहीं चलता। नवीन जीवन-प्रगति में ही उसने आत्म-सौन्दर्य की झलक देखी है। परम्परित अध्यात्म प्रायः पुरुष से प्रकृति की ओर प्रवर्तित होता है। एक चेतन केन्द्र से नाना चेतना-केन्द्रों की सृष्टि करता है। किन्तु छायावादी काव्य प्रकृति की चेतन सत्ता से अनुप्राणित होकर पुरुष या आत्मा के अधिष्ठान में परिणत होता है। उसकी गति *प्रकृति से पुरुष की ओर, दृश्य से भाव की ओर होती है।* और इस दार्शनिक अनुभूति के अनुरूप काव्य वस्तु का चयन करने में छायावादी कवियों ने प्रकृति के अपार क्षेत्र से यथेच्छ सामग्री ग्रहण की है।

(आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३२२-३२३)

नगेन्द्र

[जन्म सन्—१९१५]

ग्रन्थ—रीति-काव्य की भूमिका, विचार और विवेचन

१—साधारणीकरण

प्रश्न यह उठता है कि साधारणीकरण किसका होता है? 'मानस' में पुष्पवाटिका के प्रसंग को पढ़ते हुए मुझे तीन व्यक्तियों की चेतना है—अपनी (सहृदय की), राम (आश्रय) की, और सीता (आलम्बन) की। इनके अतिरिक्त एक अन्यक्त व्यक्तित्व और है—कवि का। मेरे (सहृदय के) व्यक्तिगत आलम्बन का भी एक अव्यक्त व्यक्तित्व हो सकता है। परन्तु यह चूँकि सभी दशाओं में सम्भव नहीं है, इसलिए इसे छोड़ देते हैं। साधारणीकरण की सम्भावना दो की ही हो सकती है (क्योंकि मैं तो साधारणीकृत रूप का भोक्ता हूँ) १. आश्रय की और २. आलम्बन की। क्या साधारणीकरण आश्रय का होता है? अर्थात् क्या राम का व्यक्तित्व सभी सहृदयों का व्यक्तित्व हो जाता है—और स्पष्ट शब्दों में, क्या सभी सहृदय अपने को राम समझकर रति का अनुभव करते हैं? नहीं। यहाँ शायद आश्रय का व्यक्तित्व प्रेय होने के कारण और भाव मधुर होने के कारण आपको 'हाँ' कहने का लोभ हो जाय। परन्तु जहाँ आश्रय अप्रिय है और भाव कटु है वहाँ इसकी सम्भावना कैसे हो सकती है? उदाहरण के लिए आश्रय रावण है और वह सीता के प्रति क्रोध प्रदर्शित कर रहा है। वास्तव में आश्रय तो घृणित क्रूर, नीच, आपके व्यक्तित्व के ठीक विपरीत भी हो सकता है—आप उसके साथ कहाँ तक तादात्म्य करते फिरेंगे? अच्छा, आश्रय को छोड़िये। साधारणीकरण नायक का होता है "नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः" (भट्टतौत)। इसमें क्या आपत्ति है? आपत्ति स्पष्ट है। संस्कृत काव्य का नायक, ऐसे गुणों से विभूषित होता था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय को सहज और स्पृहणीय था, परन्तु आज तो काव्य पर यह प्रतिबन्ध नहीं है। आज अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में नायक का रूप उक्त आदर्श के बिलकुल विपरीत मिलता है जिसके साथ तादात्म्य आपके लिए न सहज होगा, न स्पृहणीय। उदाहरण के लिए, एक साम्यवादी उपन्यासकार किसी हृदयहीन पूँजीपति को नायक के रूप में हमारे सामने लाकर पूँजीवाद के प्रति अपनी सम्पूर्ण घृणा को उसके व्यक्तित्व में पुञ्जीभूत

कर देता है। उपन्यास व्यक्ति-प्रधान है। क्योंकि उसका उद्देश्य पूँजीवाद की मूल चेतना व्यक्तिवाद के प्रति घृणा जगाना है नायक असंदिग्ध रूप में वही घृणित व्यक्ति है। परन्तु क्या आप उससे तादात्म्य कर सकेंगे ? यदि ऐसा कर सकेंगे तो यह उपन्यासकार की घोर विफलता होगी। इस प्रकार मूलत नायक का भी साधारणीकरण नहीं होता। अब रह जाता है आलम्बन का प्रश्न। क्या आलम्बन का साधारणीकरण होता है ? अर्थात् पुष्पवाटिका के प्रसग में जिस सीता के प्रति राम की रति का अकुर प्रस्फुटित हुआ, उसके प्रति क्या प्रत्येक सहृदय की भी रति जागृत हो जाती है। क्या राम की प्रिया विश्व-प्रिया बन जाती है ? हमारा आस्तिक आचार्य (भट्ट-नायक आदि) "शान्त पाप, शान्त पाप," कह उठता। और उसने स्पष्ट शब्दो में उसका तिरस्कार भी किया है। परन्तु क्या ऐसा होता नही ? क्या पुष्प-वाटिका की भी सीता हमारी माता ही बनी रहती है। अगर माता ही बनी रहती है तो यह कहना मिथ्या है कि हम अभिधित शृगार रस का अनुभव कर रहे हैं। हम उसे जब तक प्रेयसी के रूप में नही देखेंगे, शृ गार रस की दशा से दूर रहेंगे। और इसमें कोई अनौचित्य नही है, क्योकि यह सीता उस वास्तविक सीता से, जिसमें हम मातृ बुद्धि रखते हैं सर्वथा स्वतन्त्र है, जब तक कि कवि की प्रेरक अनुभूति में ही मातृ-भावना का मिश्रण न रहा हो। पर ऐसी दशा में जैसा कि तुलसी के शृगार चित्रो से स्पष्ट है हमें अभिधित शृगार नही मिलता · हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं और काव्य की यह आलम्बन-रूप सीता कोई व्यक्ति नही है, जिससे हमको किसी प्रकार का सकोच करने की आवश्यकता हो, वह कवि की मानसी सृष्टि है। अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति सवेद्य बनाया है। बस। इसलिए जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का सवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण, जो भट्ट नायक और अभिनवगुप्त का प्रतिपाद्य है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकता है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। अनुभूति सभी में होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किचित् व्यक्त भी कर लेते हैं, परन्तु उसका साधारणीकरण करने की शक्ति सब में नहीं होती। इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते हुए भी सब कवि नहीं होते। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दों में "जिसे लोक हृदय की पहचान हो।" यहाँ आकर ये सभी बाधाएँ आप दूर हो जाती हैं कि किसी आश्रय का व्यक्तित्व हमारे विपरीत है, या कोई नायक हमारे घृणा और क्रोध का विषय है, अथवा किसी आलम्बन के प्रति हमारा भाव-विशेष अनुचित है। आश्रय-रूप रावण यदि कहीं राम को

भर्त्सना करता है तो क्या हुआ ? हमारी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं आती क्योंकि हमारे अन्तर में तो वही अनुभूति जागेगी जो कवि ने इस प्रतीक द्वारा व्यक्त की है। माईकेल को रावण से सहानुभूति है इसीलिए मेघनाद वध का यह प्रसंग हमारे हृदय में रावण के लिए सहानुभूति और राम के प्रति तुच्छ भाव जागृत करेगा। तुलसी को यदि राम के प्रति भक्ति और रावण के प्रति घृणा है तो, यह प्रसंग उसी के अनुकूल हमारे लिए रावण को उपहास या तुच्छ भाव या घृणा का विषय बना कर राम के प्रति हमारी भक्ति जागृत करेगा। हमको रस दोनों ही अवस्था में आयेगा। इसी प्रकार यदि साम्यवादी लेखक के उपन्यास का पूँजीपति नायक अपनी करतूतों में जघन्य है, तो हुआ करे, हम उससे तादात्म्य थोड़ा ही स्थापित करते हैं। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं, अतएव हम लेखक की तरह ही उसकी जघन्यता के प्रति अपनी घृणा और क्रोध जागृत कर उपन्यास का रस लेंगे। ठीक इसी तरह यदि सीता में हमारी परम्परागत पूज्य-बुद्धि है तो हो। यह सीता नहीं है, यह तो कवि की अनुभूति की ही प्रतीक है। तुलसी को यदि उसके प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धा मिश्रित रति की अनुभूति होती है तो हमको भी वैसी ही होगी। हम राम से तादात्म्य न कर तुलसी से ही तादात्म्य कर पायेंगे। ऐसी दशा में हमको रसानुभूति तो होगी पर अमिश्रित शृंगार की नहीं। इसके विपरीत 'कुमार सम्भव' या रीतिकालीन राधाकृष्ण प्रेम प्रसंगों को पढ़कर यदि हमें अमिश्रित शृंगार की अनुभूति होती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी के विपरीत कालिदास या रीति युग के कवि की तद् विषयक अनुभूति अमिश्रित रति की ही अनुभूति थी उसमें कोई मानसिक ग्रन्थि नहीं थी। यह सीधा सत्य है। जिसे एक ओर साधारणीकरण के आविष्कारक भट्ट नायक और अभिनवगुप्त भारत की अव्यवस्थित काव्य-परम्परा के कारण, दूसरी ओर आधुनिक आलोचना में उसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्ल जी अपनी वस्तु सीमित दृष्टि के कारण स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर पाए।

(रीति काव्य की भूमिका,)

२—रस की स्थिति

अभिनवगुप्त का सिद्धान्त भारतीय साहित्य-शास्त्र में सर्वमान्य-सा हो हो गया है, और वास्तव में वह बहुत अंशों में पूर्ण भी है। रस सर्वथा विषयीगत है। सहृदय की आत्मा में ही उसकी स्थिति है, वस्तु में नहीं, वस्तु तो केवल उसको उद्‌बुद्ध करती है। काव्य के आस्वादन में हमारे सामने मूलतः तीन सत्ताएँ आती हैं—कवि, वस्तु और सहृदय। आधुनिक आलोचना की शब्दावली में हम कह सकते हैं कि कवि वह व्यक्ति है जो अपनी अनुभूति को संवेद्य बनाता है, वस्तु तत्वतः उसकी अनुभूति है,

और सहृदय वह व्यक्ति है जो कवि की इस संवेद्य अनुभूति को ग्रहण करता है। वस्तु को मैंने तत्त्व रूप में कवि की अनुभूति कहा है जिस पर आपत्ति उठ सकती साहित्य-शास्त्र में तो जैसा कि वस्तु शब्द से ही स्पष्ट है, उसकी कवि की अनुभूति से पृथक् सत्ता मानी ही गई है। आज भी प्रश्न हो सकता है कि ऐतिहासिक वृत्त या लोक-प्रचलित कहानी या घटना, जिसको कवि अपनी मूल सामग्री के रूप में प्रयुक्त करता है, कवि की अनुभूति कैसे कही जा सकती है? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि कवि का उद्देश्य उस कथा या वृत्त को कहना कभी नहीं होता, उसके व्याज से अपनी अनुभूति को ही अभिव्यक्त करना होता है। उस कथा का महत्व उद्दीपन, या फिर, माध्यम से अधिक नहीं होता क्योंकि संवेद्य कवि की अनुभूति ही है कथा का एक अणु भी नहीं। दूसरे की कही बात को केवल दुहराने के लिए ही कोई क्यों दुहरायेगा? साधारणतः यदि किसी दूसरे की बात को हम अक्षरशः दुहराते हैं, तो उसके द्वारा वास्तव में हम अपनी ही बात कहते हैं। हमारा उद्देश्य अपना आशय प्रकट करना होता है, दूसरे की बात को दुहराना नहीं। इस प्रकार तत्त्व रूप में वस्तु की सत्ता कवि के व्यक्तित्व से स्वतन्त्र नहीं है। अतएव वस्तु या विषय में रस खोजना अर्थवाद से अधिक नहीं है। वस्तु के अन्तर्गत भट्टलोल्लट के नायक-नायिका भी आ जाते हैं। ये नायक नायिकायें भी, चाहे वे ऐतिहासिक हों या पौराणिक किंवा कल्पित, काव्य में कवि से पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखते। उनका ऐतिहासिक अस्तित्व एक व्याज मात्र है, और उनका व्यक्तित्व सर्वथा निर्विशेष है। देश और काल की सीमा में बँधे हुए शकुन्तला और दुष्यन्त व्यक्तियों की हमारे लिए [नाटक-काव्य के श्रोता-प्रेक्षक के लिए] उस समय कम-से-कम कोई सत्ता नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि दुष्यन्त और शकुन्तला के नाम बदल कर चन्द्रमोहन और जयश्री कर दिये जायें, या हमें इतिहास [महाभारत] का ज्ञान ही न हो, अथवा कोई पुरातत्त्व-वेत्ता असंदिग्ध रूप में यह प्रमाणित कर दे कि महाभारत का शकुन्तलोपाख्यान प्रक्षिप्त है, तो भी 'शाकुन्तलम्' पढ़कर हमें काव्य-रस की अनुभूति अवश्य होगी। मान लीजिए कि वाल्मीकि के राम वास्तव में ऐतिहासिक हैं (यद्यपि ऐसा हो नहीं सकता)। अब देखिये कि जब वाल्मीकि के ऐतिहासिक राम, तुलसी के इतिहास भिन्न ईश्वरावतार राम, मैथिलीशरण के आधुनिक लोकनायक राम और माइकेल मधुसूदनदत्त के इतिहास विपरीत राम सभी हमें रस-दशा तक पहुँचा सकते हैं, तो रस की दृष्टि से ऐतिहासिक राम का क्या रामत्व रहा? इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त की यह उक्ति—

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है॥ [साकेत]

मूल में जाकर उनकी भक्ति-भावना की ही व्यंजक है, राम के रामत्व की

नहीं। राम का जो एक स्वतन्त्र रूप हमें प्रतीत होता है वह वास्तव में हमारे अन्तर्मन में पड़ा हुआ वाल्मीकि, तुलसी आदि के काव्यों से प्राप्त संस्कारों का संघात मात्र ही है, वह स्वतन्त्र अस्तित्ववान नहीं है। यहाँ इसका निषेध नहीं है कि ऐतिहासिक राम थे—वह अवश्य थे। पर एक तो उनके वास्तविक रामत्व की अनुभूति हमें रामायण, रामचरित-मानस, साकेत आदि पढ़कर कदापि नहीं हो सकती (इसलिए काव्य के रसानुभव में वह हमारे लिए निरर्थक है), दूसरे उन्होंने रस का नहीं, प्रकृत भाव का ही अनुभव किया होगा। राम ने सीता के शील-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर प्रेमानन्द का अनुभव अवश्य किया होगा, पर वह रति-भाव का अनुभव था, 'शृंगाररस' का नहीं। यह संयोग मात्र है कि वह अनुभव भी मधुर था और 'रस' भी मधुर होता है। परन्तु यह समानता सभी दशाओं में सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए, जब राम रावण के प्रति क्रुद्ध हुए होंगे अथवा सीता वियोग में, विषण्ण या लक्ष्मण के शक्ति लगने पर क्रोध-मूर्छित तब उनका अनुभव मधुर न होकर कटु ही हुआ होगा। फिर उनका अपना अनुभव रस कैसे हो सकता है? परन्तु उनके इसी अनुभव को काव्य में पढ़कर हम 'रस' लेते हैं। अतएव नायक में रस की स्थिति साधारणतः विश्वसनीय सी लगती हुई भी अन्त में मिथ्या ही ठहरती है।

अब दो सत्ताएँ रह जाती हैं—कवि और सहृदय की। कवि अपनी अनुभूति को सहृदय के प्रति इस प्रकार प्रेषणीय बनाता है कि उसको ग्रहण कर सहृदय को आनन्द की उपलब्धि होती है। जैसा मैंने पहले कहा है सहृदय की रसानुभूति में तो किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस रस की स्थिति दोनों में से किस में है? इसका उत्तर ठीक वही है जो अभिनव गुप्त ने दिया है—अर्थात् 'सहृदय में'। क्योंकि जब हम प्रसन्न होते हैं तो अपने हृदय-रस का, अपने आनन्द का ही अनुभव करते हैं। आनन्द की स्थिति तो हमारे अपने अन्तर में ही है। इसको स्वदेश के अध्यात्मदर्शी और विदेश के मनोवैज्ञानिक दोनों ही समान रूप से मानते हैं। भारतीय दर्शन सुख को अपनी ही आत्मा का विस्तार मानता है, (सु= सुलभ + ख=आकाश, व्याप्ति)। उसमें आनन्द को अपनी ही अस्मिता वृत्ति का आस्वादन कहा गया है—आत्म का किसी अनात्म के बहाने से आस्वादन ही रस है। "मैं हूँ" यही रस का सार-तत्त्व है। (डा० भगवानदास, 'रस-मीमांसा'—द्वि० अ०४ ०) विदेश का मनोवैज्ञानिक भी आनन्द को 'अन्तर्वृत्तियों का सामंजस्य' ही मानता है।

यह निश्चित हो जाने पर कि रस की स्थिति सहृदय के अन्तर में ही है, एक दूसरी समस्या सामने आती है—फिर कवि किस प्रकार अपनी अनुभूति को ऐसी संवेद्य बना पाता है कि उसको ग्रहण कर सहृदय की रस-चेतना जागृत हो जाती है? इसका उत्तर होगा—'अपने हृदय-रस में डुबाकर'। कवि जब अपनी अनुभूति को व्यक्त

कर पाता है तो उसे भी आत्माभिव्यक्ति का, अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है। अनुभूति को अभिव्यक्त करने में कवि को अपनी अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है, और उस संवेदित अनुभूति को ग्रहण करने में सहृदय को अपनी अस्मिता का आस्वादन होता है। इस प्रकार कवि अपनी अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय में मानना उतना ही अनिवार्य है जितना सहृदय के में क्यों कि यदि कवि के कथन में रस नहीं है तो सहृदय के हृदय में स्थित रस सुप्त पड़ा रहेगा, और इसी तरह यदि सहृदय के हृदय में रस नहीं है तो कवि का संवेद्य निष्फल जायगा। पहले तथ्य के प्रमाणों में अनेक नीरस छंद उद्धृत किये जा सकते हैं, और दूसरे के प्रमाण में अनेक अरसिक व्यक्ति। कविता के प्रथम स्फुरण से सम्बद्ध जनश्रुति जिसके अनुसार आदि-कवि का शोक श्लोकत्व को प्राप्त हो गया था, या भट्टतौत का यह सिद्धान्त१ कि 'नायक कवि और श्रोता का अनुभव समान होता है' या फिर अभिनवगुप्त की यह उक्ति२ कि 'कवि के अन्तर्गत भाव को जो वाचिक, आंगिक मुखरागादि, तथा सात्विक अभिनय द्वारा आस्वाद योग्य बनाता है वह भाव कहलाता है'—ये सब इस बात के असंदिग्ध प्रमाण हैं कि संस्कृत का आचार्य कवि के हृदय-रस से परिचित तो अवश्य था परन्तु विधान रूप में कवि की अनुभूति को संस्कृत साहित्य शास्त्र में पृथक् ही रखा गया है। भट्टतौत का सिद्धान्त उपेक्षित-सा ही रहा है।

यह तो हुई श्रव्य काव्य की बात। लेकिन दृश्य काव्य में नट-नटी की सत्ता और माननी पड़ेगी। इनका रसास्वादन से क्या सम्बन्ध है? रस की स्थिति उनके हृदय में भी माननी पड़ेगी। नट-नटी भी अनिवार्यतः सहृदय ही होने चाहिये, अन्यथा वे संवेद्य का उचित माध्यम नहीं बन सकते। जब वे संवेद्य अनुभूति को पहले स्वयं ग्रहण कर सकेंगे, अर्थात् जब वे संवेद्य को ग्रहण कर स्वयं रस मग्न हो सकेंगे, तभी वे सहृदय तक संवेद्य को पहुँचाने में सफल हो सकेंगे। इसलिये उनकी सहृदयता के विरुद्ध किये गये संस्कृत आचार्यों के सभी आक्षेप अनुचित हैं।

अन्त में निष्कर्ष यह निकलता है : इसमें सन्देह नहीं कि काव्य पढ़ कर या नाटक देखकर सहृदय को जो रसास्वादन होता है उसकी मूल स्थिति उसी के हृदय में है, अर्थात् मूलतः वह उसी की अपनी अस्मिता का आस्वादन है। यह तभी सम्भव है जब कवि अपनी अनुभूति को उस तक पहुँचाने में स्वयं रस ले सका हो। अर्थात् अपनी अस्मिता का रस ले सका हो। नाटक में नट-नटी के विषय में भी यही

१—नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः

२—वागंगमुखरागेन सत्वेनाभिनयेन च कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव इत्युच्यते
(देखिये डाक्टर दासगुप्त का 'काव्य विचार')

सत्य मानना पड़ेगा। इसको स्पष्ट करने के लिए एक और अधिक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिये। डांडी-यात्रा पर जाते हुए गांधी का प्रसंग है। यह अनुमेय है कि गांधी जी ने उस समय एक सात्त्विक उत्साह का अनुभव किया होगा। मैंने उनके उस भव्य रूप को देखा; सहानुभूति के द्वारा मुझ में भी वह भाव जागृत हो गया। कवि सियारामशरण ने पहले एक दर्शक के रूप में उस भाव को ग्रहण किया, फिर बाद में कभी उससे प्रेरित होकर 'बापू' में महामानव गांधी का यह सात्त्विक उत्साह शब्द-बद्ध कर दिया। मैंने उसे पढ़ा और एक सात्त्विक आनन्द का अनुभव किया। इस प्रकार हमारे सामने पाँच अनुभव हैं: एक अनुभव स्वयं गांधी जी का, दो अनुभव सियारामशरण के—एक व्यक्ति का जो गांधीजी के प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त हुआ था, दूसरा कवि का जो उसे काव्य-रूप देने में प्राप्त हुआ, दो अनुभव मेरे—एक गांधीजी के प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त और दूसरा 'बापू' के अध्ययन से प्राप्त। अब यह देखना है कि इसमें रस संज्ञा किसको दी जा सकती है? गांधीजी के अनुभव को? नहीं। वह तो भाव (Emotion) मात्र है जो इस प्रसंग में मधुर है अन्यथा कटु भी हो सकता है। उदाहरण के लिए सीतारमैया की हार पर गांधीजी की क्षीभ स्पष्टतः ही एक कटु अनुभूति थी। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष अनुभव रस नहीं हो सकता। इस प्रकार मेरे और सियारामशरण के प्रत्यक्ष अनुभव भी रस की कोटि से बाहर पड़ जाते हैं। केवल दो अनुभव रह जाते हैं—कवि का अनुभव और उसके काव्य का अध्ययन करने वाले सहृदय का अनुभव। कवि का अनुभव (गांधी के भव्य उत्साह से प्राप्त) उस अनुभूति को, जो बाद में प्रत्यक्ष न रह कर संस्कार मात्र रह गई थी, काव्य-रूप देने का अर्थात् बिंब-रूप में उपस्थित करने का अनुभव है। काव्य-रूप देने में वह उस संस्कार-शेष अनुभूति का भावन करता है। भावन की इस प्रक्रिया में एक क्षण ऐसा आता है जब उसके अपने हृदय का भी सात्त्विक उत्साह उद्बुद्ध हो जाता है। बस तभी कवि के मानस में काव्य-रूप पूर्ण हो जाता है और साथ ही वह रस का अनुभव भी प्राप्त कर लेता है। बाहर से प्राप्त किसी अनुभूति के संस्कार का भावन करते हुए अपनी हृदय स्थित वासना को जगा लेना ही तो रस-दशा को प्राप्त कर लेना है। यही सहृदय करता है और यही कवि। और यदि काव्य का अभिनय किया जाता है तो सहृदय से पहले इसी प्रकार का भावन तथा वासना का उद्बोधन नट के लिए भी अनिवार्य हो जाता है।

अतएव आरम्भ में—रचना के समय कवि, और फिर अभिनय के समय नट (यद्यपि उसकी सत्ता अत्यन्त गौण है) अपने हृदय-स्थित रस का आस्वादन तो करते ही हैं—साथ ही उनका यह रसास्वादन सहृदय के हृदय में वासना-रूप से स्थित स्थायी भावों को जागृत कर रस दशा तक पहुँचाने में अनिवार्य योग भी देता है। इस प्रकार

कविता के विषय में यह लोक-परिचित उक्ति कि वह हृदय से हृदय में पहुँचती है, मनोवैज्ञानिक रूप में भी पूर्णतः सत्य है।

(रीति-काव्य की भूमिका, पृष्ठ ५४-५६)

३—साहित्य में आत्माभिव्यक्ति

आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्त्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है। विचार करने के बाद संसार में केवल दो तत्त्वों का ही अस्तित्व अंत में मानना पड़ जाता है—आत्म और अनात्म। इस मान्यता का विरोध दो दिशाओं से हो सकता है— एक अद्वैतवाद की ओर से और दूसरा भौतिकवाद (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) की ओर से। अद्वैतवाद प्रकृति अथवा अनात्म को भ्रम कहता है। और भौतिकवाद आत्म को प्रकृति की ही उद्भूति मानता हुआ उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करता। परन्तु वास्तव में ये दोनों ही दर्शन की चरम स्थितियाँ हैं—और व्यावहारिक तल पर दोनों ही उपर्युक्त द्वैत को स्वीकार कर लेते हैं। अद्वैतवाद साधना और व्यवहार के लिए जीवन और जगत की महत्ता को अनिवार्यतः स्वीकार कर लेता है। और उधर भौतिकवाद भी, आत्मा को चाहे वह कितना ही भौतिक और अपृथक् क्यों न माने, व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति और वातावरण के पार्थक्य को तो मानता ही है। साहित्य का सम्बन्ध दार्शनिक प्रतिवादों से न होकर जीवन से है, अतएव उसके लिए यह द्वैत-स्वीकृति अनिवार्य है चाहे आप इसे 'जीव और प्रकृति' कह लीजिए या 'व्यक्ति और वातावरण'। परन्तु ये केवल भिन्न-भिन्न नाम हैं—मैं और मेरे अतिरिक्त और जो कुछ है उसको व्यक्त करना ही इनकी सार्थकता है। 'आत्म और अनात्म' चूँकि इनमें सबसे कम पारिभाषिक हैं इसलिए हमने इन्हें ही ग्रहण किया है। दर्शन में थोड़े-बहुत पारिभाषिक अन्तर से इन्हें ही जीव और जगत—आध्यात्मिक मनोविज्ञान में अहं और इदं, विज्ञान में व्यक्ति और वातावरण कहा गया है। एक तीसरा तत्त्व ईश्वर भी है और मेरा संस्कारी मन उसके अस्तित्व का निषेध करने को प्रस्तुत नहीं है, परन्तु उसको मैं आत्म से पृथक् वस्तु-रूप में नहीं ग्रहण कर पाता। आत्म सतत प्रयत्नशील है—वह अनात्म के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करने का सतत प्रयत्न करता रहता है—इसी को हम जीवन कहते हैं। अनात्म अनेक रूप वाला है—उसी के विभिन्न रूपों के अनुसार यह प्रयत्न भी अनेक रूप धारण करता रहता है—दूसरे शब्दों में आत्माभिव्यक्ति के भी अनेक रूप होते हैं। इनमें आत्म की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ के द्वारा होती है उसका नाम साहित्य है। जब हम अपनी इच्छा को कर्म में प्रतिफलित कर पाते हैं तो हमें कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति का

आनन्द मिलता है। मैं जो चाहता हूँ वह कर रहा हूँ—यह कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति है—इसमें विशेष भौतिक व्यवहारों के द्वारा मैं आत्म का प्रतिसंवेदन या आस्वादन कर रहा हूँ। इसी प्रकार जब हम अपने अनुभव को शब्द और अर्थ द्वारा अभिव्यक्त कर पाते हैं तो हमें एक दूसरे माध्यम के द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है। यह माध्यम पहले की अपेक्षा स्पष्टतः ही अधिक सूक्ष्म और सीधा भी है—सीधा इसलिए है कि हमारा अनुभव बिना शब्द अर्थ की पकड़ में आये कोई रूप ही नहीं रखता—जब तक वह शब्द और अर्थ की पकड़ में नहीं आता, उसका अस्तित्व संवेदन (Sensations) से पृथक् कुछ भी नहीं है—उसका वैशिष्ट्य तभी व्यक्त होता है जब वह शब्द और अर्थ में बँध जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुभव को शब्द अर्थरूपी माध्यम की अनिवार्य अपेक्षा रहती है—इच्छा और कर्म का सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है, परन्तु अनुभव और शब्द अर्थ का सम्बन्ध सर्वथा अनिवार्य है।

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि इस आत्माभिव्यक्ति का मूल्य क्या है—लेखक के अपने लिए उसकी क्या सार्थकता है और दूसरों के लिए उसका क्या उपयोग है? तो, जहाँ तक लेखक का सम्बन्ध है, आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता उसके आत्म-परितोष में है—काव्य शास्त्रों ने जिसे सुखम-मूल कहा है। अपने को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करना—चाहे वह कर्म द्वारा हो अथवा वाणी द्वारा, या किसी भी अन्य उपकरण के द्वारा हो, व्यक्तित्व की सबसे बड़ी सफलता है। वाणी में कर्म की अपेक्षा स्थूलता और व्यावहारिकता कम तथा सूक्ष्मता और आन्तरिकता अधिक होती है, अतएव वाणी के द्वारा जो आत्माभिव्यक्ति होगी उसके आनन्द में सूक्ष्मता और आंतरिकता स्वभावतः ही अधिक होगी—दूसरे शब्दों में यह आनन्द अधिक परिष्कृत होगा। अतः निष्कर्ष यह निकला कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को एक सूक्ष्मतर परिष्कृत आनन्द प्रदान करती है। मुझ-जैसे व्यक्ति को तो, जो आनन्द को जीवन की चरम उपयोगिता मानता है, इसके आगे और कुछ पूछना नहीं रह जाता। परन्तु उपयोगितावादी यहाँ भी प्रश्न कर सकता है कि आखिर इस परिष्कृत आनन्द की ही ऐसी क्या उपयोगिता है? इसका उत्तर यह है कि इसके द्वारा लेखक के अहं का संस्कार होता है—उसकी वृत्तियों में कोमलता, शक्ति, सामञ्जस्य, सूक्ष्म-ग्राहकता, अनुभूति-क्षमता आदि गुणों का समावेश होता है और उसका व्यक्तित्व समृद्ध होता है। शब्द और अर्थ अत्यन्त मानसिक उपकरण हैं, उनके द्वारा जो सफल आत्माभिव्यक्ति होगी, उसमें निश्छलता अनिवार्यतः वर्तमान रहेगी (क्योंकि बिना उसके आत्माभिव्यक्ति सफल हो ही नहीं सकती)—और उपयोगिता की दृष्टि से निश्छलता मानव मन की प्रमुख विभूतियों में से है। अन्य गुण तो बहुत कुछ व्यक्ति-सापेक्ष हो सकते हैं—अर्थात् कवि के अपने व्यक्तित्व के अनुसार न्यूनाधिक हो सकते हैं, परन्तु निश्छलता प्रत्येक दशा में साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य होगी—अतएव उपयोगिता की दृष्टि से भी बड़ी सरलता से यह कहा

जा सकता है कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को (चाहे उसमें कैसे ही दुर्गुण क्यों न हों) अपने प्रति ईमानदार होने का सुख देती है, और इस प्रकार अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व का संस्कार करती है।

अब प्रश्न का दूसरा अंश लीजिए लेखक की इस आत्माभिव्यक्ति का दूसरों अर्थात् समाज के लिए क्या उपयोग है? पहला उपयोग तो यही है कि सहानुभूति (Sympathy) के द्वारा सामाजिकों को उससे परिष्कृत आनन्द की प्राप्ति होती है। यह परिष्कृत आनन्द उसकी संवेदनाओं को समृद्ध करता हुआ उनके व्यक्तित्वों को समृद्ध बनाता है—जीवन में रस उत्पन्न करता है, पराजय और क्लांति की अवस्था में शांति और माधुर्य का संचार करता है। इस प्रकार की निश्छल आत्माभिव्यक्तियों ने सामाजिक चेतना का कितना संस्कार किया है इसका अनुमान लगाना आज कठिन है। हिंदी की रीति-कविता को ही लीजिए—आज उसे प्रतिक्रियावादी कविता कह कर लांछित किया जाता है, और एक दृष्टि से आरोप सर्वथा उचित भी है, परन्तु उसके मधुर छंदों ने पराभव मूढ़ समाज की कोमल वृत्तियों को सरस रखते हुए उसकी जड़ता को दूर करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण योग दिया था, इसका निषेध क्या आज कोई समाज शास्त्री कर सकता है? बड़े-बड़े लोक-नायकों ने अपने संघर्ष-क्लांत मनों को इसी की संजीवनी से सरस किया है। लेनिन-जैसे समष्टिवादी नेता पर पुश्किन की वैयक्तिक अभिव्यक्तियों का कितना गहरा प्रभाव था, इसको वह स्वयं लिख गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक की निश्छल आत्माभिव्यक्ति के द्वारा जो परिष्कृत आनन्द प्राप्त होता है वह स्वयं एक बड़ा वरदान है—नैतिक एवं सामाजिक मूल्य से स्वतन्त्र भी उसका एक स्वतंत्र महत्व है, जिसको तुच्छ समझना स्थूल बुद्धि का परिचय देना है।

परन्तु मैं नैतिक एवं सामाजिक मूल्य का निषेध नहीं करता। जीवन में नीति और समाज की सत्ता अतक्र्य है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, सामूहिक हित उसके अपने व्यक्तिगत हितों से निश्चय ही अधिक महत्वपूर्ण हैं, समाज की संघ शक्ति व्यक्ति की अपनी शक्ति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक प्रबल है। समाज के संगठन और हितों की रक्षा करने वाले नियमों का संकलन ही नीति है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपेक्षा करनी होगी। लेखक मनुष्य रूप में समाज का अविभाज्य अंग है— साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उसमें प्रतिभा अधिक है अतएव उसी अनुपात से उसका दायित्व भी अधिक है। जिस समाज ने उसे जीवन के उपकरण दिये, बौद्धिक और भावगत परंपराएं दीं उसका ऋण-शोध करना उसका धर्म है। इसमें स्वार्थ-साधना की संकुचित भूमि से उठकर उसके अहं का उन्नयन और विस्तार होना है और इस प्रकार उसको अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की ही सिद्धि होती है। परन्तु ये सब तर्क नैतिक

है, साहित्यिक नहीं। उपर्युक्त कर्त्तव्य-निर्णय सामाजिक है, लेखक का नहीं। और स्पष्ट शब्दों में, सामाजिक के रूप में लेखक निस्सन्देह उपर्युक्त दायित्व से बँधा हुआ है—और उसके निर्वाह में यदि त्रुटि करता है तो वह नैतिक दृष्टि से अपराधी है, परन्तु लेखक के रूप में उसके ऊपर इस प्रकार का बन्धन नहीं है, लेखक-रूप में उसका दायित्व केवल एक है—निश्छल आत्माभिव्यक्ति। समाज का तिरस्कार करने से उसके आत्म की क्षति होगी और उसी अनुपात से उसके साहित्य के वस्तु-तत्त्व की भी हानि होगी, परन्तु जब तक वह निश्छल आत्माभिव्यक्ति करता रहेगा, उसकी कृति मूल्यहीन नहीं हो सकती क्योंकि निश्छलता का सात्त्विक आनन्द वह तब भी अपने को और अपने समाज को दे सकेगा।

(विचार और विवेचन, पृष्ठ ५२-५८)

परिशिष्ट

परिचय

भरत

भरत मुनि की ख्याति नाट्य-शास्त्र के प्रणेता के रूप में है, पर उन के जीवन और व्यक्तित्व के विषय में इतिहास अभी तक मौन है। इस सम्बन्ध में विद्वानों का एक मत यह भी है कि भरत वस्तुतः एक काल्पनिक मुनि का नाम है। संस्कृत के प्राचीन महाकाव्यों के अनुसार नाटक के नट को भरत कहा जाता था। नाट्य-विधान के जो तत्त्व समय-समय पर निर्मित होते गए उन का संग्रह भरत (नाटकीय नट) के नाम पर कर दिया गया। संग्रहकारों में विशेष उल्लेखनीय नाम कोहल का है, और उस के पश्चात् शाण्डिल्य दत्तिल, और मतंग का। सम्भव है भरत नामक किसी मुनि का भी इस संग्रह में प्रमुख हाथ रहा हो। संग्रह-काल दूसरी शती ई० पू० से तीसरी शती ई० पू० के बीच माना गया है।

नाट्य-शास्त्र के दो संस्करण उपलब्ध हैं—काव्यमाला बम्बई (निर्णयसागर) का संस्करण और काशी संस्कृत सीरीज़, काशी (चौखम्बा) का संस्करण। इनमें क्रमशः ३६ और ३७ अध्याय हैं। बड़ौदा से भी गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़ में 'अभिनव भारती' नामक भाष्य सहित नाट्य शास्त्र का प्रकाशन दो खण्डों (न० ३६ और ६८) में हुआ है, पर यह अभी तक अपूर्ण है। रायल-एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल द्वारा नाट्य शास्त्र के प्रथम २७ अध्यायों का अंग्रेज़ी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

नाट्य शास्त्र नाट्य-विधानों का एक अमर विश्व-कोश है—नाट्य की उत्पत्ति, नाट्यशाला, विभिन्न प्रकार के अभिनय, नाटकीय सन्धियाँ, वृत्तियाँ, संगीत-शास्त्रीय सिद्धान्त आदि इस के प्रमुख विषय हैं। इनके अतिरिक्त छठे, और १७वें अध्यायों में काव्य शास्त्रीय अंगों—रस, गुण, दोष, अलंकार तथा छन्द का भी निरूपण हुआ है। नायक-नायिका भेद का भी इस ग्रन्थ में निरूपण है। स्वाधीनपतिका आदि अष्ट नायिकाओं का उल्लेख सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में उपलब्ध है। ग्रन्थकार रसवाद का पूर्ण समर्थक है। रस स्वरूप निर्देशक प्रसिद्ध सूत्र, तथा रसोत्पत्ति-विषयक अन्य प्रचुर सामग्री भी इसी ग्रन्थ में उपलब्ध है। विषय के स्पष्टीकरण के लिए इस प्रसंग में गद्य

का भी आश्रय लिया गया है। नाट्य-शास्त्र के प्राचीन टीकाकारों में से कुछ के नाम ये हैं—उद्‌भट, लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त।

भामह

भामह काश्मीर-निवासी कहे जाते हैं जिनका जीवन-काल षष्ठ शतक का मध्यकाल माना गया है। इन का प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यालंकार है, जिसमें ६ परिच्छेद हैं और कुल ४०० श्लोक। ग्रन्थ में इन विषयों का निरूपण किया गया है— काव्य-शरीर, अलंकार, दोष, न्याय-निर्णय और शब्दशुद्धि।

भामह अलंकार-वाद के समर्थक थे। इन्होंने वक्रोक्ति को सब अलंकारों का मूल माना है। काव्य का लक्षण सर्वप्रथम इन्होंने प्रस्तुत किया है। दस के स्थान पर तीन काव्य-गुणों को स्वीकृति भी इन्होंने सर्वप्रथम की है, तथा वैदर्भ और गौड नामक काव्य-रीतियों के 'प्रदेशाभिधान' का इन्होंने ही सर्वप्रथम खण्डन किया है। भामह के ग्रन्थ की महत्ता का प्रमाण इस से भी मिलता है कि उद्‌भट जैसे आचार्य ने भामह-विवरण नाम से इन के ग्रन्थ पर भाष्य लिखा था। यदि यह भाष्य उपलब्ध होता तो उस से भामह-सम्मत सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में अवश्य सहायता मिलती।

दण्डी

दण्डी का समय सप्तम शती का उत्तरार्द्ध माना गया है। इन के तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—काव्यादर्श, दशकुमार चरित और अवन्तिसुन्दरी-कथा। प्रथम ग्रन्थ साहित्यशास्त्र विषयक है, और शेष दो गद्य-काव्य हैं। काव्यादर्श में तीन परिच्छेद हैं और श्लोकों की कुल संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद में काव्य-लक्षण, काव्य भेद, रीति और गुण का निरूपण है और द्वितीय में अलंकारों का। तृतीय परिच्छेद में यमक, चित्र-बन्ध और प्रहेलिका के अतिरिक्त दोषों का निरूपण हुआ है।

दण्डी अलंकारवाद के समर्थक थे। काव्य के विभिन्न अंगों को अलंकार में ही अन्तर्निहित करना इन का मान्य सिद्धान्त था। यहाँ तक कि रस, भाव आदि को भी इन्होंने रसवदादि अलंकार माना है। गौड मार्ग की अपेक्षा वैदर्भ मार्ग इन्हें अधिक प्रिय था, फिर भी गौड मार्ग को इन्होंने सर्वथा हेय और त्याज्य नहीं कहा, हाँ, अपेक्षाकृत हीन अवश्य माना है। अलंकारों के लक्षणों में इन पर भामह का प्रभाव है, दस गुणों और दस दोषों के स्वरूप निर्धारण में इन्होंने भरत से सहायता ली प्रतीत होती है।

काव्यादर्श अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। संस्कृत में इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ रची गई। तरुण वाचस्पति की टीका के अतिरिक्त हृदयगमा, प्रभा आदि टीकाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। एस० के बेलवल्कर महोदय ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी में भी अनुवाद प्रस्तुत किया है। हिन्दी में दो साधारण अनुवाद उपलब्ध हैं— (१) श्री व्रजरत्नदास का, (२) श्री रणवीरसिंह का।

उद्भट

उद्भट काश्मीरी राजा जयापीड के सभा-पण्डित थे। इनका समय नवम शती का पूर्वार्द्ध है। इन के तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—काव्यालंकारसार संग्रह, भामह-विवरण और कुमारसम्भव। इन में से केवल प्रथम ग्रन्थ प्राप्य है, जिस के ६ वर्गों में ४१ अलंकारों के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। प्रायः अलंकारों के स्वरूप-निर्देश में भामह का आश्रय लिया गया है। कुछ अलंकार नए भी हैं, तथा भामह-सम्मत कुछ अलंकारों को इस ग्रन्थ में स्थान नहीं भी मिला। इन्होंने कुछ अलंकारों के उदाहरण स्वरचित कुमारसम्भव काव्य से भी लिए हैं। उद्भट अलंकार-वादी आचार्य थे। दण्डी के समान ये भी रस, भाव आदि को रसवदादि अलंकारों के अन्तर्गत मानते थे। इन अलंकारों को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप देने का श्रेय इनको है। अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत उपनागरिका आदि वृत्तियों के निरूपण करने की जो शैली मम्मट ने चलाई थी, उस का मूलाधार भी काव्यालंकारसार-संग्रह है। इस ग्रन्थ पर दो टीकाएँ उपलब्ध हैं—राजानक तिलक की उद्भट-विवेक और प्रतिहारेन्दुराज की लघुवृत्ति।

भामह-विवरण अप्राप्य है, पर आनन्दवर्द्धन, प्रतिहारेन्दुराज, अभिनव गुप्त, रुय्यक, मम्मट, जगन्नाथ जैसे प्रकाण्ड आचार्यों आदि ने उद्भट-सम्मत जिन सिद्धान्तों का बार बार बड़े समादर के साथ उल्लेख किया है, उन का मूल स्रोत यही ग्रन्थ प्रतीत होता है।

वामन

उद्भट के समान वामन भी काश्मीरी राजा जयापीड के सभा पण्डित थे। इन का समय ८०० ई० के आसपास है। इन का प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यालंकारसूत्र-वृत्ति है। यह ग्रन्थ सूत्र-बद्ध है और सूत्रों की वृत्ति भी स्वयं वामन ने लिखी है। इस ग्रन्थ में ५ अधिकरण हैं। प्रत्येक अधिकरण में कुछ अध्याय हैं, और हर अध्याय में कुछ सूत्र। ग्रन्थ के पाँचों अधिकरणों में अध्यायों की संख्या १२ है, और सूत्रों की

सख्या ३१९ । प्रथम अधिकरण में काव्य प्रयोजनादि के उल्लेख के उपरान्त रीति के तीन भेदो तथा काव्य के विभिन्न प्रकारों का निरूपण है । अगले तीन अधिकरणों में क्रमश दोष, गुण और अलकारो का विवेचन है तथा अन्तिम अधिकरण में शब्द-शुद्धि-समीक्षा है ।

वामन रीतिवादी आचार्य थे । इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है । गुण रीति के आश्रित है । इनके मतानुसार गुण काव्य के नित्य अग हैं, और अलकार अनित्य अग । रस को इन्होने कान्ति नामक गुण से अभिहित किया है । वामन पहले आचार्य है, जिन्होने वक्रोक्ति को लक्षणा का पर्याय मानते हुए इसे अर्थालकारों में स्थान दिया है ।

काव्यालकारसूत्र-वृत्ति के सस्कृत, अग्रेजी और हिन्दी—तीनों भाषाओं में अनुवाद अथवा भाष्य प्रकाशित हो चुके हैं ।

रुद्रट

रुद्रट नाम से ये काश्मीरी आचार्य मालूम पडते हैं । इनका जीवन-काल नवम शती का प्रारम्भ माना गया है । ग्रन्थ का नाम काव्यालकार है जिस में १६ अध्याय हैं और कुल ७३४ पद्य । १६ अध्यायों में से ८ अध्यायों में अलकारो को स्थान मिला है, शेष अध्यायो में काव्य-स्वरूप, काव्यभेद, रीति, दोष, रस और नायक-नायिका भेद का निरूपण है । यद्यपि रुद्रट का झुकाव अलकारवाद की ओर है, फिर भी भरत के उपरान्त रस का व्यवस्थित और स्वतत्र निरूपण इनके ग्रन्थ में उपलब्ध है । नायक-नायिका भेद का व्यवस्थित निरूपण भी इन्होंने सर्वप्रथम किया है । नायिका के प्रसिद्ध तीन भेद स्वकीया, परकीया और सामान्या का उल्लेख सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है । प्रेयान् रस की सर्वप्रथम चर्चा भी रुद्रट ने की है, तथा अलकारो का वर्गीकरण भी सबसे पहले इन्होंने प्रस्तुत किया है । इस प्रकार रुद्रट काव्य-शास्त्रीय आचार्यों में अपना विशेष स्थान रखते हैं ।

आनन्दवर्द्धन

ये काश्मीर के राजा अवन्ति वर्मा के सभा-पण्डित थे । इन का जीवन-काल नवम शती का मध्य भाग है । इनकी ख्याति 'ध्वन्यालोक' नामक अमर ग्रन्थ के कारण है । ग्रन्थ के दो प्रमुख भाग हैं—कारिका और वृत्ति । यद्यपि इस विषय में विद्वानों का मतभेद है कि इन दोनों भागों का कर्त्ता एक व्यक्ति है अथवा दो, पर अधिकतर विद्वान आनन्दवर्द्धन को ही दोनों भागों का कर्त्ता मानते हैं । इस ग्रन्थ में चार उद्योत

हैं, और ११७ कारिकाएँ। प्रथम उद्योत में तीन प्रकार के ध्वनि-विरोधियों—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयवादी—का खण्डन तथा ध्वनि के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय और तृतीय उद्योत में ध्वनि-भेदों का विस्तृत निरूपण है, प्रसंगवश गुण, अलंकार, संघटना और रस-विरोधी तत्त्वों (दोषों) का भी इसी उद्योत में यथेष्ट निरूपण है। अभिधा और लक्षणा के होते हुए भी ध्वनि की स्थिति क्यों आवश्यक है, इस विषय पर भी तृतीय उद्योत में प्रकाश डाला गया है, तथा गुणीभूत व्यंग्य और चित्र का स्वरूप भी निर्दिष्ट किया गया है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि के प्रयोजन का पर्याप्त विवेचन है।

काव्य-शास्त्रीय आचार्यों में आनन्दवर्द्धन एक युगान्तरकारी आचार्य हैं। इन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। यद्यपि इन्होंने रस को ध्वनि का ही एक भेद माना है, पर रस-ध्वनि के प्रति अन्य ध्वनि-भेदों की अपेक्षा इन्होंने अधिक समादर प्रकट किया है। इस रसध्वनि-सिद्धान्त ने काव्य-शास्त्रीय विधान को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। अब अलंकार बाह्य आभूषण मात्र रह गए। गुण रीति के विशिष्ट धर्म न हो कर रस के ही नित्य धर्म बन गए। रीति संघटना-मात्र तथा रसोपकर्त्री बन गई। दोषों का अनौचित्य तथा उनकी नित्यानित्य व्यवस्था रस पर ही आधृत हो गई। निष्कर्ष यह कि भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के सिद्धान्त इन के ध्वनि-सिद्धान्त के आगे मन्द पड़ गए। इन के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के कारण आलोचकों ने काव्य-शास्त्र के आचार्यों के बीच विभाजन-रेखा खींचकर उन्हें दो भागों में विभक्त कर दिया—पूर्वध्वनि-कालीन आचार्य और उत्तरध्वनि-कालीन आचार्य।

इन के अमर ग्रन्थ के प्रधान टीकाकार अभिनवगुप्त हैं। इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त दशम शती के अन्त और एकादश शती के आरम्भ में विद्यमान थे। इनका साहित्य-शास्त्र के साथ-साथ दर्शन-शास्त्र पर भी समान अधिकार था। यही कारण है कि साहित्य-शास्त्रीय विवेचन को आप अत्यन्त उच्च स्तर पर ले गए—ध्वन्यालोक पर 'लोचन' और नाट्य-शास्त्र पर 'अभिनव भारती' नामक टीकाएँ इस कथन की प्रमाण हैं। इन टीकाओं के गाम्भीर्य, स्वस्थ विवेचन और मार्मिक व्याख्यान के कारण इन्हें स्वतन्त्र ग्रन्थों का ही महत्व प्राप्त है और अभिनवगुप्त को टीकाकार के स्थान पर 'आचार्य' के महामहिमशाली पद से सुशोभित किया जाता है। लोचन और अभिनवभारती में स्थान-स्थान पर इनके गुरुओं

भट्टेन्दुराज और भट्टतौत (तौत) के सिद्धान्तों का उल्लेख भी बड़े समादर से किया गया है। इनके अतिरिक्त भरत-सूत्र के अन्य व्याख्याताओं शंकुक, लोल्लट, तथा भट्टनायक के सिद्धान्तों की चर्चा भी इन ग्रन्थों में की गई है, जिससे ये टीकाएँ सैद्धान्तिक क्रमिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गई हैं। अभिनवगुप्त का 'अभिव्यक्तिवाद' रस-सिद्धान्त में एक प्रौढ़ और व्यवस्थित वाद है। यद्यपि इस वाद का समय-समय पर खण्डन किया गया, फिर भी यह वाद शताब्दियों तक अचल बना रहा। यहाँ तक कि जगन्नाथ जैसे पण्डितराज ने भी इसे ज्यों का त्यों अपना लिया। अभिनवगुप्त-प्रणीत दर्शन-शास्त्र के कुछ ग्रन्थों के नाम हैं—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्षिणी, तन्त्रसार और परमार्थसार।

राजशेखर

राजशेखर विदर्भ (बरार) के निवासी थे, और कन्नौज के प्रतिहारवंशी महेन्द्रपाल और महीपाल के राजगुरु थे। इनका जीवन-काल दशम शती का प्रथमार्द्ध माना गया है। काव्य-शास्त्र से सम्बद्ध 'काव्यमीमांसा' नामक इनका एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है, जो १८ भागों या अधिकरणों में विभक्त है, पर अभी तक 'कविरहस्य' नामक एक ही भाग प्राप्त हो सका है, जिसे सर्वप्रथम गा० ओ० सी० बड़ौदा ने और फिर बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद् ने हिन्दी-अनुवाद-सहित प्रकाशित किया। इस भाग में अठारह अध्याय हैं, जिनमें काव्य-स्वरूप, काव्यभेद, काकु-वक्रोक्ति, रीति-प्रकार, कवि-भेद, आलोचक-भेद, कवि-चर्या, राजचर्या, राजदरबारी वैभव, शब्द-हरण, अर्थहरण, कवि-समय, काल-विभाग आदि नवीन और पुरातन विषयों का अद्भुत और विशद उपहासात्मक निरूपण है। इनके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर भौगोलिक तथ्यों का उल्लेख आचार्य की 'यायावर'[1] वंश से उत्पत्ति की सार्थकता घोषित करता है। साहित्यविद्यावधू और काव्य-पुरुष की यात्रा की काल्पनिक कथा में एक ही साथ काव्य के तीन अंगों—वृत्ति, रीति और प्रवृत्ति का देशपरक स्वरूप-निर्देश *राजशेखर की इतिहास-प्रवृत्ति, भूगोल रुचि तथा साहित्यिक कल्पना-शक्ति का* द्योतक है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कितने ही प्रख्यात आचार्यों का नामोल्लेख भारतीय काव्य शास्त्र की विशाल परम्परा और महान् साहित्य की ओर संकेत करता है। निःसन्देह अपने प्रकार का यह एक निराला ग्रन्थ है। राजशेखर के अन्य ग्रन्थ हैं—बालरामायण, बालभारत, कर्पूर-मंजरी और विद्धशाल-भंजिका।

---

१. निरन्तर चलने फिरने वाले गृहस्थ ऋषि

धनंजय और धनिक

कहा जाता है कि धनंजय और धनिक दोनों भाई थे। ये दसवीं शती के अन्त में विद्यमान थे। धनंजय का ग्रन्थ दशरूपक है और धनिक ने उस ग्रन्थ पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी है, जो विद्वत्तापूर्ण और सारगर्भित है। दशरूपक नाट्य-शास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ है। इसमें चार प्रकाश और लगभग ३०० कारिकाएं हैं। प्रथम प्रकाश में सन्धि आदि नाटकीय अंगों का विवेचन है, द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका भेद है, तृतीय प्रकाश में दृश्य-काव्य का सांगोपांग, निरूपण है और अन्तिम प्रकाश में रस विवेचन। रसनिष्पत्ति के विषय में इन्होंने व्यंजनावाद को अस्वीकृत कर तात्पर्यवाद का समर्थन किया है। शान्त रस को ये काव्य में तो ग्राह्य मानते हैं, पर नाटक में नहीं। भरत के नाट्य-शास्त्र की विशालता तथा काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों के अविरत सृजन के कारण पाठक नाट्य विधानों से अपरिचित होता जा रहा था। धनंजय ने अपने इस लघु किन्तु सारगर्भित ग्रन्थ द्वारा साहित्यिकों को नाट्य-शास्त्रीय विधान की ओर आकृष्ट किया। परिणाम स्वरूप सागरनन्दी और रामचन्द्र-गुणचन्द्र जैसे आचार्यों ने नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे, तथा विश्वनाथ जैसे आचार्य ने अपने सकल-काव्यांगनिरूपक ग्रन्थ में नाट्य विधान से भी सम्बद्ध एक परिच्छेद सम्मिलित कर दिया। इस ग्रन्थ की हिन्दी में भी दो टीकाएँ उपलब्ध हैं।

कुन्तक

इनका समय दशम शती का अन्त तथा एकादश शती का आरम्भ माना गया है। इनकी प्रसिद्धि 'वक्रोक्तिजीवितम्' नामक ग्रन्थ के कारण है। इस में चार उन्मेष हैं। प्रथम उन्मेष में काव्य का प्रयोजन, तथा वक्रोक्ति का स्वरूप और उसके छः भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। द्वितीय उन्मेष में वक्रोक्ति के प्रथम तीन भेदों—वर्णविन्यास-वक्रता, पदपूर्वार्द्ध-वक्रता तथा प्रत्यय-वक्रता का वर्णन है, तृतीय उन्मेष में वाक्य-वक्रता का विस्तृत निरूपण है, तथा अन्तिम उन्मेष में अन्तिम दो भेदों—प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता का।

कुन्तक प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य थे। इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' माना और इसके उक्त छह भेदों में काव्य के सभी अंगों को अन्तर्भूत किया। उदाहरणार्थ, अलंकारों को इन्होंने वाक्य-वक्रता में सम्मिलित कर लिया। कुन्तक की मौलिकता स्तुत्य है। इन्होंने सर्वप्रथम अलंकारों की वर्द्धमान संख्या को स्थिर करने का मार्ग दिखाया। स्वभावोक्ति अलंकार के सम्बन्ध में इन की धारणा साहसपूर्ण है और रसवदादि अलंकारों का विवेचन नितान्त मौलिक है। वैदर्भादि मार्गों के प्रदेशाभिधानवाद का

इन्होंने प्रबल शब्दों में खण्डन किया है, तथा परम्परा से हट कर नवीन गुणों की सृष्टि की है। उपलब्ध प्रतियों में ग्रन्थ के प्रथम दो उन्मेष तो पूर्ण हैं, पर अन्तिम दो खण्डित हैं। अब इस ग्रन्थ का हिन्दी भाष्य भी प्रकाशित हो गया है।

महिम भट्ट

महिम भट्ट काश्मीर-निवासी प्रतीत होते हैं। इनका समय ११वीं शती का प्रथम चरण है। इनकी कृति का नाम व्यक्ति-विवेक है, जिस का शाब्दिक अर्थ है व्यक्ति अर्थात् व्यंजना का विवेक। ग्रन्थ में तीन विमर्श हैं। महिम भट्ट अनुमानवादी आचार्य थे। ग्रन्थ के प्रथम और तृतीय विमर्श में महिम भट्ट ने आनन्दवर्द्धन-सम्मत ध्वनि-सिद्धान्त को अनुमान में अन्तर्भूत करके अपने विलक्षण पाण्डित्य का परिचय दिया है। पर महिम भट्ट के अनुमानवाद का अनुसरण नहीं हुआ, यहां तक कि इस ग्रन्थ के टीकाकार रुय्यक ने, जो ध्वनिवाद के समर्थक थे, इस वाद का खण्डन तथा उपहास किया है। द्वितीय विमर्श का सम्बन्ध दोष से है, जिसे इन्होंने 'अनौचित्य' नाम दिया है। मम्मट ने अपने दोष-निरूपण में पांच दोष महिम भट्ट से लिए हैं।

भोज

भोजराज धारा-नरेश का जीवन-काल ११वीं शती का प्रथमार्द्ध है। कवियों के आश्रयदाता होने के अतिरिक्त वे स्वयं भी प्रगाढ़ आलोचक और काव्य-शास्त्री थे। काव्य-शास्त्र से सम्बद्ध इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं— सरस्वतीकण्ठाभरण और शृंगारप्रकाश। ये दोनों ग्रन्थ विशालकाय हैं। प्रथम ग्रन्थ में पांच परिच्छेद हैं, जिन में दोष, गुण, अलंकार और रस का विशद एवं संग्रहात्मक विवेचन है। स्थान-स्थान पर प्राचीन आचार्यों के उद्धरणों [redacted] यह ग्रन्थ भरा पड़ा है। शृंगारप्रकाश में ३६ प्रकाश हैं। प्रथम आठ प्रकाशों में व्याकरण-सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। अगले चार प्रकाशों में गुण, दोष, महाकाव्य और नाटक का विवेचन है, तथा अन्तिम १३ प्रकाशों में रस का सांगोपांग विशद निरूपण है। भोज का प्रमुख सिद्धान्त है केवल शृंगार रस की ही मान्यता तथा उसी में अन्य रसों का अन्तर्भाव। पर शृंगार के विषय में भोज की धारणा परम्परागत शृंगार रस से नितान्त विभिन्न है। शृंगारप्रकाश अभी तक अप्रकाशित है। पर डा० राघवन के प्रबंध "भोज स् शृंगारप्रकाश" से ग्रन्थ का सम्यक् परिचय मिल जाता [redacted]। इस प्रबंध के प्रथम दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। भोजराज के इन दोनों ग्रन्थों

को काव्य-शास्त्रीय विश्वकोष कहना चाहिए। सरस्वतीकण्ठाभरण पद्यबद्ध है, और इसकी शैली सरल-सुबोध है, पर शृंगार-प्रकाश गम्भीर एवं प्रौढ शैली में रचित गद्य पद्यबद्ध ग्रन्थ है। इन दो विभिन्न शैलियों को देख कर सहज अनुमान होता है कि इन ग्रन्थों के कर्ता कदाचित् भिन्न-भिन्न हों, और यह अनुमान भोज जैसे आश्रयदाता के विषय में ठीक भी हो सकता है। सम्भव है दो विभिन्न आचार्यों ने ये ग्रन्थ लिखकर भोजराज के नाम पर समर्पित कर दिए हों, किन्तु ये अप्रिय अनुमान हैं और निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र काश्मीर निवासी थे। वे ११वीं शती के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे। इन के तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—औचित्य-विचार-चर्चा, सुवृत्त-तिलक और कविकण्ठाभरण। प्रथम ग्रन्थ में औचित्य को लक्ष्य में रखकर क्षेमेन्द्र ने वाणी के विभिन्न अंगों—वाक्य गुण, रस, क्रिया, करण, लिंग, उपसर्ग, देश, स्वभाव आदि का स्वरूप निर्धारित किया है। द्वितीय ग्रन्थ में छन्द के औचित्य का निर्देश है। तीसरा ग्रन्थ कवि-शिक्षा से सम्बद्ध है। ग्रन्थ की ५ सन्धियों में क्रमशः कवित्व-प्राप्ति के उपाय, कवियों के भेद, काव्य के गुण, तथा दोष का विवेचन है। क्षेमेन्द्र के ये ग्रन्थ लघुकाय हैं, पर इनमें भी काव्य के विविध अंगों पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि 'औचित्य' कोई नया तत्त्व नहीं है—आनन्दवर्द्धन 'औचित्य' शब्द को और महिम भट्ट 'अनौचित्य' शब्द को अपने दोष प्रकरणों में स्थान दे आए थे—पर इसी के आधार पर समस्त आगमों को निर्धारित कर देना क्षेमेन्द्र की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। कुछ विद्वान् औचित्य को भी काव्य-शास्त्र का एक 'वाद' मानने लगे हैं, पर हमारे विचार में यह काव्य-शास्त्रीय विधानों में से एक आवश्यक विधान है, कोई स्वतन्त्र वाद नहीं।

मम्मट

मम्मट काश्मीर के निवासी थे। इन का जीवन-काल ११ वीं शती का उत्तरार्द्ध है। इनकी ख्याति काव्यप्रकाश के कारण है, जिसमें दस उल्लास हैं। प्रथम उल्लास में काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु तथा काव्य-भेदों की चर्चा है। अगले दो उल्लासों में शब्द-शक्ति का विवेचन है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनि-भेदों तथा उन के अन्तर्गत रस-भावादि का गम्भीर विवेचन है। पंचम उल्लास में गुणीभूत व्यंग्य के भेदों के स्वरूप-निर्देश के अनन्तर ध्वनि की स्थापना की गई है। षष्ठ उल्लास में चित्र-काव्य का संक्षिप्त-सा परिचय है। अन्तिम चार उल्लासों में क्रमशः

दोष, गुण, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का निरूपण है। अनुप्रास नामक शब्दालंकार के अन्तर्गत वृत्तियों अथवा रीतियों की चर्चा भी की गई है। इस प्रकार उनका यह ग्रन्थ सर्वाङ्गपूर्ण बन गया है।

काव्य शास्त्र के आचार्यों में मम्मट का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन के निरूपण की प्रमुख विशेषता है अपने समय तक की काव्य-शास्त्रीय सभी विषय-सामग्री का संकलन, तथा उस का ध्वनि-सम्प्रदाय की दृष्टि से व्यवस्थापूर्ण सम्पादन। यह ग्रन्थ इतना सुव्यवस्थित और सुसम्बद्ध है कि अद्यावधि इस के अध्ययन के बिना काव्य-शास्त्र का ज्ञान अपूर्ण समझा जाता है। मम्मट ने ध्वनि-सम्प्रदाय की पुष्टि करने के लिए अनुमानवादी, अभिधावादी, लक्षणावादी सभी का पुष्ट शब्दों में खण्डन प्रस्तुत कर ध्वनि की स्थापना की है। अभिनवगुप्त की अभिनवभारती अथवा अन्य स्रोतों से शंकुक आदि भरतसूत्र के चार व्याख्याताओं के व्याख्यान को इन्होंने अत्यन्त संक्षिप्त पर सारगर्भित एवं सुसम्बद्ध शैली में इतनी परिपूर्णता से प्रस्तुत किया है कि साहित्य के विद्यार्थी को मूलस्रोत के अन्वेषण और अध्ययन की आवश्यकता ही नहीं हुई। काव्य-प्रकाश की अन्य विशेषता है—तीन गुणों की स्वीकृति और उन में वामन-सम्मत २० गुणों का समाहार। दोष-निरूपण का विस्तार इस ग्रन्थ की अन्य उल्लेखनीय विशेषता है। ध्वनि सम्प्रदाय के महान् समर्थक होते हुए भी मम्मट ने अपने काव्य-लक्षण में समन्वयवाद की ओर रुचि दिखाई है। मम्मट की इन विशिष्टताओं का प्रभाव आगामी आचार्यों पर भी पड़ा है। विश्वनाथ जैसे आचार्य ने, जिसने मम्मट के काव्य-लक्षण का बुरी तरह से खण्डन किया है, अपने ग्रन्थ के निर्माण के लिए कुछ एक स्थलों को छोड़कर प्रायः शेष सामग्री काव्यप्रकाश से ही लेकर उसे पद्यबद्ध कर दिया है। इधर हिन्दी के सर्वाङ्ग निरूपक आचार्यों को भी अनिवार्यतः काव्यप्रकाश की शरण लेनी पड़ी है।

ग्रन्थ की ख्याति और उपादेयता का परिचय इस से भी मिलता है कि संस्कृत में इस पर ७० से अधिक टीकाएँ रची गई हैं, जिन में से मौलिकता की दृष्टि से गोविन्द ठाकुर की काव्यप्रदीप टीका सर्वश्रेष्ठ है और संकलन की दृष्टि से भट्ट वामन की बाल बोधिनी टीका। हिन्दी में भी दो-तीन टीकाएँ अथवा व्याख्याएँ प्रकाशित हो चुकी हैं तथा अंग्रेजी में भी दो टीकाएँ उपलब्ध हैं।

रुय्यक

रुय्यक काश्मीर-निवासी थे जिनका समय १२वीं शती का मध्य-काल था। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अलंकारसर्वस्व' है जिसका अन्य नाम 'अलंकारसूत्र' भी है। इन्होंने 'व्यक्तिविवेक' पर भी टीका लिखी है। पर उस में इन्होंने महिम भट्ट के अनुमानवाद

को अमान्य ठहराया है, तथा एक स्थान पर उस का उपहास भी किया है। अलकार-सर्वस्व अलकारों का प्रौढ और प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस में दो नवीन अलकारो विकल्प और विचित्र का समावेश किया गया है। अलकारों की शब्दगतता अथवा अर्थगतता का आधार मम्मट ने अन्वय-व्यतिरेक को माना था, पर रुय्यक ने आश्रयाश्रयिभाव को माना है। रुय्यक के निरूपण की एक अन्य विशिष्टता है—ग्रन्थ के आरम्भ में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विभिन्न सिद्धान्तो के सम्बन्ध में सारगर्भित, मार्मिक एव तुलनात्मक समीक्षण। यह समीक्षण जितना सक्षिप्त है, उतना ही तत्त्वपूर्ण और सुसम्बद्ध भी है।

विश्वनाथ

विश्वनाथ कदाचित् उडीसा के निवासी थे। इनका समय १४वी शती का पूर्वार्द्ध है। इन की ख्याति साहित्यदर्पण नामक ग्रन्थ के कारण है। इस ग्रन्थ में दस परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य-स्वरूप, काव्य भेद आदि का निरूपण है, द्वितीय में शब्द शक्ति का और तृतीय में रस और नायक-नायिका-भेद का। चतुर्थ परिच्छेद में ध्वनि तथा गुणीभूत-व्यग्य के प्रकारो का विवेचन है, पचम परिच्छेद में व्यञ्जना वृत्ति की स्थापना की गई है। षष्ठ में दृश्य-काव्य का सागोपाग निरूपण है। अन्तिम चार परिच्छेदों में क्रमश: दोष, गुण, रीति और अलकार का निरूपण है।

विश्वनाथ ने मम्मट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, भोजराज आदि के काव्य-लक्षणों का खण्डन प्रस्तुत कर रस को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए काव्य का लक्षण निर्धारित किया है। सब से घोर खण्डन मम्मट के काव्य-लक्षण का किया गया है, पर फिर भी अपने ग्रन्थ की अधिकाश सामग्री के लिए वे मम्मट के ही ऋणी हैं। आश्चर्य तो यह है कि रस को काव्य की आत्मा मानते हुए भी इन्होने आनन्दवर्द्धन तथा मम्मट के समान रस को ध्वनि के एक भेद असलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि का एक रूप माना है। अलकारों के स्वरूप-निर्देश के लिए इन्होने मम्मट के अतिरिक्त रुय्यक से भी सहायता ली है।

विश्वनाथ का यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। इस का एक ही कारण है—काव्यप्रकाश की सूत्रबद्ध और समास प्रधान शैली की अपेक्षा सुबोध शैली में प्राय. पद्यबद्ध सिद्धान्त प्रतिपादन। इसी गुण के द्वारा विश्वनाथ ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। पर मौलिक प्रतिभा और आचार्यत्व की दृष्टि से इन की देन अधिक नही है। इन के ग्रन्थ की उल्लेखनीय विशिष्टता है—नायक-नायिका भेद तथा दृश्य काव्य के भेदोपभेदो का समावेश। इन प्रसगों के लिए वे धनजय के ऋणी हैं, पर यहाँ भी सुबोध शैली इनकी अपनी है।

विश्वनाथ का दूसरा ग्रन्थ है—काव्यप्रकाश-दर्पण, यह स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर काव्य-प्रकाश की टीका है। यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

जगन्नाथ

जगन्नाथ का यौवनकाल दिल्ली के प्रसिद्ध शासक शाहजहाँ के दरबार में बीता था, शाहजहाँ ने ही इन्हें पण्डितराज की उपाधि से विभूषित किया था। अतः इनका समय स्पष्टतः १७वीं शती का मध्यभाग है। इनकी प्रसिद्ध रचना रस-गंगाधर है, जो अपूर्ण है। इसमें दो आनन हैं। प्रथम आनन में काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु तथा काव्य-भेदों के निरूपण के पश्चात् रस, रसदोष तथा गुण आदि का सांगोपांग विशद व्याख्यान है। द्वितीय आनन में ध्वनि के विभिन्न भेदोपभेदों के विवेचन के उपरान्त अभिधा तथा लक्षणा का विवेचन है, और इस के बाद अलंकार-निरूपण प्रारम्भ हो जाता है। ७० अलंकारों के पश्चात् ग्रन्थ का अगला भाग उपलब्ध नहीं है। अधिक सम्भावना यही है कि इसके आगे ग्रन्थ लिखा ही नहीं गया।

जगन्नाथ का काव्य-लक्षण अधिक परिपूर्ण तथा सुबोध है। इन्होंने काव्य के चार भेद माने हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम। ये ध्वनिवादी आचार्य थे, फिर भी रस के प्रति इन्होंने कम समादर प्रकट नहीं किया। भरत-सूत्र पर उपलब्ध ११ व्याख्याओं का विशुद्ध सकलन भी केवल इसी ग्रन्थ में उपलब्ध है। इन्होंने गुण को रस के अतिरिक्त शब्द-अर्थ और रचना का भी धर्म सर्वप्रथम समान रूप से स्वीकार किया है।

जगन्नाथ की समर्थ भाषा-शैली, सिद्धान्त-प्रतिपादन की विचित्र और परिपक्व विचार-शक्ति और खण्डन करने की विलक्षण प्रतिभा इन्हें प्रौढ़ एवं सिद्धहस्त आचार्य मानने को बाध्य करती है। विद्वानों की ज्ञान-परीक्षा के लिए रसगंगाधर भले ही एक निकष रहा हो, पर भाषा की कठिनता के कारण सामान्य पाठक इसे नहीं अपना सके। किन्तु इससे पण्डितराज के गम्भीर पाण्डित्य में कोई क्षति नहीं होती।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त काव्य-शास्त्र से सम्बद्ध इनका एक अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध है—चित्रमीमासा-खण्डन। इस में अप्पय दीक्षित के अलंकार-विषयक चित्र-मीमांसा नामक ग्रन्थ की कटु किन्तु यथार्थ आलोचना की गई है।

केशवदास

केशवदास हिन्दी के प्रथम आचार्य हैं। काव्य-शास्त्र से सम्बद्ध इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—रसिकप्रिया और कविप्रिया, जिनका निर्माण क्रमशः सन् १५९१ और १६०१ ई० में हुआ। रसिकप्रिया में १६ प्रकाश हैं जिनमें शृंगाररस, इसके भेदोपभेद तथा नायक-नायिका भेद का वर्णन है। कविप्रिया में भी १६ प्रभाव हैं जिनमें विभिन्न

काव्यांगों का—और विशेष रूप से सामान्य तथा विशेष अलंकारों का निरूपण साधारण पाठकों को लक्ष्य में रख कर प्रस्तुत किया गया है।

केशवदास को हिन्दी काव्य-शास्त्र का प्रवर्तक होने का गौरव प्राप्त है—हिन्दी के उस व्यापक काव्य-युग के प्रवर्तन का श्रेय न केशव के किसी पूर्ववर्ती रीति-कवि को दिया जा सकता है और न परवर्ती को। केशव ने ही हिन्दी में सबसे पहले सचेष्ट रूप से संस्कृत की पूर्व-ध्वनि और उत्तर-ध्वनि परम्पराओं को अवतरित किया, और अपने पांडित्य-युक्त व्यक्तित्व के बल पर हिन्दी-काव्य में शास्त्रीय पद्धति की प्रतिष्ठा की। इसमें सन्देह नहीं कि उनका अलंकार-सिद्धान्त बाद में मान्य नहीं हुआ—उनकी भ्रान्तियाँ अत्यन्त स्पष्ट और मुखर हैं। इसमें भी सन्देह नहीं कि उन्होंने हिन्दी के काव्य-साहित्य को आधार मानते हुए सिद्धान्त-व्यवस्था न कर प्रायः संस्कृत का ही अनुवाद किया है। हमें यह भी स्वीकार्य है कि स्वयं हिन्दी के भी कतिपय परवर्ती आचार्यों—कुलपति, श्रीपति, दास आदि—का विवेचन केशव के विवेचन की अपेक्षा अधिक स्वच्छ और व्यवस्थित है, फिर भी केशव की प्रतिभा उनमें से किसी में नहीं थी। भक्ति-काव्य की वेगवती धारा को रीति-पथ पर मोड़ने के लिए एक प्रभावशाली व्यक्तित्व की आवश्यकता थी—और प्रतिभा तथा पांडित्य से परिपुष्ट यह व्यक्तित्व था केशव का।

चिन्तामणि

चिन्तामणि त्रिपाठी नागपुर के भोंसला राजा मकरन्दशाह के दरबारी कवि थे। कहा जाता है कि दिल्ली-सम्राट शाहजहाँ ने भी इन्हें एक बार पुरस्कृत किया था। इनका जन्म सन् १६०९ ई० के लगभग और रचना-काल १६४३ ई० के लगभग माना गया है। इनके बनाए छह ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—काव्यविवेक, काव्यप्रकाश, कविकुल-कल्पतरु, रसमंजरी, पिंगल और रामायण। प्रथम चार ग्रन्थ काव्य शास्त्र से सम्बद्ध हैं, पाँचवाँ छन्द शास्त्रीय ग्रन्थ है और अन्तिम रामचरित-सम्बन्धी काव्य प्रतीत होता है। नायक-नायिका-भेद विषयक शृंगारमंजरी नामक ग्रन्थ भी इन्हीं का कहा जाता है। पर मूलतः इसका निर्माण सन्त अकबरशाह उपनाम 'बड़े साहब' ने आन्ध्र भाषा में किया था।

इनके काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में कविकुलकल्पतरु प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो आठ प्रकरणों में समाप्त हुआ है। कुल पद्यसंख्या ११३३ है। इस ग्रन्थ में काव्य-स्वरूप, काव्य-भेद, गुण, अलंकार, दोष, शब्द शक्ति और ध्वनि का निरूपण है। इन्होंने मम्मट के समान ध्वनि प्रकरण के अन्तर्गत रस का निरूपण किया है, और विश्वनाथ

के समान रस-प्रकरण के अन्तर्गत नायक-नायिका भेद का। चिन्तामणि रस-ध्वनिवादी आचार्य हैं। चिंतामणि ने अपने ग्रन्थ के निर्माण के लिए मम्मट के अतिरिक्त अनेक स्थलों पर विद्यानाथ, विश्वनाथ और भानुमिश्र का भी आश्रय लिया है। इनका अलकार-प्रकरण विद्यानाथ के ग्रन्थ पर प्राय आश्रित है, और नायक-नायिका भेद प्रकरण भानुमिश्र पर। रस प्रकरण में इन्होंने मम्मट, विश्वनाथ और विद्यानाथ तीनों का आश्रय लिया है। विषय-सकलन की दृष्टि से यह कविकुलकल्पतरु निस्सन्देह उपादेय है। हिन्दी के रीतिकारों में चिन्तामणि प्रथम सर्वांग-निरूपक आचार्य हैं, जिन्होंने मम्मट आदि उत्तरवर्ती आचार्यों की शैली पर काव्यांगों का निरूपण एक ही ग्रन्थ में उपस्थित कर आगामी आचार्यों के लिए मार्ग-निर्देशन किया है।

कुलपति

कुलपति आगरा-निवासी थे और कूर्मवंशी जयसिंह के पुत्र रामसिंह के दरबारी कवि थे। रस-रहस्य इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसका निर्माण सन् १६७० ई० में हुआ था। 'गुण रस रहस्य' भी इनका ही ग्रन्थ कहा जाता है, पर वह अनुपलब्ध है। रस-रहस्य में आठ वृत्तान्त हैं, और कुल ६५२ पद्य। विषय को स्पष्ट करने के लिए स्थान-स्थान पर गद्य का भी आश्रय लिया गया है। इस ग्रन्थ में काव्य-स्वरूप, काव्य प्रयोजन, काव्य-कारण, शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, गुण, दोष और अलकारों का निरूपण है। ये प्रकरण प्राय मम्मट के आधार पर लिखे गए हैं यद्यपि कुछ स्थलों पर विश्वनाथ से भी सहायता ली गई है। मम्मट के समान ध्वनि के ही अन्तर्गत इन्होंने रस का निरूपण किया है जिससे इन्हें ध्वनिवादी आचार्य ही मान सकते हैं। इनके ग्रन्थ में नायक-नायिका-भेद को स्थान नहीं मिला। कुलपति के निरूपण की यह विशिष्टता है कि इन्होंने काव्यप्रकाश की कारिकाओं का अनुवाद मात्र प्रस्तुत न कर काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों को सरल और सुबोध शैली में प्रतिपादित किया है। इस शैली के निर्वाह में ये प्राय. सफल रहे हैं, विषय-सामग्री का प्रतिपादन भी प्राय शुद्ध और व्यवस्थित है। दशरूपककार धनिक के समान ये शान्त रस को काव्य का विषय तो मानते हैं, पर नाटक का नहीं।

सोमनाथ

सोमनाथ जयपुर-नरेश महाराज रामसिंह के जन्मगुरु थे। इनका एक ही ग्रन्थ प्रसिद्ध है—रसपीयूषनिधि, जिसका निर्माण सन् १७३७ ई० में व्रज (भरतपुर) के राजकुमार प्रतापसिंह के लिए किया गया था। इस ग्रन्थ में २२ तरगें है और कुल ११२७ पद्य। प्रथम दो तरगों में राजकुल आदि तथा आचार्य का अपना परिचय

है। अगली तीन तरंगों में छन्द शास्त्र का निरूपण है। शेष ग्रन्थ में काव्य स्वरूप, काव्य-प्रयोजन, काव्य कारण, शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, दोष, गुण और अलकारों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ में भी ध्वनि के ही अन्तर्गत रस-प्रकरण को स्थान दिया गया है और शृगार रस के आलम्बन विभाव के प्रसग में नायक-नायिका भेद को। इनके रस और नायक-नायिका-भेद प्रकरण क्रमश भानुमिश्र रचित रसतरगिणी और रसमजरी पर प्राय आधृत हैं। अर्थालकार प्रकरण के लिए अप्पय दीक्षित-रचित कुवलयानन्द का आश्रय लिया गया है और शेष प्रकरणों के लिए प्राय मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थो का। इनकी शैली की सरलता और सुबोधता आकर्षक है। सोमनाथ का ध्येय साधारण पाठको के लिए सुबोध काव्य-शास्त्र का निर्माण करना प्रतीत होता है और इस ध्येय में वे निस्सन्देह सफल हुए हैं। इनका दूसरा प्राप्य ग्रन्थ शृगार विलास है। इसमें छह पूर्ण-उल्लास हैं, और सातवाँ उल्लास खण्डित है। वस्तुत शृगार-विलास कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, रसपीयूषनिधि में प्रतिपादित शृगार रस और नायक नायिका-भेद की ही सामग्री को नाममात्र के परिवर्तन के साथ प्रस्तुत कर इसे स्वतन्त्र नाम दे दिया गया है।

भिखारीदास

भिखारीदास प्रतापगढ के राजा पृथ्वीपतिसिंह के अनुज हिन्दूपतिसिंह के आश्रित कवि थे। काव्य-शास्त्र पर इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—रससाराश, काव्य-निर्णय और शृगार-निर्णय। इनकी रचना क्रमश सन् १७३६, १७४६ और १७५० में हुई। रससाराश और शृगारनिर्णय रस, नायक-नायिका भेद से सम्बद्ध ग्रन्थ हैं। शृगारनिर्णय में शृगारेतर रसो को स्थान नहीं मिला, पर रससाराश इस दृष्टि से पूर्ण है। दास की ख्याति का आधार काव्यनिर्णय ग्रन्थ है, जिसमें २५ उल्लास हैं, और कुल १२१० पद्य। इसमें काव्य-स्वरूप, शब्द-शक्ति, तुक और दोष का निरूपण है। इस ग्रन्थ में गुणों का निरूपण अलकार-प्रकरण में किया गया है। नायक-नायिका-भेद का प्रसग सर्वथा छोड दिया गया है—कारण स्पष्ट है—रससाराश नामक ग्रन्थ का निर्माण काव्यनिर्णय से पहले ही हो चुका था। दास ने भी विश्वनाथ के समान रस को ध्वनि के अन्तर्गत निरूपित न कर स्वतन्त्र स्थान दिया है। सिद्धान्त की दृष्टि से इन्होने रस और ध्वनि का समन्वय ही स्वीकार किया है। काव्य-निर्णय में अलकार-प्रकरण को छोड कर शेष प्रकरण प्राय मम्मट और विश्वनाथ के अनुकूल हैं। दोष-प्रकरण का निरूपण करते हुए इन्हें ब्रजभाषा-साहित्य का भी ध्यान रहा है, अत कुछ-एक दोष-उदाहरणों में भाषा के भी दोष दिखाए गए हैं। अलकार-निरूपण के लिए इन्होंने प्राय अप्पय दीक्षित का आश्रय लिया है, पर अलकारों को

नूतन वर्गों में विभक्त करने का श्रेय इन्हीं को है। हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों में अकेले दास ने ही इस दिशा में मौलिक प्रयास किया है। इनके अलंकार-प्रकरण की एक अन्य विशिष्टता है चित्रालंकार का निरूपण। मौलिकता की दृष्टि से दास का स्थान रीतिकालीन आचार्यों में अग्रगण्य है।

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि चरखारी-नरेश विक्रमसिंह के आश्रित कवि थे। काव्य-शास्त्र से सम्बद्ध इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं— व्यंग्यार्थ-कौमुदी और काव्यविलास। शेष ग्रन्थों के नाम हैं—काव्यविनोद, शृंगारमंजरी और अलंकार-चिन्तामणि।

व्यंग्यार्थकौमुदी का रचनाकाल सन् १८२६ है, और काव्यविलास का १८२९। व्यंग्यार्थकौमुदी ग्रन्थ के दो भाग हैं—मूल भाग और टीका भाग। मूल भाग में १२५ कवित्त-सवैये हैं, जो नायक-नायिका भेदों के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किए गए हैं। टीका-भाग में उक्त उदाहरणों से सम्बद्ध नायक-नायिका भेदों के अतिरिक्त अलंकारों तथा शब्द-शक्ति और ध्वनि के भेदों के लक्षण भी निर्दिष्ट किए गए हैं। इस प्रकार यह अपने ढंग का निराला ग्रन्थ है।

काव्यविलास में छह प्रकाश हैं और कुल ४११ पद्य। इनमें काव्य-स्वरूप, काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण, शब्द-शक्ति, ध्वनि गुणीभूत व्यंग्य, गुण तथा दोषों का निरूपण है। रस का निरूपण यहाँ भी ध्वनि-प्रकरण के ही अन्तर्गत किया गया है। नायक-नायिका भेद तथा अलंकार को इस ग्रन्थ में स्थान नहीं मिला। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि प्रतापसाहि ने व्यंग्यार्थ-कौमुदी और अलंकार-चिन्तामणि में वर्णित विषयों की पुनरावृत्ति उचित नहीं समझी। इन प्रकरणों के लिए प्रतापसाहि ने काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण की सहायता ली है। काव्यलक्षण प्रसंग को छोड़ कर शेष प्रसंग प्रायः शास्त्रानुकूल हैं। उदाहरण सरस एवं शास्त्र-सम्मत हैं। प्रतापसाहि निश्चित रूप से ध्वनिवादी आचार्य हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

युग-प्रवर्तक साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का समय सन् १८५०-१८८५ ई० तक है। उनसे पूर्व हिन्दी-आलोचना की गति लगभग अवरुद्ध हो रही थी। उन्होंने अपने 'नाटक' शीर्षक ग्रन्थ की रचना द्वारा वर्तमान सैद्धान्तिक आलोचना पद्धति का गद्य में प्रारूप स्थिर किया। इस कृति में उन्होंने नाटक के स्वरूप, भेदोपभेद, रचना-प्रणाली और रंगमंच आदि विभिन्न विषयों पर प्रकाश डाला है और

प्रायः संस्कृत-आचार्यों द्वारा प्रतिपादित नाटक-सम्बन्धी सिद्धान्तों का ही समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त अपनी 'हिन्दी-भाषा' नामक कृति और कतिपय स्फुट कविताओं में भी उन्होंने तत्कालीन भाषागत समस्या और हिन्दी-भाषा के महत्व की यत्र-तत्र चर्चा की है। व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से उन्होंने अपने 'नाटक' ग्रन्थ में हिन्दी-नाटक-साहित्य के विकास का संक्षिप्त वर्णन किया है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् १८६४ और देहावसान सन् १९३८ ई० में हुआ। महावीरप्रसाद द्विवेदी के कठोर तथा सजग नियमण-निरीक्षण में तत्कालीन हिन्दी भाषा और साहित्य का रूप परिष्कृत हुआ। उनकी आलोचना यद्यपि दोष-दर्शन की प्रवृत्ति के कारण खण्डनात्मक ही अधिक रही परन्तु उसकी कटुता में ही द्विवेदी जी के विधायक एवं नियामक रूप की झलक मिलती है। 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में उन्होंने आलोचना की शास्त्रीय परम्परा के अनुसार कवि-कर्म का निर्देश तो किया ही, वर्ण्य-विषय, भाषा-शुद्धि तथा छन्द इत्यादि में प्रचलित तत्कालीन अव्यवस्था को दूर करने का भी प्रयत्न किया। मूलतः उनकी आलोचनाओं का आधार शास्त्रीय है, किन्तु शास्त्रीय होते हुए भी उनकी दृष्टि रूढ़िवादी नहीं थी। उनके युग-प्रवर्तक व्यक्तित्व ने प्राचीन का नवीन के साथ सामञ्जस्य कर साहित्य के व्यापक सिद्धान्तों का निरूपण किया। द्विवेदी जी की आलोचनात्मक कृतियों में रसज्ञ-रंजन, आलोचनांजलि, साहित्यालाप और साहित्य-सन्दर्भ प्रमुख हैं।

मिश्रबन्धु

मिश्रबन्धु—अर्थात् पं० गणेशबिहारी मिश्र, पं० श्यामबिहारी मिश्र और पं० शुकदेवबिहारी मिश्र—हिन्दी साहित्य के इतिहासकार तथा निर्णयात्मक आलोचना के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। आलोचना के क्षेत्र में इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं, 'साहित्य-पारिजात', 'हिन्दी नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु-विनोद'। इनके सैद्धान्तिक वक्तव्य मुख्यतः 'साहित्य-पारिजात' में संकलित [redacted] और शेष दोनों ग्रन्थ व्यावहारिक आलोचना से सम्बद्ध हैं जिनमें क्रमशः हिन्दी के नौ-दस प्रमुख कवियों का मूल्यांकन तथा हिन्दी-साहित्य का वृत्त-वर्णन है। इनकी दृष्टि व्यापक तथा समन्वयात्मक थी।

कन्हैयालाल पोद्दार

जन्म सन्—१८७१ ई०

प्राचीन परिपाटी के काव्य-शास्त्रियों में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का प्रमुख स्थान है। इन्होंने यों तो संस्कृत काव्य शास्त्र के समस्त अमर ग्रन्थों का मन्थन किया

है किन्तु इनके सिद्धान्त-प्रतिपादन का मूल आधार मम्मट का काव्य-प्रकाश ही है। सेठ जी ने मौलिकता का दावा कभी नहीं किया और वास्तव में प्राचीन काव्य-शास्त्र के प्रसंग में मौलिकता का दावा कर भी कौन सकता है। उनका महत्त्व तो मम्मट-अनुमोदित प्राचीन काव्य सिद्धान्तों को अत्यन्त निर्भ्रान्त रूप से हिन्दी में अवतरित करने में है। हमारा विचार है कि इन सिद्धान्तों का इतना सुथरा और शुद्ध विवेचन हिन्दी में अन्यत्र नहीं मिलेगा। सेठ जी की शैली अत्यन्त स्पष्ट और उनका खण्डन-मण्डन सर्वथा निर्भीक होता है। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं—रसमंजरी, अलंकार मंजरी साहित्य समीक्षा, संस्कृत साहित्य का इतिहास आदि।

रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य शुक्ल का जन्म सन् १८८४ तथा निधन सन् १९४० ई० में हुआ। आचार्य शुक्ल की समीक्षा के साथ हिन्दी-आलोचना में नवीन युग का सूत्रपात होता है। उन्होंने चमत्कार प्रदर्शन और मनोरंजन की उपेक्षा कर जीवन के मार्मिक मूल्यों पर आश्रित रसास्वाद द्वारा हृदय-प्रसार को साहित्य का उद्देश्य घोषित किया। उन्होंने एक ओर पाश्चात्य सिद्धान्तों के आधार पर भारतीय काव्य सिद्धान्तों का पुनराख्यान किया और मनोविज्ञान के द्वारा रस-सिद्धान्त की पुनःप्रतिष्ठा की, और दूसरी ओर जायसी, तुलसी, सूर आदि के अमर काव्यों की सूक्ष्म-गहन तथा प्रौढ व्याख्या प्रस्तुत की। शुक्ल जी की सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचनाएं अन्योन्याश्रित हैं—शास्त्रानुमोदित उनके परिपक्व निष्कर्ष विचार तथा अनुभूति दोनों से पुष्ट रहते थे। आचार्य शुक्ल को आधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ भारतीय आलोचक कहना अत्युक्ति न होगी—भारतीय आचार्यों की गौरवपूर्ण परम्परा में उनका स्थान अक्षुण्ण रहेगा।

श्यामसुन्दरदास

डा० श्यामसुन्दरदास का जन्म सन् १८७५ तथा निधन सन् १९४५ ई० में हुआ। डा० श्यामसुन्दर दास ने पौरस्त्य तथा पाश्चात्य दोनों ही साहित्य-शास्त्रों के आधार पर अपने आलोचना के मापदण्डों का निर्माण किया। 'साहित्यालोचन', 'रूपक-रहस्य,' 'हिन्दी भाषा और साहित्य' 'तुलसीदास' और 'कबीर-ग्रन्थावली की भूमिका' आदि उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी है। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' परवर्ती आलोचकों तथा साहित्य-शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए पथ-प्रदर्शक रहा है। हिन्दी की भूमिका पर पाश्चात्य काव्यांगों का विवेचन सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में किया गया। डा० श्यामसुन्दर दास हिन्दी काव्य-शास्त्र के व्याख्याता आचार्य थे।

पद्मसिंह शर्मा

श्री पद्मसिंह शर्मा का जन्म सन् १८७६ तथा स्वर्गवास सन् १९५२ ई० में हुआ। प्रमुख आलोचनात्मक ग्रन्थ—'बिहारी सतसई' की भूमिका, पद्मपराग।

हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा का प्रवर्तन करने का श्रेय आचार्य पद्मसिंह शर्मा को ही है। उनकी आलोचनात्मक कृतियों में सैद्धान्तिक निरूपण भी है और व्यावहारिक समीक्षा भी। हिन्दी में मुक्तक-परम्परा का उद्घाटन आलोचना के क्षेत्र में उनका प्रमुख योगदान है। शर्माजी की आलोचना मूलतः परम्परायुक्त काव्य-शास्त्रीय आलोचना है जो रसोद्रेक की अपेक्षा ध्वनि तथा वक्रता पर अधिक आश्रित है। उनकी शैली में एक रोचक सजीवता तथा विदग्धता है जो पुरातीन रसिक-गोष्ठियों तथा अर्वाचीन मुशायरों का-सा समा बाँध देती है।

कृष्णबिहारी मिश्र

जन्म सन् १८९० प्रमुख ग्रन्थ: देव और बिहारी, मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका, नवरसतरंग की भूमिका।

मिश्रजी की आलोचना का आधार प्रायः शास्त्रीय है 'गुणाधिक्य, अलंकार-बाहुल्य, रसपरिपाक एवं भाव-चमत्कार कविता की उत्तमता की कसौटी रहनी चाहिये।' अपनी आलोचना में इन्होंने भी प० पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक आलोचना-पद्धति का अनुसरण किया है, परन्तु इनकी विवेचना अधिक स्वच्छ तथा रुचि अधिक परिष्कृत है। मिश्रजी ने सच्चे रसज्ञ की भाँति अपनी आलोचना में, शास्त्रीय मान्यताओं का सुघरा विवेचन, आलोच्य कवियों की भाव तथा कलागत विशेषताओं का मार्मिक विश्लेषण, और वैयक्तिक अनुभूतियों का तथा प्रभाव-प्रतिबिम्बों का सयत अभिव्यञ्जन किया है।

गुलाबराय

बाबू गुलाबराय का जन्म सन् १८८७ ई० है। सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में उनके 'नवरस' 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' नामक तीन प्रौढ़ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनमें से प्रथम ग्रन्थ में रस का विस्तृत विवेचन है और शेष दोनो में साहित्य के मूलभूत सिद्धान्तों तथा कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध और आलोचना आदि विभिन्न रूपों का पूर्वीय एवं पश्चिमीय साहित्य-शास्त्रों के आधार पर समन्वयात्मक विवेचन है। व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने

'हिन्दी काव्य विमर्श' और 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' के अन्तर्गत विशिष्ट कवियों की आलोचना के अतिरिक्त साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का सहानुभूतिपूर्ण विवरण किया है।

जयशंकर प्रसाद

जन्म—सन् १८८९ मृत्यु—सन् १९३७ ई०। यद्यपि काव्य-स्रष्टा 'प्रसाद' के समक्ष 'आलोचक' प्रसाद का महत्व अपेक्षाकृत गौण है फिर भी उनके साहित्य का यह पक्ष भी गंभीर और मौलिक प्रतिभा से उद्भासित है। उनका ग्रन्थ 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' उनके प्रौढ समीक्षक रूप का परिचायक है। कुछ स्थलों पर प्रसाद जी ने कवि विशेष तथा काव्य-प्रवृत्तियों की व्यावहारिक समीक्षा भी की है परन्तु उनका प्रधान उद्देश्य सैद्धान्तिक निरूपण ही रहा है। उन्होंने भारतीय दर्शन तथा साहित्य-शास्त्र के विभिन्न वादों में समन्वय-स्थापन कर उनका ऐतिहासिक निरूपण किया है। शैवागम से अनुप्रेरित रसवाद ही मूलतः उनका काव्य-दर्शन है। 'रति आदि वृत्तियाँ साधारणीकरण द्वारा भेद-विगलित होकर आनन्द-स्वरूप हो जाती हैं।' अनुभूति और अभिव्यक्ति में उन्हें अनुभूति की प्रधानता ही मान्य है। व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही। उनके मत से काव्यानन्द प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण है। जिस काव्य में 'सत्य-शिव-सुन्दर, सार्वजनीनता, चिरन्तनता, अनुभूति और आदर्श की समष्टि है', वही उनके अनुसार श्रेष्ठ काव्य है।

निराला

जन्म सन् १८९६।

निराला प्रमुख रूप से स्रष्टा साहित्यकार हैं। परन्तु समीक्षात्मक कृतियों में भी उनके प्रौढ चिन्तक तथा गम्भीर विश्लेषक रूप का परिचय मिलता है। 'प्रबन्ध-पद्म', 'प्रबन्ध-प्रतिमा' तथा 'चाबुक' उनके आलोचनात्मक निबन्धों के संग्रह हैं। उन्होंने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही प्रकार के निबन्ध लिखे हैं। निराला जी ने काव्य और कला को एक श्रेणी के अन्तर्गत रखा है तथा उन्हें सौन्दर्य की सृष्टि माना है। उनके शब्दों में 'कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अलंकार, रस या ध्वनि की सुन्दरता नहीं, किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है। पूरे अंगों की सत्रह साल की सुन्दरी की आँखों की पहिचान की तरह देह की क्षीणता, हीनता में तरंग-सी उतरती चढ़ती हुई, भिन्न वर्णों की बनी वाणी में खुल कर क्रमशः मन्द मधुतर होकर लीन होती हुई।' इसी सौन्दर्य तत्त्व को मानदण्ड बनाकर उन्होंने

विद्यापति तथा चंडीदास की कविताओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। सैद्धान्तिक विवेचन में मुक्तछन्द आदि पर उनके विचार अत्यन्त प्रामाणिक हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त

जन्म सन् १९०० ई०। आलोचनात्मक ग्रन्थ—गद्य-पथ।

पंत जी के काव्य में छायावादी कला का चरम उत्कर्ष और उनकी भूमिकाओं में उसका सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है। पल्लव का 'प्रवेश' छायावाद युग के आविर्भाव का घोषणा-पत्र था। इस दृष्टि से हमारे साहित्य में इसका महत्व बहुत कुछ वैसा ही है जैसा कि अंग्रेजी साहित्य में वर्ड्सवर्थ के लिरिकल बैलड्स की भूमिका का। उस समय तक हिन्दी आलोचना अत्यन्त निर्धन थी। इस भूमिका में हिन्दी साहित्य में पहली बार काव्य में बाह्य उपकरणों का, भाषा-अलकार-छन्द आदि का अत्यन्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया। इसमें भाषा, अलकार, छन्द, लय, तुक इत्यादि बाह्य छवियों का यह आन्तरिक विश्लेषण अपने समय से इतना आगे था कि कम से कम एक दशाब्द तक हिन्दी आलोचक इसके मर्म को नहीं समझ पाए। 'गद्य-पथ' में पल्लव के 'प्रवेश' के अतिरिक्त आधुनिक कवि का 'पर्यालोचन' उत्तरा की 'प्रस्तावना', तथा युग-वाणी का 'दृष्टिपात' संकलित हैं। इनमें कला का प्रयोजन, आधुनिक काव्य प्रेरणा के स्रोत इत्यादि का अत्यन्त गम्भीर और मौलिक विवेचन हुआ है।

महादेवी वर्मा

जन्म सन् १९०७ ई०।

महादेवी जी की प्रतिपादन-शैली चिन्तन की शैली है जिसमें विचार और अनुभूति का सयोग है। बौद्धिक तीक्ष्णता तो उनके विवेचन में अधिक नहीं है परन्तु सश्लेषण सर्वत्र मिलता है। शुक्ल जी की शास्त्रीय गवेषणा से सर्वथा भिन्न उनकी शैली प्रसाद और पंत की ठोस बौद्धिक विवेचना की अपेक्षा टैगोर की लचीली काव्य-चिन्तना के अधिक समीप है। महादेवी की आलोचना की दूसरी विशेषता है उसकी ऐतिहासिक एकसूत्रता। उदाहरण के लिए एक ओर उन्होंने छायावाद की प्रकृति-भावना का वेदों से आरम्भ होने वाली प्रकृति-भावना के साथ सम्बन्ध-निरूपण किया है, दूसरी ओर आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों का समाज की आर्थिक परम्पराओं के साथ। उनकी आलोचना में अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों का सतुलन है। महादेवी जी की आलोचना में काव्य के शाश्वत सिद्धान्तों का प्रौढ़ व्याख्यान मिलता है।

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

जन्म सन् १९०८ वि० ।

सुधांशु जी के 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' और 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' नामक दो आलोचना-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। यद्यपि इन्होंने वर्तमान युग के प्रतिनिधि कवियों का सश्लिष्ट विवेचन भी प्रस्तुत किया है, फिर भी इनका प्रमुख क्षेत्र सैद्धान्तिक आलोचना ही रहा है। सुधांशु जी ने पौरस्त्य और पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों के गहन अध्ययन के उपरान्त जीवन की भूमिका पर साहित्य के विभिन्न रूपों और अंगों का गम्भीर विश्लेषण किया है। इन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन अधिमानस-शास्त्र मनोविश्लेषण-विज्ञान आदि का आश्रय लेकर काव्य-शास्त्र को व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित किया है। इस दृष्टि से इनका अपना विशिष्ट स्थान है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

जन्म सन् १९०७ ई०

ऐतिहासिक आलोचना के क्षेत्र में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान अग्रगण्य है। 'हिन्दी साहित्य' 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कबीर', 'नाथ सम्प्रदाय', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', 'अशोक के फूल', 'विचार और वितर्क' आदि उनकी प्रमुख आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। जन-जीवन की सांस्कृतिक और सामाजिक परम्पराओं का उद्‌घाटन करते हुए विवेच्य को समष्टि के साथ सम्बद्ध कर देखना इनकी आलोचना का मूल आधार है। द्विवेदी जी साहित्य का सम्बन्ध समग्र नवजीवन के साथ मानकर चलते हैं। उनकी समीक्षा का आधार-फलक मानववादी होने के कारण अत्यन्त विस्तृत है, और उनका व्यक्तित्व उसको सँभालने योग्य पांडित्य, सहानुभूति तथा कल्पना आदि गुणों से सम्पन्न है।

नन्ददुलारे वाजपेयी

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का जन्म सन् १९०६ ई० है। उन्होंने भी अपनी समीक्षा के मानदण्ड भारतीय साहित्य-शास्त्र तथा पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र से ग्रहण किए हैं। सौष्ठववादी आलोचना पद्धति के ये प्रमुख आलोचक हैं। सैद्धान्तिक आलोचना की अपेक्षा व्यावहारिक समीक्षा में इनकी रुचि अधिक रही है। इनका दृष्टिकोण भी रसवादी है, काव्य में अनुभूति को ही इन्होंने भी प्रधान माना है, अभिव्यंजना

को नहीं। वाजपेयी जी की आलोचना प्रौढ़ काव्य-दर्शन का आधार लेकर चलती है, सांस्कृतिक-सामाजिक प्रेरणाओं को यथावत् महत्व देने पर भी इनकी विवेचना के मूल्य साहित्यिक ही रहते हैं। 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', 'बीसवीं शती', 'जयशंकर प्रसाद' और 'महाकवि सूरदास' इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।
